

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त पत्रिका (41387)

शोध अंक 43

दिसंबर 2018

200.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 07838090732

ई-मेल : shodhdisha@gmail.com

वेब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा

डॉ० मीना अग्रवाल

बी-203, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुडगाँव (हरियाणा)

फोन : 0124-4076565, 07838090237

दिल्ली एन०सी०आर०

डॉ० अनुभूति

सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स

बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा

फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

डॉ० शंकर क्षेम

उपसंपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल/ डॉ० अनुभूति

उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार 09557746346

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

आजीवन (दस वर्ष): व्यक्तिगत : पाँच हजार रुपए

संस्थागत : छह हजार रुपए

वार्षिक शुल्क : छह सौ रुपए

यह प्रति : तीन सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजे। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसेट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डॉ० सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, Morrisville, NC-27560 USA
- डॉ० सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
- प्रो० हरिशंकर आदेश, भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, कनाडा
- डॉ० कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फेज-1, दिल्ली 110052
- डॉ० आर०पी० सिंह, पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय एवं पूर्व प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ०प्र०)
- प्रो० अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
- प्रो० नंदकिशोर पांडेय, निदेशक केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ०प्र०)
- प्रो० आदित्य प्रचंडिया, पूर्व आचार्य हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा
- प्रो० हरिमोहन, कुलपति, जे०एस०विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोशाबाद) उ०प्र०
- प्रो० बाबूराम, पूर्व अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
- डॉ० राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म०प्र०)
- प्रो० रामसजन पांडेय, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)
- प्रो० हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- डॉ० दामोदर खड्गसे, पूर्व कार्याध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई (महा०)
- प्रो० शंकर बुंदेले, प्रोफेसर, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती
- प्रो० आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
- प्रो० अर्जुन चव्हाण, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा०)
- डॉ० माया टाक, पूर्व प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- प्रो० अनिलकुमार जैन, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- प्रो० शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
- डॉ० अवनिजेश अवस्थी, हिंदी विभाग, पी०जी० डी०ए०वी० कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली
- प्रो० हनुमानप्रसाद शुक्ल, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्ध
- प्रो० चंद्रकांत मिसाल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस०एन०डी०टी० महिला विद्यापीठ, पुणे (महा०)
- डॉ० मुकेश गर्ग, पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- प्रो० जितेंद्र वत्स, प्रोफेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डॉ० माला मिश्रा, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, अदिति कालेज (दिल्ली विश्व०), बवाना
- प्रो० श्यामधर तिवारी, हिंदी विभाग, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
- डॉ० दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
- डॉ० शहाबुद्दीन शेख, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०, औरंगाबाद (महा०)
- डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डॉ० महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
- श्री राकेशकुमार दुबे, पत्रकारिता और जनसंचार विभाग, उड़ीसा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट (उड़ीसा)
- डॉ० महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ०प्र०)
- डॉ० अरुणकुमार भगत, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा (उ०प्र०)

आजीवन सदस्य

उत्तर प्रदेश/ उत्तराखण्ड

डॉ० रामानंद शर्मा

ई-89, वेव ग्रीन कॉलोनी
मुरादाबाद (उ०प्र०)

डॉ० मधुलिका तिवारी

रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल०आर० पी०जी० कॉलेज, साहिबाबाद
गाजियाबाद (उ०प्र०)

श्री हरिराम 'पथिक'

स्नेहगंगा, विष्णुधाम कालोनी,
गली नं० 3, न्यू माधोनगर, सहारनपुर (उ०प्र०)

डॉ० वंदना सेमल्टे

टी०एफ० 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स,
गांधीनगर, गाजियाबाद 201001

डॉ० मनमोहन शुक्ल

147, मायापुरी, आवास योजना
झूँसी, इलाहाबाद 211019

श्री अरुणकुमार भगत

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62
नोएडा 201301 (उ०प्र०)

डॉ० विपिनकुमार गिरि

पुराना माधवनगर, भारद्वाज गली
सहारनपुर (उ०प्र०)

प्राचार्या

आर०बी०डी० महिला महाविद्यालय
बिजनौर (उ०प्र०) 246701

डॉ० सुधारानी सिंह

सी-54, सेक्टर-3, सुशांत सिटी
दिल्ली बाईपास, मेरठ (उ०प्र०)

डॉ० प्रेमव्रत तिवारी

सरस्वती सदन, बेतियाहाता, गोरखपुर (उ०प्र०)

डॉ० पूनम भारद्वाज

17 प्रेम विहार, मुजफ्फरनगर 251001
09997100697

श्रीमती अल्पना

द्वारा श्री अरुण कपूर, III एच 288 नेहरूनगर
पवन सिनेमा के पीछे, राकेश मार्ग
गाजियाबाद 201001

डॉ० वंदना श्रीवास्तव

के 83 सी आशियाना, लखनऊ 226012
09415917170

प्रो० धर्मेन्द्रकुमार द्विवेदी

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय
पुँवारका, सहारनपुर (उ०प्र०)

डॉ० महेंद्रपाल सिंह

सहायक प्रोफेसर, हिंदी
सेठ पी०सी० बागला पी०जी० कॉलेज, हाथरस

श्री रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'

सी 1702, जे एम अरोमा
सेक्टर 75, नोएडा (उ०प्र०) 201301
मो० 09313727493

डॉ० सुचित्रा मलिक

37 गांधी आश्रम, विष्णु गार्डन
कनखल (हरिद्वार) उत्तराखण्ड

डॉ० श्रीकांत अवस्थी

राजीव गांधी विद्यालय
कोटा बाग, नैनीताल (उत्तराखण्ड)

सुरेंद्रकुमार जैन

हिंदी विभाग
स० भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा०
रुद्रपुर (नैनीताल)

मध्य प्रदेश

डॉ० राजेंद्र मिश्र

14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म०प्र०)

डॉ० सुरेंद्र यादव

102 नवदीप अपार्टमेंट, 7 शंकर नगर (साकेत)
इंदौर 452018 मो० 09009566220

डॉ० ज्योतिसिंह

213 अनूपनगर
सी०एच०एल० अपोलो हास्पिटल के सामने
ए०बी० रोड, इंदौर 452008 (म०प्र०)
09926300355

डॉ० चंदा तलेरा जैन

जी-17, रेडियो कालोनी, इंदौर (म०प्र०) 452001
09425944773

डॉ० वंदना अग्निहोत्री

194 सुखदेव नगर, एरोडूम रोड,
इंदौर (म०प्र०) 452001, मो० 09926477787

डॉ० पुष्पा शाक्व

110, सुंदरनगर मेन, सुकलिया, इंदौर (म०प्र०)
09827281203

डॉ० चंद्रकिरण अग्निहोत्री

108, रेडियो कालोनी, इंदौर (म०प्र०) 452001

प्रो० प्रहलाद तिवारी

111, वी०आई०पी०, परस्पर नगर, स्कीम नं० 97
पार्ट 4, स्लाइस 4, इंदौर (म०प्र०) 452012
मो० 09406631688

डॉ० पंकज विरमाल

अध्यक्ष हिंदी विभाग, इंदौर क्रिश्चियन कालेज
इंदौर (म०प्र०) 452001

प्राचार्य, शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई

कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
किला भवन, इंदौर (म०प्र०)

डॉ० निशा तिवारी

650 नैपियर टाउन, भँवरताल वाटर टैंक के पीछे
जबलपुर 482001 (म०प्र०) मो० 09425386234

डॉ० नीना उपाध्याय

प्रो० हिंदी विभाग
868, इंदिरा गांधी वार्ड, अंजनी बिल्डर्स के पास
गढ़ा, जबलपुर (म०प्र०) 482003
मो० 09424305641

डॉ० स्मृति शुक्ला

ए-16 पंचशील नगर, नर्मदा रोड
जबलपुर (म०प्र०)

प्रो० हरिमोहन बुधौलिया

6 दीप्ति विहार, इंदौर रोड, उज्जैन (म०प्र०) 456010
मो० 9826214024

डॉ० श्रीकांता अवस्थी

1189 गली नं० 17 जे०डी०ए०गार्डन
शांतिनगर दमोहनाका
जबलपुर (म०प्र०) 482002
मो० 9300598160

पंजाब/ हरियाणा**श्री हेमांशु शर्मा**

हिंदी विभाग, साईदास ए०एस०सी० सी०से० स्कूल
पटेल चौक, जालंधर शहर (पंजाब)

प्राचार्या

कमला नेहरू कालेज फॉर वुमैन
फगवाड़ा (कपूरथला) पंजाब

प्राचार्या

कन्या महाविद्यालय
विद्यालय मार्ग, जालंधर (पंजाब) 144004

डॉ० विद्या चौधरी

मिर्जापुर फार्म, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

डॉ० विजय इंदु

1608 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी
सेक्टर 10 ए, गुड़गाँव (हरियाणा) 122001

डॉ० कविता यादव

पुत्री श्री सुनिलकुमार, ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

डॉ० राजाराम अग्रवाल

ग्राम व पोस्ट शेखपुर दरौली
जिला फतेहाबाद (हरि०) 125053

मो० 09896789100

डॉ० पुष्पा अंतिल

203, टॉवर-9, फ्रेस्को
निर्वाणा, सेक्टर 50, गुड़गाँव (हरि०) 122018
मो० 096547444800

प्राचार्य

राजकीय महाविद्यालय, सिधरावली (गुडगाँव)

प्राचार्य

द्रोणाचार्य राजकीय महाविद्यालय, न्यू रेलवे रोड,
गुडगाँव (हरियाणा)

प्राचार्य

राजकीय महाविद्यालय, सेक्टर 14
गुडगाँव (हरियाणा)

प्राचार्य

हरद्वारीलाल राजकीय महाविद्यालय,
तावडू (मेवात)

डॉ० ऋषिपाल

ऐसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिंदी-विभाग, बाबू अनंतराम जनता महाविद्यालय,
कौल, कैथल (हरियाणा)

प्राचार्य

बाबू अनंतराम जनता महाविद्यालय,
कौल, कैथल (हरियाणा)

महाराष्ट्र**डॉ० मेहमूद रसूल पटेल**

दारुल अमन, काशीनगर,
जालना रोड, बीड (महा०)

डॉ० शहाबुद्दीन नियाश मुहम्मद शेख

(प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा० औरंगाबाद)
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ
78/484 सिविल हडको
अहमदनगर 414003, मो० 09850119687

प्रो० शेख मुहम्मद शाकिर शेख बशीर

अध्यक्ष हिंदी विभाग
पूना कालेज ऑफ़ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस
कैंप, पुणे 411201 (महा०)
मो० 09423017017

प्रा० डॉ० अभयकुमार रमेश खैरनार

मु०पो० जुनवणे
तह० जि० धुले (महाराष्ट्र)

प्रा० अनंत नानाजी केदारे

5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी
दातेनगर, गंगापुर रोड, नासिक 422005 (महा०)

डॉ० मंजूर चाँदभाई सय्यद

'गुलसिता' 223 औदुंबरनगर, अमृतधाम
पंचवटी, नासिक 422004 (महा०)
मो० 09822991516

डॉ० शोभा साहेबराव राणे

17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट,
नंदनवन लॉन के सामने
आशाराम बापू आश्रम मार्ग, सावरकर नगर,
गंगापुर रोड, नासिक (महा०) 422013

डॉ० लियाकत मियाँ भाई शेख

अखिलेश नगर, प्लाट क्र० 11
नए बस स्टैंड के पास,
गंगापुर (औरंगाबाद) महा०, मो० 09423933402

डॉ० संजय विक्रम ढोढरे

7, मोतीरामनगर, वाडीभोकर रोड,
देवपुर, धुले 424002 (महाराष्ट्र)

डॉ० अशोक द्रौपद गायकवाड़

'कृतज्ञता', अवधूत पार्क, आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा०) 414003
09822941330

प्रा० दत्तात्रय माधवराव टिलेकर

द्वारा संतोष मेडिकल, साई प्रेस्टिज, फ्लैट नं० 13
पाटील अली, ओतूर
तह० जुन्नर, शिला पुणे (महा०) 412409
09860229544

डॉ० मजीद मुनीर शेख

ग्राम व पो० साष्ट, पिंपल गाँव,
(वाया अंकुशनगर) तह० अंबड
शिला जालना (महा०) 431212
मो० 09765944586

डॉ० अश्विनीकुमार 'विष्णु'
अध्यक्ष अँग्रेजी विभाग
सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा०)

डॉ० भरत त्रयंबक शेणकर
द्वारा होटल जय महाराष्ट्र
ग्राम, पो० व तह० अकोले
शिला अहमदनगर (महा०) 422601
09423164521

डॉ० पोपट विठ्ठल कोटमे
प्लैट नं० 5, सत्यसंगम
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
श्री जयनगर, इंदिरानगर, नासिक (महा०) 422006
मो० 09850760866

डॉ० एस०एन० देवरे
प्लाट नं० 17, सिद्धिविनायक कॉलोनी
देवपुर, धुले (महा०) 424002

डॉ० श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके
सुशीला सोसायटी, प्लाट क्र० 5
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफिस
नागपुर 440014 (महा०)

सुश्री शारदा बी० जावरे
ओमकार, समृद्धि डेपलपर, प्लेट क्र० 402
प्लाट नं० 26, सर्व क्र० 137/1 ए,
बराटे स्कूल के पास, वारजे, मालवाडी,
पुणे 411058 (महाराष्ट्र)
मो० 08805616654

प्रा० (श्रीमती) ऐनूर अजीजभाई इनामदार
स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड, कोल्हार 413710
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा०)
मो० 09011449636

सुश्री कामिनी अशोक न्यायाधीश
661 अरुणोदय कालोनी, सिडको एन-5
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
मो० 09975773345

प्रो० डॉ० चंद्रकांत मिसाल
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग,
एस०एन०डी०टी० महिला विश्वविद्यालय,
कर्वे रोड, पुणे 411038 (महाराष्ट्र)

प्रा० अशोक शामराव मराठे
116, सखाराम नगर,
पेरेजपुर रोड, साक्री, तह० साक्री,
जिला धुले 424304 (महाराष्ट्र)

प्रा० पंजाबी ममता नानकचंद
19/20, त्रिमूर्ति नगर,
मोरे अस्पताल के पास,
साक्री, तहसील साक्री, जिला धुले 424304

प्रा० डॉ० योगेश गोकुळ पाटिल
प्लॉट नं० 12, नयना सोसायटी,
नकाणे रोड, देवपुर, धुले 424002

प्रा० उषा पुंडलिक शिरोळे
द्वारा श्री शशिकांत हरी बागडे
गुरुकृपा हास्पिटल, डाक पारीपत्यदार
सावतानगर मालेगाँव, तह-मालेगाँव
जिला नासिक (महा०)

प्रा० करुणा दत्तात्रय अहिरे
व्ही०यू० पाटिल कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
साक्री, तह० साक्री, जिला धुले 424304

प्रा० डॉ० प्रमोद गोकुळ पाटील
मु०पो० मोराणे (प्र०ल०)
तह० जिला धुले 424001 (महाराष्ट्र)

प्रा० डॉ० अशफाक सिकलगर
जीएफ-102 ताज अपार्टमेंट,
चालीसगाँव रोड, धुले (महाराष्ट्र)

प्रा० डॉ० महेंद्रसिंह रघुवंशी
सरस्वतीनगर, प्लॉट नं० 10,
वाघेश्वरी मंदिर के पास, नंदुरबार 425412

डॉ० रेखा वसंत पाटील
सीतामाईनगर, चालिसगाँव
शिला जलगाँव (महा०) 424101

प्रा० डॉ० मंजू तरडेजा (सिंघाणी)
 ब्लॉक नं० आर-10, रूम नं० 10,
 कुमारनगर, साक्री रोड, धुले 424001

प्रा० डॉ० चंद्रमादेवी पाटील
 59, धनदाईनगर, गोंदुर रोड, वलवाडी,
 देवपूर, धुले 424005 (महाराष्ट्र)

डॉ० संजयकुमार नंदलाल शर्मा
 38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी,
 तलोदा, जि० नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

श्रीमती वर्षा सुभाषचंद्र देशमुख
 बी-6, चंद्रवेल अपार्टमेंट, गोविंदनगर होटेल
 प्रकाश्या भागे, मुंबई नाका,
 नासिक (महाराष्ट्र) 422010

डॉ० देवकीनंदन महाजन
 1 टेलीफोन कालोनी,
 धुले रोड, अमलनेर (जलगाँव) महाराष्ट्र

डॉ० कल्पना राजेंद्र पाटील
 38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी, तलोदा
 जि० नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

सुश्री निर्मला पुरुषोत्तम तोमर
 फ्लैट नं० 12, एस नं० 137/2
 वारजे मलवाडी, पुणे 411058, मो० 08087612123

प्रा० डॉ० रामचंद्र माली
 अध्यक्ष हिंदी विभाग,
 क०वा०वि० महाविद्यालय
 नवापुर, शिला नंदुरबार (महाराष्ट्र)

डॉ० सुषमा कोंडे
 81/ए, प्लाट नं० 9/ए,
 गिरिदर्शन हाउसिंग सोसायटी, बानेर रोड
 पुणे 411007 (महाराष्ट्र)
 मो० 09822848464

प्राचार्य विद्यावर्धिनी महाविद्यालय
 धुले (महा०) 424001

डॉ० हेमलता कांचनकर
 43 नंदनवन कालोनी (कैंट)
 औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
 मो० 09730202528

सुश्री नेहा संदीप घोरपडे
 द्वारा सुश्री सुनीता पवार
 फ्लैट नं० 404, प्रकाश मेमाराइज
 एस नं० 73, दूध डेयरी, पुणे-411046

सुश्री भारती मधुकर पाटील
 मु०पो० सावलदे, तहसील शिरपूर
 जिला धुले (महा०)

प्रा० शिंदे नवनाथ सर्जेराव
 अध्यक्ष, हिंदी विभाग
 सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
 कडलास रोड, सांगोला (सोलानुर) 413307
 मो० 09763602304

डॉ० मीनल प्रमोद बर्वे
 7, गिरिजात्मक, अष्टविनायक रेजिडेंसी,
 के०जे० मेहता कालेज के पास, नासिक-पुणे हाईवे
 नासिक रोड (महाराष्ट्र) 422001
 मो० 09423968189

प्रा० अमानुल्लाह मो० शेख
 श्रद्धा रेजिडेंसी, बिल्डिंग ए, बिंग ए-201
 आई०टी०आई० कालेज के पास
 पो० मुक्तिदपुर, तह० नेवासा
 जिला अहमदनगर (महा०)

प्रा० ईश्वर पदमसिंग ठाकुर
 जनशक्ति कालोनी
 रिंग रोड, फैजपुर, तहसील यावल (जलगाँव)

डॉ० दीपक विश्वासराव पाटील
 मुकाम सौदाणे, निकट कलाविश्व कंप्यूटर सेंटर
 पो० बडजाई (धुले) महा० 424002
 मो० 099923811609

डॉ० अनिता मधुकर अंतरे
 मयूर सोलर ऐजेंसी
 स्वामी समर्थ मंदिर के पास
 पो० लोनी बी के, तालुका रहाता
 जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र) 413736
 मो० 09970343766

श्री शेख शिराज हसन
पोस्ट बोरी, तालुका खंडाला (सतारा)
415521 (महा०), मो० 09011444059

डॉ० विठ्ठलसिंह नंदरामसिंह ढाकरे
'सी' टाईप कालेज
शास्त्रीनगर, लासलगाँव
जिला नासिक (महाराष्ट्र) 422306
मो० 08888590156

डॉ० उर्मिला मानसिंह गायकवाड
प्लॉट नं० 290-292, सेक्टर-29
गुरु स्मृति अपार्टमेंट, ए-विंग,
फ्लैट नं० 303 रावेत निकट डी-मार्ट
पुणे 412101, मो० 07620225839

डॉ० एफ०एम० शाह
द्वारा श्री टी०एम० धुवारे
छोटा दत्त मंदिर के पास, टी०बी० टोली
गोंदिया (महा०) 441614
मो० 07620042772

डॉ० शैला पांडुरंग चव्हाण
फ्लेट नं० 1, सुविधिनाथ हाउसिंग सोसायटी
मुख्य फायर ब्रिगेड आफिस के सामने
हीरा-मोती शोरूम के पीछे,
सिंघाड़ा तालाब, नासिक (महा०) 422001
मो० 09850827138

प्राचार्य
कला, वाणिज्य व कंप्यूटर
एप्लीकेशन महिला महाविद्यालय
डोंगर कठोरे, यावल,
जिला जलगाँव (महा०)

प्रा० पुरुषोत्तम कुंदे
हिंदी विभाग, न्यू आर्ट्स कामर्स एंड साइंस कालेज
शेवगाँव (अहमदनगर) 414502 महाराष्ट्र
मो० 09850947267

प्रा० अमृता भरत पाटिल
प्लॉट नं० 23, बालाप्या कॉलोनी
अशोकनगर के पास, जमनागिरि रोड
धुले (महा०) 424001

डॉ० सचिन कदम
हिंदी विभाग, संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर (महाराष्ट्र)

रूपाली नामदेवराव रिंगे
द्वारा बालाजी संभाजी कदम
फ्लैट नं० 12, साईं श्रद्धा रेसिडेंसी, प्लॉट नं० 78
सी०डी०सी० पूर्णनगर, चिंचवड,
पुणे 411019 महाराष्ट्र
मो० 09420848635, 07276268922

प्रो० मनोहर हिलाल पाटिल
प्लॉट नं० 1, परिजात कॉलोनी
निकट इंदिरा गार्डन, देवपुर धुले 424002 (महा०)

गुजरात

श्री गुलाबराव शांताराम बाविस्कर
201, के-टॉवर, श्रीनंदनगर
सोखड़ा रोड, छाणी,
बड़ोदरा (गुजरात) 391740
मो० 09624501415

कर्नाटक

डॉ० जुबैदा हाशिम मुल्ला
बैतुल हाशमी, म०नं० 152, ताजनगर
हुबली 580031 (कर्नाटक)

तमिलनाडु

Dr. V. Jayalakshmi
Mathura, Plot No. 38
5th Cross Street, Gokul Nagar
Perumbakkam, Chennai-600100

डॉ० कैलाशंद्र शर्मा 'शंकी'
प्रोफेसर कॉलोनी, स्टेडियम रोड
चरखी दादरी (भिवानी) हरियाणा 127306
मो० 09812121233

अनुक्रम

आदिवासी विमर्श/ संपादकीय	11
मानव-स्वातंत्र्य का अमोघ अस्त्र, 'शब्द' एवं हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता/ डॉ० निशा तिवारी	21
साठोत्तरी हिंदी उपन्यासों चित्रित वर्ण-संघर्ष/ डॉ० संजय गडपायले	36
राजनीतिक गुह्यांधकारों में रास्तों का अन्वेषी कवि : मोहन सपरा/ प्रो० सुधा जितेंद्र, आत्माराम	42
हिंदीभाषा : अस्मिता और संभावनाएँ/ डॉ० मजीद शेख	56
चंद्रकांता का कथासाहित्य में योगदान/ ममता, प्रो० सुचित्रा मलिक	61
हिंदी में रोजगार/ डॉ० समीर गुलाब सय्यद	66
डॉ० रामविलास शर्मा का स्त्री-चिंतन/ विशाल मिश्र	69
सुमन का काव्य : सामाजिक चेतना का सरगम/ डॉ० आदित्य प्रचंडिया	74
ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना-दृष्टि/ जयकांत यादव	81
महाभारत में वर्णित मानवीय पारिस्थितिकी एवं उसका अपने पर्यावरण पर प्रभाव/ गौतम	86
आदिवासी साहित्य : चिंतन की दिशाएँ एवं मानदंड/ डॉ० गौतम भाईदास कुवर	93
शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' एवं हृषीकेश सुलभ कृत 'माटीगाड़ी' में साम्य और वैभिन्य/ कंचन बंसवाल	100
बाजारवाद एवं वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में 'दौड़' उपन्यास/ डॉ० प्रमोद गोकुळ पाटील	106
21वीं सदी में हिंदी महिला उपन्यास लेखन : समझ एवं रचनात्मक पहलू/ गिरजेश कुमार	110
शेखर जोशी की कहानियों में संघर्ष से जूझता मध्यम व निम्नवर्ग/ डॉ० मृदुल जोशी, तनुजा राणा	115
काका हाथरसी के काव्य में हास्य-व्यंग/ डॉ० महेमूद पटेल	120
इक्कीसवीं सदी के हिंदी साहित्य में चित्रित दलित स्त्री-संवेदना/ डॉ० दोड्डा शेषु बाबु	125
छतरपुर जनपद की पत्रकारिता की विकास-यात्रा : एक अध्ययन/ नरेंद्र अरजरिया	131
आदिवासी उपन्यासों में व्यक्त नक्सलवाद/ डॉ० महेंद्रकुमार रा० वाढे	138
समकालीन लेखिका सुषमा अग्रवाल के 'जागृति' उपन्यास में चित्रित ग्रामीण समस्याएँ/ सईदा मेहराज	143
भगवानदास मोरवाल के 'नरक मसीहा' उपन्यास का विश्लेषण/ रुमैसा नजीर	146
अजनबीयत व एकाकीपन : मनोहरश्याम जोशी के कथासाहित्य के संदर्भ में डॉ० मृदुल जोशी, अनिका सिंह	149
गढ़वाली लोकसाहित्य : स्वरूप, लक्षण और विकास/ डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्त्वाल	153

माहेश्वर तिवारी के नवगीतों में राजनीतिक विसंगति का यथार्थ चित्रण/ ललितकुमार सारस्वत	159
शैलेश मटियानी का कथासाहित्य/ डॉ० हसमुख परमार	166
भारतीय समाज में रिश्तों का लोमहर्षक रिसाव/ डॉ० रूबी जुत्सी	174
विवेकीराय कृत उपन्यास 'सोना माटी' में आंचलिकता/ विभा रीन, डॉ० सुनीलकुमार	181
नवजागरण के प्रहरी निबंधकार बालकृष्ण भट्ट/ डॉ० रमेशकुमार	194
राष्ट्रीय आंदोलन और सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं के प्रति पत्रकारिता का रवैया/ अरुण रंजन	201
स्वच्छ भारत अभियान का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन/ डॉ० भूरसिंह जाटव	207
भारतवर्ष में शिक्षित श्रमिक/ डॉ० शुभलक्ष्मी गुप्ता	216
शेखर जोशी की कहानियों में संघर्ष एवं द्वंद्व/ डॉ० मृदुल जोशी	219
अनामिका के काव्य में स्त्री-विमर्श/ डॉ० शिंदे नवनाथ सर्जोराव	224
मधु काँकरिया की कहानियों में नारी-अस्मिता/ रंभा रत्नाकर, डॉ० रेणु सक्सेना	230
अवसरवादी पत्रकारिता के दौर में गणेशशंकर विद्यार्थी की सैद्धांतिक पत्रकारिता की प्रासंगिकता/ योगेन्द्र सिंह	236
तीसरी दुनिया का यथार्थ/ डॉ० महेश दवंगे	244
कला और सौंदर्यशास्त्र : एक अभिव्यक्ति/ ज्योति रानी	249
'यमदीप' उपन्यास और तृतीय लिंगी समाज जीवन/ डॉ० नानासाहेब जावळे	254
आदिवासी विमर्श और हिंदी कविता/ सुनील कुमार	260
जयप्रकाश कर्दम की कविताओं में दलित-चेतना/ सीमादेवी	270
चंद्रकांत देवताले की कविताओं में स्त्री-विमर्श/ उमेशकुमार चरपे	274
संत कबीर की सामाजिक चेतना/ नीरू रानी	278
आदिवासी जीवन और प्रवृत्ति/ डॉ० राजेंद्र सोमा घोडे	282
औपन्यासिक कला और जीवन-दृष्टि : अंतःसूत्रों की खोज/ डॉ० रुपिंद्र शर्मा	287
नई उम्मीद जगाती व्यंग्य रचनाओं की एक किताब/ रमेश तिवारी	308
चालाकियों के दौर में 'बुद्धिमान की मूर्खता'/ रमेश तिवारी	310
अपने समय-समाज के अंधकार के बरक्स राह दिखाती 'सोच की चिंगारियाँ'/ रमेश तिवारी	313
लघुकथा का वर्तमान परिदृश्य : एक दृष्टि/ सुषमा गुप्ता	318
साहित्य एवं शोध: निकष पर/ डॉ० कृष्णागोपाल मिश्र	321
मनन-चिंतन का परिणाम : 'साहित्य की परख'/ डॉ० संजीव श्रीवास्तव	324
हरिप्रिया : समर्पण, संघर्ष और जिजीविषा का सौंदर्य/ डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ	330
लघु उपन्यास 'विद्यावाचस्पति मैं भी गुनहगार हूँ' की समीक्षा/ डॉ० सुनील कुलकर्णी	333
डस्टबिन एवं अन्य कहानियाँ/ डॉ० आशा शर्मा	336

आदिवासी विमर्श

पिछले कुछ महीनों से शोध-संदर्भ-7 की तैयारी में लगा हुआ हूँ। इसमें सन् 2014 से 2018 तक भारतीय विश्वविद्यालयों में हिंदी में पीएच०डी० तथा डी०लिट्० उपाधि-प्राप्त शोधार्थियों और उनके शोध-प्रबंधों का विवरण उपलब्ध होगा।

इस विवरण को एकत्र करते समय मैंने पाया कि इस कालखंड में शोध-छात्रों की दृष्टि तीन प्रकार के विमर्शों पर व्यापक रूप से पड़ी है। वे हैं—दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और आदिवासी-विमर्श। इस बार आदिवासी विमर्श पर चर्चा करने का मन है।

भारत में करीब 427 आदिवासी जातियाँ रहती हैं। हर जाति की अपनी अलग-अलग संस्कृति, भाषा और इतिहास है। भारत के संविधान में आदिवासियों के लिए 'अनुसूचित जनजाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में आदिवासी समुदायों के लिए असुर, दस्यु, निषाद, राक्षस, वानर जैसे नाम दिए गए हैं। आदिवासियों की संचित विरासत उनकी अपनी सामुदायिक पहचान है। 'भारतीय संस्कृति कोश' में आदिवासी शब्द की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—'ऐसे निवासी, जो किसी क्षेत्र के मूल निवासी हों और ऐसे निवासी जो प्राचीनतम निवासी हों। 'मानक हिंदी कोश' के अनुसार आदिवासी शब्द का अर्थ है—किसी देश या प्रांत के वे निवासी जो बहुत पहले से वहाँ रहते आए हों और जिनके बाद और लोग भी वहाँ आकर बसे हों। डॉ० प्रकाशचंद्र मेहता के अनुसार—'आदिवासी से अभिप्राय देश के प्राचीनतम निवासियों से है, जोकि उन्नति के पथ की ओर अग्रसर नहीं हो पाए और देश की मुख्य धारा से कट गए एवं कालांतर में पिछड़ते ही गए।' कहा जा सकता है कि आदिवासी वह समूह है, जिसकी एक विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और परंपराएँ होती हैं, जो एक स्थान पर निवास करते हों और संविधान में जिसे अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्राप्त हो।

किसी भी समाज को बेहतर करने के लिए आवश्यक होता है कि उसके सामाजिक जीवन के यथार्थ को जाना जाए। आदिवासी समाज की भी अपनी सामाजिक पहचान है, जो उसे दूसरे समाज से भिन्न करती है और पृथक् समाज होने का बोध कराती है। आदिवासी लोगों के प्रति बहुत-सी धारणाएँ हैं कि वह असभ्य और जंगली होते हैं, लेकिन ऐसा सोचना बिल्कुल गलत है। वास्तव में वे सभ्य और सुसंस्कृत लोग हैं। उनके जीवनमूल्य हमारे सभ्य समाज के मूल्यों से कई हद तक बेहतर हैं। आदिवासी समुदाय समतामूलक है, इसलिए वहाँ कोई भी छोटा-बड़ा, अवर्ण-स्वर्ण, स्पृश्य-अस्पृश्य नहीं होता। इस समाज में जाति-प्रथा नहीं है। गाँव का प्रधान (मुंडा) और गाँव का पुरोहित (पाहन) सबको बराबर समझा जाता है।

आदिवासी समाज की एक बात गौर करने लायक यह है कि इस समाज में कोई बच्चा अनाथ नहीं होता, यदि किसी बच्चे के माँ बाप मर जाते हैं, तो उन्हें गाँव के लोग उसी तरह पालते हैं जैसे कि अपने बच्चे को पालते हैं। आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष की स्थिति मुख्य धारा के समाज से बेहतर है। इस समाज में स्त्री को अपनी पसंद का वर चुनने का अधिकार है। स्त्री-पुरुष के संबंधों में भी स्वतंत्रता है।

आदिवासियों का इतिहास में कहीं भी उल्लेख नहीं है। मुख्य धारा के समाज ने उसे हमेशा हाशिए पर रखा और उसके इतिहास के साथ भी ऐसी ही नीति बरतते रहे। इसलिए आदिवासियों के कुछ ही विद्रोह और उनके कुछ नेताओं के नाम बड़ी मुश्किल से ही इतिहास में खोजने पर मिल पाते हैं। जब हमारे इतिहास में राजाओं, महाराजाओं के बलिदान की कथाओं को लिखा गया है तो मात्र तीर-कमान के साथ अँग्रेजों से लोहा लेनेवाले आदिवासियों को इतिहास के पन्नों में क्यों नहीं उतारा गया? लेकिन आज आदिवासी जागरूक हो गए हैं और अपना इतिहास स्वयं लिख रहे हैं। आदिवासी समाज को बर्बर, जाहिल और असामाजिक मानकर मुख्य धारा के समाज ने उनसे एक फासला बनाकर रखा है, जिसका परिणाम आज यह है कि न हम उस समाज के जीवन, प्रथाओं, परंपराओं, रीतिरिवाज, संघर्ष, संस्कृति, संस्कार और कला से परिचित हो पाए हैं और न ही उनके बारे में जानने की जिज्ञासा हमारे अंदर पनपी है। इतिहास साक्षी है कि आदिवासी समाज हिंसा से दूर रहा है, लेकिन जब-जब उनके जीवन और समाज में किसी ने अकारण खलल डाली है, तो उन्हें विद्रोह के लिए विवश होना पड़ा है।

आदिवासी समुदाय के सामने आज सबसे बड़ा संकट उसकी अस्मिता का है। उसकी अस्मिता और अस्तित्व सब खतरे में हैं। अस्मिता और अस्तित्व आपस में जुड़े हैं। यदि किसी समुदाय का अस्तित्व रहेगा तो उसकी अस्मिता भी बची रहेगी। 'आदिवासी' शब्द एक पहचान को व्यक्त करता है तथा वह पहचान अस्मिता से जुड़ी हुई है। औपनिवेशिक पूँजीवाद आदिवासियों के अस्तित्व को बड़ी तेजी से मिटाता चला जा रहा है।

अनेक उपन्यासकारों ने आदिवासियों की समस्याओं की अपनी लेखनी का विषय बनाया है। एक सीमा तक उन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली है, उनके उपन्यासों में आदिवासियों की शिक्षा, अकाल, भूख, गरीबी, नशा-खोरी, शोषण, दमन और उनकी अस्मिता का विस्तृत चित्रण हुआ है। इनके माध्यम से हमें उस समाज के दुःखों और पीड़ाओं को समझने का परिपूर्ण अवसर मिला है।

किसी भी जाति के स्थायित्व का सबसे बड़ा प्रमाण उसकी संस्कृति होती है। यदि किसी समाज की संस्कृति समाप्त हो जाए तो उस समाज का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। आदिवासी समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति है। उनका रहन-सहन, खान-पान, पर्व-त्योहार, रीति-रिवाज सब-कुछ भिन्न हैं। इसी के आधार पर आदिवासी समाज को एक नए विशेष समुदाय के रूप में जाना जाता है। उसकी अपनी सांस्कृतिक पहचान है। उसका अपना धर्म सरना है। जंगलों में उनके सरना-स्थल हैं। विस्थापन के कारण आज उन्हें अपने घर, अपने धर्म-स्थल, अपनी संस्कृति आदि को छोड़कर जाना पड़ रहा है। उनके पर्व-त्योहार, नृत्य आदि

सभी कुछ लुप्त होते जा रहे हैं। जैसे-जैसे बाहरी लोगों का दबाव आदिवासियों पर बढ़ता जा रहा है, उनका अपना विकास रुक गया है और उनकी नस्ल भी लुप्त होने की स्थिति में दिखाई देने लगी है।

हर जनजाति के अपने धार्मिक कर्मकांड होते हैं। उनके अपने पर्व-त्योहार होते हैं। उनकी अलग वेश-भूषा होती है। यदि आदिवासियों को आधुनिक बनाने की होड़ में उन्हें उनके अपने पर्व-त्योहार, खान-पान अथवा वेश-भूषा से अलग किया जाएगा तो उनकी अपनी संस्कृति और उनके जीवनमूल्यों के समाप्त हो जाने का डर बना रहेगा। श्री राकेशकुमार सिंह ने 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में खत्म होते आदिवासी जीवनमूल्यों पर गंभीर प्रश्न उठाए हैं। (पृ० 198)

जंगल पर रोक लगाने से आदिवासियों की परंपराएँ बहुत अधिक प्रभावित हुई हैं, क्योंकि आदिवासियों की अधिकांश परंपराएँ जंगलों के साथ जुड़ी हुई हैं। 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में श्री राकेशकुमार सिंह ने आदिवासियों की शिकार-परंपरा को खतरे के निकट बताया है। (पृ० 207) इतना ही नहीं उपन्यास में खूट-कट्टी की परंपरा के समाप्त होने की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

आदिवासी लोगों को अपनी संस्कृति के प्रति एक विशेष प्रकार का लगाव होता है, किंतु विस्थापन के कारण उन्हें सांस्कृतिक संकट का सामना करना पड़ रहा है। महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में आदिवासियों को अपनी संस्कृति से विलग होते दिखाया गया है। विस्थापित होते हुए आदिवासी कहते हैं—'वे घर और खेतों के साथ-साथ अपनी संस्कृति से भी कट गए। नृत्य, संगीत अपनी संस्कृति से दूर हो गए। संबंधियों से बिछुड़ गए।' (पृ० 167)

स्वतंत्रता के बाद बाहरी लोगों ने उनकी जमीनों पर कब्जा कर लिया। परिणामतः उनकी परंपराओं पर बहुत अधिक असर पड़ा। श्री पुनी सिंह ने अपने उपन्यास 'सहराना' में सहरिया जनजाति के लोगों की खत्म होती परंपरा के विषय में हमारा ध्यान केंद्रित किया है। लेखक के शब्दों में आजादी के बाद घाटी को मानो छूत का रोग लग गया। जंगल बरबाद होने लगे और जमीन पर कब्जा करने की बाहर लोगों की होड़ लग गई। (पृ० 51)

आदिवासियों का अपना धर्म सरना है। वे पेड़-पौधों और अपने पूर्वजों की पूजा करते हैं। वे प्रकृति के पुजारी हैं, लेकिन धर्मांतरण इनकी बड़ी समस्या बन गया है। धर्मांतरण की समस्या से आदिवासी अँग्रेजों के समय से ही जूझ रहे हैं। उन्हें ईसाई धर्म अपनाने के लिए बाध्य किया गया। आज हर कोई उन पर अपना धर्म थोपना चाह रहा है, परिणामतः उनका मूल धर्म सरना लुप्त होने की कगार पर आ गया है। कई उपन्यासकारों ने उनकी धर्म-संबंधी समस्याओं को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में धर्म-परिवर्तन के कारण मुंडाओं में जो बदलाव आ रहा है, उसका उल्लेख श्री राकेशकुमार सिंह ने किया है—'बनासकाँटा के लगभग सारे मुंडा क्रिस्तान बन गए हैं। गले में क्रास पहिरने लगे हैं। चर्च भी जाते हैं और सरना भी जाते हैं, पर सरना की पूजा में वे अपना हाथ नहीं लगाते। क्रिस्तान बनते ही बाबू जो हो गए हैं।' (पृ० 73)

पादरी गरीब आदिवासियों को लालच देकर प्रभु यीशु का संदेश सुनाकर उनका धर्म परिवर्तन करते हैं। श्री तेजिंदर सिंह ने अपने उपन्यास 'काला पादरी' में धर्मांतरण की समस्या को प्रस्तुत किया है। आदिवासियों को ईसाई बनाने के लिए जो-जो हथकंडे अपनाए गए उन सबका वर्णन भी उपन्यास में हुआ है। श्री प्रकाश मिश्र के उपन्यास 'रूप तिल्ली की कथा' में अँग्रेज अपने लाभ के लिए आदिवासियों का धर्मांतरण करवाना चाहते हैं। श्री सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का उपन्यास 'मिसेस एंडर्सन की हिंदोस्तान वापसी' में अँग्रेजों द्वारा आदिवासियों के धर्म को परिवर्तित कराने का उल्लेख हुआ है। (पृ० 27)

हर किसी ने अपने लाभ के लिए आदिवासियों की पहचान को समाप्त करने के लिए उनके धर्म को परिवर्तित करने के प्रयास किए। आज इनकी घटती हुई संख्या के पीछे दूसरे धर्मों की साजिश दिखाई दे रही है।

आदिवासी क्षेत्रों में भुखमरी की समस्या बड़ी भयानक है। अधिकांशतः उनकी मृत्यु किसी बीमारी के कारण नहीं, बल्कि भूख के कारण होती है। जीवित रहने के लिए भरपेट भोजन नहीं मिल पाता है। अधिक दिनों तक भूखा रहने के कारण उन्हें अपने प्राणों को गँवाना पड़ जाता है।

आदिवासी क्षेत्रों में भुखमरी के कारण मनुष्य ही नहीं पशु भी मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। श्री हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में बताया गया है कि अनेक आदिवासी भूख के कारण तड़प-तड़पकर दम तोड़ देते हैं। भुखमरी के कारण वहाँ पर महामारी फैल जाती है। (पृ० 121) पेट की आग बुझाने के लिए आदिवासी कई बार जहरीली जड़ें और कंदमूल खाकर गुजारा करते हैं। कई बार इन जहरीली जड़ों के खाने के कारण उनकी मौत भी हो जाती है। श्री तेजिंदर सिंह के उपन्यास 'काला पादरी' में आदिवासियों की भूख और गरीबी का चित्रण हुआ है।

सुश्री रमा सिंह के उपन्यास 'कुतोपंथा' में टोटो समुदाय को भरपेट खाना न मिलने पर भूखे रहने का चित्रण हुआ है। (पृ० 102) श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'हुल पहाड़िया' में भुखमरी का भयावह दृश्य प्रस्तुत किया गया है। भूख के कारण तड़प-तड़पकर जान देने का वर्णन दिल को दहला देता है। (पृ० 46-47)

अधिक से अधिक पैसा कमाने के लालच में आदिवासी क्षेत्रों में खनन अधिकारी गैर-कानूनी ढंग से आदिवासियों की जमीनों पर कब्जा कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि पहले आदिवासी क्षेत्रों में खनन नहीं होता था। यह समस्या अँग्रेजों के समय से चली आ रही है। श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में अँग्रेजों द्वारा आदिवासियों की भूमि के गर्भ में दबी खनिज संपदा के दोहन का संकेत मिलता है। (पृ० 406) श्री रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में अवैध खनन की समस्या का चित्रण हुआ है। सरकार भी इन कंपनियों से मिली हुई है। (पृ० 27)

आदिवासियों की जमीनों पर अवैध खनन करनेवालों को उनके स्वास्थ्य की भी तनिक चिंता नहीं है। महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में अवैध खनन की समस्या

को उजागर किया गया है। खनन के लिए लागों की जमीन तो छीनी ही जाती है, साथ ही उनके स्वास्थ्य के साथ भी खिलवाड़ किया जाता है। (पृ० 163) श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'महाअरण्य के गिद्ध' में स्पष्ट किया गया है कि कैसे पहले सरकार और फिर बाद में अन्य लोग रत्नगर्भा धरती का दोहन करते हैं। (पृ० 160)

आदिवासियों का जीवन वनों पर निर्भर है। अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ वे वनों से ही प्राप्त करते हैं। सरकार द्वारा जंगलों पर पाबंदी लगाने के कारण अब उन्हें अनेक समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। आदिवासी वनों से उतना ही लेते हैं, जितनी उन्हें आवश्यकता होती है, लेकिन स्वयं को सभ्य कहलाने वाला समाज वनों का अंधाधुंध दोहन कर रहा है। इस कारण न केवल आदिवासी परेशान हैं, वरन् पर्यावरण भी असंतुलित हो रहा है। श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में सरकार द्वारा जंगलों का राष्ट्रीयकरण करने से इन आदिवासियों को जिन समस्याओं का सामना कर पड़ा रहा है, उसका चित्रण हुआ है। (पृ० 46-47)

लेखक ने सरकार द्वारा जानवरों के प्रति हमदर्दी और आदिवासियों के प्रति बरती जानेवाली लापरवाही पर भी करारी चोट की है। (पृ० 152-153) आदिवासियों की ऐसी ही स्थिति श्री रणेंद्र ने अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में भी चित्रित की है। सरकार को भेड़ियों की नस्ल खत्म होने का डर लग रहा है, लेकिन आदिवासियों की कई नस्लें तबाह हो रही हैं, उनके विषय में सोचनेवाला कोई नहीं है। अन्य वन्यजीवों की तरह आदिवासी भी जंगल के स्वाभाविक निवासी हैं। उनका भी जंगल पर उतना ही अधिकार है, जितना जंगल में रहने वाले अन्य प्राणियों का। सरकार धनलिप्सा के कारण जंगलों को बर्बरतापूर्वक उजाड़ रही है। (पृ० 79)

आदिवासियों के लिए जंगल ही उनका सब-कुछ है। जंगलों से ही वे अपना पेट भरते हैं और जंगलों से ही उनकी परंपराएँ जुड़ी हुई हैं, किंतु जब उन्हें जंगलों से विस्थापित किया जाता है तो उनके मन को काफी पीड़ा पहुँचती है। श्री हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में बताया गया है कि किस प्रकार आदिवासियों के वनों पर से अधिकार छीन लेने के कारण वे विद्रोह भी करते हैं, क्योंकि अकाल के समय जंगल ही आदिवासियों का एकमात्र सहारा होते हैं। जंगलों का राष्ट्रीयकरण करने से आदिवासी अपने पर्व-त्योहारों को भली प्रकार नहीं मना पाते, क्योंकि उनके कुछ पर्व शिकार आदि से जुड़े हुए हैं।

आदिवासी ऋण की समस्या से भी ग्रस्त हैं। वे महाजनों, साहूकारों, जमींदारों आदि के शोषण की चक्की में पिस रहे हैं। श्री हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में ऋण की इस समस्या का वास्तविक चित्रण हुआ है। (पृ० 45) श्री मधुकर सिंह के उपन्यास 'बाजत अनहद ढोल' में भी महाजनों द्वारा आदिवासियों को कर्ज देकर बँधुआ बना देने का चित्रण है। आदिवासियों के पास भले ही कुछ न हो, किंतु धार्मिक कर्मकांड अथवा विवाह-मरण के अवसर पर वे कर्ज लेने से पीछे नहीं हटते। इनके पास शारीरिक श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, परिणामतः वे अपने-आपको महाजनों के हवाले कर देते हैं। (पृ० 18)

आदिवासी कमिऔती, बेगार-प्रथा और बँधुआ मजदूरी की समस्या से भी ग्रस्त हैं। कमिऔती अर्थात् कम मजदूरी देकर कमरतोड़ मेहनत करवाना। बँधुआ मजदूरी का अर्थ है

किसी व्यक्ति को सदैव के लिए अपने यहाँ बंधक बनाकर रखना और उसे मात्र भोजन देकर आजीवन काम करवाना। बेगार-प्रथा वह है जिसके अंतर्गत व्यक्ति ऋण न चुका पाने के कारण आजीवन ऋणदाता की बिना पैसा लिए मजदूरी करता है।

बेगार करनेवाले व्यक्ति को अपनी बीमारी की चिंता किए बिना मालिक के यहाँ मजदूरी करनी पड़ती है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे मालिक की यातनाओं का शिकार होना पड़ता है। श्री हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में बेगार-प्रथा का चित्रण किया गया है। (पृ० 41) श्री राकेशकुमार सिंह ने भी अपने उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में आदिवासियों द्वारा निःशुल्क सेवा देने की परंपरा का चित्रण किया है। (पृ० 37) लेखक ने बेगार-प्रथा का मुख्य कारण ऋण को ही माना है। आदिवासी अनावृष्टि और अल्पवृष्टि के शिकार होते हैं। सरकारी कर चुकाने के लिए प्रायः महाजनों से कर्ज लेते हैं। वे कर्ज-शोधन अनाज के रूप में करते हैं, किंतु बहुत प्रयास करने पर भी ऋण का सूद ही चुका पाते हैं, मूल वैसा का वैसा ही बना रहता है, इसलिए वे अपने आपको महाजन को सौंप देते हैं। (पृ० 126)

बेरोजगारी भी आदिवासियों की एक बड़ी समस्या है। औद्योगीकरण के कारण आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन छिन गए। उनके व्यवसाय और खेती-बाड़ी नष्ट हो गए। उनके क्षेत्रों में कारखाने तो खुल रहे हैं, किंतु उसमें नौकरियाँ बाहरी लोगों को दी जा रही हैं। अब स्थिति यह है कि उनके पास आजीविका का कोई साधन ही नहीं बचा है। महुआ माजी ने अपने उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में बेरोजगारी की समस्या पर विस्तार से प्रकाश डाला है। (पृ० 164)

बेरोजगारी के कारण आदिवासी समुदाय के लोग अपनी स्त्रियों से देह-व्यापार करवाने पर भी संकोच नहीं करते। शरद सिंह के उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतें' में बताया गया है कि बेड़िया समुदाय के अधिकतर पुरुष बेरोजगार हैं। अपनी बेरोजगारी के कारण वे अपने परिवार की स्त्रियों को देह-व्यापार की आग में झोक देते हैं। (पृ० 201)

विस्थापन की समस्या आदिवासियों की एक ऐसी समस्या है, जो उन्हें अपने घर से ही बेघर कर देती है। आदिवासी क्षेत्रों में बाँध बनाने अथवा कारखानों की स्थापना के लिए उन्हें अपनी जमीनों से खदेड़ा जा रहा है। आदिवासी शिकार की खोज में अथवा अपने जानवरों के लिए चारागाह की खोज में कई बार विस्थापन करते रहे हैं, किंतु अब उनका विस्थापन जोर-जबरदस्ती से करवाया जा रहा है। सुश्री अमिता शर्मा के उपन्यास 'विस्थापित' में इस समस्या पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। (पृ० 67, 169) जिन आदिवासियों के गाँव तथा खेत बाँध बनाने में डूब गए, वे आजतक स्थायी रूप से कहीं पर भी बस नहीं पाए हैं। आदिवासियों की ही जमीनों पर तैयार किए गए बाँधों से न उन्हें सिंचाई के लिए पानी मिल पाता है, न ही बिजली। हाँ, इन बाँधों के नाम पर उनकी संस्कृति अवश्य छिन जाती है। श्री सुरेशचंद्र श्रीवास्तव के उपन्यास 'मिसेस एंडर्सन की हिंदोस्तान वापसी' में मिसेस एंडर्सन उर्फ पुष्पी बाँध बनाने के कारण होने वाले विस्थापन के कारण होने वाले नुकसान की चर्चा करती हैं। (पृ० 9-10)

महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में भी आदिवासियों के विस्थापन

की पीड़ा दर्ज हुई है। (पृ० 167) श्री रणेंद्र के उपन्यास 'गायब होता देश' में भी विस्थापन की पीड़ा को चित्रित किया गया है।

आदिवासी प्रायः नशाखोरी के शिकार हैं। हड़िया शराब आदिवासियों की संस्कृति है, किंतु इस संस्कृति ने विकृति का रूप धारण कर लिया है। श्री रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' में नशाखोरी की तरफ आदिवासियों के बढ़ते आकर्षण की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। सुश्री रमासिंह के उपन्यास 'कुतोपंथा' में भी टोटो समुदाय द्वारा महुए की शराब के सेवन का चित्रण हुआ है। (पृ० 102-103) आदिवासी अपने पीड़ाओं को भूलने के लिए भी शराब का सहारा लेते हैं। बाद में नशे के आदी होकर अपना सब-कुछ तबाह कर लेते हैं। श्री हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में जब कुरिया अपने बाप को नशे की हालत में देखता है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि नशा आदमी को बेकार बना देता है। (पृ० 30)

आदिवासी क्षेत्रों में प्रदूषण के कारण स्वास्थ्य-संबंधी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। औद्योगिक कचरे तथा खदानों के जहरीले जल से आदिवासियों को कई गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। झारखंड में यूरेनियम की खदानों के कारण टी०वी०, कैंसर, थैलेसेमिया आदि घातक बीमारियों का शिकार होना पड़ रहा है। श्री रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में बताया गया है कि गड्ढे न भरने के कारण वहाँ के लोग बीमारियों के शिकार हो रहे हैं। (पृ० 62)

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में महुआ माजी ने भी इस सत्य का उद्घाटन किया है। मरंग गोड़ा क्षेत्र में रहनेवाले आदिवासियों को टी०वी० जैसी जानलेवा बीमारियों से जूझना पड़ता है। उपन्यास में लेखिका ने यूरेनियम से हानेवाली बीमारियों से भी परिचित कराया है। (पृ० 158) स्वास्थ्य केंद्रों के अभाव में भी आदिवासियों को मृत्यु का शिकार होना पड़ रहा है। कुछ स्वास्थ्य केंद्र केवल कागजों पर हैं, वास्तविकता में उन्हें खोला ही नहीं गया है। श्री संजीव के उपन्यास 'आकाश चंपा' में बताया गया है कि स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण वे अल्पायु में ही मर जाते हैं। (पृ० 257)

आदिवासी क्षेत्रों में साफ-सफाई का भी उचित प्रबंध नहीं है। परिणामतः मलेरिया आदि का खतरा निरंतर बना रहता है। श्री पुनी सिंह के उपन्यास 'सहराना' में सहरिया लोगों के मलेरिया से पीड़ित होने का चित्रण हुआ है। लेखक के शब्दों में—'सहराने में कोई ऐसा घर नहीं था, जिसका कोई-न-कोई सदस्य मलेरिया की पकड़ में न हो। जिस घर में झाँको वहीं पर लोग खाट पकड़े पड़े मिलते। बुखार में जलते और रह-रहकर कराहते।' (पृ० 160)

शिक्षा की समस्या भी आदिवासियों की एक बड़ी समस्या है। शिक्षा के अभाव में वे निरंतर पिछड़ते रहे हैं। अज्ञान उनकी परेशानियों का बड़ा कारण बन जाता है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में श्री राकेशकुमार सिंह ने शिक्षा के नाम पर आदिवासियों के साथ होने वाले खिलवाड़ को पाठकों के समक्ष भली-भाँति प्रस्तुत किया है। श्री संजीव के उपन्यास 'आकाश चंपा' में भी ऐसे स्कूलों का चित्रण हुआ है, जिनका नाम सिर्फ कागजों पर है। (पृ० 77) श्री मधुकर सिंह के उपन्यास 'बाजत अनहद ढोल' में आदिवासियों के दुःख और पीड़ा का कारण उनकी अशिक्षा को ही माना गया है। (पृ० 19) उनकी सबसे बड़ी कमजोरी शिक्षा का अभाव

ही है। शिक्षा के अभाव में जमींदार और अन्य अधिकारी भी उनका शोषण करते हैं।

भ्रष्टाचार ने आज समाज को अपनी जड़ों में इसप्रकार जकड़ लिया है कि कोई भी व्यक्ति उसकी गिरफ्त से अपने आपको बचा नहीं पा रहा है। रिश्वत, धोखाधड़ी, स्वार्थसिद्धि सब भ्रष्टाचार के कारण फल-फूल रहे हैं। भ्रष्टाचार ने समाज को इसतरह खोखला कर दिया है कि ईमानदार व्यक्ति के लिए उसमें साँस लेना भी कठिन हो रहा है। भोले-भाले आदिवासी भी इस भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहे हैं। श्री राकेशकुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में भ्रष्टाचार की समस्या को उजागर किया है। (पृ० 135) आदिवासियों के लिए कई कल्याणकारी योजनाएँ बनती हैं, किंतु उनका लाभ उन तक नहीं पहुँच पाता। जाली आँकड़े बनाए जाते हैं। उपन्यास का पात्र संजीव जब जिला मुख्यालय के जनगणना कार्यालय में पहुँचते हैं तो उन्हें ज्ञात होता है कि गाँव का नाम तक सही नहीं है। करोड़ों रूपए भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहे हैं। जब वे इस विसंगति की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित कराते हैं तो उनसे कहा जाता है—'मास्टर हैं न जी आप, तो मास्टरी कीजिए न! काहे को साफ-सुथरे कागजात में काट-कूट करवाने को परेशान हैं।' (पृ० 136)

श्री सतीश दुबे के उपन्यास 'कुराटी' में आदिवासी और हरिजनों के लिए आए पैसों में हेर-फेर करने का चित्रण हुआ है। इसका स्पष्टीकरण तब होता है, जब नागराज को त्रिवेदी दादा बेईमानी के पैसे न मिलने पर बड़े साहब से शिकायत करने को कहता है—'यहाँ तो सर सभी बिल बड़े होते हैं। लाखों का बजट रहता है। सरकार के पास पैसा ही पैसा है।...सबकी खरीद में सबको मिलता है। कभी-कभी तो माल खरीदा भी नहीं जाता और स्टॉक इंट्री होकर पेमेंट हो जाता है। हमको सब मालूम रहता है और मालूम होते हुए भी पाप की पहली सीढ़ी हम बनते हैं। उसपर हक्क का नहीं मिले तो दुःख तो होगा न।' (पृ० 18)

आदिवासी महाजनों के द्वारा शोषण के शिकार बने रहते हैं। श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में महाजनों के शोषण का शिकार हुए आदिवासियों का चित्रण हुआ है। लेखक के शब्दों में—'आज भी एक निर्धन आदिवासी महाजन के कर्ज में जन्म लेता है, बाबू की बेगारी खटता है और साहू के कर्ज में ही मर जाता है।' (पृ० 8)

आदिवासियों द्वारा बीमारी या उत्सव आदि पर लिए गए कर्ज पर महाजन इतना ब्याज लगा देते हैं कि आदिवासी सारी उम्र उसके ब्याज को चुकाने में ही समाप्त हो जाती है। महाजनों द्वारा आदिवासियों के शोषण का चित्रण श्री राकेशकुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में भी किया है। (पृ० 310) भूख से बेहाल आदिवासियों को ऋण देकर महाजन अपनी मन-मानी आरंभ कर देते हैं। श्री मधुकर सिंह ने अपने उपन्यास 'बाजत अनहद ढोल' में भवेश महाजन के कुकृत्य का कच्चा चिट्ठा हमारे सामने प्रस्तुत किया है। (पृ० 38) श्री सुरेशचंद्र श्रीवास्तव द्वारा लिखे गए उपन्यास 'मिसेस एंडर्सन की हिंदुस्तान वापसी' में भी बताया गया है कि किस तरह महाजन और जमींदार मिलकर मुंगरी की जमीन पर कब्जा कर लेते हैं। इसी तरह श्री पुन्नी सिंह के उपन्यास 'सहराना' में महाजनों द्वारा आदिवासियों के शोषण का सटीक चित्रण हुआ है। (पृ० 72)

आदिवासियों का शोषण महाजनों द्वारा ही नहीं होता वरन् जमींदारों, ठेकेदारों और

सरकारी अधिकारियों द्वारा भी वे निरंतर शोषित होते हैं।

हिंदी के आदिवासी उपन्यासों में पुलिस की बर्बरता के शिकार हुए आदिवासियों का विस्तृत चित्रण हुआ है। श्री हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में आदिवासियों के शोषण में पुलिस की भागीदारी भी दिखाई गई है। कई बार तो ऐसा होता है कि आदिवासी अपनी सहायता के लिए पुलिस के पास पहुँचते हैं, किंतु उन्हें ही गलत आरोप लगाकर वहाँ से भगा दिया जाता है। श्री रणेंद्र के उपन्यास 'गायब होता देश' में पुलिस द्वारा आदिवासियों के शोषण को चित्रित किया गया है। पुलिस की बर्बरता यहीं तक नहीं रुकती, वे आदिवासियों को माओवादी घोषित कर उनकी हत्या भी कर देते हैं। महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में माओवादियों और पुलिस की मुठभेड़ में निर्दोष आदिवासी मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। उद्योगपति और व्यवसायी माओवादियों को करोड़ों की लेवी देते हैं, लेकिन पुलिस उनसे कुछ नहीं कहती, किंतु कोई आदिवासी किसी माओवादी को खाना भी खिला देता है तो पुलिस उसे मार-मारकर जेल में डाल देती है।

मीडिया का कार्य है सच को सच और झूठ को झूठ बताना, किंतु आज मीडिया भी आदिवासियों की मदद करने के स्थान पर उनके शोषण में बराबर का हिस्सेदार बना हुआ है। श्री रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' में मीडिया द्वारा गलत जानकारी लोगों तक पहुँचाने का तथ्य सामने आया है। उपन्यास में बताया गया है कि निर्दोष आदिवासी मारे जाते हैं, लेकिन अखबार उन्हें नक्सलवादी कहकर लोगों के सामने पेश करते हैं। (पृ० 88)

श्री तेजेंद्र सिंह के उपन्यास 'काला पादरी' में भी मीडिया का ऐसा ही घृणित रूप उभरकर सामने आया है। इसमें बताया गया है कि किस तरह मीडिया गरीब आदिवासियों की समस्याओं को छिपा लेता है।

यौन-उत्पीड़न आदिवासियों की बहुत व्यापक समस्या है। आदिवासी क्षेत्रों की अनपढ़ महिलाओं और मासूम बच्चियों का जमकर शारीरिक शोषण किया जाता है। कई उपन्यासकारों ने इस समस्या को हमारे सामने लाने की कोशिश की है। श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में लेखक ने सामूहिक बलात्कार की समस्या को उभारा है। उपन्यास की एक नारी पात्रा रंगेनी सामूहिक बलात्कार का दर्द झेलती है। रंगेनी सिर्फ एक बार ही बलात्कार का शिकार नहीं बनती, बल्कि कई बार उसे इस नर्क से गुजरना पड़ता है। (पृ० 67-68)

सुश्री रमा सिंह के उपन्यास 'कुतोपंथा' में आदिवासी लड़की का बलात्कार कर उसे पैसे देकर बात को रफा-दफा करने का चित्रण हुआ है। कई बार आदिवासी औरतें शराबी ठेकेदारों और रेल अधिकारियों की वासनापूर्ति के लिए उठा ली जाती हैं। श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में रेल विभाग में ठेका चलानेवाले ठेकेदारों द्वारा आदिवासी किशोरियों का यौवन शोषण दिखाया गया है।

श्री रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में शिवदास बाबा असुर जनजाति की औरतों का यौन-शोषण करते हैं। (पृ० 69) जंगल में लकड़ी लेने अथवा जानवरों को खोजने के लिए गई लड़कियों को भी प्रायः यौन-शोषण का शिकार होना पड़ता है। श्री राकेशकुमार सिंह के उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में ऐसे ही शोषण का कष्टप्रद चित्रण उपलब्ध है।

(पृ० 46-47)

उक्त समस्याओं और हिंदी के आदिवासी उपन्यासों में उनके चित्रण से ज्ञात होता है कि हमारे उपन्यासकार इन समस्याओं के प्रति अत्यधिक सजग और जागरूक हैं।

□

जैसा कि मैंने प्रारंभ की पंक्तियों में कहा है कि शोध-संदर्भ-7 तैयार किया जा रहा है। इसमें सन् 2014 से 2018 के बीच संपन्न उपाधिपरक शोध-प्रबंधों का विवरण प्रकाशित किया जाएगा। आपसे आग्रह है कि आप अपना, अपने शोध-छात्रों का अथवा अपने विश्वविद्यालय में हिंदी में संपन्न शोध-कार्यों का विवरण निम्नवत् प्रेषित करने की कृपा करें।

विवरण इस प्रकार होगा—शोध-छात्र का नाम, शोध-विषय का नाम, उपाधि प्रदान करनेवाले विश्वविद्यालय का नाम, उपाधि वर्ष, शोध निर्देशक का नाम एवं पता, शोध-छात्र का पता।

आशा है, आप यह विवरण भेजकर इस शोध-यज्ञ में अपना भरपूर सहयोग प्रदान करेंगे।



(डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल)

समीक्षा समिति

- प्रो० हरिमोहन, कुलपति, जे०एस०विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोशाबाद) उ०प्र०
प्रो० आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा (उ०प्र०)
प्रो० रामसजन पांडेय, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)
प्रो० अनिलकुमार जैन, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
प्रो० हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म०प्र०)
प्रो० शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ०प्र०)
प्रो० चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस०एन०डी०टी० महिला वि०।पीठ, पुणे (महा०)

मानव-स्वातंत्र्य का अमोघ अस्त्र, 'शब्द' एवं हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता

डॉ० निशा तिवारी

डॉ० राजेन्द्र मिश्र की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता' (प्रथम संस्करण 2018) न केवल शब्द-संस्कृति के माध्यम से मानव-स्वातंत्र्य का उद्घोष करती है वरन् साहित्यिक पत्रकारिता के सफरनामे को देश की अस्मिता की जागृति के आलोक में व्याख्यायित भी करती है। राष्ट्रीय जागरण एवं उसकी अस्मिता को संरक्षित करने में हिंदी के रचनाकारों के अवदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने अपनी इस पुस्तक में इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए 'पत्रकारिता' को साहित्य-रचना-कर्म और संपादक द्वारा अनेक संघर्षों से जूझकर यथार्थ की सृजन-प्रक्रिया इन दोनों ही तत्त्वों से जोड़कर देखा है। मिश्रजी ने साहित्यिक पत्रकारिता की विकास-यात्रा को उक्त दोनों ही संदर्भों में आकलित किया है।

डॉ० राजेन्द्र मिश्र की रचना-सृष्टि विविध विधाओं का ऐसा स्तवक है, जिसमें संग्रहित प्रत्येक विधा-पुष्प अपनी-अपनी कथ्यगत एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य को स्वतंत्र और मौलिक रूप से पृथक्-पृथक् बयाँ करता है, किंतु उनका संश्लिष्ट सौंदर्य मनुष्यता की अंतर्दृष्टि से ही संवलित है तथा उसका सुरभि-प्रसार दिगंतव्यापी है। मिश्रजी की यही मानव-केंद्रीयता हमें उनकी इस पुस्तक 'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता' में भी दिखाई देती है। मानव-केंद्रिकता अंततः समाज और राष्ट्र के व्यापकत्व में विस्तार पाकर 'साहित्य समाज का दर्पण है', उक्ति को चरितार्थ कर देती है।

पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना जाता है। यों शब्दार्थ की दृष्टि से जर्नलिज्म का मूल जर्नल शब्द 'दैनिक' का द्योतक है, किंतु अर्थ-विस्तार के रूप में वह सामयिक ज्ञान की अभिव्यक्ति है। ऐसा ज्ञान, जो तथ्यगत होता है। किंतु पत्रकारिता में तथ्यात्मक ज्ञान ही महत्वपूर्ण नहीं होता वरन् उसका समुचित मूल्यांकन और यथोचित प्रस्तुतिकरण भी आवश्यक होता है। इसीलिए जी०सी० मूलर ने लिखा है—

'Journalism is business of timely knowledge of the business of obtaining the necessary fact of evaluating them carefully and of acting on them wisely'.

जिस मनुष्यता का पाठ, मिश्रजी के संपूर्ण लेखन में व्याप्त है वही साहित्यिक पत्रकारिता में सामाजिक सरोकारों से जुड़कर उसे 'सर्वजन हिताय' अर्थात् 'सर्वे भद्राणि पश्यंतु' के रूप में दिखाई देता है। एतदर्थ वह पत्रकारों को लक्ष्य निर्धारण के लिए प्रेरित करती है तथा उन्हें कर्तव्यनिष्ठ भी बनाता है। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास

को समाचारपत्रों के माध्यम से रच रही थी, इसीलिए उसे अर्द्ध साहित्यिक पत्रकारिता कहा गया था। कालांतर में यही हिंदी समाचार-पत्रों का प्रारंभिक रूप, विकसित होकर, भारतेंदुयुग में साहित्यिक पत्रिका के रूप में उभरकर आया।

‘हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता’ पुस्तक में हमें हिंदी साहित्य के विकास और पत्रकारिता के विकास के द्वंद्वत्मक परिचय के संकेत मिलते हैं। एक ओर लेखक ने साहित्यिक पत्रकारिता के विकास-क्रम को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचित किया है, दूसरी ओर पत्रकारिता के शाश्वत धर्म के रूप में सामाजिक चेतना, जागरूकता, वैविध्य, मूल्यों के नियमन, सूक्ष्म दृष्टि, संपादक की नीर-क्षीर विवेकी सूझ-बूझ तथा विशिष्ट उद्देश्यों की भी पड़ताल की है। साहित्यिक पत्रकारिता को भावुकता से परे ले जाकर एक तटस्थ विवेचक की भूमिका के निर्वहण का संदेश भी उन्होंने दिया है। पत्रिका के मानदंडों के अनुरूप उन्होंने साहित्यिक पत्रिका में भी निर्भीकता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, प्रेस की स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं व्यावसायिक वृत्ति से परे जाने की प्रवृत्ति इत्यादि वैशिष्ट्य को आवश्यक माना है। मिश्रजी के अनुसार मात्र सूचना का संप्रेषण ही पत्रकारिता का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, बल्कि साहित्य-रचना के माध्यम से समाज में जागरूकता लाना भी उसका उद्देश्य होना चाहिए।

पुस्तकीय समीक्षा को यदि अध्यापकीय मिजाज से न तोला जाए तो कहा जा सकता है कि मिश्रजी की इस पुस्तक का दो दूनी चार का नाता नहीं है। वस्तु परिगणन शैली में कहा जाए तो विषय-विवेचन, इतिहास, सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ, जन-मानस का जागरण, साहित्यिक पत्रकारिता का अभिनव दृष्टि से पर्यवेक्षण तथा उसके अद्यतन स्वरूप का उद्घाटन-विवेचन भी कृतिकार को अभीष्ट है।

‘आधुनिक हिंदी-पत्रकारिता’ आलेख में मिश्रजी ने हिंदी-पत्रकारिता का आरंभ ‘उदंत मार्तंड’ से मानते हुए, उसका केंद्र कलकत्ता को माना है। इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन 30 मई 1826 को हुआ था और उसके संपादक एवं संचालक जुगलकिशोर सुकुल थे। यही कारण है कि ‘हिंदी पत्रिका दिवस’ 30 मई को मनाया जाता है। साहित्यिक पत्रकारिता के संबंध में मिश्रजी की यह दृढ़ मान्यता है कि शब्द (भाषा) ही किसी भी पत्रकारिता का एक सशक्त पक्ष होता है। ‘उदंत मार्तंड’ हिंदी का प्रथम समाचार-पत्र था तथा इस पत्र में हिंदुस्तानी भाषा के पक्ष में संपादक की आरंभिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी ‘...इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखें आप पढ़ और समझ लें जो पराई अपेक्षा न करें, जो अपने भाषे की उपज न छोड़ें।’ विज्ञप्ति का यह आंशिक उद्धरण इस तथ्य को उजागर करने के लिए पर्याप्त है कि अंग्रेजी और फारसी भाषा के विरोध में हिंदुस्तानी भाषा का आग्रह भारतवासियों की अस्मिता-रक्षा के मूल मंत्र के रूप में प्रकाशित हुआ था। मिश्रजी के विचार भी ऐसी ही भाषागत अस्मिता से परिचालित हैं।

डॉ० मिश्र के अनुसार ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र साहित्य में नवजागरण के प्रतीक बने। उन्होंने 1967 में ही ‘कविवचन सुधा’ का प्रकाशन किया।’ (पृ० 17) ‘कवि वचन सुधा’ का प्रकाशन वस्तुतः ‘हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता’ की क्रांतिकारी घटना थी, क्योंकि इस पत्र ने हिंदी साहित्य और पत्रकारिता को नया संश्लिष्ट आयाम दिया था। इस पत्र के प्रकाशन के द्वारा भारतेंदु ने एक नए युग का प्रवर्तन किया था। इसमें कविता को प्रमुख स्थान मिला। साथ ही राजनीति,

समाज और साहित्य तीनों का इस मासिक-पत्रिका में समावेश किया गया।' (पृ० 17) भारतेंदु के अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों की पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं।

मिश्रजी ने भारतेंदु के पश्चात् की साहित्यिक पत्रकारिता पर प्रकाश डालते हुए उन्हें आधुनिककालीन बताया तथा हिंदीभाषा के उत्थान के संबंध में महावीरप्रसाद द्विवेदी के योगदान को रेखांकित किया। 1900 ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ तथा 1903 में महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके संपादक बने। मिश्रजी ने लिखा है, 'जब 1903 में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसका संपादन आरंभ किया, तब यह पत्रिका भाषा-परिष्कार की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हो गई, क्योंकि इसके माध्यम से ही आज हिंदी साहित्य और भाषा का वह रूप सामने आया है, जिसमें वर्तमान हिंदी का स्वरूप उपलब्ध है।' (पृ० 19) इस काल में स्वाधीनता-आंदोलन के चलते सुंदरलाल, गणेशशंकर विद्यार्थी, पराङ्कर, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, मदनमोहन मालवीय की पत्रिकाएँ राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत कर रही थीं। इस समय की पत्रिकाएँ राष्ट्रीय चेतना से जुड़कर अपना दायित्व निभा रही थीं। यहाँ तक कि रामचंद्र शुक्ल 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम से हिंदी गद्य साहित्य की परंपरा को जोड़ते हुए लिखते हैं—'गद्य रचना की दृष्टि से... संवत् 1914 (अर्थात् 1857) के बलवे (गदर) के पीछे ही हिंदी गद्य-साहित्य की परंपरा अच्छी चली।' (हिंदी साहित्य का इतिहास) जैसा कि मिश्रजी ने उल्लेख किया है, इस युग की साहित्यिक पत्रकारिता में राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप साम्राज्यवादी शासन के प्रति प्रतिषेध, अस्वीकार, ओजस्विता और जुझारूपन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके संबंध में नामवरसिंह ने भी लिखा है—

'हिंदी गद्य का निर्माण स्वाधीनता-संग्राम के जुझारु और लड़ाकूपन के बीच हुआ। संघर्ष के हथियार के रूप में निस्संदेह, साहित्य के पहले उसका यह रूप 'हिंदी पत्र, सबसे पहले और सबसे ज्यादा भारतेंदु की पत्रकारिता में प्रस्फुटित और विकसित हुआ था।' निश्चित ही नामवरसिंह का भी आक्रोश 'लड़ाकूपन' जैसे शब्द में व्यंजित है। मिश्रजी ने भी इस तथ्य को धार देते हुए लिखा है—

'यह एक संयोग ही है कि हिंदी के साहित्यकारों ने पत्र-पत्रिकाओं के संपादन के माध्यम से अपने विचारों को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ा था। इस तरह राजनीतिज्ञों के साथ ही साहित्यकार भी राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहे थे।' (हि० की सा० पत्र०, पृ० 21)

पत्रकारिता के उक्त स्वरूप के विषय में डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने रामगोविंद त्रिवेदी के संपादकत्व में प्रकाशित पत्र 'सेनापति' का उल्लेख किया है, जिसका प्रकाशन 1920 में हुआ। इसी के साथ ही माखनलाल चतुर्वेदी के अविस्मरणीय अवदान का भी उल्लेख करते हुए कहा कि उनके संपादन में जबलपुर से 'कर्मवीर' 1919 ई० (कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार 17 जनवरी 1920 को 'कर्मवीर' का प्रकाशन जबलपुर से हुआ, जबकि हिंदी साहित्य कोश एवं मिश्रजी के अनुसार यह तिथि 1919 ही ठहरती है।) से आरंभ हुआ, बाद में इसका प्रकाशन खंडवा से सन् 1922 में हुआ। चतुर्वेदीजी ने प्रथम अंक में ही लिखा है—'हम स्वतंत्रता के हामी हैं। मुक्ति के उपासक हैं। राजनीति में या धर्म में जहाँ भी स्वतंत्रता का पथ रोका जाएगा, ठोकर

मारनेवाले का पहला प्रहार और घातक शस्त्र, पहला वार आदर लेकर मुक्त होने के लिए प्रस्तुत रहेंगे।’

इस काल की साहित्यिक पत्रिका के संबंध में डॉ० मिश्र की टिप्पणी अत्यंत सार्थक और सटीक है कि ‘हिंदी-पत्रकारिता के नवीन युग का आरंभ 1930 के बाद ही हो गया था। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ समाज में अपना स्थान बना रही थीं। राष्ट्रीयता की लहर सब ओर फैल रही थी। स्वतंत्रता और क्रांति की भावना में समन्वय हो गया था।’ (हि० की सा० पत्र०, पृ० 21) लेखक ने इस भावना से प्रेरित होकर अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं और उनके संपादक-साहित्यकारों का नामोल्लेख किया है। 1930 में प्रेमचंद के संपादकत्व में ‘हंस’ का प्रकाशन एक प्रमुख घटना थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् की साहित्यिक पत्रकारिता को मिश्रजी ‘उत्तर-आधुनिककाल’ की पत्रिका का नाम देते हैं। पारिभाषिक अर्थ में सामयिक युग के ‘उत्तर-आधुनिकतावाद’ से यह भिन्न संज्ञा है, क्योंकि उत्तर-आधुनिकतावाद बहुराष्ट्रीय पूँजी के परिणामस्वरूप विकसित देशों में उपजी एक भिन्न विचारधारा है। आधुनिकता को मिश्रजी स्वतंत्रता के पूर्व की और उत्तर-आधुनिककाल को स्वतंत्रता की परवर्ती स्थिति के रूप में स्वीकार करते हुए साहित्यिक पत्रकारिता का विवेचन करते हैं। अति विकसित देशों में उत्पन्न उत्तर-आधुनिककाल को वे ‘नई सदी की साहित्यिक पत्रिका’ के नाम से संज्ञान में लाते हैं।

लेखक द्वारा कथित उत्तर-आधुनिककाल में हिंदी-पत्रकारिता इलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यमों के बाद भी फलती-फूलती रही है। सन् 1950 में हमारा संविधान लागू हुआ और हिंदी ‘राजभाषा’ बनी, किंतु संविधान के अनुच्छेद 351 में अष्टम अनुसूची के अंतर्गत हिंदी सहित पंद्रह भारतीय भाषाओं को अधिसूचित किया गया था और इन सभी भाषाओं को राष्ट्रीय भाषाओं का दर्जा दिया गया था। विडंबना यह है कि संविधान लागू होने के पंद्रह वर्ष अर्थात् 1965 के बाद भी अँग्रेजी भाषा सहभाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही। लेखक को क्षोभ युक्त पीड़ा है कि ‘स्वतंत्रता के बाद हिंदी-पत्रकारिता अँग्रेजी पत्रकारिता का उप-उत्पाद बनकर रह गई।’ इससे भी अधिक पीड़ा उन्हें इस बात की है कि ‘पहले पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन संपादक ही करते थे, किंतु अब वे इन सत्ता-प्रतिष्ठानों के नौकर हो गए हैं। यही कारण है कि आपात-काल (1975) तक आते-आते पत्रकारिता मिशन की बजाय, व्यावसायिकता से जुड़ गई।’ (हि० की सा० पत्र०, पृ० 23) यद्यपि कतिपय संपादक यथोचित रूप से तटस्थ होकर अपना पत्रिका धर्म निभाते रहे।

लेखक द्वारा तथाकथित नई सदी की पत्रकारिता इंटरनेट के तकनीकी उपकरण से गूगल साधित ज्ञान के माध्यम से क्षिप्रता और विस्तार से स्वतः को प्रकाशित करती रही। अनुवाद के अनेक साफ्टवेयर निर्मित हो गए और पत्रिकाएँ अनेक भाषाओं में एक साथ अनुदित होकर प्रकाश में आने लगीं। बाजारवाद साहित्य को उपभोग्य वस्तु में परिणत करने लगा। तो क्या साहित्यिक पत्रिका का अस्तित्व खतरे में है? नहीं, जब तक पाठक, लेखक, संपादक बने रहेंगे साहित्य भी अस्तित्व में रहेगा। लेखक ने इस तथ्य का प्रमाणन अकबर इलाहाबादी के इस उद्धरण द्वारा किया है—

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो।

जब तोप हो मुकाबिल, तो अखबार निकालो।

वास्तविकता यह है कि साहित्यिक पत्रकारिता को बाजारवाद के व्यवसायीकरण से बचाना होगा।

‘हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता’ की निरंतरता में ‘लघु-पत्रिका’ संबंधी अनेक प्रश्न लेखक को आंदोलित करते रहे हैं, जिनका समाधान उन्होंने अपने आलेख ‘लघु पत्रिकाओं का आंदोलन’ में किया है। यों पहला प्रश्न तो यह है कि आखिर लघु-पत्रिका है क्या? और दूसरा यह कि उसे आंदोलन कहने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? ‘लघु-पत्रिका’ का अर्थ है, लघु आकार की पत्रिका, जिसका प्रसार सीमित दायरे में होता है। साथ ही उसकी संरचना प्रकाशन के संदर्भ में भी सीमित होती है। उसका एक प्रमुख वैशिष्ट्य यह है कि वह व्यावसायिकता से जुड़ी नहीं होती जैसा कि मिश्रजी ने नई सदी की साहित्यिक पत्रिका के संबंध में उल्लेख किया है। लघु पत्रिकाएँ राजनीतिक-सांस्कृतिक मर्म में पैठने के लिए प्रतिरोध की जमीन तैयार करती हैं। यह प्रतिरोध (रैजिस्टेंस) लघुपत्रिकाओं के माध्यम से द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् फ्रांस में उद्भूत हुआ था। इस लिटिल मैगजीन की प्रतिरोध-संस्कृति से ज्यां पाल सार्त्र जैसे साहित्यकार और विचारक भी जुड़े थे। उनका प्रतिरोध सत्ता के विरुद्ध था, ठीक वैसे ही जैसे भारत में स्वतंत्रतापूर्व पत्रकारिता में था। लघुता का आशय व्यक्तिगत अथवा छोटे समूह के प्रयास से भी था, जिनके साधन अत्यंत सीमित थे। सीमित साधनों के बावजूद—‘यह अत्यंत सुखद है कि लघु पत्रिकाओं ने भारत के स्वाधीनता के इतिहास में अमूल्य योग दिया है। अधिक वित्तीय संसाधन न होते हुए भी इन पत्रिकाओं को प्रकाशित किया गया।’ (हि०की०सा० पत्र०, पृ० 40) इन पत्रिकाओं में ‘प्रभा’, ‘इंदु’ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मिश्रजी ने लघु पत्रिकाओं के संबंध में एक अन्य विशेष तथ्य का संकेत किया है कि लघु पत्रिकाओं को साहित्य से विलग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि इन पत्रिकाओं का संपादन साहित्यकारों ने ही किया था। माखनलाल चतुर्वेदी ने ‘कर्मवीर’ का, निराला ने ‘मतवाला’ का, सुमित्रानंदन पंत ने ‘रूपाभ’ का, प्रेमचंद ने ‘हंस’ का, भारतेन्दु ने ‘कविवचन सुधा’, हरिश्चंद्र मैगजीन का महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ‘सरस्वती’ का, बालकृष्ण भट्ट ने ‘हिंदी प्रदीप’ का, अशोक वाजपेयी ने ‘पूर्वग्रह’ का, ज्ञानरंजन ने ‘पहल’ का, विभूतिनारायण राय ने ‘वर्तमान साहित्य’, रघुवीर सहाय ने ‘दिनमान’ का, नरेश मेहता ने ‘कृति’ का, हरिनारायण ने ‘कथादेश’ का, मुक्तिबोध ने ‘नया खून’ का, जगदीश गुप्त ने ‘नई कविता’ का, धर्मवीर भारती ने ‘धर्मयुग’ का, नामवरसिंह प्रभृति ने ‘आलोचना’ का संपादन किया। यों सूची बहुत लंबी है, अतः कुछ प्रमुख लघु पत्रिकाओं का ही नामोल्लेख किया गया है।

लघु पत्रिकाओं का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है—उसका आंदोलन। डॉ० मिश्र ने लघु पत्रिका के साहित्यिक आंदोलन की पृष्ठभूमि, स्वरूप, उद्देश्य, निमित्त तथा परिणाम इत्यादि का विशद विवेचन किया है। लघु पत्रिकाओं का आंदोलन साठ-सत्तर के दशक में प्रारंभ हुआ। छोटी पत्रिकाओं के इस बड़े आंदोलन का मूल स्वर व्यवस्था-विरोधी था। डॉ० मिश्र ने इस आंदोलन के संबंध में एक विशेष तथ्य पर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है—‘अनेक पत्र-

पत्रिकाओं में सामयिक विषयों का प्रकाशन भी किया गया। वामपंथ के आधार पर भी लेखक एक गुटवाद से जुड़ गए और इस तरह लघु पत्रिकाओं को इसलिए आघात मिला, इस गुटवाद से जुड़कर साहित्यकार अलग-अलग खेमों में बँट गए।' (पृ० 45)

डॉ० राजेन्द्र मिश्र बहुज्ञ और सशक्त साहित्यकार तथा सचेत और नीर-क्षीर विवकी संपादक भी रहे हैं, अतः लघु पत्रिकाओं की मूलभूत समस्या और उसके 'अर्थशास्त्र' को वे भली-भाँति समझते हैं। आर्थिक संघर्ष से जूझते हुए अनेक पत्रिकाएँ मरणासन्न होकर जी रही हैं। पत्रिकाओं के पाठक निरंतर घट रहे हैं। टी०वी० और अन्य संचार मीडिया प्रिंट मीडिया को निरस्त करते जा रहे हैं—'सातवें दशक में अखबारों का जो अर्थशास्त्र था, उसकी अवधारणा बदली है। वस्तुतः अब वे विचारों के लिए नहीं, व्यवसाय के लिए प्रकाशित होते हैं और व्यवसाय ही विचारकों को भी आगे बढ़ाता है।' (पृ० 50) भला लघु पत्रिकाएँ विज्ञापन के अभाव में स्वयं को जीवित कैसे रखें? वास्तविकता यह है कि 'आठवें दशक के दौर में हर पत्रिका उद्योग में विकास चाहती है।' अब जो लघु पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनमें से अधिकांश सरकारी या किसी बड़े व्यावसायिक संगठन के विज्ञापन की मोहताज हो गई हैं। मिश्रजी का मत है कि 'पत्र-पत्रिकाओं द्वारा विज्ञापन लेना कोई नकारात्मक बात नहीं है, किंतु पत्रकारिता को व्यापार नहीं माना जा सकता। वह समाज के सरोकारों को इसलिए कम नहीं कर सकती कि उसे व्यावसायिक होकर जीना है।' (पृ० 53)

लघु पत्रिका के अर्थशास्त्र के तारतम्य में मिश्रजी ने डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के संपादन में प्रकाशित 'शोध दिशा' पत्रिका का गहन विश्लेषण किया है। इस पत्रिका का वैशिष्ट्य भी यही है कि नई सदी में साहित्य के व्यावसायीकरण के चलते यह व्यवसाय से कोसों दूर है। वह अपने साधनों के बल पर 1987 से निरंतर प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के प्रकाशन के 35 वर्ष बीतने के पश्चात् कभी भी इसे किसी सरकारी अथवा 'असरकारी' संस्था की कोई आर्थिक सहायता, इस कार्य को पूर्ण करने के लिए नहीं मिली।' इस त्रैमासिक पत्रिका का अन्यतम वैशिष्ट्य यह है कि इसमें शोधपरक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार के आलेखों का प्रकाशन होता है। 'शोध दिशा' का इन सबके भी ऊपर सर्वोत्तम वैशिष्ट्य है—विद्वान् साहित्यकार-संपादक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल की साहित्य के प्रति समर्पणशीलता और उनकी शोधपरक संपादन-कला। उनकी इस पत्रिका में साहित्य और शोध दूध और पानी की भाँति घुलमिल गए हैं। अग्रवाल जी की अथक साधना का नवनीत ही 'शोध-दिशा' के रूप में उभरकर आया है।

पत्रिका का नाम दिया गया—'शोध दिशा' और प्रकाशन संस्थान का नाम मिला 'हिंदी साहित्य निकेतन'। सचमुच शोध का दिक् सूचक आश्रय-स्थल तो साहित्य ही हो सकता है। इसी संस्थान से ढाई सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इसी संस्थान से प्रकाशित अनेक विशेषांक चर्चित हुए, जिनका उल्लेख मिश्रजी ने किया है। इसी संस्थान ने विद्यार्थियों के हित में शोध-संदर्भ ग्रंथ का प्रकाशन किया, जिसमें लगभग 25000 शोध-प्रबंधों की वर्गीकृत सूचनाएँ उपलब्ध हैं। साहित्य को लोककल्याणार्थ परिभाषित किया गया है—'हितेन सहित इति साहित्य।' डॉ० अग्रवाल की अनुसंधानी दृष्टि लोकहिताय ही समर्पित थी।

मिश्रजी ने संपादक गिरिराजशरण की उस दूरगामी दृष्टि तथा साहित्य को अथवा 'शोधदिशा' पत्रिका को अद्यतन तकनीक से जोड़ते हुए 'फेस बुक कविताओं' के प्रकाशन का उल्लेख किया है, जो साहित्यलेखन को इंटरनेट से जोड़ने का अभिनव प्रयोग है। दूसरे सीमांत पर अग्रवालजी काका हाथरसी की हास्यव्यंग्य धर्मी लोकचेतना के प्रशंसक थे, जो किसी की टीका-टिप्पणी की परवाह किए बिना आमजन को खुलकर हँसा सकती थी।

किसी भी पत्रिका के संपादक का दायित्व होता है कि वह रचनाकार की सर्जना-शक्ति की समाज-सापेक्षता में छानबीन करे और उसे अपनी पत्रिका में स्थान देकर समाज के नवनिर्माण की भूमिका में अपना सहयोग दे। डॉ० गिरिराजशरण ने पत्रिका के संपादकियों के माध्यम से अपना संपादक धर्म बखूबी निभाया है। इसीलिए डॉ० राजेंद्र मिश्र ने अग्रवालजी के कर्मठ, उत्तरदायित्वपूर्ण साधनापरक समर्पण भाव के संबंध में एक सार्थक टिप्पणी की है कि— 'शोध दिशा ने किसी बड़े आंदोलन को जन्म नहीं दिया, किंतु साहित्य की विविध विधाओं के सृजनात्मक आंदोलन को साहित्यकारों की रचनाओं के माध्यम से प्रकाशित किया है।' और यह भी कि 'डॉ० अग्रवाल हिंदी की महान् सेवा करते हुए अपने सृजन के साथ आगे बढ़ रहे हैं। उनकी इस पत्रिका को साहित्यिक पत्रकारिता के एक प्रतिमान के रूप में ही यहाँ रखा गया है।' (पृ० 125)

पत्रकारिता एक सूचनात्मक एवं तथ्यात्मक विधा है, किंतु साहित्यिक सर्जना से जुड़कर वह संवेदनात्मक हो जाती है। डॉ० राजेंद्र मिश्र प्रथमतः सर्जक हैं और दूसरे स्तर पर वे 'वीणा' लघु पत्रिका के संपादक भी रहे हैं। यही कारण है कि उनका यथार्थबोध अनुभूत्यात्मक है। एक भोक्ता संपादक के रूप में उन्होंने 'साहित्यिक पत्रकारिता लेखन' पर गंभीरता से विचार किया है। विवेकपूर्ण ढंग से रचनाकारों की कृतियों का चयन एवं सामयिक और सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में विषय-चयन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा जागरूक और सचेत होकर संपादकीय-लेखन-संपादक का उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य होता है। मिश्रजी की मान्यता है कि 'साहित्यिक पत्रकारिता केवल समाचार-लेखन नहीं होती, उसमें साहित्य-सृजन भी होता है। इसमें संपादक की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। समाचारपत्र के समान साहित्यिक पत्रिकाओं में भी संपादकीय लेख लिखे जाते हैं। बिना संपादकीय के कोई भी साहित्यिक पत्रिका अपूर्ण मानी जाती है।' (पृ० 56)

गद्य की सभी विधाओं का विकास साहित्यिक पत्रकारिता के माध्यम से हुआ है। इस सत्य को संज्ञान में लेते हुए मिश्रजी ने संस्मरण-रेखाचित्र, रिपोर्टाज, साक्षात्कार (इंटरव्यू), आत्मकथा, जीवनी, डायरी, गद्यगीत, व्यंग्य आदि इतर विधाओं पर भी प्रकाश डाला है और साहित्यिक पत्रिकाओं में हिंदी गद्य के विकास को रेखांकित किया है। इस विकास में सहगल की 'भविष्य', हनुमानप्रसाद पोद्दार की 'कल्याण', गणेशशंकर विद्यार्थी की 'प्रभा' और 'प्रताप', प्रेमचंद की 'हंस', महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती', भारतेन्दु की 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगजीन', बनारसीदास चतुर्वेदी की 'विशाल भारत', कालिकाप्रसाद दीक्षित कुसुमाकर की 'सरस्वती' और 'वीणा', चंद्रगुप्त, विद्यालंकार की 'जन्मभूमि', बालकृष्ण राव की 'माध्यम', रामानंद दोषी की 'कादंबिनी' इत्यादि पत्रिकाओं के योगदान का भी उल्लेख

किया है।

‘उत्तर-आधुनिक साहित्यिक पत्रकारिता’ के अंतर्गत इलाचंद्र जोशी की ‘संगम’, धीरेंद्र वर्मा की ‘हिंदी अनुशीलन’, अज्ञेय की ‘प्रतीक’, लक्ष्मीचंद्र जैन की ‘ज्ञानोदय’, टाइम्स ऑफ इंडिया समूह की ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’, शिवदान सिंह की ‘आलोचना’, नरेश मेहता की ‘कृति’, राजेंद्र अवस्थी की ‘नंदन’ जगदीश चतुर्वेदी की ‘अकविता’, महीपसिंह की ‘संचेतना’, नेमीचंद्र जैन की ‘नटरंग’, अज्ञेय की ‘नया प्रतीक’ तथा ‘पश्यंती’, ‘गंगाजल’, ‘समकालीन भारतीय साहित्य’, ‘हंस’, ‘इंडिया टुडे’, ‘समीक्षा’, ‘आवेश’, ‘कथन’, ‘कथा कहानी’, ‘दिशा बोध’ इत्यादि पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण रही हैं। ‘संपादक की भूमिका’ मिश्र जी का स्वतंत्र आलेख है, जिसमें उन्होंने ‘रचनाओं के शीर्षक’, साहित्य की सामग्री का संयोजन, पत्रिका की साज-सज्जा पर अपने विशेष मन्तव्य दिए हैं। पत्रिका-संबंधी विषयों पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण परामर्श दिए हैं और बताया है कि पत्रिका को इलेक्ट्रॉनिक्स मीडिया से जुड़ना युगीन अनिवार्यता है।

इस पुस्तक का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आलेख है—‘दक्षिण की हिंदी पत्रकारिता’। इस विषय के बारे में बहुत कम लेखकों का ध्यान गया है। तमिलनाडु के द्वारा हिंदी को राजभाषा बनाये जाने के विरोध के फलस्वरूप हिंदीभाषी प्रदेशों का दक्षिण की भाषाओं के प्रति एक उदासीनता का भाव रहा है। कभी-कभी उनका हिंदी अनुराग अँग्रेजी का विरोध करते-करते दक्षिणी भाषाओं के प्रति भी विरोधमूलक हो जाता है। गांधी जी तो हिंदी-उर्दू मिश्रित हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के पक्षधर थे। 1918 में जब हिंदी सम्मेलन की वे अध्यक्षता कर रहे थे, तभी उन्होंने हिंदीभाषा के विषय में अपना उक्त विचार रखा था और इसी समय उन्होंने अपने पुत्र धरमदास को दक्षिण में हिंदी के प्रचार-प्रसार हेतु भेजा था। स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी राजभाषा बनी और संविधान की अष्टम अनुसूची में हिंदी सहित पंद्रह भाषाओं को अधिसूचित किया गया। वास्तव में ये सभी भारतीय भाषाएँ राष्ट्रीय भाषाएँ थीं और समान रूप से सम्माननीय थीं। मध्यप्रदेश जैसे हिंदीभाषी प्रांत के निवासी होकर भी डॉ॰ राजेन्द्र मिश्र का भारतीय भाषाओं के प्रति अनन्य प्रेम अद्वितीय है। मिश्रजी ने स्वयं दक्षिण की यात्राएँ की हैं और वहाँ के विश्वविद्यालयों में हिंदी में व्याख्यान दिए हैं। दक्षिण में हिंदी प्रचार संबंधी अनेक व्याख्यान दिए हैं। दक्षिण हिंदी प्रचार और हिंदी की पत्रकारिता उनकी आँखन देखी है। उन्होंने स्वयं अनुभव किया है—‘हिंदी की पत्रकारिता सारे देश में मिलती है। हिंदी ही अकेली ऐसी भारतीय भाषा है, जिसकी पत्रकारिता का प्रसार सारे भारत में हुआ है। पत्रकारिता ने उसी तरह हिंदी को सारे भारत में फैलाया है, जैसे बालीवुड की फिल्मों ने अँग्रेजी को हिंदी इस देश की संपर्क भाषा बन गई है, अतः जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है, वे भी हिंदी बोलते हैं। अगर हम अपना राजनीतिक विरोध खत्म कर दें तो इस देश की भाषा-समस्या का समाधान हो सकता है।’ (पृ० 37) मिश्रजी का यह कथन उनके हिंदी भाषा-प्रेम और देश की विभिन्नता में ऐक्य लक्षित करने का एक अन्यतम उदाहरण है। इस ऐक्य की स्थापना के लिए वे एक और समाधान प्रस्तुत करते हैं और वह है—‘राष्ट्रीय लिपि अभियान’। ‘राष्ट्रीय लिपि अभियान’ के पुरस्कर्ता अहिंदी भाषी, कलकत्ता हाईकोर्ट के जज शारदाचारण मिश्र थे, जिन्होंने 1905 में लिपि विस्तरण परिषद् की स्थापना की थी और देवनागरी हिंदी पत्रिका निकाली थी। उन्होंने

हिंदी के साथ ही गुजराती, मराठी और बंगला भाषा के लेखों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया था। इसके संबंध में मिश्रजी की सार्थक अभ्युक्ति है—‘भारत की सभी भाषाओं की प्रवृत्ति के अनुरूप नागरी लिपि का प्रयोग किया जा सकता है, जबकि रोमन वर्ण लिपि है अतः नागरी में, जो अक्षर लिपि है। सभी भाषाओं को आसानी से लिखा जा सकता है।’ (पृ० 30)

डॉ० मिश्र ने दक्षिण की हिंदी-पत्रकारिता के प्रति सकारात्मक सोच रखते हुए आंध्र, केरल, तमिलनाडु और कर्नाटक से प्रकाशित हिंदी-पत्रिकाओं तथा उनके संपादकों के महत्त्व को विवेचित किया है एवं उनकी अत्यंत सराहना की है। प्रमुख संपादकों में बालशौरि रेड्डी, बदरीविशाल पिच्ची, मोटूरि सत्यनारायण, शौरिराजन, एम० शेषन, बी० राम संजीवय्या इत्यादि के योगदान की प्रशंसा की है तथा दक्षिण से निकलनेवाली पत्रिकाओं जैसे मद्रास से ‘हिंदी प्रचारक’ ‘हिंदी पत्रिका’ और ‘दक्षिण भारत’, आंध्र से ‘स्वतंत्र वार्ता’, ‘मध्यांतर’, ‘दक्षिण टाइम्स’, केरल से ‘वार्ता’ ‘भाषा’, ‘तिलक’, कर्नाटक से ‘भारतवाणी’, ‘परिषद् पत्रिका’, और ‘साहित्य सौरभ’, तथा अन्य पत्रिकाएँ जैसे ‘कल्पना’, ‘अजंता’, ‘मानसी’, ‘अंकन’, का उल्लेख किया है। ये मात्र नामावलियाँ नहीं हैं बल्कि दक्षिण की हिंदी-पत्रिकाओं के माध्यम से भारत की सामासिक संस्कृति की द्योतक हैं।

डॉ० मिश्र के इस कथन के उल्लेख के बिना ‘दक्षिण की हिंदी-पत्रकारिता’ का महत्त्व अपूर्ण रह जाएगा, जहाँ वे लिखते हैं कि ‘हिंदी का विकास दक्खिनी हिंदी के रूप में हुआ है। स्वतंत्रता के बाद दक्षिण में हिंदी के राजनीतिक विरोध के बावजूद हिंदी के प्रति समर्थन लगातार बढ़ता गया है। वस्तुतः दक्षिण भारत की चार भाषाओं में कोई भी एक भाषा वहाँ की संपर्क भाषा नहीं बनी है। अतः संपर्क भाषा के रूप में वहाँ हिंदी का प्रयोग होता है।’ (पृ० 36) यह कथन हिंदी की उज्ज्वल भविष्यगामिता के लिए एक शुभ लक्षण है।

‘हिंदी साहित्य की निरंतर प्रकाशित प्राचीन पत्रिका वीणा’ डॉ० मिश्र का एक लंबा निबंध (लगभग 114 पृष्ठों का) है। इस निबंध में ‘वीणा’ लघु पत्रिका की ऐतिहासिक विकास-यात्रा में स्वयं के संपादकत्व-योगदान का विवेचन उन्होंने विस्तार से किया है। पत्रिका के स्वरूप, मानदंड, चुनौतियों इत्यादि को उन्होंने स्वतः के संपादक संदर्भ में आकलित किया है। इतिहास अतीत को दर्शाता है, जिसमें तिथियाँ, ब्यौरे, घटनाएँ अपने यथावत् रूप में होती हैं। उसमें जो कुछ अच्छा घटित होता है, वह अनुकरणीय बन जाता है और जो अच्छा नहीं होता, वह उपेक्षणीय। यदि अनुकरणीय वस्तु आदर्श रच देती है तो उपेक्षा नसीहत का निमित्त बन जाती है। कभी-कभी संघर्ष और चुनौतियाँ कुंठित करती हैं और कभी उनसे जूझने की शक्ति भी देती हैं। छल-प्रपंच से विजय प्राप्त करनेवाले युद्ध भी इतिहास में वर्णित हैं और अपनी शक्ति-सामर्थ्य और कुशल रणनीति से विजित होनेवाले तथा स्वाभिमान और आत्मसम्मान का जयघोष करनेवाले विजेता भी।

मिश्रजी के इस सुदीर्घ निबंध में ऐसी विविध संवेदनाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो ‘वीणा’ पत्रिका के ऐतिहासिक संदर्भों को निश्चित स्थिति में प्रकाशित करती हैं। जुलाई 2007 से अगस्त 2009 के 26 महीनों के 26 अंकों में उन्होंने वीणा को अपने अभिनव प्रयोगों से उत्कृष्टता के चरम शिखर तक पहुँचाया। यहाँ तक कि उसकी गुणवत्ता आकाश चूमने लगी

थी। तभी षड्यंत्रों और छलनाओं की आँधी ने मानो सभी को ध्वस्त कर दिया। ये सभी दस्तावेज के रूप में 'वीणा' में निहित हैं। उत्कर्ष का उत्सव और अवसान का नैराश्यांधकार सभी कुछ 'वीणा' में अभिव्यक्त हुआ है। हम इन सभी अभिव्यक्तियों को लेखक का आत्मकथ्य कह सकते हैं। मिश्रजी के संपादन-काल में ही 'वीणा' चरमोत्कर्ष तक पहुँची। उसे अभिनव रूप मिला, जिसे मिश्रजी 'नई वीणा की' उपलब्धि कहते हैं। 'वीणा' को नए सृजन का आधार उन्होंने ही प्रदान किया था।

'वीणा' का सर्वप्रथम प्रकाशन 1927 ई० में हुआ था, जिसके प्रेरक के रूप में गांधी जी का पदार्पण इंदौर में हुआ था। 'वीणा' मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति इंदौर से प्रकाशित होने वाली प्रमुख पत्रिका थी। समिति का गठन तो 1910 में स्वतंत्रता के पूर्व हो चुका था और 1918 में गांधीजी ने हिंदी सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के संबंध में अपना पक्ष रखते हुए अपने पुत्र को दक्षिण में हिंदी प्रचार के लिए भेजा भी था। सत्रह वर्षों पश्चात् 1927 में 'वीणा' का प्रथम प्रकाशन हुआ, जिसके प्रथम संपादक अंबिकाप्रसाद त्रिपाठी थे, जिनका कार्यकाल 1929 तक रहा। इसके पश्चात् कालिकाप्रसाद दीक्षित कुसुमाकर ने 1929 से 1943 तक संभाला। 1972 से 2007 तक डॉ० श्यामसुंदर व्यास इसके संपादक रहे। जुलाई 2007 में मिश्रजी के संपादकत्व में 'वीणा' नई साज-सज्जा के साथ अवतरित हुई। आठवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन 13 से 15 जुलाई 2007 को होना था—विषय था 'विश्व मंच पर हिंदी' मिश्रजी को अपने संपादन में 'वीणा' के प्रथम अंक के प्रकाशन के संदर्भ में यही सबसे बड़ी चुनौती थी—विश्व हिंदी सम्मेलन की रिपोर्ट देना। मिश्रजी ने यह रिपोर्ट प्रहलाद तिवारी से विश्व हिंदी सम्मेलन की विकास-यात्रा पर लिखवाई थी, जिसे आशातीत सफलता मिली। संपादक ने अपने संपादकीय में लिखा, 'अगर हिंदी को आना है, तो सबसे पहले उसे स्कूलों में एक शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाना होगा, नहीं तो विश्व की भाषा के लिए किए जाने वाले सारे प्रयास एक तमाशा बनकर रह जाएँगे। हिंदी विश्व की भाषा बन जाएगी, भारत की भाषा नहीं और जब तक वह भारत की भाषा नहीं बनती, तब तक उसके विश्व भाषा बनने का भी कोई अर्थ नहीं है। जब-तक हिंदी दिल्ली में नहीं होगी, तब तक उसका लंदन या न्यूयार्क में होना प्रासंगिक नहीं है। (पृ० 136) एक निर्भीक संपादक की क्रांतिकारी अभ्युक्ति हिंदी भाषा-प्रेम और अपनी सृजित लघु पत्रिका 'वीणा' के प्रति निष्ठा, राष्ट्र-प्रेम और भाषा प्रेम का सर्वोत्तम दृष्टांत है।

इसी प्रकार 2007 के सितंबर अंक को राजभाषा से संदर्भित करते हुए, हिंदी को संपर्क और माध्यम भाषा बनाए जाने के संबंध में क्रांतिकारी वैचारिक अभिमत रखा गया था तथा राजभाषा के प्रासंगिक विषय से संबंधित अपूर्व पुराणिक का 'भाषा, मस्तिष्क और लिपि' आलेख भी प्रकाशित किया गया था।

'वीणा' के 2007 के छः अंकों में समसामयिक संदर्भ से युक्त विषयों पर रचनाएँ प्रकाशित हुईं, जो संपादक के विषय-चयन को सामयिक घटनाओं के साथ संबद्ध करती हैं। समय के परिवर्तन के चलते शब्द के साथ चित्र का भी महत्त्व बढ़ गया है, अतः मिश्रजी ने अपनी पत्रिका में यथा-स्थान चित्रों का भी उपयोग किया था।

डॉ० मिश्र ने जनवरी 2008 से जून 2008 तक 'वीणा' पत्रिका को नई पहचान देते हुए 'विकास की नई इबारत' लिखी है। जनवरी 08 के अंक को सृजन स्तंभ के नियमितीकरण से प्रारंभ किया गया तथा व्यंग्य विधा को भी स्थान दिया गया। फरवरी 08 के अंक में वसंतोत्सव की धूम रही। मार्च 08 के होली अंक में प्रत्येक सामग्री चित्रों के साथ दी गई। अप्रैल 08 की वीणा, आतप के चित्र के साथ आई तथा संपादकीय में संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व राज्य संगठन में बदलने की कल्पना की गई। संपादकीय में मनुष्यता का जयघोष किया गया, जो मिश्रजी की साहित्य-सर्जना का मूलमंत्र है। मई 08 में अन्य प्रसिद्ध रचनाओं के प्रकाशन के साथ संपादकीय में बाजारवाद और उपभोक्तावाद के साथ ही आतंकवाद पर भी चिंता प्रकट की गई। जून 08 में 'वीणा' में 'विकास के नए रूप' आलेखित किए गए। संपादकीय में व्यवस्था को बदलने की कल्पना की गई।

जुलाई 2008 से दिसंबर 2008 तक की वीणा वास्तव में 'संघर्ष की दास्तान' है। इसमें संपादक की संघर्ष-गाथा और उसकी व्यथा सामने उभरकर आई है। प्रियतमा की इस व्यथा की स्मृति-कथा जयशंकर प्रसाद के आत्मकथ्य, सीवन को उधेड़कर न देखने की भाँति है। अंतर इतना है कि जहाँ प्रसादजी की स्मृतिजन्य पीड़ा पाथेय बनकर संतुष्टि देती है वहाँ मिश्रजी की पीड़ा विषाक्त भोजन की भाँति उन्हें कटुता के दंश की असंतुष्टि ही प्रदान करती है। जुलाई 08 और अगस्त 08 के अंक में तो विशेष हलचल नहीं थी। जुलाई अंक में हिंदी को सुदृढ़ आधार दिलाए जाने की कोशिश है तो अगस्त अंक में 'सृजन की स्वतंत्रता' पर विचार-मंथन है। सितंबर 08 का अंक एक ओर तो राजभाषा हिंदी पर केंद्रित है तो दूसरी ओर संपादक डॉ० मिश्र के प्रारंभिक संघर्ष का आगाज भी करती है। यद्यपि जुलाई 08 में संपादक-मंडल और संपादक के नामोल्लेख के संबंध में उथल-पुथल मच चुकी थी। मिश्रजी ने लिखा भी है, 'इस तरह गुटवाद चरम पर था। साहित्य में जब राजनीति आ जाती है, तो उसका चेहरा विरुप हो जाता है।' (पृ० 168)

दीपावली के अवसर पर अक्टूबर 2008 में मिश्रजी ने 'वीणा' में नए स्तंभों का प्रारंभ किया। यह स्तंभ कहानी पर केंद्रित था। अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर आतंकी हमले के संदर्भ में संपादक मिश्रजी ने एक प्रतिरोधात्मक जमीन तैयार की थी और उस पर मनुष्यता की विजय-कामना भी की थी।

नवंबर 2008 के अंक में 'चाँद पर धरती' विषय को केंद्र में रखा गया था। चूँकि उस समय भारत ने अपना 'चंद्रयान' चाँद पर उतारा था अतः यह विषय सामयिक संदर्भ में स्वतः ही केंद्र में आ गया था। किंतु दिसंबर 2008 के अंक के संपादकीय में संपादक आशंकित हैं— 'आज संसार का जो दृश्य है, उसमें व्यक्ति उत्पाद में बदल रहा है। यहाँ तक कि वह अराजक भी होता जा रहा है। साहित्य और चित्रपट-जगत जुड़ गए हैं। वस्तुतः हिंदी, भाषा के रूप में पिछड़ रही है, तो उसका साहित्य भी आगे नहीं आ पा रहा है। जो पटकथाएँ, लिखी जा रही हैं, वे सच होते होते हुए भी सच नहीं होतीं।' (पृ० 178)

जनवरी 2009 में, अप्रैल 2009 तक के अंकों में विरोध के स्वर प्रबल होने लगते हैं और मिश्रजी द्वारा निष्पादित 'नए प्रतिमानों' का विरोध होता अवश्य है, किंतु 'वीणा' की

गतिमानता का चक्र स्थिर नहीं हो पाता। वह अपनी ही गति से आगे बढ़ता जाता है और 'वीणा' की एक अलग पहचान बनने लगती है। यहाँ से मिश्रजी को उनके विरुद्ध षड्यंत्र रचने की गंध आने लगी थी। दो घटनाएँ ऐसी घटीं, जिससे उन्हें अनुमान हो गया कि वे अब 'वीणा' को बहुत समय तक आगे न ले जा पाएँगे। प्रथम, बैठक में संपादक को न बुलाया जाना और दूसरे, आपके पत्र कॉलम में संपादक की उपेक्षा कर संपादन समिति की देखरेख में संपादक के विरुद्ध पत्र लिखवाया जाना। विवश होकर मिश्रजी को यह कालम बंद करना पड़ा।

फरवरी 2009 में 'वीणा' के कवर पेज पर छपे चित्र से विवाद की स्थिति बनी। बसंत और स्त्री के समन्वित सौंदर्य के चित्र के प्रकाशित होते ही संपादन समिति ने उसे नर्तकी करार करते हुए नैतिकता-विरोधी माना, जबकि मिश्रजी के अनुसार 'प्यार के दो सांस्कृतिक प्रतीक जिसे पूर्व में वसंत और पश्चिम में वेलेंटाइन डे कहा गया है, में एक सांस्कृतिक टकराव होते हुए भी प्रेम की दृष्टि से व्यापक समन्वय भी है।' (पृ० 187) वस्तुतः इस चित्र का संदर्भ था— फरवरी मास का वसंत एवं वेलेंटाइन डे।

मार्च 2009 में फरवरी 2009 के चित्र संबंधी विवाद के कारण आवरण चित्र बनाने के लिए समिति ने किसी अन्य चित्रकार ईश्वरी रावल को दायित्व सौंप दिया और संपादक से कोई राय न लेकर उनकी उपेक्षा की। इसी प्रकार की आलोचना की शिकार डॉ० कला जोशी के आलेख 'क्यू एंड ए' से 'स्लम डॉग मिलिनेयर तक' को लेकर भी हुई। संपादक को क्षोभ था कि 'हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं का दुर्भाग्य है कि वे अभी भी ग्लोबल रोशनी में नहीं आ पा रही हैं। संपादक को स्वतंत्रता नहीं मिलती और संस्थान सामने आ जाता है।' (पृ० 188)

अप्रैल का नाम लेते ही बाबा अंबेडकर का दलितोत्थान स्मरण हो आता है। 'वीणा' के अप्रैल 2009 के अंक के आवरण चित्र पर भी अंबेडकर की छवि अंकित थी। सचिन शर्मा द्वारा बनाए गए इस चित्र में औपचारिकता का ही निर्वाह किया गया था। चित्रकार की कलागत दक्षता का उसमें अभाव था तथा चित्र में थीम का संयोजन कुशलता से नहीं किया गया था, किंतु मिश्रजी का संपादक मन उससे उदासीन बना रहा। उन्हीं के शब्दों में— 'इस तरह वीणा में मेरी संपादन-यात्रा अब उस अँधेरे के बीच से गुजर रही थी, जहाँ संस्थान के लोग केवल उस दिन के इंतजार में थे, जब मैं अपने-आपको इस पत्रिका से अलग कर लूँगा।' (पृ० 193) संस्थान की गुटवादिता चरम पर थी और संपादक की पीड़ा भी घनीभूत होती जा रही थी।

आश्चर्य तो यह है कि संस्थान की अवहेलना की पराकाष्ठा की सीमा न थी। यहाँ तक कि मई 2009 से जुलाई 2009 के 'वीणा' के अंकों में 'संपादक के खिलाफ जंग' ही छिड़ गई। 'वीणा' के कथित पिछले अंक जैसे शीत-युद्ध की भाँति थे तो ये वर्तमान अंक आर-पार की लड़ाई को प्रदर्शित कर रहे थे। वर्तमान परिपक्व पूँजीवादी युग में कला और साहित्य बाजार की उपभोग्य वस्तुएँ हैं। यहाँ निष्ठा, समर्पण, योग्यता, अग्रगामी विचार, नवता के उन्मेष, ज्ञान को अद्यतन बनाने की वांछा इत्यादि गुणों का कोई मूल्य नहीं था। मई 2009 का अंक संस्थागत विरोध का ऐसा ही विकृत चेहरा था। विवाद रवींद्रनाथ टैगोर के चित्र एवं उनकी विश्वप्रसिद्ध कविता 'गीतांजलि' के अनुवाद को छापने को लेकर था। संपादन समिति भारतभूषण की कविता छापने पर जोर दे रही थी तथा इस हेतु प्रधानमंत्री के द्वारा दबाव भी बनाया जा रहा था।

डॉ० मिश्र की सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, प्रेस की स्वातंत्र्य-चेतना ने जब इसका प्रतिरोध किया, तब संस्थागत विरोध तीव्र हो गया। आश्चर्य है कि लघु पत्रिका के आंदोलन का मूलाधार ही जब प्रतिरोध, परिवर्तनकामी और सामाजिक रूपांतरण की पक्षधरता का था, तब आंतरिक स्तर पर प्रतिरोध करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? क्या संस्थागत दुराग्रह की भावना लघु पत्रिका के उक्त उद्देश्य से परिचित नहीं थी अथवा सांस्कृतिक प्रदूषण की स्वयं शिकार होती जा रही थी? मिश्रजी ने इस अंक के संपादकीय में 21वीं सदी में लोकतंत्र को सही ढंग से परिभाषित करते हुए लिखा है—‘21वीं सदी तो लोकतंत्र की सदी है, जिसमें हर व्यक्ति अपनी बात को रख सकता है।’ तो क्या ऐसा नहीं लगता कि संस्थानगत आंतरिक राजनीति व्यक्ति-स्वातंत्र्य का हनन कर रही थी? पत्रिकाओं के संदर्भ में ऐसे प्रश्न विचारणीय हैं।

जून 2009 के अंक का वैशिष्ट्य इस बात में था कि डॉ० मिश्र को भारत भवन में आयोजित लघु पत्रिका आंदोलन के परिसंवाद में आमंत्रित किया गया था, जिसे भारत भवन के न्यासी सचिव तथा तत्कालीन जनसंपर्क के मुख्य सचिव डॉ० मनोज श्रीवास्तव ने आयोजित करवाया था। इस परिसंवाद में प्रसिद्ध साहित्यकार और पत्रकार डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय ने बीज वक्तव्य दिया था। न केवल मनोज श्रीवास्तव ने बल्कि श्रोत्रिय जी ने भी ‘वीणा’ के स्वरूप की आधुनिकता एवं प्रकाशित सामग्री पर अत्यंत हर्ष व्यक्त किया था। मिश्रजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि ‘जून का अंक अनेक उपलब्धियों से भरा था और मेरी संपादन-यात्रा में यह एक ऐतिहासिक अवसर भी था।’ ऐसे अवसर संघर्ष और चुनौतियों के भीषण आतप में वर्षा की शीतल फुहार जैसे होते हैं।

जुलाई 2009 का अंक ‘भाषा और साहित्य के नए प्रतिमान’ का था। संस्थान के गृह-कलह के कारण मिश्रजी संभवतः अपने अंतर्बुद्ध को युग का अनिवार्य सत्य घोषित करना चाहते थे, अतः व्यंजना में वे लिखते हैं, ‘अब हर व्यक्ति अभिमन्यु है, जिसे चक्रव्यूह में घुसना है, पर उससे बाहर निकलना संभव नहीं होता। अपनी स्वतंत्रता और अस्तित्व के लिए हर व्यक्ति को युद्ध में रहना है।...यह निरंतर युद्ध ही एक सच है और इसमें रहने के अलावा व्यक्ति या विश्व के पास कोई विकल्प नहीं है।’ (पृ० 205) इस अंक में कृष्णदत्त पालीवाल के साक्षात्कार को लेकर विवादास्पद स्थिति बनी, जिसके कारण पत्रिका के प्रति एक नकारात्मक दृष्टि उत्पन्न हुई, किंतु ‘इस तरह जुलाई का अंक अनेक विविधताओं से भरा होते हुए भी’ मिश्र जी की संपादन-यात्रा में होनेवाले संघर्षों और अवरोधों को उजागर करता है।

‘वीणा’ की नई छवि और ‘वीणा के आखिरी सफर’ के साथ वीणा का अगस्त 2009 का अंक प्रकाशित हुआ। संघर्ष का जो ज्वालामुखी भीतर-भीतर धधक रहा था, उसके विस्फोट के साथ नकार का लावा पिघलने वाला था। अगस्त का महीना स्वाधीनता-प्राप्ति का गरिमापूर्ण मास है, इसीलिए मिश्रजी का संपादकीय ‘स्वतंत्रता पर केंद्रित था, जो लावा अब धीरे-धीरे पिछल रहा था, उसने ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं ताकि मिश्रजी स्वयं ही संपादक के पद का परित्याग कर दें। और हुआ भी यही। मिश्रजी ने ऐसी घटना का उल्लेख किया है, जिसके कारण आत्म-सम्मानार्थ उन्होंने कैलाशचंद्र पंत के हिंदी भवन में आमंत्रण पर भोपाल प्रवास के पूर्व ही वीणा के संपादक-पद से स्वयं को मुक्त कर लिया। यद्यपि अगस्त

2009 के इस अंक का प्रकाशन उनके ही संपादकत्व में हुआ। 'वीणा' की उनकी यह अंतिम यात्रा थी। विरोधों के कारण पद का परित्याग करने के उपरांत भी वह विशालहृदय संपादक 'वीणा' पत्रिका के प्रति सदाशयता रखता रहा। उन्होंने अपनी शुभेच्छा को इस प्रकार व्यक्त किया है—'यह एक सफरनामा है, जो समिति के आंतरिक व्यवस्थापन को अंकित करता है साथ ही मेरे उस सृजनात्मक मनोविज्ञान को भी सामने रखता है, जो मैंने व्यक्तिगत रूप से अनुभव ही नहीं किया, बल्कि उसका सामना भी किया है। फिर भी मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं है। समिति और 'वीणा' निरंतर प्रगति करें।' (पृ० 226) ऐसी उदारता और त्याग तो मात्र एक जननी में ही हो सकते हैं, जिसे उसका पुत्र कितना भी प्रताड़ित क्यों न करे, वह उसकी हितकामना ही करती है। संपादक-धर्म भी तो माँ जैसा होता है, सृजन करता है, रचना को जन्म देता है, बदले में कुछ पाने की वांछा नहीं रखता। रचना के प्रति ऐसा स्वाभिमान और समर्पण बहुत कम लोगों में दिखाई देता है। 'वीणा' पत्रिका के उत्कृष्ट और अभिनव संपादन-कर्म के लिए डॉ० राजेन्द्र मिश्र सदैव स्मरण किए जाएँगे।

'आज की साहित्यिक पत्रिका' उनकी पुस्तक का उपसंहार है जिसमें लघु पत्रिका के रूप में आज की साहित्यिक पत्रकारिता का मूल्यांकन किया गया है। इस आलेख में 'वीणा' के प्रति स्वयं के अवदान को नये संदर्भों में आकलित भी किया गया है। मिश्रजी के संपादन के साथ ही मानो 'वीणा का नया युग प्रवर्तन' संभव हुआ था। उनके संपादन-काल के 'वीणा' के वैशिष्ट्य को उन्होंने पंद्रह बिंदुओं में समेकित किया है। 'वीणा' में सलाहकार और संपादन समिति के सदस्यों का नामोल्लेख, सामग्री के साथ चित्रों का संयोजन, संपादकियों का पुस्तक रूप में प्रकाशन प्रासंगिक और सामयिक विषयों का प्रकाशन, साहित्य की समस्त विधाओं एवं अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित साहित्यकारों की रचनाओं का प्रकाशन, इंटरनेट का उपयोग, प्रख्यात रचनाकारों एवं जयंतियों तथा पुण्यतिथियों के संदर्भ में रचनाकारों का वर्णन, तीसरे पृष्ठ के स्थान पर चौथे पृष्ठ पर सरकारी विज्ञापनों का प्रकाशन तथा देवनागरी अंकों का प्रयोग, संपादकीय बैठक आयोजित करने के संपादक के अधिकारों का हनन, 'वीणा' की समीक्षा करने के स्थान पर समीक्षा समितियों की बैठकों में संपादक के विरुद्ध कार्रवाइयाँ 'वीणा' को विदेश मंत्रालय की स्वीकृति पर विश्व के दूतावासों में प्रेषण, मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी के पाठक मंच से 'वीणा' की संलग्नता, वीणा का पाँच कॉलम में प्रकाशन इत्यादि ऐसे विषय थे, जो पत्रिका को नवता प्रदान कर उसे प्रासंगिक बनाते थे। 'नए सदी की पत्रकारिता के प्रतिमानों' से 'वीणा' पूर्णतः लैस होकर बढ़ रही थी। मिश्रजी मानते हैं कि 'वीणा में प्रकाशित अनेक कालजयी रचनाकारों की कृतियाँ जो साहित्य के इतिहास की धरोहर हैं, हमेशा प्रासंगिक रहेगी। 'वीणा' के इन सभी अंकों की रचनाओं और वीणा के प्रकाशन में आधुनिक संरचनाओं के प्रयोग के कारण मेरी संपादन-यात्रा से जुड़ी वीणा की प्रासंगिकता कभी खत्म नहीं होगी।' (पृ० 239)

'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता' पुस्तक में डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने पत्रकारिता विशेषतया लघु पत्रिका की वस्तुनिष्ठ विवेचना करते हुए 'वीणा' पत्रिका की विवेचना में अत्यंत आत्मनिष्ठता का परिचय दिया है। उन्होंने वीणा पत्रिका की 26 महिनों की संपादन-यात्रा की 'आपबीती'

सुनाई है यद्यपि विषय-विवेचन का बहुत बड़ा हिस्सा वस्तुपरक है। वर्तमान समय की साहित्यिक गुटबाजी और खेमेबाजी तो एक प्रकार से 'साहित्यिक संप्रदायवाद' में तब्दील हो रही है। एक ओर तो वह खेमे के दुराग्रह से संपादक की स्वतंत्रता को बाधित कर रही है और दूसरी ओर निष्पक्षता, जागरूकता, सामाजिक चेतना, ईमानदारी, मूल्यों के नियामक तत्त्वों पर कुठारघात कर रही है। परतंत्र संपादक भला स्वस्थ चिंतन को आकार कैसे दे सकता है। संस्थान और संपादक कोई पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं हैं, फिर यह द्वंद्व और आपसी टकराहट क्यों हो जाती है।

डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने संपादक के रूप में जो आपबीती सुनाई है, वह अत्यंत मार्मिक है और लोकतंत्र की सच्ची अवधारणा पर प्रश्न चिह्न लगाती है। यदि मिश्रजी में मानसिक दृढ़ता न होती तो वे टूट सकते थे, बिखर सकते थे, किंतु वे तो अपनी आंतरिक शक्ति बटोरकर अपनी प्रतिभा के संबल से आगे बढ़ते रहे और साहित्य-जगत में अपने निरंतर साहित्यसृजन का जयघोष सुनाते हुए संपूर्ण साहित्याकाश में मुक्त उड़ान भरते रहे। यदि किसी ने उनकी प्रतिभा को नहीं पहचाना अथवा जानबूझकर उसकी उपेक्षा की तो इसमें दोष संपादक मिश्रजी का नहीं बल्कि अन्य की अज्ञानता का है। एक बार संस्कृत के महान् कवि भवभूति ने भी 'मालतीमाधव' नाटक में, कवि की प्रतिभा का उचित मूल्यांकन न करनेवाले अज्ञानियों के लिए कहा था—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

(जो मेरे लेखों का अनादर करते हैं, उन्हें ही इसका कारण ज्ञात होगा, उनके लिए मैंने यह सब प्रयत्न नहीं किया है। मेरे लेखों को समझनेवाला (मेरे समानधर्मा) कोई व्यक्ति कहीं उत्पन्न होगा ही, अथवा इसी समय कहीं होगा, क्योंकि समय असीम है और पृथ्वी विपुल विस्तारमयी है।)

मेरी दृष्टि में डॉ० राजेन्द्र मिश्र के सृजन को समझनेवाला चाहे साहित्यिक पत्रकारिता का संपादकीय हो या अन्य विधाएँ, अवश्य ही पैदा हो चुका है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कहीं वे समानधर्मा डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल तो नहीं हैं?

सेवानिवृत्त स्नातकोत्तर प्राचार्य
650, नेपियर टाउन
भंवरताल पानी की टंकी के सामने
जबलपुर (म०प्र०) 482001
मो० 9425386234
pawanknisha@gmail.com

साठोत्तरी हिंदी उपन्यासों चित्रित वर्ण-संघर्ष

डॉ० संजय गडपायले

उपन्यास को आधुनिकयुग का गद्यात्मक महाकाव्य कहा जाता है, जो जीवन की जटिलता, जिजीविषा, विविधता के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक प्रश्नों को उद्घाटित कर उनके समाधान भी ढूँढने का प्रयास करता है। वर्ण शब्द का अर्थ शब्दकोशों में 'रंग' विशेष के लिए है, परंतु देखा जाता है कि चातुर्वर्ण व्यवस्था के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग होता रहा। इस चातुर्वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण माने गए और उनके कार्य भी निर्धारित किए गए। भारतीय समाज-व्यवस्था में वर्णसंघर्ष का इतिहास बहुत प्राचीन और कटु है, पर यह मानव-निर्मित ही है। इसी वर्ण-व्यवस्था पर समस्त भारतीय समाज-व्यवस्था आधारित रही, जिसे आगे चलकर डॉ० बाबासाहेब आंबेडकरजी ने छेद दिया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों ने हमेशा शूद्रों पर अन्याय कर उसका निरंतर शोषण किया तथा उसे जल, जमीन, रोटी, कपड़ा, मकान, रुपया, शिक्षा, सम्मान आदि से वंचित रखा। साठोत्तरी हिंदी उपन्यासों में वर्ण-संघर्ष विस्तृत रूप में चित्रित है। यह वर्ण-संघर्ष सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि स्तर पर होता है, जिसमें दलित-शोषित-शूद्र वर्ण और नारियाँ पीसी जाती हैं। यहाँ हम सामाजिक और आर्थिक पक्ष को ध्यान में रखकर कुछ उपन्यासों का विवेचन करेंगे।

वर्ण-संघर्ष का सामाजिक पक्ष

प्राचीनकाल से इस देश में शूद्रों पर प्रस्थापित वर्णों ने अन्याय-अत्याचार कर उनका शोषण कर उन्हें अपना गुलाम बनाकर रखा। उन्हें यही कहा गया कि उनकी निर्मिति केवल उच्चवर्ण के लोगों की सेवा के लिए ही भगवान ने की है। इस शूद्रवर्ण को प्रस्थापितों ने ईश्वर, भगवान, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कोप आदि का भय दिखाकर अज्ञान में रखा। उन्हें शिक्षा का अधिकार भी नहीं दिया गया। जब वे धीरे-धीरे अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत होकर संघर्ष करने लगे तो उन्हें दबाया गया, यही वर्णसंघर्ष है। साठोत्तरी हिंदी उपन्यासकारों ने सामाजिक विसंगतियों को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

भारतीय समाज-व्यवस्था में प्राचीनकाल से मनु ने मनुस्मृति में वर्ण-व्यवस्था निर्धारित की थी। जाति और जातिनिहित कर्म व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके साथ चलते थे। इसी वर्ण-व्यवस्था का समाज में वर्चस्व था, पर धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत संघर्ष आरंभ हुआ। देश स्वतंत्र हुआ और वर्ण-व्यवस्था में टकराव की स्थितियाँ निर्मित हुईं। परिणामस्वरूप साठोत्तरी उपन्यासों में जाति-संघर्ष तेजी से उभरने लगा जहाँ समाज-व्यवस्था

का धिनौना रूप विविध उपन्यासों में चित्रित है। पूँजीपति और मजदूरों-किसानों के बीच का संघर्ष तो हमारे देश में बहुत आरंभिककाल से चलता आया है। गाँव का जमींदार गाँव के गरीब किसानों को कर्ज देकर उनकी जमीन हथिया लेता था। जो किसान अपनी जमीन का मालिक था, वह उसी जमीन पर मजदूर बनकर रह जाता था। जमींदार किसान-परिवार का आर्थिक, शारीरिक और मानसिक रूप से शोषण करता था। मजदूरों ने इस शोषण, अन्याय एवं अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाई, जिसका चित्रण हमें जयप्रकाश कर्दम के 'छप्पर' उपन्यास में दिखाई देता है। 'छप्पर' उपन्यास में सुक्खा चमार जाति का गरीब व्यक्ति है। वह मेहनत, मजदूरी कर अपने बेटे को शहर में पढ़ने के लिए भेजता है। वह अपने बेटे चंदन को अपने जैसा मजदूर बनाना नहीं चाहता, पर गाँव के सवर्ण जमींदार लोग नहीं चाहते कि चंदन शहर जाकर पढ़े और बड़ा आदमी बने। इसलिए गाँव के जमींदार और सवर्ण सुक्खा के रास्ते में बाधाएँ पैदा करते हैं। पंचायत में 'फैसला हुआ है कि सुक्खा को खेत-क्याद में घुसने न दिया जाए, न उसे किसी डौल-चक रोड से घास खोदने दी जाए और न उसे लाई-मताई या मजदूरी के लिए बुलाया जाए। अब देखते हैं कि कैसे पढ़ाता है सुक्खा अपने बेटे को।'¹

उपन्यास में गाँव का कोई भी जमींदार या ठाकुर यह नहीं चाहता कि निम्नवर्ण का चंदन उच्चशिक्षित हो और अफसर बने। लेकिन सुक्खा आंबेडकरी विचारों से प्रभावित है, जो शिक्षा के महत्त्व को भली-भाँति समझता है। वह जानता है कि शिक्षा और ज्ञान का प्रकाश ही उसकी आनेवाली पीढ़ियों का अँधेरा दूर कर सकता है। सुक्खा में स्वाभिमान और जिंदगी जीने की ललक है, 'सब रास्ते बंद हो गए, लेकिन जीवनभर घृणा और अपमान का शिकार होनेवाले सुक्खा में स्वाभिमान जाग गया था। अपनी छोटी-सी बोंडियों में ही मेहनत से कमाना शुरू किया उसने और भैंस पाल ली एक।'² इस संदर्भ में डॉ॰ सुशीला टाकभौरे का यह मत द्रष्टव्य है—'उपन्यास में दलित नायक के चरित्र को केंद्रित करके, उसे दलित उत्थान के लिए शिक्षा और जागृति के प्रचार-प्रसार में लगा हुआ दिखाया है, यह समाज के लिए प्रेरणा का संदेश है।'³

चंदन पढ़-लिखकर अपने समाज के उत्थान और विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह कहता है कि 'मैं अपनी शिक्षा का उपयोग अपने हीन-दीन समाज के उत्थान के लिए करूँगा। मैं उन पीड़ित, शोषित और उपेक्षित लोगों को ऊपर उठाने के लिए काम करूँगा, जो कीड़ों-मकोड़ों की तरह जीते हैं।'⁴ जब तक निम्नवर्ण शिक्षित नहीं होगा, तब तक न वह स्वयं शोषण से मुक्त होगा, न अपने समाज को कर पाएगा। वर्ण-संघर्ष के विषय में एक और बात उल्लेखनीय है, वह यह कि शिक्षा के कारण निम्नवर्ण में जागृति हुई और उसने ईश्वर के अस्तित्व को ठुकरा दिया। उपन्यास में चंदन पढ़ा-लिखा और आंबेडकरवादी होने के कारण अंधविश्वास पर चोट करता है। वह कहता है—'पत्थर के इन देवी-देवताओं या भगवानों की पूजा-अर्चना करने या उनको भेंट चढ़ाने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।'⁵

उपन्यास में एक तरफ जीविका का संघर्ष है तो दूसरी तरफ दलित नारियों का यौन-शोषण और उससे जुड़ा संघर्ष भी चित्रित है। हरिया चमार की लड़की कमला का बलात्कार होता है। जब कमला दफ्तर के लोगों के लिए पानी पिलाने कमरे के अंदर जाती है, तब एक

आदमी ने उठकर दरवाजा बंद किया—‘और इससे पहले कि मैं कुछ समझ पाती वे मदमस्त भेड़िए की तरह मुझ पर टूट पड़े। मैंने खूब हाथ-पैर मारे, चीखी-चिल्लाई भी, लेकिन सब बेकार गया। एक के बाद एक उन सबने मेरे शरीर को नोंचा और अपनी हवस पूरी की।’⁶ कमला इस अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाती है, पर पुलिस अफसर बलात्कारियों से रिश्वत खाकर केस बंद कर देता है। कमला इस उपन्यास की बहुत सशक्त और संघर्षशील पात्र है। सवर्ण व्यक्तियों द्वारा बलात्कार होने पर और न्याय न मिलने पर वह आत्महत्या नहीं करती, अपितु बलात्कार के कारण हुए बच्चे को पढ़ा-लिखाकर बदला लेने के योग्य बनाने की कामना रखती है। उसी के शब्दों में—‘अब यही मेरा सहारा है। बड़ा होकर यह मेरे साथ हुए जुल्म और अत्याचार का बदला ले, यही मेरी कामना है।’⁷ उपन्यास में कमला अपने बेटे के द्वारा ही उच्चवर्ण व्यक्ति के द्वारा हुए बलात्कार एवं अत्याचार का बदला लेने की बात मन में ठानकर जीवनयापन करती है, जो प्रशंसनीय है। कमला चंदन के साथ मिलकर वर्ण-संघर्ष जारी रखती है। इस उपन्यास में सवर्ण वर्ण-भेद करते हुए सुक्खा चमार के जीविका के सभी रास्ते बंद करने का प्रयास करते हैं। लगान के नाम पर उसका छप्पर तक छीन लेते हैं, लेकिन सुक्खा किसी भी कीमत पर टूटता नहीं। अपना घर, खेत, भैंस आदि खोकर भी वह अपने बेटे चंदन को पढ़ाता है। इस उपन्यास के संदर्भ में तारा परमार का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है, ‘उपन्यास में सामाजिक परिवर्तन के लिए विचारों के धधकते हुए अंगारे हैं, जो रूढ़िवादी एवं सकीर्ण व्यवस्था को जला देने और सामाजिक समता के समाज की निर्मिति का प्रकाश देने में समर्थ हैं।’⁸

सत्यप्रकाश का ‘जस तस भाई सबेर’ उपन्यास सवर्णों द्वारा निम्नवर्ण पर होनेवाले अन्याय, अत्याचार, शोषण, गुलामी, लूट, बलात्कार, यौन-शोषण, अज्ञान, अंधविश्वास आदि को बड़ी तलखी के साथ उद्घाटित करता है। उपन्यास के शीर्षक का अर्थ है दलितों के जीवन में जैसे-तैसे सवेरा हुआ है अर्थात् जागृति हुई है। आजादी के पहले वर्णव्यवस्था के कारण सिर्फ सवर्णों को ही पढ़ने-लिखने का अधिकार था। डॉ॰ आंबेडकरजी ने घटना में सभी नागरिकों को समान अधिकार देकर दलित, शोषित, पीड़ित एवं निम्नवर्ण को आरक्षण प्रदान किया, ताकि वह समाज में सम्मान से जी सके। पर सरकारी कार्यालयों में उच्च अधिकारी पदों पर सवर्ण ही आसीन हैं जो निम्नवर्ण के कर्मचारियों का मानसिक शोषण करते हुए उसे विविध षड्यंत्रों में फँसाते रहते हैं। इसे ‘जस तस भाई सबेर’ उपन्यास में चित्रित किया गया है। शिवदास हरिजन है, जो बैंक में लिपिक पद पर कार्यरत है। वह निम्नवर्ण का होने के कारण सवर्ण कर्मचारियों का उसकी तरफ देखने का दृष्टिकोण दूषित है। उसके खिलाफ षड्यंत्र रचाकर उसे फँसाया जाता है। बैंक अधिकारी चौधरी उसे गबन के आरोप में फँसा देता है, जबकि शिवदास पूरी तरह से निर्दोष है। जब मामला पुलिस स्टेशन में जाता है, तब पुलिसवाला अधिकारी शिवदास से 25 हजार रुपयों के रिश्वत की माँग करता है, तब शिवदास अपने-आपको निर्दोष बताते हुए रुपए देने से इंकार करता है। तब पुलिस अधिकारी कहता है, ‘अब मैं तुम्हें देखूँगा और देख लूँगा हरिजन एक्ट को भी।’⁹ निम्नवर्ण के कर्मचारी अब सवर्ण अधिकारियों के जुल्म एवं षड्यंत्र के खिलाफ आवाज उठाना जान गए हैं। परिणामस्वरूप वर्ण-संघर्ष की

स्थितियाँ निर्मित होती हैं।

इस उपन्यास में शिवदास का दादा मंगल पहलवान एक बहुत सशक्त, विचारी, संघर्षशील, सत्यान्वेषी, परोपकारी, सामाजिक चेतना से भरा एवं आंबेडकरी विचारों से जुड़ा विद्रोही पात्र है। वह सुनहरी पर हुए बलात्कार का बदला लेता है। हंसा चमार की पत्नी सुनहरी से ब्राह्मण भगत और चौधरी देवीपाल बलात्कार करते हैं। तब सुनहरी उनसे गाली-गलोच करती है। ये सवर्ण अपने आपको ईश्वर का अवतार मानते हैं और जो कुछ भी नीचकर्म करते हैं, उसको ईश्वर की मर्जी और संतुष्टि के साथ जोड़ते हैं। सुनहरी पर बलात्कार करने के बाद निर्लज्ज भगत कहता है, 'अरी पगली, देव प्रसाद खाने के उपरांत तो तुझ पर सचमुच देवता सवार हो गए थे, मैंने तेरे वस्त्रों को ठीक करके तेरे अंगों को ढँका और तू मुझे ही गालियाँ बक रही है, निर्लज्ज कहीं की।'¹⁰ सुनहरी के पति हंसा चमार को जब इस बात का पता चलता है, तब वह क्रोधित होकर हाथ में कृपाण उठाकर भगत को ढूँढने चला जाता है। मंगल पहलवान इसी कारण भगत को लाठियों से पीटकर उसके हाथ-पैर तोड़ देता है और कहता है, 'आ जा भगत, आज तेरी भी भगताई निकाल दूँ। आज तेरा देवता भी सामने आ गया तो उसकी खैर नहीं है।'¹¹ तब ब्राह्मण भगत क्षमायाचना कर अपने गुनाहों की माफी माँगता है, पर पहलवान मंगल इन चालाकों को अच्छी तरह से जान चुका था। तब वह कहता है, 'अब यह लाठी ही तेरा कल्याण करेगी।' इस तरह पहलवान मंगल ब्राह्मण भगत को पीटकर सुनहरी की इज्जत का बदला लेता है। यह बात सच है कि भगत को पीटने से लुटी आबरू वापस नहीं आएगी, पर उसे पड़ी मार अर्थात् निम्नवर्ण द्वारा सवर्ण पर पड़ी मार बड़ी बात है। यही सवर्णों के अन्याय-अत्याचार के खिलाफ धीरे-धीरे उठता हुआ संघर्ष और विद्रोह है।

इस उपन्यास में उच्चवर्ण द्वारा निम्नवर्ण की स्त्रियों के यौन-शोषण को बड़े विस्तार से चित्रित किया गया है, जो वर्णसंघर्ष का महत्वपूर्ण कारण है। उच्चवर्ण के प्रस्थापितों के लिए निम्नवर्ण की स्त्रियों की कोई इज्जत-आबरू नहीं है। वे सिर्फ इनकी वासनापूर्ति का साधन मात्र हैं। उन्हें धन का आकर्षण देकर या जबरदस्ती करके उनके साथ शारीरिक संबंध स्थापित किए जाते हैं और अगर विरोध करने की बात आई तो उसको समाप्त कर दिया जाता है। उपन्यास में ठाकुर, भगत, चौधरी देवीपाल तथा जमींदार, शूद्रवर्ण की बहू-बेटियों का यौन-शोषण करते हैं। धुसिया, सुनहरी, रामरती आदि शोषण के शिकार हैं। चौधरी देवीपाल धुसिया चमारिन के साथ बलात्कार करता है। वह विक्षिप्त है, जो धुसिया के गोपन अंगों को काटकर आनंद प्राप्त करता है। यही चौधरी देवीपाल रामरती के साथ संबंध रखता है, तब रामरती का सात वर्ष का बेटा उसे संभोग करते समय देख लेता है। चौधरी रामरती के बेटे मुन्ना को कुएँ के पास ले जाकर उसके मुँह में कपड़ा ढँसता है—'उसके मुँह में कपड़ा ढँस दिया। कुएँ की मन पर उसकी गर्दन रखी और गन्ना काटनेवाली पिट्टी दराँती निकाली। उसी दराँती से चौधरी ने मुन्ना की गर्दन कुएँ की मन पर रखकर काटी।'¹² स्पष्ट है कि अपनी वासना को छुपाने के लिए ये लोग किसी भी प्रकार का धिनौना कार्य करते हैं। चौधरी देवीपाल के खेतों में दलित समाज की स्त्रियाँ काम करती हैं या फिर घास काटकर ले जाती हैं। वे अच्छी तरह से जानती हैं कि देवीपाल वासनांध व्यक्ति है, लेकिन इन दलितों के पास पेट भरने के लिए काम के अतिरिक्त

और कोई साधन नहीं होता और इनकी बेबसी और मजबूरी का फायदा जमींदार उठाते हैं। देवीपाल के खेत में सन्नो, रामरती और धुसिया घास काट रही थीं, तब अचानक बारिश आती है, जिससे बचने के लिए ये स्त्रियाँ झोपड़े का सहारा लेती हैं। तब देवीपाल सन्नो और रामरती को बाहर निकालकर धुसिया से बलात्कार करता है। धुसिया इस बात का भंडाफोड़ करने की धमकी देती है, क्योंकि वह जाग्रत और निर्भोक्त स्त्री है। अन्याय का विरोध करना उसने सीख लिया था। वह उससे कहती है, 'देवीपाल, तेरी इज्जत का भंडाफोड़ सारे गाँव के सामने करूँगी। तेरी माँ, बहिन बेटा को तेरे नीचे डाल दूँगी, तब देखूँगी तेरी मर्दानगी।'¹³ यहाँ पर निम्नवर्णीय नारी के डर से देवीपाल धुसिया की हत्या कर उसे कुएँ में डाल देता है। यही वास्तविकता है कि सदियों से निम्नवर्ण की स्त्रियाँ सवर्णों की वासना का शिकार बनीं। इसके विरोध में न समाज बोला, न सरकार। कानून तो इनके हाथ का खिलौना बनकर रह गया है। निम्नवर्ण के लोग सब-कुछ जानते हुए भी डर के कारण एक-दूसरे का साथ नहीं दे पाते और यही कारण है शोषक जुल्म पर जुल्म किए जाते हैं।

उपन्यास में धर्म और पूजा की आड़ में पुरोहित भी अपनी वासना की पूर्ति करते हुए दिखाए गए हैं। सुनहरी जब ईश्वर की पूजा करने आती है, तब ब्राह्मण भगत सुनहरी को बेहोश कर उसकी इज्जत लूटते हैं। वहीं देवीपाल भी उसका भागीदार बनता है। भारतीय वर्णव्यवस्था में आरंभ से ही उच्चवर्णीय पुरुषों ने निम्नवर्णीय स्त्रियों को उपभोग का साधन माना है। यही नहीं, बल्कि उन्हें भोगना वे अपना अधिकार समझते हैं। इस देश में निम्नवर्ण की नारी की स्थिति जानवर से भी गई-बीती है। उपन्यास में सवर्ण पात्र हरसन्ना, भगत पुजारी और चौधरी देवीपाल दोनों अपने-अपने स्वार्थ को किसी भी पद्धति से सिद्ध करते हैं। गाँव में धर्म महत्त्वपूर्ण माना जाता है, इसलिए पाँगा पंडित पुजारी ब्राह्मण जो भी कहे, उसे गरीब एवं निम्नवर्ण के लोग सही मानते हैं। उपन्यास में भगत ब्राह्मण हंसा चमार को बताता है कि देवता तुझ पर नाराज है। उसे खुश करो तो तुम्हारे सारे संकट दूर हो जाएँगे। हंसा अनपढ़, भोला-भाला और अंधविश्वास में भटका हुआ है। वह चौधरी देवीपाल से यात्रा के लिए पाँच हजार रुपए कर्ज लेता है। तब चौधरी देवीपाल उसकी जमीन लिखवा लेता है। इसप्रकार भगत और देवीपाल मिलकर गाँव के निम्नवर्ण का निरंतर शोषण करते हैं। उपन्यास में हंसा का भाई सरवण एक शिक्षित और समझदार पात्र है, जो आंबेडकरी विचारों से प्रभावित है। वह शोषण और अत्याचार को अच्छी तरह समझता है। उसका बेटा शिवदास पढ़-लिखकर बैंक में नौकरी करता है। वह अपने भाई हंसा को समझाता है कि 'अरे हंसा, मूर्ख मत बनो। दिमाग से काम लो, पूजा-पाठ में कुछ नहीं रखा। इससे पुजारियों, भगतों और शोषकों को छोड़कर किसी व्यक्ति को कोई लाभ आज तक नहीं हुआ है और न कभी होगा।'¹⁵ पर हंसा पर तो अज्ञान सवार था। वह सरवण की बात को स्वार्थ या ईर्ष्या समझकर उससे झगड़ा करता है। परिणामतः दोनों के पारिवारिक संबंध बिगड़ जाते हैं। उपन्यासकार यह बताना चाहता है कि धार्मिक कर्मकांडों में फँसकर निम्नवर्ण के लोगों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो जाती है। उन्हें इस अंधविश्वास से बाहर निकलना होगा। उच्चवर्णीय भगत, देवीपाल आदि निम्नवर्ण की लोगों का निरंतर शारीरिक, लैंगिक, आर्थिक शोषण करते हैं और जब यह बात निम्नवर्ण के समझ में आती है, तब ये सब मिलकर इनका

विरोध करने की बात सोचते हैं और यहीं वर्णसंघर्ष की स्थिति का निर्माण होता है। सरवण अपने भाई हंसा से कहता है, 'इस संकट का हल मिलकर निकालना है, बापू के आने पर हम तीनों देवीपाल को धूल चटा देंगे।'¹⁶

उपन्यास के अंत में यह वर्णसंघर्ष अपनी सीमा पार करता है। देवीपाल और भगत अपने आदमियों को लेकर दलितों की बस्ती में आग लगाने आते हैं, तब मंगल पहलवान उनका विरोध करता है। समय पर पुलिस आकर देवीपाल और भगत को गिरफ्तार करती है, पर धुसिया का पति मनसुख पुजारी भगत पर गोली चलाता है। प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकारों ने धर्म के नाम पर चलनेवाले असामाजिक व्यवहार को स्पष्ट करते हुए दलितों में प्रेरणा और जागृति की निर्मिति की है। देश को आजादी मिलने के बाद धीरे-धीरे ही सही, पर निम्नवर्ण अब जाग्रत हो गया है। जमींदार पुजारी पुरोहित आदि से डटकर मुकाबला करने की क्षमता उनमें विकसित हुई है। अंधविश्वास से केवल पतन होता है, इसे वे समझ गए हैं। निम्नवर्ण अब पूँजीपतियों और जमींदारों का डटकर विरोध कर रहा है और अपने अस्तित्व के लिए उच्चवर्णियों से संघर्ष कर रहा है। शिक्षा के कारण युवाओं में नवचेतना का निर्माण हुआ है और अपनी नई पीढ़ी को सशक्त और शिक्षित बनाने के प्रयास वे कर रहे हैं। इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण जनता में अवतरित परिवर्तन को पूर्ण एवं व्यापक फलक पर उद्घाटित कर यह स्पष्ट किया है कि अपने समाज की उन्नति के लिए शिक्षा, संगठन और संघर्ष अत्यंत आवश्यक है। ये उपन्यास अंधविश्वासों से मुक्ति के चित्र प्रस्तुत कर अपने अधिकारों के प्रति जागृति निर्माण कर शोषण के विरुद्ध लड़ने के चित्र प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ

1. जयप्रकाश कर्दम, छप्पर, पृ० 38
2. वही, पृ० 38
3. डॉ० सुशीला टाकभौर, संपा० मनोहर भंडारे, दलित साहित्य समग्र परिवेश, पृ० 208
4. जयप्रकाश कर्दम, छप्पर, पृ० 38
5. वही, पृ० 43
6. वही, पृ० 22
7. वही, पृ० 52
8. वही, पृ० 53
9. तारा परमार, दलित अभिव्यक्तिवाद और प्रतिवाद, पृ० 32
10. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ० 113
11. वही, पृ० 113
12. वही, पृ० 120
13. वही, पृ० 49
14. वही, पृ० 15
15. वही, पृ० 10
16. वही, पृ० 117

राजनीतिक गुह्यांधकारों में रास्तों का अन्वेषी कवि : मोहन सपरा

प्रो० सुधा जितेंद्र

शोध निर्देशक, हिंदी विभाग

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

आत्माराम (शोधछात्र)

मोहन सपरा की पहचान समकालीन हिंदी कविता के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित, सशक्त, समर्थ और भाषा में तल्लीन लिए हुए जनवादी कवि के रूप में की जाती है। अहिंदी भाषी राज्य पंजाब में हिंदी कविता की मशाल को लगातार प्रज्वलित करते रहने के कारण हिंदी साहित्य के क्षेत्र में उनका स्थान और भी अहम एवं महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वे समकालीन हिंदी कविता के वटवृक्ष को लगभग पाँच दशकों से अपनी ओजस्वी वाणी और मजलूमों की रक्षा हेतु प्रतिबद्ध कलम की शक्ति द्वारा सींचते चले आ रहे हैं। उनकी काव्यकला मनोरंजन और शब्द चमत्कृत के स्तर से ऊपर उठकर उचित जीवनमर्म का उद्देश्य लेकर निस्सृत होती है। वे शोषितों, पीड़ितों और अभावग्रस्त लोगों की रक्षार्थ अपनी काव्यशक्ति का प्रयोग एक हथियार के रूप में करने में विश्वास रखते हैं। तभी वह 'वक्त की साजिश के खिलाफ' शीर्षक लंबी कविता में कहते हैं—

आओ कविता की बात करें

क्या कविता

नामर्द साबित हो चुकी है

अथवा

उसने सूर्य को धरती पर ले आने का

वीर्य जुटा लिया है!

यहाँ वह असंभव को संभव कर दिखाने की प्रेरणा देते हुए उन कवियों की काव्य-संवेदना के प्रति भी चिंतित नजर आते हैं, जो कल्पनाओं की दुनिया में अपना आशियाना सँजोए रहते हैं या प्रेमिकाओं के कुंतल जाल में ही उलझे रहते हैं। दरअसल, उनकी कविताएँ अन्य युवाकवियों को समकालीन यथार्थ और विद्रूप तथा विकृत परिवेश का मर्म समझाती हुई स्वप्नमयी दुनिया से बाहर आकर आम जनजीवन की समस्याओं तथा गरीब की टूटी-फूटी झोंपड़ी के अवसादमय जीवन में झाँकने और इस पर चिंतन-मनन करने के लिए विवश करती हैं। उनकी कविताएँ समय की पाठशाला में नग्न दुनियावी यथार्थ की राजनीति को खड़ा करती हैं और हमें नए सिरे से सोचने के लिए बाध्य करती हैं। उनकी कविताओं के शब्दों की बात की जाए तो उनके शब्द कम बोलते हैं, परंतु उनके शब्दों के पीछे छिपा मौन गहराई तक वार

करता है। अखिल भारतीय स्तर पर एक कवि के रूप में पहचान कराने में उनकी यथार्थवादी तीक्ष्णता लिए हुए आवेगधर्मी राजनीतिक परिवेश को नग्न करती कविताओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उनके साहित्यिक योगदान के लिए पंजाब में 'शिरोमणि हिंदी साहित्यकार' और पंजाब से इतर हरियाणा साहित्य अकादमी तथा दिल्ली की संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित किया जाना उनको पंजाब का ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय परिवेश के साहित्यिक स्रष्टा के रूप में स्थापित करता है। असल में मोहन सपरा ने अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति, अर्थतंत्र और व्यवस्थातंत्र के समुद्र में डुबकी लगाकर उसके भीतर के कीचड़ सने यथार्थ को पकड़ा है और अपनी कलम द्वारा शब्दबद्ध करते हुए पर्दे के पीछे छिपे धिनौने सच से लोगों को परिचित करवाया है।

सन् 1969 में भारतीय स्वतंत्रता के मीठे स्वप्नों से मोहभंग अपने चरम पर पहुँच चुका था। समाज में चारों तरफ हिंसा, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, महँगाई, अमानवीयता, अत्याचार, लूटमार, प्रताड़ना, विद्रूपताओं और अवसरवाद का बोलबाला था। अभी-अभी स्नातकोत्तर उत्तीर्ण कर चुके मोहन सपरा ने रोजगार की तलाश में बहुत प्रयत्न किया। परंतु हर जगह राजनीतिक षड्यंत्र, समाज तथा व्यवस्थातंत्र में फैले भ्रष्टाचार को भोगी बनते रहे। इसके कारण उनका युवामन लोकतंत्र के नाम पर चल रहे जंगलतंत्र के विरुद्ध विरोध, आक्रोश और क्षोभ से भर उठा। उनके इसी क्षोभ, आक्रोश, व्याकुलता, असंतोष, हताशा, निराशा, अवसाद, बैचेनी, बेरोजगारी की मानसिक पीड़ा, टूटन और यंत्रणाबोध की निष्पत्ति 1969 में प्रकाशित प्रथम काव्य-संग्रह 'कीड़े' के रूप में हुई है। इस काव्य-संग्रह की कविताओं पर तत्कालीन काव्यांदोलन 'अकविता' का प्रभाव भी प्रमुखतः दिखाई देता है। इसी प्रभाववश शोषकीय शासन-व्यवस्था द्वारा आम आदमी की दुर्दशा और प्रताड़ना के कारणों को नग्न करते हुए उनकी कविताओं के भावगत, अर्थगत और भाषागत बोध में अकवितावादी अतिशयता और नग्नता के दर्शन प्रायः हो जाते हैं। यथा—

औरतें अखबारें पहनने लग गई हैं
और अखबारें रद्दी के भाव बिकती हैं
और फिर
जब सड़क फैला समुद्र हो जाती हैं
तो मुझे शर्म आने लगती है
मैं आँखें बंद कर लेता हूँ।²

यदि गौर से देखा जाए तो अकवितावादी प्रभाव उनके उभरते युवा कविमन पर तो अवश्य था, परंतु उनकी तीक्ष्ण दृष्टि और विवेकशील बुद्धि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज और भ्रष्ट राजनीतिक हथकंडों को परखकर परत-दर-परत उधेड़ते हुए कलमरूपी हथियार के सशक्त प्रयोग द्वारा मूर्त रूप प्रदान कर रही थी। तत्कालीन विसंगतियों से भरे समाज और परिवेश में आम आदमी राजनीतिक षड्यंत्रों और शोषण के नए-नए हथकंडों से अपरिचित अपनी दुर्दशा और अकिंचनता को नियति मानकर एक कीड़े की तरह जीवन जीने के लिए विवश था। शोषण, अत्याचार, विवशता और अकिंचनता के बावजूद कहीं भी विरोध और

विद्रोह की चिंगारी दिखाई नहीं दे रही थी। ऐसे में मोहन सपरा सामान्य और दीन-हीन लोगों के लिए आशा और उम्मीद की चिंगारी को प्रज्वलित करते नजर आते हैं और अपनी कविताओं के आलोक द्वारा उनका पथ प्रशस्त करते हैं। प्रशासनतंत्र के आगे सामान्यजन की तत्कालीन पीड़ा, दुर्दशा और विवशता को कवि ने इस तरह लिपिबद्ध किया है कि इसे पढ़कर पाठक की चिरनिद्रा टूट जाती है और उसका रोम-रोम आक्रोश और विद्रोह से भर जाता है। यथा—

जिंदा लाशों सड़कों पर ऐय्यासी करती फिरती हैं,
आत्माएँ बिकती हैं
फिर अब यह कहने की क्या आवश्यकता है कि
मैं दो टाँगों पर चलने से पहले मर जाऊँगा
मरने से पहले लिंग बदल लूँगा....
लिंग बदलने से पहले दो टाँगें काट लूँगा...
दो टाँगें काटने से पहले सोया होऊँगा....
और सोने से पहले एक नंगा कीड़ा ही होऊँगा।³

दरअसल, मोहन सपरा ने स्वतंत्रता के बाद आम आदमी के शोषण, दुर्दशा और अकिंचनता के लिए जिम्मेदार कारकों और कारणों को बहुत जल्दी पहचान लिया था। वे आम लोगों की बदहाली, भुखमरी और गरीबी का कारण जहाँ भ्रष्ट नेताओं की छल-कपटपूर्ण नीति और राजनीतिक षड्यंत्रों को मानते हैं, वहीं व्यवस्था-तंत्र की असफलता और आम आदमी की अनपढ़ता, असमझदारी, कायरता और जड़ता को भी इनके शोषण का प्रमुख कारण मानते हैं जो भीड़ और कीड़ों के रूप में सारा दिन निरर्थक घूमते रहते हैं। जबकि कार्य और कर्म के नाम पर उनके पास केवल आपसी समागम द्वारा जनवृद्धि के आँकड़े बढ़ाते हुए बच्चों की फौज तैयार करना मात्र होता है। इसलिए कवि ऐसे लोगों को जिंदा लाशों की पदवी प्रदान करता हुआ कहता है—

लाशों का नंगे घूमते रहना और सो जाना,
आत्माओं का कीड़ों के रूप के बिखरते रहना, इधर-उधर
जहाँ होता है समागम, जन्म लेते हैं और कीड़े
तब गिरिजाघर भर उठता है।⁴

जनसंख्या-वृद्धि की उच्चतम दर के कारण कुदरती संसाधनों के बढ़ते हुए दोहन को देखकर कवि को सभी मूल समस्याओं की जड़ जनसंख्या विस्फोट में ही नजर आती है। परंतु जब कवि इस समस्या के निवारण के लिए राजनीतिक गलियारों में चक्कर लगाता है तो पाता है कि राजनीतिज्ञ केवल अपनी कुर्सी को बचाए रखने के लिए ही क्रियाशील होते हैं। जबकि देश की सबसे बड़ी समस्या जनसंख्या-वृद्धि के निदान हेतु उनके पास कोई सार्थक योजना नहीं है और न ही किसी भी सरकार या राजनीतिक पार्टी का इस ओर कोई ध्यान ही है। इसलिए आजादी के बाद जनसंख्या-नियोजन के लिए केवल कागजों में ही योजनाओं की सफलता के फूल खिलाने गए। जबकि जमीनी यथार्थ पर इन योजनाओं की क्रियान्विति का कोई सार्थक प्रयास ही नहीं किया गया। कवि लोगों को जनसंख्या-नियंत्रण के लिए आपसी संयम रखने और कम बच्चे पैदा करने

की सलाह देता है—

उन्होंने यह भी कहा था
कि हर त्यौहार पर
दान-पुण्य किया करो
हररोज पूजा-पाठ किया करो,
पर, बच्चे पैदा न करो।⁵

कवि देश के जनतंत्र को भ्रष्टतंत्र से लेकर जंगलतंत्र तक की यात्रा करवाने के लिए स्वार्थी नेताओं और उनकी कुर्सी-लोलुपता को जिम्मेदार मानता है। स्वार्थलोलुपी नेता चेहरे पर विनम्रता, शालीनता, सज्जनता और इंसानियत का नकाब ओढ़कर रटे-रटाए फिल्मी संवादों द्वारा जनता को सुनहरे भविष्य की स्वप्नमयी दुनिया की यात्रा करवाते हैं और लोग उन्हें मसीहा समझने की भूल कर जाते हैं। परंतु जैसे ही ये नेतागण कुर्सी पर विराजमान होते हैं, वैसे ही इनके द्वारा दिखाया गया स्वप्न खंडित होने लगता है और राजनीतिज्ञ गिरगिट की तरह रंग बदलने लगते हैं। नेताओं की छल-कपटपूर्ण नीति और गिरगिटवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करता हुआ कवि ऐसे नेताओं की तुलना कुत्ते, चूहे और बिल्लियों से करता है, जो लोगों में देश के नायक होने का भ्रम फैलाए रहते हैं—

दो कुत्ते हैं
दो चूहे हैं
दो बिल्लियाँ हैं
वे नायक हैं...।⁶

असल में देश के ज्यादातर विभागों, कार्यालयों, संस्थाओं, समितियों के शीर्षपदों पर ऐसे ही नायकनुमा मुखौटाधारी लोग विराजमान हैं, जो दीमक की तरह देश के अर्थतंत्र को अंदर से खोखला करते जा रहे हैं और यही नायकनुमा पदाधिकारी आम लोगों की गरीबी और भुखमरी के लिए जिम्मेदार हैं। राजनेताओं और पूँजीपतियों के हाथों में खिलौनों की तरह नाचते रहने के कारण कवि को समाज में हर कहीं मुर्दा आदमी और मुर्दा कौम ही नजर आती है, जो स्वयं तथा अपने परिवार का पेट भरने के लिए सारा दिन शोषकों के तलवे चाटती रहती है और हड्डी फेंके जाने की ताक में रहती है। शाम होते ही यह मुर्दा कौम अपने बिलों में घुसकर सो जाती है। कीड़ों की तरह रेंगते रहने के कारण कवि को लगता है कि आज मनुष्य-जीवन भी कीड़ों की तरह हो गया है, जो केवल पूँछ हिलाना ही जानता है—

मुर्दे जहाँ घूम आते हों
शहर-पर-शहर
और फिर रात सो जाएँ
तो मैं कहूँगा—
आदमी ने कीड़े से जन्म लिया है।⁷

सत्तापक्ष अक्सर आटा-दाल की लोकलुभावनी योजनाएँ चलाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। सत्तापक्ष के नेताओं को लोगों के बीच जाकर उनकी मुश्किलें देखने,

समझने और उनको हल करने की फुर्सत ही नहीं होती, क्योंकि उनकी गिद्ध नजर तो किसी भी तरह धन इकट्ठा करके उस पर सर्पकुंडली जमाकर बैठने पर रहती है। सत्तापक्ष के कर्तव्यहीन रवैये और शिथिलता के कारण समाज में आर्थिक विषमता रौद्र रूप धरण कर लेती है। तभी जहाँ उच्चवर्ग के बच्चे स्वयं पानी लेकर पीने तक का कष्ट नहीं उठाते, वहीं दूसरी तरफ निम्नवर्गीय गरीबों के बच्चे पढ़ने-लिखने और खेलने-कूदने की उम्र में चाय के ढाबों में बर्तन माँजकर अपना तथा अपने परिवार की गुजर-बसर करते नजर आते हैं। परंतु इस पर भी यदि उनके पेट की भूख शांत नहीं हो पाती तो उन्हें छोटी उम्र में ही मजबूरीवश चोरी करने, डाके डालने और जेब काटने जैसे जघन्य अपराधों में शामिल होना पड़ता है और गरीब लड़कियाँ अपना जिस्म बेचने के लिए विवश हो जाती हैं। कवि ऐसे बाल-मजदूरों और गरीबों के पेट की आग का गणित प्रशासनतंत्र को समझाकर उसकी आँख और कान दोनों खोलता है—

मुझे रिक्शा-चालक के पसीने का अर्थतंत्र समझना है
 पतिहीना के चरित्र-तंत्र का गणित हल करना है,
 यह जो बबुआ
 चाय की दुकान पर काम करता है
 झूठे बर्तन उठाता है, माँजता है
 फिर भी चोरी करता है—
 उसके हृदय का खुलासा करना है।⁸

मोहन सपरा की लंबी कविता 'वक्त की साजिश के खिलाफ' सामान्यजन और आम लोगों की कविता है, जो देश की आजादी का पूरा लाभ उसकी हकदार जनता को नहीं मिलने के कारणों के पीछे छिपे कारकों की जाँच-पड़ताल करती है। देश की आजादी के बाद देश की उन्नति का लाभ सभी वर्गों और लोगों को बराबर मिलना चाहिए था, परंतु नेताओं के छलकपटपूर्ण व्यवहार और नीतियों के कारण देश की तरक्की के लाभ का बड़ा हिस्सा अवसरवादी राजनीतिज्ञों और पूँजीपतियों की तिजोरियों की शोभा बढ़ाने लगा। जबकि दूसरी तरफ गरीब लोग दो जून की रोटी के लिए भी तरसने लगे। अवसरवादी दबंग किस्म के लोग, जो अँग्रेजी हुकूमत में उनके आगे दुम हिलाते नजर आते थे, वे देश आजाद होते ही सफेद टोपी पहनकर नेतागिरी का ढोंग करने लगे। असल में यह पूर्व में सामंती संस्कारों से युक्त बदमाश और गुंडा किस्म के छूँटे हुए बदमाश थे, जो जनता को साम, दाम, दंड, भेद किसी भी तरीके से लूटना अपना पैदाइशी हक समझते थे। देश के आजाद होते ही इनके लूटने का तरीका भी बदल गया। ऐसे राजनीतिज्ञ कवि के तीव्र व्यंग्यबोध के शिकार हुए हैं। यथा—

अब देश आजाद है
 इसलिए उन्हें चिंता नहीं
 क्योंकि आजाद देश में रहकर उन्होंने सीख लिया है—
 अपनी हथेलियों पर थूककर
 तेज चाकू को थामना
 और चुपके से

दूसरों की जबान पर रख देना।⁹

आजादी के बाद के भारतीय परिवेश की विडंबनापूर्ण स्थितियों और विसंगतियों को मोहन सपरा परिवेश की अंतर्नाद गहराइयों में पैठकर पूरी तरह समझ चुके थे। इसी पैठ और आम आदमी के दुर्दशा के कारणों की अभिव्यक्ति 'आदमी जिंदा है' में हुई है। आज जिस घुटन, तड़प, अवसाद, गरीबी, बेरोजगारी और विसंगतियों की तड़प को सामान्य व्यक्ति हररोज भोगने और विपरीत परिस्थितियों के बीच रहकर भी बिना किसी विरोध के अपने शोषण को नियति मानकर जीने के लिए विवश है। यह सब कवि को अंदर तक पीड़ित करता है और वह लोगों को उनकी दुर्दशा के कारणों के बारे में सोचने, जानने और जागरूक होने के लिए बाध्य करता है—

कितना और कैसा दुखांत है
कि हम कभी पहाड़ नहीं बन सके
ईंट बने रहे
उठाई, लगा दी और हम चुपचाप लग गए;
आप सोचें तो सही
कि आप कहाँ हैं?
कैसी नोकदार हवा के थपेड़े खा रहे हैं
और क्यों खा रहे हैं?¹⁰

देश की आजादी के बाद स्वर्गमयी दुनिया के जो स्वप्न लोगों ने सजा रखे थे, वे आजादी के चालीस वर्षों बाद भी पूरे नहीं हुए। अवसरवादी नेतागण खद्दरधारी और गाँधीवाद की आड़ में कुर्सियों पर विराजमान हो गए तथा आम जनता की खून-पसीने की कमाई पर देश-विदेशों में दौरो के नाम पर सैर-सपाटा करते रहे और लोगों को खुशहाली का झूठा आश्वासन मिलता रहा। यही भ्रष्ट खद्दरधारी लोगों से उनके कार्य करवाने के नाम पर तोहफों के रूप में मोटी रकम वसूल करते रहे और इसपर सर्पकुंडली मारकर विराजमान हो गए। उनकी सारी शक्ति इस कालेधन को संगृहीत करने के तरीकों पर पर्दा डालने में ही व्यर्थ होती रही। यथा—

उन्होंने अपनी सारी ताकत
आजादी के तोहफों को सँभालने में लगा दी है
वे अब भी उनके इर्दगिर्द
गिद्धों की तरह मँडराते हैं।¹¹

दरअसल, नेताओं को सिर्फ धन से मतलब होता है। फिर चाहे वह धन लोगों को मारकर, नशे का आदी बनाकर, नशा बेचकर या बिकवाकर, बड़े-बड़े घोटाले करके, गरीबों का खून चूसकर इत्यादि किसी भी तरीके से संगृहीत किया जाए, इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। इसके विपरीत आम आदमी चंदूलाल की दिनयात्रा अपने परिवार के लिए रोटी का जुगाड़ करने के इर्द-गिर्द घूमती है। जबकि हमारे राजनीतिज्ञ गेहूँ उत्पादन से लेकर उससे रोटी बनने तक की प्रक्रिया से अनजान अमीरी और गरीबी का अंतर नहीं जानते—

उनके गणित में
 गरीबी से अमीरी तक का पहाड़ा नहीं
 उनका जनतंत्र दौलत की दलदल से शुरू होता है
 और वहीं दफन हो जाता है।
 उनकी दिलचस्पी नैतिकता की पोस्टरबाजी में होती है
 हिंसा-प्रतिहिंसा की अखाड़ेबाजी में होती है।¹²

देश की आजादी की चालीस सालों की यात्रा को देखने के बाद कवि इस नतीजे पर पहुँचता है कि हमारा देश अँग्रेजों से तो आजाद हो गया, परंतु हमारे देश के लोग आज भी गुलामी का जीवन जीने के लिए विवश हैं। फर्क सिर्फ इतना पड़ा है कि पहले हम अँग्रेजों के गुलाम थे, वहीं आज हम अपने ही लोगों की गुलामी करने के लिए विवश हैं। इसलिए कवि को देश की आजादी निरर्थक लगती है। क्योंकि आजादी के बाद भी बेरोजगारी, भुखमरी, हिंसा, लूटमार, डकैती, कत्ल, बलात्कार, गुंडागर्दी, घोटाले, अत्याचार इत्यादि कुकृत्य यथावत कायम हैं। आज अवसरवादी मेंढक जनता के खून-पसीने की गाढ़ी कमाई पर मजे कर रहे हैं। इसलिए कवि समाज को उसकी यथार्थ तस्वीर दिखाते हुए कहता है—चालीस वर्ष पहले/ आजाद हुए इस मुल्क में/ आज हर चेहरे पर/ खामोश चीखों की नदियाँ बहती नजर आती हैं।¹³

इस मशीनी जीवन में मनुष्य का चरित्र दोगला हो गया है। वह चेहरे पर अनेक मुखौटे लगाकर घूमता है और आवश्यकता के अनुरूप किस मुखौटे का इस्तेमाल कब करना है, बखूबी जानता है। कवि इन मुखौटों को नोचकर उसके पीछे छिपे चेहरों को बेनकाब करता है, जो देशभक्त होने का ढोंग करके स्मगलिंग, कालाबाजारी, घोटाले इत्यादि द्वारा पाँच-सात वर्षों में ही अपनी संपत्ति तीन सौ गुना तक बढ़ा लेते हैं। ऐसे लोग अहिंसा, सत्य, धर्म और देशभक्ति का मुखौटा पहनकर धिनौने कर्म करते हैं, परंतु अपनी रक्षा के लिए ये देशभक्ति का नाटक करना अच्छी तरह जानते हैं—अच्छा, नहीं तो/ जयहिंद का नारा लगा दो/ अपनी हिफाजत/ आप कर लो।¹⁴

देश में जनतंत्र के नाम पर जंगलतंत्र का साम्राज्य है। चुनावों से पहले राजनीतिक दल आम जनता के हितों की बड़ी-बड़ी बातें करते और स्वर्ग को जमीन पर लाने जैसी बड़ी-बड़ी डींगें हाँकते देखे जा सकते हैं। परंतु जैसे ही सत्ता की कुर्सी पर विराजमान होते हैं, वैसे ही ये दल अपने द्वारा किए गए सभी वायदे भूलकर पूँजीपतियों के हित-संधान हेतु कार्य करने लगते हैं और आम जनता पर विभिन्न प्रकार के करों का भारी बोझ लाद दिया जाता है। बड़े-बड़े नेतागण अपने रिश्तेदारों या भागीदारों को सरकारी टेंडर और ठेके कम कीमत पर देकर या दिलवाकर अपनी जेबें गर्म करते रहते हैं। इसलिए कवि को लगता है—

इस देश का जनतंत्र
 मेरे शहर के कबाड़िए के यहाँ मिल सकता है
 क्योंकि उसे भी नेतावादी भूख है।¹⁵

कवि को देश की अवनति और लोगों की दुर्दशा, बेबसी लाचारी, प्रताड़ना, गरीबी, बेरोजगारी, अकिंचनता, विडंबना, विसंगतियों और विद्रूपताओं भरे नरकमयी जीवन का सबसे

बड़ा कारण मौकापरस्त और स्वार्थी नेताओं की पैतरेबाजी, घोटालोंभरी राजनीतिक परंपरा और कुर्सी-प्रेम में नजर आता है। राजनीतिज्ञ अपने भाषणों के द्वारा जनता को कल्पनालोक के रामराज्य के स्वप्न दिखाते हैं। वह कुछ ही दिनों में गरीबी, भुखमरी मिटाने और लोगों को हर सुविधा देने की बात करके थोड़ा सब्र रखने के लिए कहते हैं। दरअसल, लोगों को बेवकूफ बनाने के लिए झूठे आश्वासन और थोथी भाषणबाजी रूपी हथियार नेताओं को परंपरागत विरासत में मिला ब्रह्मास्त्र है। इसलिए राजनीतिज्ञ—

इतराएँगे उत्सव मनाएँगे
शर्माएँगे, सामने जरूर आएँगे
सीटी बजाएँगे
मरने की तर्ज पर जीना सिखाएँगे।¹⁶

आज कहने को तो हम आजाद देश की गुलामी रहित फिजा में साँस ले रहे हैं, परंतु क्या गणतंत्र दिवस और स्वतंत्र दिवस का यथार्थ सामान्य जनता के लिए साकार हो पाया है या गणतंत्र दिवस और स्वतंत्र दिवस मात्र तारीखें बनकर लोगों के जीवन में आते और तारीखें बनकर ही चले जाते हैं। अर्थात् आजादी दिवस और संविधान दिवस की आम लोगों के लिए कोई सार्थकता नहीं है। कवि को लगता है कि—

कितना अजीब है
गणतंत्र दिवस स्वतंत्रता दिवस
और अपने जन्मदिवस पर
ताउम्र उदासी उसका मुँह पोतती रही है
हालाँकि वह दिन-रात हड़बड़ाता रहा
उछलकूद भी मचाता रहा।¹⁷

भ्रष्ट राजनीतिज्ञों ने देश के व्यवस्थातंत्र को इस तरह संचालित और विकृत किया है कि लोगों को यह पता ही नहीं चलता कि किन अज्ञात तरीकों से उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हकों और हितों पर डाका डाला जाता है। विभिन्न प्रकार के करों और अर्थ-प्राप्ति की अंधी दौड़ तथा इच्छा-केंद्रित जीवनदृष्टि ने मनुष्य से उसका जीवन भी छीन लिया है। वह केवल बड़ी-बड़ी कंपनियों या व्यवस्थातंत्र के हितों के संधान हेतु चलता-फिरता मशीन का पुर्जा बनकर रह गया है। आज उसे ऐसे पिंजरे में छोड़ दिया गया है, जिसमें वह स्वयं को आजाद महसूस तो कर सकता है, परंतु असल में उसकी एक-एक साँस पर भी पहरा दिया जा रहा है। इसी के प्रति सचेत करता हुआ कवि कहता है कि—

उन्होंने अपने कायदे के अनुसार
दादूराम को
बड़े खुले पिंजरे में आजाद छोड़ दिया है।¹⁸

सुविधाओं के नाम पर लोगों को केवल आश्वासन का झूठा पाठ पढ़ाया जाता है, जबकि विभिन्न प्रगति कार्यों के लिए स्वीकृत अनुदान सरकारी फाइलों और अफसरों की जेबों में सिमटकर रह जाता है। सरकार अच्छे दिनों के स्वप्न दिखाकर आम आदमी के खून-पसीने

की गाढ़ी कमाई पर बिक्रीकर, संपत्तिकर, आयकर, सेवाकर, सड़ककर इत्यादि के नाम पर भारी आर्थिक बोझ लादकर उसकी कमर तोड़ देती है—

बेचारा दादूराम!

अपनी जगह

एक जम्हाई लेने का कर चुकाता है

उसका इतिहास अँधेरे की भाषा में लिखा जा रहा है।¹⁹

आज देश के व्यवस्थातंत्र पर अमानवीय और गुंडा ताकतें पूरी तरह हावी हो चुकी हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर सत्ता, पद और कुर्सी के मद में चूर अधिकारीवर्ग अपने पद और कुर्सी की ताकत का प्रयोग निजी हित-संधान के लिए करने लगा है और सामान्य जनता इन कुर्सी और पद के पुजारियों के हाथों कठपुतली बनकर नाचने लगी है। व्यवस्थातंत्र के नाम पर चलाए जा रहे भ्रष्टतंत्र और लोगों के शोषण के बावजूद कवि को आज अपने हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए कोई वीर नजर नहीं आता, जो अपनी ताल ठोककर इस जंगलतंत्र के सामने खड़ा हो सके और इसके समूल नाश की जिम्मेदारी अपने सिर ले सके। इसलिए कवि पूरी कौम को कायरता की उपाधि देने के लिए विवश होता है—

सच, कितना अजीब है—

चलते हुए लगातार

हम महसूस करते हैं

कि चल रहे हैं: कायर एक-दूसरे के साथ

बाहों में बाहें डाले

अपनी नजर से जमीन छीलते हुए

न कुछ कहते न कुछ करते

बस चुप हैं।²⁰

कवि की तीव्र आवेगधर्मी विवेकशील बुद्धि व्यवस्थातंत्र में फैले भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, रिश्वतखोरी, विद्रूपता, छलकपटपूर्ण राजनीतिक षड्यंत्रों द्वारा कुर्सी कायम रखने के विभिन्न हथकंडों और तरीकों को नग्न करती है। कवि को आजादी के इतने वर्षों बाद भी समाज और व्यवस्थातंत्र में गुलामी की बू आती है। उसे आज भी लोगों की मानसिकता अँग्रेजी और अँग्रेजों की गुलाम नजर आती है। इसीलिए जब वह भारतीय जनता के अर्थतंत्र की तुलना अन्य देशों के अर्थतंत्र से करता है तो उसे भारतीय जनता की आजादी के मायने कहीं खो गए प्रतीत होते हैं और—

उसकी बाहों में आजादी की लाश

बच्चे की लाश

बनकर झूल जाती है

अब उसे साफ-साफ लग रहा है

वह जिंदगी के हाशिये पर खड़ा है

एक मुर्दा रास्ता उसके सामने बिछा है।²¹

कवि आम आदमी को वक्त की साजिश के खिलाफ लड़ाई के लिए तैयार करता है। वह लाल हो रही आँखों को बंद नहीं करना चाहता, बल्कि अपने विषाद के आँसुओं को अंगारे बनाकर बरसाना चाहता है। कवि की कविताएँ मुर्दा कौम में प्राणों का संचार करके वक्त की साजिश के खिलाफ आमने-सामने की टक्कर लेती हैं। कवि की अव्यवस्थातंत्र से सीधी टक्कर उसे आम लोगों की यथार्थ नियति का कवि बनाकर उसकी समाजोन्मुखी तथा लोकोन्मुखी दृष्टि का परिचय करवाती है। तरसेम गुजराल के शब्दों में 'वह राजनीति के चेहरे को बेपर्दा करते हैं। वक्त वहाँ केंद्रीय हिस्सा बन जाता है। उसकी एक-एक साजिश को सपरा समझते हैं और समसामयिक सामाजिक ढाँचा, आर्थिक दबाव, राजनैतिक मुखौटे सभी पर प्रहार करते चले जाते हैं।'²²

यह ठीक है कि समय सबको दाँत मार रहा है, परंतु यंत्रणा का बोझा केवल सामान्य आदमी ढो रहा है। इसके अतिरिक्त सांप्रदायिकता ने भी आम आदमी की हालात पतली कर दी है। समुद्र सा गरजता पंजाब सांप्रदायिकता के दंश से पीड़ित होकर मेमने जैसा बेचारा दिखने लगा है। सांप्रदायिकता के खौफनाक माहौल में पड़ोसी भी एक-दूसरे को पहचानने से मना कर देते हैं। इंसान राक्षस बन जाता है। आदमी-आदमी को मारने लगता है। कवि सांप्रदायिक दंगों के पीछे छिपी राजनीतिक चालों को अच्छी तरह जानता है। इसलिए वह लोगों को सचेत करते हुए कहता है—

यह पंजाब क्यों देख नहीं पाता
गलियों, बाजारों और खुले चौकों में
होती हत्याएँ—उसके बेटों की
क्यों सुन नहीं पाता
अपनी विधवा हुई बेटियों की चीत्कार
क्यों अंधा और बहरा हो गया है—पंजाब।²³

कवि को 1984 के सांप्रदायिक दंगे अंदर तक कचोटते हैं। वह इन दंगों का कारण धर्म या मजहब में नहीं, बल्कि राजनीतिक षड्यंत्रों के खेल में धर्म की आड़ लेकर अपना उल्लू सीधा करने वाले नेताओं और प्रशासनिक अधिकारियों की मौकापरस्ती में देखता है। यदि लोगों में प्रशासन के विरुद्ध असंतोष की चिंगारी भड़कती भी है तो इसको शांत करने के लिए विभिन्न हथकंडों का इस्तेमाल किया जाता है, जिनमें से सांप्रदायिक हिंसा फैलाना भी लोगों का वास्तविक मुद्दे से ध्यान हटाने का एक सशक्त हथियार है। सांप्रदायिकता की आड़ लेकर राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ की रोटियाँ भी सेकते हैं और लूटमार, दंगे, बलात्कार, आगजनी, डकैती, कल्ल इत्यादि कुकर्मों को अंजाम देते या दिलवाते हैं। इसलिए कवि को लगता है—

नकोदर, सिरसा, दिल्ली, मेरठ और जबलपुर में
भभकती आग का रंग एक ही होता है
लूट-खसूट का जरिया एक ही होता है।²⁴

कवि कहता है कि आज विपरीत परिस्थितियों के बीच वही आदमी मजे में है जो परिस्थितियों के अनुसार रंग बदलना अच्छी तरह जानता है और अपने हितों के संधान के लिए

नेताओं, पूँजीपतियों और अधिकारियों की चिरोरी करता है। जो आदमी ऐसा नहीं कर पाता वह प्रशासनिक षड्यंत्र और शोषण का शिकार होकर मारा जाता है या गरीबी और भुखमरी का जीवन जीने के लिए विवश होता है। कवि को इसके अतिरिक्त भी एक रास्ता नजर आता है। वह है—संगठित विरोध और सशक्त क्रांति का रास्ता। कवि लोगों को मिमयाना छोड़कर इसी रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करता हुआ मजबूत हाथों की अहमियत बयान करता है और मनुष्य की किस्मत हाथों में उकरी लकीरों की बजाय कर्मशक्ति में मानता हुआ कहता है—

ये हाथ
जेबों में डालकर घूमने के लिए नहीं हैं,
यहाँ के लोगों का भविष्य
और उनका भाग्य
इन पर उकरी रेखाओं में नहीं है
इतना निश्चित मानो।²⁵

अपनी किस्मत अपने हाथों से लिखने के लिए कवि लोगों को समझौतावादी और कायरता का चोला उतारकर साहसी योद्धा की तरह विद्रोह करने और यात्रा पर निकले सूर्य को पकड़ने के लिए प्रेरित करता है। कवि ऐसे साहसी लोगों की तलाश करता है जो हवा की तरह पहाड़ों, मैदानों और तलहटियों में फैलकर शोषितों, पीड़ितों और असहाय लोगों के हितों के रक्षार्थ शोषकरूपी भेड़ियों के सामने सीना तानकर खड़े हो सकें। इसलिए कवि कहता है—

खतरनाक
भेड़ियों को तलाशना है
और निरीह-बेजुबान
भेड़ों को बचाना है।²⁶

कवि अव्यवस्थारूपी अंधकार से मुक्ति के लिए मध्यवर्ग की अहम भूमिका मानता है तथा उन्हें अपने परिवार के लिए, समाज की रक्षा के लिए, अपने राज्य के लिए तथा सबसे बढ़कर अपने देश के उज्ज्वल भविष्य के लिए आगे आकर बदलाव और विद्रोह की मशाल अपने मजबूत हाथों में थामने के लिए प्रेरित करता हुआ क्रांति का रास्ता सुझाता है—

पर, मैं तो चाहता हूँ—
तुम निहत्थों के तरफदार बनो
अँधेरे पर मुट्ठियों से वार करो
धुंध को चीर-फाड़ डालो
छोटों का कंधा बन जाओ।
औ ' बड़े-बूढ़ों की लाठी।²⁷

कवि आर्थिक विषमता की बढ़ती हुई खाई के लिए भारतीय प्रशासनिक तंत्र और राजनीतिक भ्रष्टाचार को जिम्मेदार मानता है। उनके अनुसार एक तरफ बड़े-बड़े पूँजीपति और हमारे नेतागणों की गणना विश्व के सबसे अमीर व्यक्तियों में की जाती है तो वहीं दूसरी तरफ देश की आजादी के सत्तर वर्षों बाद आज भी सरकार देश के असंख्य गरीब लोगों को रोटी देने

तथा मकान मुहैया करवाने जैसे वायदों को पूरा करने के लिए अपनी वचनबद्धता दर्शाती है। देश के लोगों की आर्थिक विषमता को बेनकाब करती कवि की निम्न पंक्तियाँ देश के प्रशासनतंत्र और सरकारों की नाकामियों का चिट्टा खोलकर हमारे सामने अनेक अनसुलझे सवाल छोड़ जाती हैं—

चालीस वर्ष बाद भी
एक इश्तिहार/अखबार में
रोटी दी/सरकार ने
चालीस वर्ष बाद भी
खामोश है/चट्टान-सा सीना
सपनों-इरादों की खूँखार नदी
सब-कुछ स्याह कर देने वाली आँखें।²⁸

कवि की भाषा में संप्रेषण और संवाद रचाने की अद्भुत क्षमता विद्यमान है। वह सामान्य से दिखनेवाले जनप्रचलित शब्दों द्वारा विशिष्ट अर्थ की निष्पत्ति करवाने में माहिर है। वह अपनी बात को घुमा-फिराकर या छिपाकर कहने की बजाय सीधे-सीधे मुद्दों की बात करने में विश्वास रखता है। उनकी भाषा के बारे में रमेश कुंतल 'मेघ' का कहना है कि 'सपरा की भाषा की विशिष्टता यही है कि वह कभी तो साँपों-सी सरसराती है तो कभी उसके हाथ में चाकू आ जाता है। ...मानना होगा कि सपरा, पाश और चंदन की तरह उन कवियों के समान है, जिन्होंने मकबरों के बाद इतिहास में नकोदर को जगह बनाया है।'²⁹ इस तरह कवि की ललकार शब्दों में ओज और औदात्य भरकर शोषकों पर वज्र की तरह गिरती है। उनकी भाषा मात्र सपाटबयानी का मुहावरा लिए हुए निसृत नहीं होती, बल्कि उनके साधारण-से दिखनेवाले शब्द भी बिजली की तरह कौंधकर आँखें खोलने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। कवि भाषा को मात्र संप्रेषण का माध्यम नहीं मानता, बल्कि उनकी भाषा पत्थर-से-पत्थर दिल को पिघला देने तथा मुर्दा कौम में भी प्राण डाल देने की क्षमता से परिपूर्ण है। कवि भाषा की अदम्य शक्ति की बात करता हुआ कहता है—

पानी-हवा से कम ताकतवर नहीं होती भाषा
संवाद रचाती है-भाषा
रिश्ते बनाती है-भाषा
अंदर के ताजमहल भाषा के जरिये ही ताजमहल कहलाते हैं।³⁰

कवि भाषा के माध्यम से जहाँ दिल की गहराइयों में उतरने की बात करता है, वहीं वह देश को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य भी भाषा के माध्यम से करता है। इसलिए कलम को हथियार बनाकर कवि की भाषा जब प्रहार करती है तो भ्रष्टाचारियों और शोषकों के दिल काँपने लगते हैं। शोषकों को उनकी कविता अंगारे बरसाती प्रतीत होती है। वहीं उनकी भाषा में जिंदगी का भूगोल बदलने की क्षमता भी वि. मान है। उनकी बीज कविताओं में थोड़े शब्दों द्वारा अधिक और गहन अर्थाभिव्यक्ति करने की अद्भुत क्षमता विद्यमान है। कवि के द्वारा किया गया प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग उनकी शैली को और भी आक्रामक प्रभावोत्पादक और अर्थ

ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत करता है। सीधे-सीधे शब्दों के द्वारा कविता के कथ्य का पूरा दृश्य आँखों के सामने साकार कर देना उनकी भाषाशैली की विशिष्ट क्षमता का ही द्योतक है। परंतु जहाँ कवि राजनीतिक गुह्यांधकारों में प्रवेश करके उनके रास्तों का अन्वेषण करता है, वहाँ उनकी भाषा में तीव्र आक्रोश, कठोरता और संवाद रचने की अद्भुत क्षमता आ जाती है और तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता घुमड़-घुमड़कर मूसलाधार बारिश की तरह बरसने लगती है। उनके व्यंग्यात्मक शब्दबाणों के प्रहार से चेहरों के मुखौटे पिघलकर गिरने लगते हैं और समसामयिक यथार्थ मनुष्य की आँखें खोल देता है—

चमगादड़, कबूतर, चिड़िया, कौवे, तोते
मेरे शहर की
सभ्यता-संस्कृति के नियामक बन रहे हैं
कुर्सी पर बैठा बड़ा मेढक नई भाषा गढ़ रहा है
वायदे/झूठ फरेब की नई परिभाषा जड़ रहा है।¹¹

समग्रतः देखा जाए तो मोहन सपरा की कविताएँ उनकी समसामयिक तीक्ष्ण दृष्टि का परिणाम हैं, जो अव्यवस्था, शासनतंत्र, शोषणतंत्र और राजनीतिक षड्यंत्रों के पीछे छिपी चालों को बाज-जैसी तीव्र दृष्टि से पकड़कर पहचानती और परखती हैं। उनकी कविताओं में समसामयिक राजनीतिक परिवेश अपनी पूरी नग्नता और क्रूरता के साथ जीवित हो उठा है। कवि आम आदमी की दुर्दशा के कारणों की पड़ताल करता है तो पाता है कि इसका प्रमुख कारण भ्रष्ट राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था तथा आजादी के बाद के अवसरवादी मेढकों का कुर्सी पर कब्जा करने की छलनीति व वंशानुक्रम राजनीतिक परंपरा रही है। इसलिए कवि को देश के सामान्य लोगों के लिए आजादी निरर्थक लगती है और वह अपनी कविताओं में इसकी सशक्त अभिव्यक्ति करता है। इसके साथ-साथ कवि चिंतित भी है कि बदहाली, दुर्दशा, शोषण, अकिंचनता का शिकार होने के बावजूद लोगों में कहीं भी आक्रोश और विद्रोह की भावना जाग्रत होती दिखाई नहीं देती। इसलिए वह अपनी कविताओं के द्वारा लोगों को अपने अधिकारों के लिए लड़ने और विद्रोह करने के लिए प्रेरित करता है।

अव्यवस्था विरोध, राजनीतिक विसंगतियों, विकृतियों और शोषकों के विरुद्ध आक्रोशात्मक, व्यंग्यात्मक और क्रांतिवादी वामपंथीधारा के सख्त लहजे के कारण उनकी कविताएँ अन्य कवियों की कविताओं की तुलना में अधिक तीक्ष्ण और प्रहारात्मक रूप धरण कर लेती हैं। उनकी कविताएँ भावोद्वेलन या मनोरंजन का उद्देश्य लेकर प्रस्फुटित नहीं होतीं, उनकी कविताओं का गणित भाषा में सफर नहीं करता और न ही कल्पनालोक में स्वप्नों के फूल खिलता है। बल्कि उनकी कविताएँ सामान्यजन के लिए यथार्थ की वज्रभूमि से प्रस्फुटित होकर राजनीतिक गलियारों में छिपे सफेद मेढकों पर वज्र की तरह प्रहार करती हैं और शोषित, प्रताड़ित तथा गरीब लोगों को उनके अधिकार दिलाने के लिए अपनी प्रतिबद्धता जाहिर करती हैं।

संदर्भ

1. मोहन सपरा, समय की पाठशाला में, आस्था प्रकाशन, जालंधर, 2012, पृ० 25
2. मोहन सपरा, कीड़े, प्रक्रिया प्रकाशन, जालंधर, 1969, पृ० 33

3. वही, पृ० 2
4. वही, पृ० 54-55
5. वही, पृ० 42
6. वही, पृ० 12
7. वही, पृ० 37
8. मोहन सपरा, काले पृष्ठों पर उकरे शब्द, पृ० 53
9. मोहन सपरा, समय की पाठशाला में, पृ० 35
10. मोहन सपरा, आदमी जिंदा है, पृ० 30
11. वही, पृ० 91
12. मोहन सपरा, आदमी जिंदा है, पृ० 90
13. वही, पृ० 21
14. मोहन सपरा, बरगद को कटते हुए देखना, पृ० 11
15. वही, पृ० 41-42
16. मोहन सपरा, काले पृष्ठों पर उकरे शब्द, पृ० 44
17. वही, पृ० 72
18. मोहन सपरा, समय की पाठशाला में, पृ० 34
19. वही, पृ० 32-33
20. वही, पृ० 28
21. वही, पृ० 33-34
22. तरसेम गुजराल (संपा०), 'रुकने न पाये कविता की तेजिस्वता', सुर्खियों में है कोई बात, आस्था प्रकाशन, नकोदर, 2002, पृ० 6
23. मोहन सपरा, आदमी जिंदा है, पृ० 65
24. मोहन सपरा, बरगद को कटते हुए देखना, पृ० 42-43
25. मोहन सपरा, आदमी जिंदा है, पृ० 76
26. मोहन सपरा, बरगद को कटते हुए देखना, पृ० 39
27. मोहन सपरा, काले पृष्ठों पर उकरे शब्द, पृ० 42
28. मोहन सपरा, आदमी जिंदा है, पृ० 102
29. मोहन सपरा, काले पृष्ठों पर उकरे शब्द, फ्लैप कवर
30. वही, पृ० 49
31. मोहन सपरा, बरगद को कटते हुए देखना, पृ० 45
32. मोहन सपरा, काले पृष्ठों पर उकरे शब्द, फ्लैप कवर

हिंदीभाषा : अस्मिता और संभावनाएँ

डॉ० मजीद शेख

आज 'विश्वग्राम' की अवधारणा के सम्मुख 'वसुधैव कुटुंबकम्' का प्राचीनतम चिंतन भी उपस्थित है, जिसमें समस्त संसार के लोगों के बीच निहित तात्त्विक एकता की बात की गई है तथा जिसकी आधारशिला आध्यात्मिकता पर अवलंबित है। दूसरी ओर 'विश्वग्राम' की अवधारणा बंधनमुक्त व्यापार और व्यावसायिक समस्या तथा प्रतिस्पर्धा की बात करती है। एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक। भौतिकता के सहारे सिर्फ बाजार बनकर रहा जा सकता है। भौतिक चिंतन एवं अनुसंधान के लिए 'निजभाषा' ही एकमात्र विकल्प है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में दक्षता हासिल करने के लिए भाषा-विशेष की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

विश्व के हर राष्ट्र में राष्ट्रभाषा का महत्त्व सर्वोपरि है। वर्तमान समय में प्रत्येक प्रगतिशील, उन्नत, आजाद, स्वाभिमानी राष्ट्र की अपनी राष्ट्रभाषा है। इंग्लैंड, अमेरिका, जापान, चीन, रूस, इजराइल, स्पेन आदि सभी देशों में वहाँ की व्यापक, बहुप्रचलित भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। आयरिश कवि टॉमस डेविश ने बिल्कुल सही कहा है, 'कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रभाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता। राष्ट्रभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी ज्यादा जरूरी है, क्योंकि वह विदेशी आक्रमण को रोकने में पर्वतों और नदियों से भी अधिक समर्थ है। अपितु राष्ट्रभाषा का महत्त्व सर्वोपरि है और एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा का होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।' पुनर्जागरणकाल में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा था—

निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल।

राष्ट्रहित में शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही होना चाहिए। हमारा मौलिक चिंतन उसी भाषा में होता है। कबीर, बहिणाबाई आदि अपढ़ थे, पर इनका साहित्य विश्वसाहित्य की कोटि में आता है। मनोवैज्ञानिक सच्चाई यह है कि मनुष्य जिस भाषा में सपनों की उड़ान करता है, उसी भाषा में मौलिक चिंतन संभव है। स्वभाषा में ही सपने देखे जाते हैं और भौतिक चिंतन की उपज आविष्कार प्रथमतः एक सपना ही होता है। प्राथमिक शिक्षा जब वह अन्य भाषा में शुरू करता है तो उसकी बहुत-सी शक्ति उस भाषा को सोचने में नष्ट हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका अधिकार न अपनी भाषा पर रहता है और न ही अन्य भाषा पर, अपितु उच्चशिक्षा का अध्ययन स्वभाषा में करने से ही राष्ट्रभाषा में लिखने की क्षमता बढ़ती है। अँग्रेजों के शासनकाल में जब प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा था, तभी हमारे देश ने सर सी०वी० रमन, मेघनाद साहा, जयंत नार्लीकर आदि जैसे उच्च-स्तर के वैज्ञानिकों को जन्म दिया। अँग्रेजी इस देश में लगभग दो सौ वर्षों से अधिक शासकों की

भाषा रही है, तब आजादी के बाद विज्ञान में इस देश को एक भी नोबेल पुरस्कार क्यों नहीं मिला? जबकि विश्व के तीन प्रतिशत विज्ञान के स्नातक भारत में हैं। यहूदी भाषी इजराइल अपनी भाषा में शिक्षा देता है और अपनी भाषा में जीवन जीता है। चीन, जापान, हॉलैंड आदि समुन्नत देश अपनी भाषा में जीते हैं और वे इसीलिए स्वतंत्र वाचाल तथा सर्जनात्मक हैं, हमारे जैसे मानसिक गुलाम नहीं हैं। अर्थात् विदेशी भाषा से हम ज्ञान तो ले सकते हैं, पर ज्ञान का सर्जन नहीं कर सकते और ज्ञान के सर्जन से ही देश संपन्न होता है। इतिहास गवाह है कि उसी देश में वैज्ञानिक विकास हुआ, जहाँ ज्ञान जन-जन की भाषा में पहुँचा। इस भाषाई-खाई के कारण एक कृषक का पुत्र कृषक-अभियंता तथा एक लुहार का पुत्र धातुकी-अभियंता नहीं बन सकता। देश के उपराष्ट्रपति वेंकय्या नायडू जी लिखते हैं, शिक्षा और ज्ञान का पहला संस्कार मातृभाषा में ही पड़ता है। ऐसे कई अध्ययन हुए हैं जो बताते हैं कि शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी होने के कारण बच्चों में आत्मविश्वास की कमी और हीनभावना देखी गई है। मैं वह दिन देखना चाहता हूँ, जब हमारी प्राथमिक शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा होगी। मातृभाषा हमारी आँख की तरह होती है। इसलिए बिना आँख के चश्मे का कोई काम नहीं है।

15 अगस्त, 1947 ई० को देश स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता के सत्तर वर्ष पश्चात् भी हम सही मायने में आजाद नहीं हुए, मानसिक रूप से गुलाम हैं। प्रारूपण समिति के अध्यक्ष डॉ० बाबासाहेब आंबेडकर जी ने लिखा है, 'संविधान-निर्माण के समय जब राजभाषा हिंदी का प्रश्न सामने आया तो सबसे अधिक बहस हुई।' संविधान के 17वें भाग में अनुच्छेद 343 से 351 तक राजभाषा हिंदी ही प्रावधान है। संविधान सभा ने इन अनुच्छेदों को सर्वसम्मति से अंतिम रूप से 14 सितंबर, 1949 ई० को स्वीकार किया। इसी कारण 14 सितंबर को 'हिंदी दिवस' के रूप में मनाया जाता है। राजभाषा का सामान्य अर्थ है 'राजकाज' की भाषा (State Language) इसका सर्वप्रथम प्रयोग राजगोपालाचार्य जी ने किया था। हिंदी को राजभाषा घोषित करते समय (Official Language) शब्द का प्रयोग किया गया। राजभाषा हिंदी को केंद्र तथा राज्य सरकार के पत्र-व्यवहार की भाषा के रूप में स्वीकृत किया गया। प्रत्येक देश की एक या अधिक राजभाषाएँ होती हैं।

हिंदीभाषा को राजभाषा के रूप में स्वीकार करने के पश्चात् हमने 'त्रिभाषा सूत्र' को स्वीकार किया, जिसमें—अ, ब, क तीन प्रकार का दर्जा राज्यों को दिया गया। (अ) हिंदीभाषी राज्य, (ब) अहिंदीभाषी राज्य, (क) दाक्षिणात्य राज्य आदि। हिंदी बिना विकसित हुए शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। अँग्रेजी के अनुवाद द्वारा हिंदी को समृद्ध बनाने की जिम्मेदारी राज्यों पर डाली गई, ताकि वे ही हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए प्रयत्न करें। राज्यों ने यह जिम्मेदारी अभिजन वर्ग पर डालकर अँग्रेजी के अनुवाद हिंदी में किए। परंतु इसका परिणाम विपरीत रहा है। अनुवाद ठीक होना चाहिए, नकल नहीं। भाषा की नकल से युगबोध और इतिहासबोध भी बदलता है।

भारत में समता के दर्शन की रचना की भाषा हिंदी है। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों पर गौर करें तो समता की वैचारिक अभिव्यक्ति के तीन-चार पात्र दिखाई देते हैं—स्त्री, गाँव, गरीब और अछूत। इन पात्रों का पैमाना बनाएँ तो हम देख सकते हैं कि पिछली सदी में हिंदी

ने समता के दर्शन को सामाजिक व्याप्ति देने में एक बड़ी भूमिका निभाई है। देश का दलित, आदिवासी समाज, पिछड़ी जातियाँ, मुस्लिम समाज और ग्राम्य स्त्री-शक्ति हिंदी की ताकत है। मजदूर, किसान और श्रमजीवीवर्ग उसकी आंतरिक शक्ति है। झोपड़ी से इस भाषा को रोशनी मिलती रही है। सीमेंट के महलों में रहनेवालों से हिंदी दूर भागती है। हिंदी को खेतों के खुलेपन और लहलहाती फसलों के बीच रहना पसंद है। हिंदी में निराला पैदा करने की शक्ति है। सुभाषचंद्र बोस जी ने भावनात्मक आह्वान—‘तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा’ इसी भाषा में किया था। अँग्रेजी भाषा में यह शक्ति कहाँ? भावनात्मक एकता के लिए हिंदी और आर्थिक समृद्धि के लिए अँग्रेजी का बोलबाला लगभग सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। ‘हिंदी हमारी धरती है, अँग्रेजी हमारा आकाश’ इस दोहरी-मानसिकता से काम नहीं चलेगा। गिरीश्वर मिश्र जी ने बड़ा सटीक भाष्य किया है, ‘स्वतंत्र भारत के 70 साल पूरे हो चुके हैं, पर राजभाषा हिंदी को लेकर आज भी एक संभ्रम की स्थिति बनी हुई है। वस्तुतः (अघोषित) राजभाषा अँग्रेजी ही बनी हुई है। राजकीय कार्य में हिंदी अभी-भी अनुवाद की ही भाषा है और शिक्षा तथा ज्ञान जैसे आधारभूत क्षेत्रों में उसकी पहुँच सीमित है। न्याय और स्वास्थ्य के क्षेत्रों की दृष्टि से भी हिंदी की शक्ति दुर्बल है। कुल मिलाकर वह पूर्ण राजभाषा के काबिल नहीं समझी जा सकती है और भविष्य में कब समझी जाएगी, इसका कोई पता नहीं है।’ हिंदीभाषा जब ज्ञान-विज्ञान की वाहक भाषा बनेगी, तब शिक्षा का सामान्यीकरण होगा। आम आदमी की भागीदारी बढ़ाने हेतु न्यायालय, संसद आदि का पूरा कामकाज हिंदीभाषा में ही चलना चाहिए। भविष्य में हिंदी का वर्चस्व बढ़ाना है तो गंभीर साहित्य भी उपलब्ध कराना पड़ेगा। यह विचार की भाषा, शिक्षा की भाषा, ज्ञान की भाषा होनी चाहिए। हम हिंदी में बहुत कम सोचते हैं, चूँकि पठनीय सामग्री अँग्रेजी से अनुदित है। समग्र सामाजिक विज्ञानों में, पूरे विज्ञान के विषयों में जो सोचने की पद्धति है, वह हिंदी से नहीं उपजती है, यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है।

वर्तमान समय में हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है। विश्व के 150 से अधिक देशों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो रहा है। अमेरिका में भी हिंदी के अनुकूल वातावरण है। अनेक हिंदी संस्थाएँ बच्चों को शनिवार-रविवार के दिन हिंदी पढ़ाती हैं। कुछ स्कूलों में हिंदी का पाठ्यक्रम रखा गया है। विदेशों के लगभग 91 विश्वविद्यालयों में ‘हिंदी चेअर’ है। मॉरीशस में 300 प्राथमिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं में हिंदी विषय एवं माध्यम के रूप में पढ़ाई जाती है। दुबई में लाखों भारतीय रोजगार के सिलसिले में रहते हैं। इन भारतीयों में सबसे ज्यादा केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक जैसे दक्षिण भारतीय राज्यों के लोग हैं। ये सब आपस में संवाद के लिए हिंदी का ही प्रयोग करते हैं। इन लोगों से संवाद के लिए वहाँ की सरकार ने भी हिंदी को ही अपनाया है।

आज हिंदी के प्रचार-प्रसार से संलग्न लगभग 20 से अधिक संस्थाएँ कार्यरत हैं—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, चेन्नई; राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा आदि। हिंदीभाषा विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की राजभाषा होने के कारण इस भाषा के प्रति अनेक देशों में रुचि बढ़ रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदीभाषा को आधिकारिक भाषा का स्थान दिलाना ‘विश्व हिंदी सचिवालय, मॉरीशस’ का मुख्य लक्ष्य रहा

है। आज-तक इस हेतु ग्यारह विश्व हिंदी सम्मेलन हो चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की छह आधिकारिक भाषाएँ—अरबी, चीनी, अँग्रेजी, फ्रेंच, रूसी और स्पेनिश आदि हैं। परंतु संचालन केवल अँग्रेजी और फ्रेंच भाषा में ही होता है।

विश्व में जनसंख्या अनुपात की दृष्टि से हिंदी का पाँचवाँ क्रम आता है। 1. चीन (मंदारिन), 2. स्पेन (स्पेनिश), 3. ब्रिटेन (अँग्रेजी), 4. रूस (रशियन), 5. भारत (हिंदी)। भारत की आबादी लगभग 125 करोड़ से अधिक है। परंतु हिंदी केवल 26 करोड़ लोग बोलते हैं। जबकि स्पेन की आबादी केवल साढ़े चार करोड़ है, परंतु 4 करोड़ 37 लाख लोग स्पेनिश बोलते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि भविष्य में हिंदी का आँकड़ा बढ़ेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिलाने हेतु लगभग 129 देशों का समर्थन जुटाना कठिन काम नहीं है, परंतु इसमें तकनीकी आर्थिक समस्या यह है कि समर्थक देशों को 400 करोड़ रुपयों का भुगतान वहन करना पड़ता है। भारत सरकार की विदेश मंत्री सुषमा स्वराज ने कहा है कि 'हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता दिलाने को लेकर भारत प्रतिबद्ध है। उसमें मुख्य समस्या यह है कि समर्थक देशों को संबंधित राशि देनी होगी। यदि यह राशि सिर्फ भारत को देनी होती तो 400 करोड़ रुपए दे देते।'

हमारी यह हीनभावना है कि हिंदी में अँग्रेजी मिलाने से स्तर ऊँचा हो जाता है, पूर्णतया निराधार है। अमिताभ बच्चन जी के 'कौन बनेगा करोड़पति' की सफलता से सभी परिचित हैं। अपितु हिंदी की फिल्म 'मोहब्बतें' तथा 'रामायण-महाभारत' धारावाहिक इसका उदाहरण हैं।

साहित्य की दृष्टि से देखा जाए तो एशिया के देशों में सर्वाधिक पाठक हिंदी साहित्य के हैं। हिंदीभाषा एवं साहित्य की गरिमा को आलोकित करने के लिए 500 पत्र-पत्रिकाएँ छप रही हैं। विभिन्न विषयों पर हिंदी में प्रति-दिन 20 पुस्तकें छपकर बाजार में आ जाती हैं।

मध्य प्रदेश सरकार ने इस बात का भी भ्रम तोड़ा है कि अभियांत्रिकी और चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में हिंदी में पढ़ाई नहीं होती है। 'पाणिनि संस्कृत विश्वविद्यालय' तथा 'अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय' अभियांत्रिकी और चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में हिंदी में पढ़ाई करा रहा है।

भारत सरकार के तत्कालीन विदेश मंत्री स्मृतिशेष अटलबिहारी वाजपेयी जी ने सन् 1977 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी में भाषण दिया था, जो संयुक्त राष्ट्र संघ में किसी भी भारतीय का पहला हिंदी भाषण था। वर्तमान समय में भी देश के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी के 90 फीसदी से अधिक भाषण हिंदी में होते हैं। वे गुजराती हैं, लेकिन उनके उच्चारण में यह कहीं स्पष्ट नहीं होता। वे शानदार हिंदी बोलते हैं। उन्होंने विश्व के विभिन्न मंचों पर हिंदी में विचार व्यक्त कर हिंदी की महिमा बढ़ाई है। उपराष्ट्रपति वेंकय्या नायडू जी, शशि थरूर जी, मणिशंकर अय्यर जी, जयराम नरेश जी आदि मूल रूप से हिंदीभाषी नहीं हैं, लेकिन बहुत अच्छी हिंदी जानते हैं। हिंदी का बहुत अच्छा प्रयोग भी करते हैं।

देश की सरकार वचनबद्ध है कि हिंदी परिपक्व होते ही और सबके द्वारा स्वीकृत होते ही पूर्ण राजभाषा का दर्जा पा सकेगी। केंद्र की सरकार ने हिंदी के विकास के लिए गृह

मंत्रालय के अधीन राजभाषा विभाग स्थापित कर रखा है। अनुवाद, प्रशिक्षण और शब्द-निर्माण आदि के निमित्त एकांतभाव से समर्पित अनेक सरकारी संस्थान वर्षों से कार्यरत हैं। सरकारी कार्यालयों में हिंदी अधिकारी नियुक्त हैं। सरकारी तंत्र की तमाम सीमाओं के बावजूद इनके द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य भी हुआ है।

भारत विश्व का अनोखा और समृद्ध देश रहा है। इस देश में लगभग 35 करोड़ से अधिक जोशीले युवा हैं। इनका सही मात्रा में प्रयोग होना चाहिए। इन युवाओं को पाँच भाषाएँ आना आवश्यक है। सबसे पहले मातृभाषा, राज्यभाषा, राजभाषा, अंतर्राष्ट्रीय भाषा इन चार भाषाओं के साथ-साथ सूचना-प्रौद्योगिकी की भाषा अर्थात् कंप्यूटर की पाँचवीं भाषा आना अनिवार्य हुआ है। इन पाँच भाषाओं पर जिन युवाओं का अधिकार है, उनके लिए संभावना-भरा पूरा विश्वपटल खुला है।

हिंदी भाषा का वैश्विक परिदृश्य देखने के पश्चात् हम अंत में इतना ही कह सकते हैं कि हिंदीभाषा भविष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ की सातवीं आधिकारिक भाषा बनकर अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनेगी। देश का राजनीतिक परिदृश्य हिंदी के अनुकूल है। वर्तमान सरकार में ऐसा कोई समूह है ही नहीं, जो हिंदी का मुखर विरोधी हो। हिंदी-विरोध के लिए सबसे कुख्यात राज्य तमिलनाडु रहा है। वहाँ की कोई पार्टी इनकी सरकार में भागीदार नहीं है। दूसरा विरोध बंगाल के कुछ समूहों का था। वहाँ की भी कोई दूसरी पार्टी सरकार में भागीदार नहीं है। परंतु इसके लिए सरकार के पास साहस और दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता है। सरकार यदि ऐसा साहसपूर्ण कदम उठाती है तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि बहुत जल्द 'राजभाषा' हिंदी 'राष्ट्रभाषा' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय भाषा' बनेगी।

संदर्भ

1. विश्व हिंदी पत्रिका (2016), प्रधान संपादक प्रो० विनोद कुमार मिश्र
2. विश्व हिंदी पत्रिका (2017), प्रधान संपादक प्रो० विनोद कुमार मिश्र
3. भोपाल से मॉरीशस, संपादक अशोक चक्रधर
4. गगनांचल (11वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक), संपादक डॉ० हरीश नवल
5. स्मारिका (विश्व हिंदी सम्मेलन, मॉरीशस-2018), प्रधान संपादक प्रो० राममोहन पाठक
6. आधुनिक हिंदी साहित्य के विविध परिदृश्य, डॉ० मजीद शेख
7. लोकमत समाचार (रविवार, 19 अगस्त, 2018), संपादक विकास मिश्र
8. लोकमत समाचार (सोमवार, 20 अगस्त, 2018), संपादक विकास मिश्र
9. लोकमत समाचार (शनिवार, 15 सितंबर, 2018), संपादक विकास मिश्र

सहायक प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, प्रतिष्ठान महाविद्यालय, पैठण
जिला औरंगाबाद 431107 (महाराष्ट्र)
मो० 09765944586
majidmshaikh@gmail.com

चंद्रकांता का कथासाहित्य में योगदान

ममता (शोधार्थी)

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (हरिद्वार)

प्रो० सुचित्रा मलिक (शोध निर्देशिका)

विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग

कन्या गुरुकुल परिसर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

साहित्य समाज व जीवन का एक दर्पण ही नहीं, वरन् उसे जानने व जाँचने-परखने की एक कसौटी भी है। साहित्यकार अपने साहित्य को केवल रचना ही नहीं, बल्कि उसे अपनी चेतना से जीता भी है और समाज में व्याप्त विषमताओं और विसंगतियों से प्रभावित होकर ही साहित्यकार लेखनकार्य करता है। किसी भी साहित्यकार के साहित्य से परिचित होने के लिए आवश्यक है कि उसके जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाए; क्योंकि जीवन और साहित्य में अभेद रिश्ता है।

धरती के स्वर्ग कश्मीर की लेखिका 'चंद्रकांता' जिन्होंने कश्मीर पर बेजोड़ साहित्य की रचना की है। इसके साथ ही उन्होंने संपूर्ण भारत के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिदृश्य के साथ वर्तमान समय की सच्चाई को अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को परिचित कराया है। अहिंदी भाषी होने के बावजूद उन्होंने हिंदी में अनुपम साहित्य रचा और सभी के हृदय में जगह बनाई।

व्यक्तित्व

चंद्रकांता का जन्म 03 सितंबर 1938 को श्रीनगर में हुआ था। बचपन से ही 'चंद्रकांता' को प्रकृति से बेहद लगाव था और उनके खिलंदड़े स्वभाव की वजह से उनकी माताजी उन्हें 'मस्त कलंदर' नाम से पुकारा करती थीं। उनके पिता प्रो० रामचंद्र पंडित अँग्रेजी और गणित के प्रोफेसर थे। उनके पिता एक आदर्श शिक्षक ही नहीं, बल्कि एक प्रतिबद्ध समाज-सुधारक और उदार व्यक्ति थे। श्रीनगर के गणमान्य व्यक्तियों में उनके पिता की गिनती होती थी। चंद्रकांता की माताजी संपत्ति देवी एक घरेलू महिला थी। जब चंद्रकांता छह या सात वर्ष की थी, तब उनकी माता की तपेदिक बीमारी से मृत्यु हो गई थी।

चंद्रकांता के अनुसार, 'यह माँ-औरत, बेटी के उलटे-सीधे कामों-खेलों को देख मृत्यु-शैय्या पर भी चिंतित है कि इस कलंदर बेटी का क्या होगा, जो घर के संभ्रांत दायरों में पाँव ही नहीं धरती, लीक तोड़कर चलना चाहती है।'

बचपन से ही चंद्रकांता का मन शैतानियों में लगता था, परंतु उनकी माता और छोटे भाई की मृत्यु के पश्चात् वह मस्त कलंदर लड़की एकदम शांत हो गई और एकांत उसका प्रिय हो

गया। पिता का पुस्तकालय ही 'चंद्रकांता' का एकमात्र सहारा बना जिसके कारण इनका साहित्य की ओर झुकाव बढ़ता गया और परिवार के नियमों को न मानने के कारण इन्हें विद्रोही समझा जाने लगा। क्योंकि अपनी अन्य बहनों की तरह चंद्रकांता को सिलाई-कढ़ाई करना पसंद नहीं था। 'मैं पिताजी के पुस्तकालय में से अँग्रेजी-हिंदी के उपन्यास और कथा-संग्रह ढूँढती रहती। परिजनों ने मुझे सिरे से बेकाबू समझकर सिखाना-समझाना लगभग छोड़ ही दिया। उनकी सिखौवलों-हिदायतों के बाद भी मैंने, न मुहम्मद लोन की मुसलमानी चाय पीनी छोड़ी और न अलीजू मास्टर से मेजपोशों पर गुलाब-पैंजी के फूल-पत्ते काटना सीखा।'²

चंद्रकांता ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा श्रीनगर से ही प्राप्त की। उन्होंने अपनी बी०एड्० की पढ़ाई श्रीनगर से पूरी की तथा एम०ए० हिंदी साहित्य की पढ़ाई उन्होंने राजस्थान के पिलानी से पूरी की। एम०ए० करने के पश्चात उन्होंने दो वर्ष पिलानी के विरला इंस्टिट्यूट में अध्यापन भी किया। हिंदी साहित्य से एम०ए० करने के पश्चात तथा अध्यापन करने के दौरान उनका साहित्य पढ़ने व लिखने की तरफ रुझान बढ़ने लगा। वैसे तो चंद्रकांता की प्रारंभिक शिक्षा अँग्रेजी माध्यम से हुई, परंतु हिंदी साहित्य से एम०ए० करने के पश्चात उनके भीतर बैठा रचनाकार ही था, जिसे लगा कि अपनी बात अँग्रेजी से ज्यादा हिंदी में बेहतर ढंग से कही जा सकती है। अहिंदी भाषी होने के कारण उन्हें भाषा सीखने में काफी श्रम करना पड़ा, क्योंकि उनके घर में व उनके आस-पास हिंदी का वातावरण बिल्कुल भी नहीं था।

'कोई दृश्य घटना छोटी-सी स्थिति, मेरे सोच से टकराकर मुझे रिएक्ट करने के लिए उकसाती। मेरे भीतर कुछ इकट्ठा होता जा रहा था जिसे निकास का रस्ता नहीं मिल पा रहा था। यहीं मैंने स्वतंत्र लेखन करने का निश्चय किया।'³

तेरह वर्ष की उम्र में ही 'चंद्रकांता' का विवाह हो गया था। उनका विवाह डॉ० एम०एल० विशेन के साथ हुआ। जब 'चंद्रकांता' का विवाह हुआ, तब वह सातवीं कक्षा में पढ़ती थीं। छोटी उम्र में ही विवाह होना उनके लिए किसी हादसे से कम न था—'एक घटना जो मेरे साथ हादसे की तरह घटी, वह छोटी उम्र में विवाह होना था। मुझे लगा किसी ने बड़ी बेरहमी से मुझे सोने के पिंजरे में कैद कर दिया है और यह उम्रकैद है। इस कैद के गम में सालभर आँसू बहाते मैंने एक ढीठ निश्चय किया कि अपने मन जेहन को इन साँकलों से कैद नहीं होने दूँगी।'⁴

छोटी उम्र में विवाह होने के बाद भी उनकी पढ़ाई जारी रही और अध्ययन-अध्यापन करने के साथ-साथ चंद्रकांता अपने घर-परिवार का दायित्व भी निभाती रहीं। साथ ही स्वतंत्र लेखन का निश्चय कर अन्य कार्यों को पीछे छोड़ दिया।

बी०ए० व बी०एड्० करने के पश्चात चंद्रकांता पति डॉ० विशेन के साथ राजस्थान (पिलानी) चली गईं और वहीं पर रहकर उन्होंने एम०ए० तथा दो वर्ष अध्यापनकार्य भी किया। दो वर्ष अध्यापन करने के बाद उन्हें हैदराबाद जाना पड़ा। हैदराबाद में कुछ समय व्यतीत करने के बाद उन्होंने स्वतंत्र लेखन का निश्चय किया और सितंबर 1967 में हैदराबाद से प्रकाशित 'कल्पना' पत्रिका में उनकी पहली कहानी 'खून के रेशे' प्रकाशित हुई। अक्टूबर 1967 में नई कहानियाँ (इलाहाबाद) में 'कैक्टस' और अगले वर्ष 1968 में ज्ञानोदय (कलकत्ता) से 'सलाखों के पीछे' कहानी प्रकाशित हुई। चंद्रकांता की लेखन-यात्रा में कश्मीर से लेकर

हैदराबाद और वहाँ से उड़ीसा तक का सफर है। इस भ्रमण के दौरान उन्होंने दो सौ से अधिक कहानियाँ, सात उपन्यास, कविता-संग्रह, यात्रा-संस्मरण, आत्मकथात्मक संस्मरण लेख भी लिखे हैं। इनकी समस्त रचनाओं में हमें संपूर्ण भारत की भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक परिदृश्य के साथ-साथ वर्तमान समय की सच्चाई भी दिखाई देती है और भारतीय संस्कृति के अनेक रूप भी उनकी रचनाओं में हमें देखने को मिलते हैं।

‘लिखती तो कुछ-न-कुछ रहती थी, जिसमें से काफी कुछ रजिस्ट्रों-कापियों में ही दर्ज होकर रह जाता था। लेकिन तब मैं प्रतिबद्धता से लेखन के साथ जुड़ी साहित्यिक, व्यावसायिक पत्रिकाओं में छपने लगीं। तब से आज तक बराबर लिखती रही हूँ।¹⁵

कृतित्व

चंद्रकांता ने जब अपने लेखन की, शुरुआत की उस समय ‘नई कहानी’ के विरोध में ‘अकहानी’ आंदोलन चल रहा था। ‘नई कहानी’ वाले व अकहानी वाले एक-दूसरे का विरोध कर रहे थे। ऐसे समय में लेखिका ने किसी आंदोलन से जुड़े बिना ही इस चुनौती को स्वीकार हुए स्वयं को हिंदी लेखनकार्य के लिए स्थापित किया। चंद्रकांता ने सात उपन्यास और दो सौ के करीब कहानियाँ लिखी हैं, जिसमें से उनकी कुछ कहानियाँ व उपन्यास कश्मीर के संदर्भ में रचित हैं। उनकी रचनाओं के कथ्य ज्यादातर उनके आस-पास के जीवन से जुड़े हुए हैं। उन्होंने अपने साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, वैश्वीकरण बाजारवाद, अंतर्राष्ट्रीय जैसे मुद्दे तो उन्होंने उठाएँ ही हैं तथा कश्मीर के आतंकवाद जैसी विकट समस्याओं व वर्तमान जीवन की सच्चाई को भी दर्शाया है।

चंद्रकांता के उपन्यास

उन्होंने सात उपन्यासों की रचना की है।

(1) **अर्थांतर**—इस उपन्यास में ‘चंद्रकांता’ ने संस्कारशील घरों की नीतियों व दांपत्य जीवन की कुरेदती सच्चाई का वर्णन किया है।

(2) **अंतिम साक्ष्य**—इस उपन्यास में लेखिका ने रिश्तों व प्रेम-संबंधों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

(3) **बाकी सब खैरियत है**—यह उपन्यास दो भाईयों के बीच आए सामाजिक आर्थिक अंतर को पृष्ठभूमि बनाकर लिखा गया है। लेखिका ने संयुक्त परिवार की घुटन व विदेश में बसने के मोह को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

(4) **ऐलान गली जिंदा है**—स्वर्ग के हाशिए को केंद्र में रखकर इस उपन्यास की रचना की गई है। इस उपन्यास में दरिद्रता, अज्ञान और अभावों में पल रहे लोगों के अंतरंगों को ही नहीं उजागर किया गया, बल्कि रोजगार की तलाश में महानगरों की ओर आकर्षित हो रही बेरोजगार युवापीढ़ी के भटकाव की स्थिति को बड़े सुंदर रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(5) **अपने-अपने कोणार्क**—इस उपन्यास में लेखिका ने कश्मीर से लेकर उड़ीसा तक का सफर तय किया है। इस उपन्यास की रचना उड़िया तथा आदिवासी समाज व संस्कृति को केंद्र में रखकर की गई है। वहाँ की जीवनशैली, लोकरंग तथा परंपराओं की महक इस

उपन्यास के जरिए महसूस की जा सकती है।

(6) **यहाँ वितस्ता बहती है**—यह उपन्यास तीन पीढ़ियों की यादों को समेटता हुआ एक मर्मस्पर्शी उपन्यास है। इस उपन्यास में स्वाधीनता के पूर्व के कश्मीर तथा स्वाधीनता के बाद के बदलते जीवनमूल्यों का वर्णन किया गया है।

(7) **कथा सतीसर**—इस उपन्यास में सन 1939 से लेकर 2000 तक के शुरुआती समय के बीच के बनते-बिगड़ते कश्मीर का केवल राजनीतिक, ऐतिहासिक ही नहीं, वरन संवेदनात्मक परीक्षण भी किया गया है। इस उपन्यास में इतिहास पौरणिक और वर्तमान समय का यथार्थ प्रस्तुत किया गया है।

कहानी-संग्रह

(1) **पोशनूल की वापसी**—इस संग्रह की कहानियाँ मनुष्य की परिस्थितियों को दर्शाने के साथ ही मनुष्य की संवेदना और मानवीय स्थितियों से परिचय कराती है। इन कहानियों के जरिए हमें समाज में फैले अंधविश्वास, रूढ़िवादी विचारधारा, विकलांग श्रद्धा आदि सामाजिक सच्चाई के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) **दहलीज पर न्याय**—सन् 2015 में प्रकाशित इस संग्रह की कहानियों में एक ओर अंधविश्वास की शिकार जनता की पीड़ा है, तो वहीं दूसरी ओर मानवीय भावों को मुट्ठी में कैदकर अंतिम साँस तक उन अंधविश्वासों को माननेवाले मनुष्य का दर्द है। इसके साथ ही इन कहानियों में नैतिकता और अनैतिकता दोनों का मार्मिक वर्णन दिखाई देता है।

(3) **ओ सोनकिसरी**—इस संग्रह की कहानियाँ वर्तमान समय में मौजूद अंधविश्वासों की अमानवीयता को उजागर करती हैं तो वहीं समाज में सांप्रदायिक विडंबनाओं से ग्रस्त व्यक्ति के मन की अंतर्व्यथा को दर्शाती हैं।

(4) **तैंतीवाई**—सन् 2006 में प्रकाशित इस संग्रह की कहानियों के द्वारा लेखिका ने मानव मन की बुराई को पीछे छोड़ मन की अच्छाई का वर्णन किया है। इन कहानियों में मानव मन की उदारता तथा सद्व्यवहार का वर्णन है।

(5) **कोठे पर कागा**—सन् 1993 में प्रकाशित इन कहानियों में लेखिका ने समय के साथ बदलते मानव तथा मानवीयता को बड़े मार्मिक ढंग से उकेरा है।

(6) **काली बर्फ**—लेखिका ने इन कहानियों के जरिए आतंक, हत्या, अविश्वास, दरिंदगी और आतंकवाद के दौर में फँसे निर्दोश मनुष्यों की पीड़ा को दर्शाया है।

(7) **अलकटराज देखा**—इन कहानियों में विदेश में रह रहे परिवारों की घुटन और विदेशावास की सुविधाओं के मोह और अपने परिवारों को छोड़ विदेश में बसनेवाले मनुष्यों के जीवन को दर्शाया गया है।

(8) **सलाखों के पीछे**—इन कहानियों में लेखिका ने जीवन से संबंधित उन सत्यों को प्रस्तुत किया है, जो प्रत्येक मानव के साथ जुड़े हुए हैं। लेखिका ने वर्तमान मशीनीकरण के युग में स्त्री-पुरुष के संबंधों, व्यस्तता-भरे जीवन व स्वयं को खो बैठने के कारण व्यक्ति के तनावपूर्ण जीवन को दर्शाया है।

(9) **गलत लोगों के बीच**—इन कहानियों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक,

परिवारिक, मानसिक, वातावरण में जीते मनुष्य की छटपटाहट को प्रस्तुत किया गया है। वर्तमान में मानवमूल्यों के टकराव तथा स्त्री-पुरुष के बदलते संबंधों को लेखिका ने इन कहानियों में अभिव्यक्त किया है।

(10) **सूरज उगने तक**—ये कहानियाँ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, व्यवस्था से संबंधित जनसाधारण के मानसिक अंतर्द्वंद्वों के साथ-साथ बेहतर भविष्य की चिंता से जूझते लोगों की परेशानियों पर आधारित हैं।

(11) **बदलते हालात में**—इन कहानियों के माध्यम से आतंकवाद और अलगावाद से त्रस्त कश्मीर व पंजाब क्षेत्र के लोगों की विवशता को दर्शाया गया कि कैसे आतंकवाद से त्रस्त लोगों के हालात कहाँ से कहाँ पहुँच गए।

(12) **अब्बू ने कहा था**—इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ कश्मीर पर ही केंद्रित हैं, परंतु ऐसा नहीं कि वे सिर्फ कश्मीरियों के दुख-दर्द को ही बयान करती हों। संग्रह की कई कहानियाँ चेतना के कई रूपों को अनावृत्त कर विस्तृत आयाम देती हैं। वे उत्तर-आधुनिकता के विश्वव्यापी संकटों पर भी मुखर रही हैं।

(13) **रात में सागर**—इन कहानियों में जहाँ एक ओर भूमंडलीकरण की अंधी दौड़ में बहुत ज्यादा पाने की ख्वाहिशों में अपनों से दूर होने और संबंधों के टकराव की व्यथा है तो वहीं एक ऐसी आत्मीय छुआन भी है, जो अंतर्मन के द्वंद्व से संताप की प्रतीति कराती है।

(14) **कथा नगर**—इन कहानियों में लेखिका ने मानव-जीवन के हर पहलु को इतने कौशल और स्वाभाविकता के साथ सामने रखा है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं पर विचार करने को बाध्य हो जाता है।

उपन्यास और कई कहानी-संग्रह लिखने के अलावा चंद्रकांता ने एक कविता-संग्रह, एक आत्मकथात्मक संस्मरण और कई साहित्यिक लेख भी लिखे हैं। अपने इसी व्यापक रचना-संसार के लिए चंद्रकांता को कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। उन्हें जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी पुरस्कार, हरियाणा साहित्य अकादमी पुरस्कार, मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत, हिंदी अकादमी द्वारा सम्मान, के० के० विड़ला फाउंडेशन दिल्ली द्वारा व्यास सम्मान, चंद्रावती शुक्ल सम्मान, कल्पतरु सम्मान, कल्पना चावला सम्मान एवं ऋचा लेखिका सम्मान आदि से पुरस्कृत किया गया है। इसके अलावा उनके द्वारा रचित साहित्य पर कई शोधकार्य हुआ है तथा कई रचनाओं का दूसरी भाषाओं में अनुवाद भी किया गया है। कई रचनाओं को दूरदर्शन द्वारा भी प्रसारित किया गया और आकाशवाणी दिल्ली के लिए 'कथा सतीसर', 'यहाँ वितस्ता बहती है' तथा 'ऐलान गली जिंदा है', उपन्यासों का कई भागों में रेडियो धारावाहिक भी प्रसारित किया जा चुका है।

संदर्भ

1. चंद्रकांता, मेरे भोज पत्र, पृ० 18
2. वही, पृ० 19
3. वही, पृ० 22
4. वही, पृ० 21।

हिंदी में रोजगार

डॉ० समीर गुलाब सख्यद

प्राचार्य

कला, वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय, अशोकनगर, तहसील श्रीरामपुर

जिला अहमदनगर (महा०) 413717

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में हिंदी सही अर्थ में वैश्विक भाषा बनी है। भारतीय संविधान से प्राप्त अवसर और वैश्वीकरण के दौर में बढ़नेवाली नई जरूरतों ने हिंदी में अनेक रोजगार उपलब्ध कराए हैं। हिंदी के रोजगारों का वर्गीकरण दो विभागों में इसप्रकार किया जा सकता है।

1. राजभाषा हिंदी के क्षेत्र में उपलब्ध रोजगार

राजभाषा हिंदी के क, ख क्षेत्र में सभी केंद्रीय शासन के कार्यालयों—सब राष्ट्रीयकृत बैंक, जीवन बीमा निगम, अन्य सभी निगम, रेल, पेट्रोलियम, राज्यशासन मंत्रालय के सभी विभाग, उपविभाग, केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो, शेअर-मार्केट, क्रीड़ा विभाग, दूरदर्शन एवं दूरसंचार विभाग, सुरक्षा विभाग, विज्ञान विभाग आदि में तथा भारत प्रतिभूति मुद्रणालय, चलार्थ पत्र मुद्रणालय में हिंदी के पाँच पद नियुक्त होते हैं—हिंदी अधिकारी, वरिष्ठ हिंदी अनुवादक, कनिष्ठ हिंदी अनुवादक, हिंदी स्टेनो, हिंदी टायपिस्ट आदि।

यातायात के केंद्रीय शासन के कार्यालयों में ये रोजगार उपलब्ध हैं। मंत्रालय, परराष्ट्र मंत्रालय केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो में हिंदी के मौखिक अनुवादक दुभाषियों की आवश्यकता होती है। अखिल भारतीय स्तर पर त्रिभाषा सूत्र के कारण सभी विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है। हिंदी में अनुसंधान के देशांतर्गत और उससे संबंधित सभी रोजगारों के लिए भारतीय लोकसेवा आयोग की निर्धारित लिखित मौखिक परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना अनिवार्य है। परीक्षाओं के लिए स्नातकोत्तर हिंदी परीक्षा उत्तीर्ण उम्मीदवार ही योग्य माना जाता है। अनेक विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों ने केंद्रीय हिंदी अनुवाद ब्यूरो (गृह मंत्रालय), मानव संसाधन मंत्रालय ने इस प्रकार के पाठ्यक्रम जारी किए हैं। हिंदी साहित्य अकादमी राष्ट्रभाषा संस्थाएँ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, राष्ट्रभाषा शिक्षा संस्थान आदि के द्वारा तथा इंदिरा गांधी अंतरराष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालयों के द्वारा इन रोजगारों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम जारी किए हैं ताकि गाँवों, कस्बों के छात्रों को उनका लाभ मिले, प्रशिक्षण मिले, ऐसे प्रयास किए जाना अनिवार्य है। दुःख इस बात का है कि आजादी के 71 वर्षों के उपरांत भी हिंदी संसद की प्रमुख भाषा होने पर भी व्यवहृत तथा कार्यान्वित नहीं हो पा रही है। हिंदी की नागरी लिपि भारत की

सार्वभौमिक लिपि नहीं बनी है। आज भी प्रादेशिक वादों-विवादों के घेरे में हिंदी का सवाल उलझा हुआ है। विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हिंदी कहाँ तक प्रयुक्त होती है, इसका वस्तुनिष्ठ अध्ययन भी आवश्यक है। हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के बाद हिंदी जनता की लोकतंत्र की भाषा, अभिव्यक्ति बन गई है तो उसमें उसका निर्विवाद प्रयोजन 100 : अबतक क्यों द्रष्टव्य नहीं हो रहा है। हिंदी भारत के समस्त जनता की जुबान क्यों नहीं बनी है, जैसे कि फ्रांस की फ्रेंच, रशिया की रूसी, जर्मनी की जर्मन है। आजादी के 71 वर्षों में राष्ट्रभाषा के अवरोधों को हम मिटा नहीं पाए। ऐसी भाषा हम क्यों नहीं बना पाए, जो आम जनता से लोकतंत्र को आसानी से जोड़ सके। भारतीय लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं में भाषा के तौर पर विषय और माध्यम के रूप में हिंदी स्वीकृत है, केवल उत्तर भारतीय छात्र उसका लाभ उठाते हैं और अन्य भूभाग के छात्र अँग्रेजी से जूझकर दम क्यों तोड़ रहे हैं।

जनसंचार माध्यमों में हिंदी के रोजगार

जनसंचार के मुद्रित और श्रव्य माध्यमों में हिंदी के रोजगार उपलब्ध हैं। प्रिंट मीडिया में हिंदी के अनेक समाचारपत्रों में, विदेशों में प्रचलित समाचारपत्रों में हिंदी के संपादक, संवाददाता, स्तंभ लेखकों की नौकरियाँ प्राप्त होती हैं। हिंदी समाचारपत्रों के माध्यम से देश की स्वाधीनता, स्वाभिमान सम्मान की भाषा बनने का उज्ज्वल, दीर्घ इतिहास हमारे सामने हैं। रेडिओ पर अनेकानेक पद अनुवादक से निवेदक तक उपलब्ध हैं।

दृश्य-श्रव्य माध्यम दूरदर्शन पर संवाददाता, निवेदक, संपादक, संगणकज्ञ, विज्ञापनज्ञ, धारावाहिक के शीर्षक गीतों के कवि, पटकथा लेखक, अनुवादक, सूत्रसंचालक, उद्घोषक, समीक्षक आदि हिंदी से संबन्धित रोजगार हैं। जो परदे पर और परदे के पीछे काफी संख्या में नए क्षेत्रों में हिंदी को सबल विस्तृत जनग्राही बना रहे हैं। हिंदी चित्रपटों ने सही अर्थ में राष्ट्रीय एकात्मता के लिए हिंदी भाषा को सिद्ध किया है। भारत के हर अंचल, प्रदेश में, विदेशों में हिंदी को पहुँचाने का, हिंदी को प्रधानता देने का काम हिंदी चित्रपटों ने किया है। गीत-लेखक, संवाद-लेखक, पटकथा-लेखक, समीक्षक, अनुवादक आदि के अवसर चित्रपटों में सौ सालों से उपलब्ध है। मीडिया ने हिंदी के अपने द्वार खोल दिए हैं। इसके लिए हिंदी की सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ हिंदी की मनोविश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति का कौशल हिंदी की औपचारिक क्षमता, प्रयोजनमूलक हिंदी की भाषिक क्षमता का उत्तम होना अनिवार्य हैं। इसके लिए भी प्रशिक्षणों की आवश्यकता है। वर्तमान समय की जरूरत यह है कि हिंदी के पारंपारिक पाठ्यक्रमों के साथ हर महाविद्यालय में रोजगारपरक हिंदी का प्रशिक्षण प्रमाणपत्र तथा पदविका स्तर पर पूरक रूप में जारी होना चाहिए।

संगणकों में जिस प्रकार प्रशिक्षकों का समय के साथ रहना जरूरी हो गया है। उसी प्रकार हिंदी साहित्य की जानकारी के साथ प्रयोजनमूलक और रोजगारपरक हिंदी की योग्यता प्रदान करनेवाले प्रशिक्षकों को शिक्षा संस्थाओं, वि। पीठ अनुदान आयोग, विश्वविद्यालय, राज्य शासन के शिक्षा मंत्रालय, मानव संसाधन मंत्रालय के द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर पाठ्यक्रमों, प्रात्यक्षिकों के माध्यम से आरंभ करने चाहिए। पहले ही हमने बहुत वक्त खो दिया

है। अब विलंब करना अहितकारी होगा।

इंटरनेट से हिंदी विश्व की प्रयोजनमूलक भाषा बन रही है। इस दृष्टि से हिंदी अनुवादक के कई रोजगार उपलब्ध हैं। मीडिया और संगणक दोनों में हिंदी अनुवादकों की बड़ी संख्या में आवश्यकता है। जिस अँग्रेजी को सत्ताधीश बनाकर हमने सिर पर धारण किया है। वह ब्रिटिश अँग्रेजी साहित्य में ही वि. मान है। सच तो यह है कि अमेरिकन अँग्रेजी, भूमंडलीकरण से बनी हर क्षेत्र की रजिस्टर लैंग्वेज के रूप में प्रयोजनमूलक अँग्रेजी, विज्ञान और तकनीकी की अँग्रेजी, बाजार की अँग्रेजी ये नई अँग्रेजी भाषा रूप है। उनका प्रशिक्षण भी दिया जाना जरूरी है। बहुभाषिक होना, वर्तमान की माँग है। रोजगारपरक हिंदी और अँग्रेजी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। हमारे हिंदी और अँग्रेजी के छात्रों को रोजगार के क्षेत्रों की दोनों भाषाओं का प्रशिक्षण उपलब्ध कराना अनिवार्य हो गया है। भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र के कामकाज, किताबों का अनुवाद की बड़ी मात्रा में करने की आवश्यकता है। विधि के अनुवाद की नितांत आवश्यकता है। अनुवाद हिंदी में बहुत बड़ा उद्योग बन रहा है। संस्कृति भी मीडिया के क्षेत्र में उत्पाद बनी हैं। बाजार की दृष्टि से हिंदी के रोजगार बढ़ रहे हैं। उन्हें सुव्यवस्थित रूप में ढालने की, उनके प्रशिक्षण की आवश्यकता है। हिंदी संप्रेषण की भाषा है। संप्रेषण भाषा और संप्रेषण कला बाजार का प्राण है। देश-विदेश के मार्केट, उद्योग को जोड़नेवाला सेतु हिंदी भाषा का सेतु है। इस दृष्टि से भी हिंदी के कई रोजगार राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध हो रहे हैं। असल में रोजगारों की हिंदी में कमी नहीं है। कमी है—रोजगारपरक हिंदी की योग्यताओं की, तत्संबंधी ज्ञान और जानकारी की। इस कमी को पूरा करना सबकी अहम् आवश्यकता है। हर विश्वविद्यालय में इसका अलग से एक प्रभाग और एक अध्ययन मंडल बनाना चाहिए। जो इसके लिए प्रशिक्षणों को समुचित जारी करेंगे, इन पर अनुसंधान, सर्वेक्षण करेंगे। समय के साथ हमारे अध्ययनक्रम बदलने चाहिए, दृष्टि बदलनी चाहिए, आकांक्षाएँ भी बदलनी चाहिए।

संदर्भ

1. साहित्य समीक्षा, डॉ० बी०के० वैष्णवी
2. आलोचना, पृ० 122
3. दैनिक नवभारत, अगस्त 14, 2018

मो० 8600533668

ई-मेल: sayyaosamir86@gmail.com

डॉ० रामविलास शर्मा का स्त्री-चिंतन

विशाल मिश्र
शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

यह सच में दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम मानव-जाति को लिंग के आधार पर बाँट रहे हैं, मगर शायद यह अभी जरूरी हो गया है। क्योंकि सदियों से महिलाओं के साथ शोषण होता आ रहा है अलग-अलग समाजों में अलग-अलग रूपों में, हमने ऐसे समाज बनाएँ, जिसमें बहुत ज्यादा शोषण हुआ।

जब मानव-समाज इस तरह बनाएँ गए तो स्वाभाविक रूप से पुरुष ही राज करेगा, जब समाज हमेशा संघर्ष की स्थिति में रहेगा तो जाहिर है कि पुरुष का ही राज होगा। क्योंकि पुरुषों का शरीर ज्यादा ताकतवर होता है; बराबरी के आधार पर समाज तभी बताया जा सकता है, जब हम सामाजिक ढाँचे में एक तरह की स्थिरता स्थापित करें। जब गुजारा ही जीवन का अंतिम लक्ष्य न हो, बल्कि हमारे जीवन का एक छोटा हिस्सा-भर हो; जब सभ्यताएँ अच्छे से स्थापित होती हैं। जहाँ कला, संगीत, सौंदर्यबोध ये भी उतने ही महत्वपूर्ण होते हैं जितने अर्थव्यवस्था, रक्षा और वे दूसरे पहलू जो आज के समाज में महत्वपूर्ण माने जाते हैं, केवल तभी महिलाओं को समाज में उनकी सही जगह मिलेगी।

जिस तरह पुरुष गुण मानव-जीवन में एक तरह की अहमियत रखता है, उसी तरह स्त्री गुण हमारे जीवन में एक अलग तरह की अहमियत रखता है। जब तक हम यह नहीं समझ पाते कि ये दोनों गुण हमारे जीवन में बराबर महत्व रखते हैं, तब तक कोई वास्तविक बराबरी या न्याय नहीं होगा।

डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं, 'जहाँ प्रायः सभी पुरुष-आलोचकों ने महादेवीजी के काव्य में पीड़ावादी पलायनवादी तत्त्वों को ही देखा है, उनका नामकरण भले ही भिन्न-भिन्न हो, वहाँ एक स्त्री आलोचिका ने उसके द्वंद्व को, परस्पर विरोधी भावधाराओं के संघटन को, बड़ी खूबी से निर्दिष्ट किया है।'

1955 के दशक में स्त्री-मूल्यांकन को इस हद तक अहमियत देना एक प्रगतिशील कदम था। महादेवी वर्मा के साहित्य का मूल्यांकन वे समाज में स्त्रियों की स्थिति को जोड़कर, एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में करते हैं।

इस सामाजिक संरचना में आप यह भी नहीं कह सकते कि बराबरी और न्याय नहीं होगा या आप यह भी नहीं कह सकते कि सभ्यता मौजूद है। बुद्धिमानी, संवेदनशीलता और बोध जीवन के सबसे अहम पहलू हों; केवल तभी लैंगिक समानता आ सकती है। अभी जरूरत है

पुरुष-तत्त्व में यह जागरूकता लाना कि स्त्रीतत्त्व जीवन का उतना ही महत्वपूर्ण हिस्सा है। यथा-मीडिया, शिक्षा-प्रणालियों और अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं को इस मामले में प्रयास करना चाहिए कि सिर्फ धन अर्जन करने से हमारा जीवन सुंदर नहीं बनेगा। यह जीवन तभी सुंदर बनेगा, जब स्त्रीगुण और उसका पहलू हमारे पास होगा, तभी सब-कुछ सुंदर बनेगा। स्त्री-गुण और पुरुष-गुण प्रकृति के दो मूलभूत गुण हैं, उसका लिंग से कोई वास्ता नहीं है। ऐसे पुरुष हो सकते हैं, जिनमें स्त्री-गुण ज्यादातर महिलाओं से अधिक हो और ऐसी महिलाएँ हो सकती हैं, जिनमें ज्यादातर पुरुषों से अधिक पुरुष-गुण हों। यह बहुत महत्वपूर्ण है कि समाज इस बात को समझे कि किसी का शरीर महिला या पुरुष का हो सकता है। उसके गुण दोनों के मेल हो सकते हैं, यह ऐसा देश है, यह ऐसी संस्कृति है, जहाँ अपने भीतर की ओर देखना एक महत्वपूर्ण पहलू माना जाता है। मनुष्य अपने भीतर पर्याप्त गहराई में देखे तो हम पाएँगे कि हर व्यक्ति चाहे आपका शरीर पुरुष का हो या स्त्री का, उसके अंदर पुरुष-गुण और स्त्री-गुण बराबर अनुपात में होते हैं। इसीलिए हमारे भगवानों को भी इस तरह प्रस्तुत किया गया है। यथा-शिव को अर्द्धनारीश्वर के रूप में दिखाया जाता है।

यह महत्वपूर्ण है कि दुनिया में स्त्री-गुण आगे आकर सक्रिय हो, बल्कि महिला दिवस को स्त्री-गुणों का दिवस कहना चाहिए, इस संस्कृति में हजारों सालों से स्त्री-शक्ति की पूजा होती रही है। यह महत्वपूर्ण है कि हम अपनी संस्कृतियों में वह आध्यात्मिक स्वभाव लाएँ, जहाँ हर इंसान के लिए उसका जीवन और उसके अनुभव भौतिक शरीर तक सीमित न हों। क्योंकि स्त्री और पुरुष होना भौतिक प्रकृति तक ही सीमित है। अगर हमारा जीवन भौतिक प्रकृति तक ही सीमित है, अगर हमारा जीवन भौतिक प्रकृति से परे है तो स्त्री और पुरुष होना एक छोटा-सा मुद्दा होगा। नियमों में हमने शोषण बहुत हद तक रोक दिया है, लेकिन सामाजिक वास्तविकता में ऐसा होना अभी बाकी है। इसके लिए सड़कों पर लड़ाई करने की जरूरत नहीं है, बल्कि कानून का सही क्रियान्वयन जरूरी है। इसके लिए एक अनुकूल माहौल की आवश्यकता है।

डॉ० रामविलास शर्मा सामाजिक ढाँचे में उपयोगी मनुष्यता को कायम करने के लिए स्त्रियों को चारदीवारी से बाहर निकलकर उनकी सामाजिक भूमिका व मुख्य धारा में सहभागिता का समर्थन करते हैं। जाति और धर्म से परे प्रेम और उल्लास के आधार पर विवाह-व्यवस्था का समर्थन करते हैं। पुरानी रूढ़ियों के स्थान पर नए मानवीय मूल्य गढ़ने पर बल देते हैं। 'विधवा विवाह से दस कदम आगे बढ़कर नई नैतिकता के प्रति सहानुभूति जगाते हैं।' डॉ० रामविलास शर्मा सेवासदन के संदर्भ में लिखते हैं—'सेवासदन' की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। प्रेमचंद ने किसी तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निटुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। हमारे साहित्य में कितने नाटक, कितने उपन्यास नारी के आत्म-बलिदान, उसके सतीत्व, उसकी पति-सेवा पर नहीं लिखे गए? लेकिन कितने लेखकों ने उसकी निस्सहायता, पराधीनता, उसके साथ पशुओं और दासों-जैसे व्यवहार पर नजर डाली है।'

अपने प्रिय लेखक प्रेमचंद के उपन्यासों में डॉ० शर्मा ने स्त्री-उत्पीड़न और संघर्ष का विश्लेषण किया है। डॉ० शर्मा वेश्या-जीवन की चर्चा करते हुए कहते हैं कि प्रेमचंद का उद्देश्य सुमन को मुजरे तक सीमित करना नहीं है, बल्कि स्त्री-जीवन की पराधीनता को स्पष्ट करना है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि निर्मला के दुख का कारण अनमेल विवाह है। सवाल यह है कि अनमेल विवाह का अर्थ केवल उम्र के अंतराल से है या फिर और भी कोई अंतराल है? उम्र का अंतर संबंधों को प्रभावित करता है, लेकिन इस प्रकार का अंतर प्रेमचंद के 'गबन' में देखा जा सकता है। जहाँ वकील साहब और रतन के बीच है। आखिर क्या कारण है कि यहाँ संबंध और प्रेम में मधुरता है। इस अनमेल विवाह के संबंध में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं—'अनमेल विवाह तो वे सारे हैं जो आयु में, शिक्षा में प्रथा, पेशे और रोजगार में हों, एक-दूसरे से बहुत ऊँचाई, बहुत निचाई को देखते हुए भी होते हैं।'

इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि डॉ० शर्मा का स्त्री-दृष्टिकोण मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिफलन है। मार्क्सवाद पूरी व्यवस्था को पुनर्गठित करने की माँग करता है। ऐसे परिस्थिति में भारतीय मार्क्सवादियों ने स्त्री-पक्ष पर नए ढंग से विचार किया, लेकिन उनका और मजदूर व किसान की समस्याओं तक ही बना रहा। समाजवादी व्यवस्था में स्त्रीमुक्ति के पक्ष में डॉ० शर्मा लिखते हैं—'आज के भारतीय समाज में नारी परतंत्र है, यह कहने की बात नहीं है। उसकी परतंत्रता का कारण सामंती संबंधों के अवशेष और समाज संचालकों के सामंती संस्कार हैं...आज हिंदुस्तान में सामंती अवशेष साम्राज्यवादी हितों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, इसीलिए नारी की स्वाधीनता का प्रश्न भारतीय जनसाधारण की समस्या का ही अंग है। इसलिए जो लोग सेक्स में क्रांति की बात करते हैं, वे इस समस्या को सुलझाने के बदले उलझाते हैं और सामंती हितों को पुष्ट करते हैं।'

कुल मिलाकर, स्त्री-पक्ष पर डॉ० शर्मा का चिंतन अंतर्विरोध और द्वंद्व से भरा है। डॉ० शर्मा जाति, धर्म और वर्ग से रहित प्रेम-विवाह को महत्त्व देते हैं। वे स्त्री को सिर्फ घर, परिवार और पति तक बाँधने के पक्ष नहीं खड़े हैं। वे स्त्री-सचेतनता और उसकी स्वतंत्रता के हक में हैं, इसके बावजूद कुछ सीमाओं से घिरे हैं। जैसे कि उन्हें सारी समस्याओं की जड़ 'सामंती अवशेषों' में नजर आती है। उनका कहना है कि सामंती अवशेषों के समाप्त होने पर स्त्री-दुःख का अंत हो जाएगा।

टॉमसन के अनुसार, 'इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में गोत्र के प्रतिनिधि पुरुष न होते थे, वरन् स्त्रियाँ होती थीं।' स्पार्टा के बारे में टॉमसन ने लिखा है कि एक पति-पत्नी वाली विवाह-प्रथा का बंधन इतना शिथिल था कि छह भाई मिलकर एक पत्नी रख सकते थे और पत्नियों का अस्थायी आदान-प्रदान एक साधारण बात थी। इसके अलावा टॉमसन की यह स्थापना कि 'यूनानी धर्म आमतौर से टोटमपंथी आधार पर स्थिर था' इस बात की पुष्टि करती है कि यूनानियों में टोटम के चलन के अनुकूल मातृ-सत्तात्मक गोत्रों का चलन भी था।'

व्यक्ति जिसको अपना शरीर कहता है, वह यादों का एक बहुत बड़ा संग्रह है। मनुष्य के

दिमाग में मौजूद याददास्त बहुत कम है; मनुष्य एक शरीर में स्थित यादास्थ क्रमिक विकास के रूप में है। इसमें कर्म की यादें हैं, जेनेटिक यादें हैं, व्यक्त-अव्यक्त की यादें हैं। मनुष्य को लगता है कि उसे चलने का ढंग पता है; ऐसा सिर्फ इसलिए है कि आपके शरीर ने ऐसी याददास्त बनाई है। मनुष्य का शरीर इसे भूल जाए तो मनुष्य चल नहीं सकता है। मनुष्य के दिन-प्रतिदिन की सारी गतिविधियाँ यादों के कारण ही संभव होता है। जब हम चलते हैं तो रास्ते में न जाने कितनी महकों से गुजरते हैं; हो सकता है हमें यह ध्यान न हो, मगर शरीर उसे इकट्ठा करता है और पहचानता भी है। इसीलिए, आवाज और गंध की पहचान द्वारा संभव है। मनुष्य बहुत सारी यादों के साथ जीता है और कई बार उलझन में भी रहता है। यही वजह है कि इस संस्कृति में हाथ मिलाने, गले-मिलने से हम परहेज करते हैं; हम अपनी ही दोनों हथेलियाँ मिलाकर नमस्कार करते हैं। क्योंकि हम यादों से बचना चाहते हैं। अतरंगता को इसीलिए सरल रखने की बात की गई है। सवाल नैतिकता का नहीं है, सवाल ये है कि हम अपने जीवन में अपने साथ क्या करना चाहते हैं; अगर हम इस तरह जीना चाहते हैं कि हमारी भीतरी बुद्धि सबसे प्रबल चीज हो। डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं, 'प्राचीन कथाओं में अनेक ऐसे संबंधों का उल्लेख है, जो एक पति वाली विवाह-प्रथा से मेल नहीं खाते। द्रौपदी के पाँच पति प्रसिद्ध ही हैं। कृष्ण और गोपियों का रास स्पष्ट ही प्राचीन विवाह-प्रथा की ओर संकेत करता है। जिन पुरुषों के जनक देवता माने गए हैं, लेकिन जिनकी माताएँ मानवी हैं, वहाँ यह निष्कर्ष असंगत न होगा कि इनकी उत्पत्ति मातृ-सत्तात्मक गोत्रों में हुई है। माता के नाम पर पुत्र का नाम रखने की प्रथा यहाँ काफी दिनों तक रही है। महाभारत में उद्दालक की कथा उल्लेखनीय है। वह कहते हैं कि एक समय वर्ण-विवाह की प्रथा का चलन था। एक वर्ण का कोई भी पुरुष अपने संबंधी वर्ण की किसी भी स्त्री का पति बन सकता था।'

इसमें संदेह नहीं कि आज इंसान के जीवन में प्रेम एक अहम चीज बन गया है, सिर्फ इसलिए कि इंसानी भावनाएँ इंसान होने का एक मजबूत पहलू हैं। इंसानों के जीवन में भावना एक शक्तिशाली और प्रबल पहलू है। मनुष्य किस प्रकार के समाज की रचना चाहता है? बिना भावनाओं का प्रेम यूरोपियन मॉडल हो सकता है। प्रेम एक भावना है, इसके कड़वे होने से नफरत पैदा होती है; अक्सर हम जिससे प्रेम करते हैं, उसी से नफरत करते हैं। कभी भी इंसान सड़क चलते व्यक्ति से नफरत नहीं करता है। हमें बस इस पर गौर करना है कि हमारा खुश होना या ना होना बाहरी चीजों पर निर्भर क्यों है? अगर मेरे आसपास कोई खुश नहीं है तो मैं खुश कैसे हो सकता हूँ। खासकर, अगर हमारे आसपास सभी दुखी हैं तो यह और भी महत्वपूर्ण है कि हम खुश रहें। अगर हमारे आसपास के सभी लोग बेतरतीब हैं तो यह जरूरी है कि हम खुश रहें। अगर हम उनकी देखभाल करना चाहते हैं तो भी; लगातार प्रतिक्रिया की स्थिति इंसानी खुशहाली नहीं ला सकती है।

अगर सिर्फ पैसों का महत्व होगा तो समाज में सिर्फ पुरुषों का महत्व होगा। नारीवाद के प्रभाव ने महिलाओं को पुरुषों की तरह बनाने का प्रयास किया है; ऐसा संभव नहीं है। पहचान ही तय करती है कि आपका दिमाग कैसे कार्य करता है। शारीरिक रूप से स्त्री होना, पचास फीसदी आबादी स्त्रियों का होना अच्छी बात है। आपकी पहचान एक स्त्री के रूप में

है, लेकिन आपकी पहचान सौ फीसदी महिला शरीर से नहीं होनी चाहिए। इस तरह तो मनुष्य भी शरीर के अंगों से अपनी पहचान जोड़ने लगेंगे।

इसके लिए समाज में एक अनुकूल सामाजिक माहौल की आवश्यकता है। यह अनुकूल सामाजिक माहौल तब ही संभव है जब ज्ञान का व्यापक प्रचार हो, शिक्षा और आर्थिक संभावना प्रबल हो।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली संस्करण-2004, पृ० 186
2. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली चौथी आवृत्ति 2006, पृ० 31
3. मैत्रेयी पुष्पा, सुनो मालिक सुनो, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008, पृ० 24
4. रामविलास शर्मा, परंपरा का मूल्यांकन, पृ० 185-186
5. रामविलास शर्मा, मानव सभ्यता का विकास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 26
6. वही, पृ० 27

सी-244, प्रथम तल
गांधी विहार, दिल्ली
मो० 8860010858

सुमन का काव्य : सामाजिक चेतना का सरगम

प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया, डी०लिट्०

प्रत्येक युग अपने कवि तथा कलाकार की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि उसके आने के साथ यह भेद खुल जाता है कि उस युग की चेतना किस दिशा में तथा किस स्तर तक विकसित हुई है? समाज के अंदर होनेवाले नवीन राग को सुनकर साहित्यकार उसको वाणी का रूप देता है। रामधारीसिंह दिनकर कहते हैं—‘साहित्य कला का सबसे बड़ा सामाजिक महत्त्व यह है कि इससे समाज बदलती हुई समकालीन प्रवृत्तियों से रागात्मक सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता प्राप्त करता है। कवि अपनी कल्पनाधारा से वास्तविकता के रूप पर प्रभाव डालता है, उसमें समयानुरूप परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है और कविता के द्वारा मनुष्य को सत्य के इस बदलते हुए रूप की ओर उन्मुख करता है।’¹ साहित्यकार समाज की अनेक वास्तविकताओं के साथ संघर्ष करता है, उसको अपने मन की कसौटी पर कसता है, तत्पश्चात् उसे साहित्य का रूप देता है। साहित्यकार के अंतस में हमेशा युद्ध चला करता है जोकि स्वर्ग और नरक से बढ़कर है। प्रकाशचंद्र गुप्त का कहना है—‘कवि अथवा साहित्यकार जिस जीवन को अपने चतुर्दिक हिलोरे मारता हुआ देखता है, उसी से यह प्रेरणा पाता है। उसका मानसिक संसार कोई बंद मुक्ता मंजूषा नहीं है। अपनी स्वतंत्र सत्ता देखते हुए भी उसकी भावनाओं का संसार निरंतर बाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित और झंकृत होता है।’²

साहित्यकार समाज में होनेवाली गतिविधियों पर बहुत ही पैनी दृष्टि से निरीक्षण करता रहता है। डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि ‘सामाजिक विकास से संबद्ध कला के अनेक तत्त्व जहाँ आर्थिक विकास जीवन पर निर्भर होते हैं, उनका एक स्पष्ट वर्ग आधार होता है। वे आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर या कुछ समय बाद परिवर्तित हो जाते हैं, जहाँ उनके तत्त्व अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं, वर्गों से परे और बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं।’³ पश्चिमी देशों में साम्यवादी विचारकों के दो दल देखे गए हैं—प्रथम, काव्यकला का सीधा संबंध समाज के आर्थिक जीवन से माननेवाले, द्वितीय उदारवादी। हिंदी में उदारवादी विचारकों का प्रभाव है। डॉ० रामविलास शर्मा अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ‘ऐसा नहीं होता कि समाज के रथ में लेखक पीछे बँधा हुआ हो और उसके पीछे लीक पर घसीटता हुआ चलता हो। लेखक सारथी होता है, जो लीक देखता हुआ साहित्य की बागडोर सँभालते हुए उचित मार्ग पर ले चलता है।’⁴

समीक्षकों का एक स्वर में मानना रहा है कि काव्य में जिस सामाजिक जीवन को व्यक्त करना है, उसके भौतिक संबंधों के साथ-साथ मानवीय संबंधों का ज्ञान हो। इसके साथ ही

काव्य-कला के उचित माध्यमों पर भी कलाकार का ध्यान हो। भाषा, शिल्प, उपमाएँ, संगीत, उक्ति, चमत्कार काव्य के साधन-मात्र हैं। इस संदर्भ में अपना मत देते हुए शिवमंगलसिंह 'सुमन' कहते हैं—'मैं सामाजिक कल्याण के प्रति प्रतिबद्ध हूँ, गति पर विश्वास करता हूँ। मेरा मार्ग गौतम की तरह मध्यम मार्ग है। मैं अति को अव्यावहारिक उबाल मानता हूँ और हठधर्मिता से दूर रहना चाहता हूँ। मेरे मन में लक्ष्य साफ है। मेरी आगामी काव्यधारा भी लोकसाधना का ही प्रतिरूप होगी।'⁵ सुमनजी समाजसेवा को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं। विपन्न मानवों की दशा सुधारना तथा उनको समाज में उच्चस्तर तक लाने के लिए वे सदैव तत्पर रहे। सुमनजी की काव्य का प्रमुख स्वर सामाजिक चेतना ही है। किसी भी देश में कला, संस्कृति एवं साहित्य के विकास की प्रक्रिया सामाजिक आधार ग्रहण कर ही विकास पाती है। कला और संस्कृति का संबंध जीवन के अंतःपक्ष से है और समाज का बाह्यपक्ष से है। देश की जागरूकता का श्रेय समाज पर ही जाता है। नवीन मूल्यों की स्थापना एवं परिवर्तन समाज के अंदर ही होता है, जिसका प्रभाव संपूर्ण देश पर पड़ता है।

कार्लमार्क्स जनजीवन का मूलाधार 'अर्थ' को ही मानते हैं। उनकी इस मान्यता के अनुसार वर्तमान समाज का गठन पूँजीवाद की ही देन है। केवल वे धनिक ही पूँजीवादी नहीं हैं, जो मध्यम और निम्नवर्गीय मानवों का शोषण कर विशाल संपत्ति के स्वामी हुए हैं, वे पंडे, पुरोहित, मौलवी, पादरी, कथित धर्माचार्य और वे राजनीतिक नेता भी पूँजीवाद के ही अंग हैं, जिन्होंने अपने स्वार्थ-साधन के लिए समाज में सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों को जन्म दिया। सुमनजी समाज में व्याप्त असमानता पर दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं—

इस ओर सजा मधु-मदिरालय
हैं रास-रंग के साज कहीं
उस ओर असंख्य अभागे हैं
दाने तक को मुँहताज कहीं।⁶

कवि ने मानव-जीवन की अभावग्रस्तता तथा जीवनमार्ग की अवरोधक विकट परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है। कवि ने पूँजीपतियों की साज-सज्जा एवं वैभवपूर्ण जीवन के साथ-साथ उन असहाय रंक लोगों की दशा को भी दर्शाया है।

'कुछ कहना आवश्यक था इसलिए' में सुमनजी ने अपने विचार इसप्रकार अभिव्यक्त किए हैं—'हमें अपनी सामाजिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि किसी भी लेखक की रचना में परोक्ष अथवा परोक्ष रूप से उस समाज की प्रतिच्छाया, जिसमें वह रह रहा है, अवश्य पड़ती है। गोस्वामी तुलसीदास, शेक्सपियर या टॉल्स्टॉय की रचनाओं में हम उनके समकालीन समाज का जितना विशद कलात्मक चित्रण पाते हैं, उतना अन्यत्र कहीं मिल सकना दुर्लभ ही है।'⁷ सामाजिक विषमता के चित्र भी कवि के सम्मुख घनीभूत होकर उभरते हैं और अपने व्यक्तिगत स्वप्नों को मुट्ठी में मसलता हुआ वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध जिहाद-सा बोल देता है। यथा—

हाय, यहाँ मानव-मानव में
समता का व्यवहार नहीं है

हाहाकारों की दुनिया है
स्वप्नों का संसार नहीं है
इसीलिए अपने स्वप्नों को
मुट्ठी में मलता जाता हूँ
मैं पथ पर चलता जाता हूँ⁸

मानव-समाज का एक वर्ग तो भौतिक सुखों में मग्न है। उनकी सुख-समृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके विपरीत श्रमिकवर्ग, जिनके पास न तो रहने के लिए मकान है और न तन ढकने के लिए कपड़ा एवं पेट के लिए रोटी मिलना मुश्किल है। खुले आसमान के नीचे अपनी सारी रातें गुजार देते हैं। समाज की इस विषमता को सुमनजी समूल उखाड़ फेंकना चाहते हैं। सुमनजी समाज के सेठ, महाजनों एवं धनिकवर्ग के प्रति रोष प्रकट करते हुए कहते हैं—

तो क्या कभी मुनाफाखोरों की यह चलती चाल?
मरते लोग सड़ा करता यों कोठारों में माल
हड्डी के ढाँचे पर गिनते रुपयों के अंबार
बच्चों की लाशों पर करते, पूँजी का व्यापार।⁹

समाज के शोषण तत्त्वों को संकेत करते हुए सुमनजी कहते हैं—तेरे ही कारण नंदनवन के सदृश हमारे देश ने आज श्मशान का रूप धारण कर लिया है। अन्याय, झूठ और आडंबर का साम्राज्य चारों ओर व्याप्त है। माँ के स्तनों में दूध न होने के कारण कितने बच्चे बिना दूध के अपनी अंतिम साँसे तोड़ दे रहे हैं। कवि सुमन भारत के अतीत के माध्यम से समाज की बिगड़ती हुई दशा पर विषाद के भावों को दर्शाते हैं—

तेरे कारण मरघट-सा, जल उठा हमारा नंदन
लाखों लाल अनाथ, लुटा अबलाओं का सुहागधन
झूठों का साम्राज्य बस गया, रहे अनन्यायी बच्चे
तेरे कारण बूँद-बूँद को तरस मर गए बच्चे।¹⁰

स्वतंत्रता के पूर्व जनता में नेताओं के प्रति सच्ची श्रद्धा थी, परंतु आजादी के बाद जनता का विश्वास और प्रेम नेताओं के प्रति कम होता गया। वर्तमान समाज-व्यवस्था पर कवि का मन खिन्न है, क्योंकि आजादी प्राप्त हुए कई दशक बीत गए, परंतु देश एवं समाज की हालत लगभग वैसी ही है। आज भी कितनों को रोटी-कपड़ा नसीब नहीं है। भिखमंगों की टोलियाँ रास्ते-रास्ते में घूम रही हैं। अकाल एवं भुखमरी का तांडव नृत्य हो रहा है। कवि के विचार देखिए—

क्या अभी पेटभर रोटी हमें नसीब नहीं
क्या अभी हमारे चाचा-ताऊ नंगे हैं
क्या अभी अकालों के गिद्धों का जमघट है
क्या ग्राम-नगर में डगर-डगर भिखमंगे हैं।¹¹

देश और समाज की व्यवस्था पर असंतोष व्यक्त करते हुए सुमनजी कहते हैं—

देश मेरे इस तरह क्यों खिन्न, त्रस्त, उदास
बन गए हो स्वयं अपनी विकृति के उपहास
लीलता हर किरन-कन को स्वार्थ का खग्रास
शील, संयम, आचरण चरने गए हैं घास।¹²

मनुष्य पद एवं प्रतिष्ठा के लिए नैतिकता एवं उदारता को भूल गया है। शिवमंगलसिंह 'सुमन' के काव्य का एक सशक्त पक्ष है—सामाजिक विकृतियों को उभारना। कवि ने सामाजिक रूढ़ियों और परंपरागत मान्यताओं को काव्य में अंकित ही नहीं किया है वरन् सामाजिक तथा आर्थिक दुःख-दैन्य से संबंधित पक्षों को भी सजीव रूप में चित्रित किया है। समाज में उत्पन्न वर्ग-विषमताएँ, आर्थिक दुःख-दैन्य आदि से आज का मनुष्य आक्रांत है।

कलकत्ते के अकाल में मनुष्य की हालत पशु से भी बदतर हो गई है। सुमनजी ने इसको वास्तविक रूप में दर्शाया है—

बीन सड़ा मैला नाली का, मुँह में लेता डाल
भूख-भूख से मिटा दिया है, भले-बुरे का ख्याल
ये जीवित शव भी मानव है, मूक त्रस्त पामाल
चील्ह नोचती आँखें गीदड़ खाते जीवित खाल।¹³

मनुष्य की भूख ने उसे इतना परेशान कर दिया है कि वह मैली नाली का कचड़ा भी मुँह में डाल देता है। इसके विपरीत समाज का शोषकवर्ग महलों में आमोद-प्रमोद से जीवन बिता रहा है। कवि सुमन समाज की इस दयनीय हालत से छुटकारा दिलाने के लिए संघर्ष करना चाहते हैं। वे भारतवासियों को ललकारते हैं कि तुम्हें मरनेवालों के प्राणों की रक्षा करनी होगी और अन्याय का प्रतिकार करना होगा। सांप्रदायिकता की आग में हिंदू और मुसलमान धू-धू करके जल रहे हैं—

घर-आँगन सब आग लग रही सुलग रहे वन-उपवन
दर-दीवारें चटख रही हैं जलते छप्पर-छाजन
तन जलता है, मन जलता है जलता जन-धन जीवन
एक नहीं जलते सदियों से जकड़े गर्हित बंधन
दूर बैठकर ताप रहा है, आग लगानेवाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझानेवाला।¹⁴

समाज के सही आदर्शों और मूल्यों के लोप हो जाने पर कवि सुमन नए गीत लिखने के प्रति रुचि नहीं दिखाते—

चुंबन अभिशाप बने अनब्याहे होंठों पर
वेश्या-सी राजनीति बैठ गई कोठों पर
सूखे पर भेंट हुए हरियाली के सपने
जन-मन खुशहाली की धड़कन से रूठ गई
नए गीत लिखने की आदत-सी छूट गई।¹⁵

सुमनजी ने यहाँ व्यंग्य के माध्यम से समाज एवं राजनीतिक का यथार्थ चित्रण किया है।

सुमनजी की कविता में नारी के समाज में अनेक रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाते हैं। कवि की प्रणय-संबंधी कविताओं में जो नारी प्रेयसी के रूप में दिखाई देती है, वही नारी शोषित के रूप में भी दिखाई पड़ती है। 'हिल्लोल' के कवि सुमन नारी के स्नेह और सौंदर्य पर मुग्ध दिखाई देते हैं। वहीं 'जीवन के गान' और 'प्रलय-सृजन' में मार्क्सिय दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। कवि ने शोषित पुरुषों के अतिरिक्त उनकी भार्याओं की दैन्य-जर्जर अवस्था का भी उल्लेख किया है। कवि के नारीपरक दृष्टिकोण को 'गुनिया का यौवन' के माध्यम से स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। वह पहले गुनिया के स्वस्थ यौवन और उसकी चंचल नटखटता का वर्णन करते हैं। सुमनजी सोचते हैं कि आर्थिक विषमता में फँसने के कारण गुनिया का जीवन उसके लिए निस्सार प्रतीत होता है। कवि के ऊपर नारी के जीवन और उसकी आर्थिक विषमता का जो प्रभाव पड़ता है उसे देखकर वह काँप उठते हैं। वह समाज के सर्वहारावर्ग को क्रांति के लिए प्रेरित करते हैं, जिससे इसप्रकार की सड़ी-गली व्यवस्था का अंत हो सके। उनका विश्वास है कि जहाँ नारियों और बच्चों की ऐसी दुर्दशा होगी, वह देश और समाज कभी भी समुन्नत नहीं हो सकता।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने अपनी कविताओं में कहीं-कहीं पर भावी समाज की कल्पना की है। इनकी कल्पना छायावाद की तरह व्योम में विचरण न करके यथार्थ पर खरी उतरती है। सुमनजी नितांत कल्पना अथवा स्वप्न के सहारे काव्य-सृष्टि को स्वीकार नहीं करते, इसके विपरीत यथार्थ की भित्ति पर काव्य का निर्माण करना चाहते हैं। सुमनजी ने वर्तमान पूँजीवादी एवं साम्राज्यवादी समाज का विश्लेषण कर जनता की आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों, गतिविधियों तथा चित्रवृत्तियों के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। कवि सुमन ने भावी समाज अथवा साम्यवादी समाज के स्वरूप और स्वभाव को भी स्पष्ट किया है। 'हिल्लोल' की अंतिम रचनाओं में कवि ने भावी समाज की कल्पना की है। मनोनुकूल वातावरण न पाकर वह दुःखी भाव से कहते हैं—

सच है मैंने प्यार न पाया
निज कल्पित संसार न पाया
किंतु अभागों की दुनिया में नया नहीं हिय मंथन मेरा
कौन सुनेगा क्रंदन मेरा¹⁶

सुमनजी का कहना है कि अपनी कल्पना के अनुसार मुझे समतामय समाज नहीं मिला। मेरे समाज में सर्वत्र अभाव का साम्राज्य छाया हुआ है। जहाँ सभी लोग दुखी हैं, वहाँ मेरे हृदय में कंपन होना स्वाभाविक है। कवि अपने सुख के साथ समग्र मानवता में सुख की कामना करते हैं। अभाव के संसार में सुमनजी अपनी वाणी को स्वर देकर नवीन समाज की कल्पना करना चाहते हैं। 'तुमने कहा/ प्रजातंत्र ऊपर से लादो मत/ फूटने दो नई फसल/ धरती की कोख से'¹⁷ कहकर सुमनजी ने समाज के प्रति अपनी नवोन्मुख भावों को 'वाणी की व्यथा' को अभिव्यक्त किया है। सुमनजी समाज से व्याप्त गलित कोढ़ रूपी बुराइयों को दूर करके नए

विहान की कामना करते हैं। नए विहान को प्रात्यर्थ सुमनजी क्रांति एवं श्रम का अवलंबन लेते हैं।

मानवतावाद प्रगतिशील काव्यकार की भाव चेतना का एक अभिन्न आयाम है। सुमनजी के काव्य में सामाजिक यथार्थ की प्रतिष्ठा, समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति, साम्राज्यवाद एवं युद्ध का विरोध, शोषितों के प्रति प्रेम, नारी की मुक्ति कामना, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय चेतना आदि मानवतावादी चेतना के व्यावहारिक रूप को ही स्पष्ट किया गया है। सुमनजी को विश्वास है कि परिवर्तन में नवीनता होती है। वह नंगे-भिखमंगे में भी परिवर्तन के प्रति ललक देखते हैं। परिवर्तन के पश्चात मानवीय मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। 'आया है नूतन वर्ष सखे' कविता में सुमनजी पुनर्जागरण की कामना करते हैं—

नयनों में नव-उत्साह लिए
नंगों भिखभंगों की टोली
शोषक जग के प्रति बोल रही
कुछ-कुछ परिवर्तित-सी बोली
मानव जीवन ही परिवर्तन
परिवर्तन ही उत्कर्ष सखे
आए है नूतनवर्ष सखे।¹⁸

सुमनजी समाज में व्यक्तिगत स्वार्थों की बलि देकर मानवतावादी विचारधारा का सूत्रपात करना चाहते हैं। कवि का विचार है कि सामाजिक ढाँचा आर्थिक तंत्र पर आधारित होता है। सामाजिक ढाँचा सुदृढ़ रहने पर ही हम अपने मानवतावादी विचारों की स्थापना कर सकते हैं। सामाजिक समस्याओं को उभारकर छोड़ देना ही नहीं, बल्कि उनके लिए उचित मार्गदर्शन देना ही सुमनजी की कविताओं की प्रमुख प्रवृत्ति है।

सुमनजी ने अपनी कविता में महान के स्थान पर सामान्य के अथवा विशिष्ट के स्थान पर साधारण के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। लोगों की यह मान्यता रही है कि समाज का संचालन, नियमन, परिवर्तन और विकास महापुरुषों के द्वारा ही संपन्न होता है, जबकि अन्य सभी सामान्य लोग उनके उपकरण मात्र होते हैं। धर्म के मूल में निहित अवतारवाद तथा जगत में प्रचलित वीरता की आराधना से संबद्ध आस्थाएँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। सुमनजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि समाज की गतिविधियों तथा उसकी विकास-प्रक्रिया का नियमन करनेवाले तत्त्व महान की असाधारण शक्तियाँ नहीं, अपितु सामान्य की श्रमशक्ति है, जो कि उत्पादन में सहायक होती है। इस नवीन विचारधारा ने आधुनिक मानवमूल्यों में परिवर्तन ला दिया है। सुमनजी ने परंपरागत प्राचीन भ्रांत-धारणाओं का विरोध कर सामान्य मानव के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और उसके गौरव और गरिमा की प्रतिष्ठा की है।

सुमनजी ने मानव को सर्वाधिक शक्तिशाली मानते हुए उसकी अतुलित शक्ति का गान किया है। ईश्वर और भाग्य के भरोसे बैठकर हम जीवन में कभी भी आगे नहीं बढ़ सकते। इससे समाज अथवा देश की उन्नति नहीं हो सकती। मानव की अपरिमित शक्ति ही उसे जीवन में आगे बढ़ा सकती है। सुमनजी मानव की शक्ति पर विश्वास करते हुए कहते हैं कि जीवन

में तो उतार-चढ़ाव आते ही हैं। हमें उनकी चिंता नहीं करनी चाहिए। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सूझबूझ के साथ आगे बढ़ते रहना चाहिए। कवि सुमन विश्वबंधुत्व की भावना से अनुप्राणित 'वसुधैव कुटुंबकम्' का आदर्श उपस्थित करते हैं। वह सर्वहारावर्ग को अपना साथी मानते हैं, उनके उत्साह और धैर्य को बनाए रखने के लिए स्वयं धैर्यवान बनना चाहते हैं। कवि का विश्वास है कि जो मनुष्य संकट में साहस के साथ सहर्ष मुसीबतों का सामना करता है, वह भविष्य में जीवन जीने के क्षेत्र में सफल सिद्ध होता है।

इसप्रकार सामाजिक चेतना के संदर्भ में सच्चे कलाकार का काम मनुष्य के सामाजिक संबंधों में कोमलता, एकात्मकता तथा संवेदनाशीलता उत्पन्न कर समाज को नया जीवन प्रदान करना है। सुमनजी समाजगत विकृतियों तथा आर्थिक वैषम्य एवं मानवशक्ति को लक्षित करते हुए केवल गतिशील समाज के निर्माण का स्वप्न देखते हैं। वस्तुतः शिवमंगलसिंह 'सुमन' की कविता में समाज-व्यवस्था के प्रति असंतोष, समाज का यथार्थवादी चित्रण, नारीपरक दृष्टिकोण भावी समाज की कल्पना, मानवतावादी विचारधारा, सामान्य मानव के महत्त्व की स्थापना और मानवशक्ति में विश्वास के सरगम गुंजायमान हैं।

संदर्भ

1. रामधारीसिंह 'दिनकर', मिट्टी की ओर, पृ० 102
2. प्रकाशचंद गुप्त, आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि, पृ० 29
3. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य, पृ० 34
4. रामविलास शर्मा, इतिहास और आलोचना, पृ० 38
5. प्रभाकर श्रोत्रिय, सुमन : मनुष्य और स्रष्टा, पृ० 14
6. हिल्लोल, पृ० 83
7. जीवन के गान, पृ० 16
8. वही, पृ० 26
9. प्रलय-सृजन, पृ० 81
10. विश्वास बढ़ता ही गया, पृ० 43-44
11. मिट्टी की बारात, पृ० 175
12. वाणी की व्यथा, पृ० 28
13. प्रलय-सृजन, पृ० 80
14. विश्वास बढ़ता ही गया, पृ० 52
15. वाणी की व्यथा, पृ० 39
16. हिल्लोल, पृ० 113
17. वाणी की व्यथा, पृ० 18
18. जीवन के गान, पृ० 27

मंगलकलश

394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,

अलीगढ़ 202001(उ०प्र०)

दूरभाष (0571) 2410486

मो० 07599355776

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना-दृष्टि

जयकांत यादव, शोधार्थी

नेट/जे०आर०एफ०

स्नातकोत्तर हिंदी विभाग

तिलका माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय

भागलपुर 812007

आलोचना अपने समय और परिवेश के संदर्भ में किसी रचना की मूल संवेदना तक पहुँचने की अंतर्दृष्टि है। आलोचना कार्य रचना के प्रति पूरी गंभीरता और धैर्यपूर्वक, अनुशासन का पालन करते हुए रचना की जटिलताओं में गहरे उतरकर, रचना में निहित विभिन्न कारक तत्वों की भूमिका तथा अंतःसंबंधों की खोज कर रचना में वि। मान मार्मिक तत्व और सत्य को उद्घाटित करना होता है।

हिंदी दलित-साहित्य में जितने भी आलोचक हुए, उनमें से ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना ने दलित-आलोचना साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया। उनकी आलोचनात्मक ऊर्जस्विता से दलित-साहित्य को एक नई चेतना मिली। चेतना का संबंध उनकी आलोचना-दृष्टि से है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अनुभव की प्रामाणिकता के आधार पर एक नए आलोचनात्मक मानदंड का निर्धारण किया, जो पारंपरिक आलोचना-दृष्टि से सर्वथा भिन्न समाजशास्त्रीय है। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक 'दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', 'दलित-साहित्य : अनुभव, संघर्ष और यथार्थ', मुख्यधारा और 'दलित-साहित्य' आदि दलित-आलोचना का बढ़िया उदाहरण माना जाता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' व्यावहारिक आलोचना है, जो दलित-साहित्य में अंतर्निहित दलित-चेतना का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है। जबकि, 'दलित-साहित्य : अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' संवेदना एवं सरोकारों की अनूठी प्रस्तुति है, जो दलित-आलोचना का नया पाठ रचती नजर आती है। वहीं, 'मुख्यधारा और दलित-साहित्य' में जाति मुक्ति की समस्या को आलोचना के केंद्र में रखा गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अंबेडकरवादी दृष्टि और सुनियोजित रणनीति के साथ लेखन करते रहे। उनकी आलोचना-दृष्टि, रचनात्मक लेखन, भाषण और प्रश्नोत्तरी को समझे बगैर उन्हें संपूर्णता में नहीं समझा जा सकता।

'दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' दलित-साहित्य के विकासार्थ पारंपरिक मानदंडों से इतर एक नवीन प्रतिमान नियत करती है, जो दलित-साहित्य और उसकी सोच, वैचारिकी तथा उसकी दृष्टि को व्याख्यायित करती है। सौंदर्यशास्त्र की विवेचना में सौंदर्य-कल्पना, बिंब और

प्रतीक को प्रमुख माना है। जबकि दलित-साहित्य की भाषा, बिंब, प्रतीक, भावबोध परंपरावादी साहित्यशास्त्र से भिन्न है।

सवाल यह उठता है कि दलित-साहित्य के लिए एक अलग एवं सर्वथा नवीन सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता क्यों पड़ी? इस पर ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी पुस्तक में पारंपरिक आलोचना सिद्धांत से भिन्न नए आलोचना सिद्धांत (दलित सौंदर्यशास्त्र) के संबंध में लिखते हैं कि—‘(एक) अलग सौंदर्यशास्त्र की परिकल्पना से हिंदी साहित्य का विघटन नहीं, विस्तार होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।’

हिंदी समीक्षक रचना के मानदंडों के प्रति ज्यादा संवेदनशील दिखाई पड़ते हैं। रचना का मानदंड क्या हो? कैसे हो? इसके लिए जरूरी है कि उसके उद्गम और भावबोध पर चर्चा हो, समाजशास्त्रीय आलोचना का विकास हो। उस मानदंड में परिवर्तन की आवश्यकता है, जो सामंती सोच के पक्षधर हैं, कुलीन घरानों के नायकत्व से आतंकित हैं। उनकी अभिलाषाएँ, उनकी अकांक्षाएँ ही यदि साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का निर्धारण करती हैं, तो ऐसा साहित्य मानवीय संवेदना को कहाँ तक सँजो पाएगा, इसमें संदेह है।¹¹ अतः वे आलोचना के लिए समाजशास्त्रीय आधार के पक्षधर हैं।

अनुभूति की प्रामाणिकता की साहित्यिक विवेचना दलित आलोचना का मूल है। दलित-साहित्य में आलोचना का अर्थ परंपरित अर्थों से थोड़ा भिन्न है। दलित आलोचना तटस्थ भाव से रचना की गहराई में उतरकर उसके भावों को उद्घाटित करने में कोई शास्त्रीय आधार न ग्रहण कर, सामाजिक आधार ग्रहण करती है। इसके पीछे उनके दो उद्देश्य काम कर रहे होते हैं—पहला, साहित्य का द्विजत्व संस्कार से मुक्ति और दूसरा, जो समीक्षाएँ लिखी गई हैं, उनमें उन तमाम स्थितियों और वैचारिकता से इतर स्वानुभूतिजन्य वैचारिक मूल्यों को उजागर करना।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का ध्येय, प्रतिबद्धता एवं समर्पण उनकी आलोचना में साफ-साफ दिखाई पड़ता है। उनकी आलोचना हजारों वर्षों के पीड़ादायी इतिहास का प्रतिफल है, उसी दर्दनाक इतिहास ने उन्हें लिखने के लिए उकसाया है। लेकिन, सच यह है ‘वर्चस्ववादी व्यवस्था की वेदना ने ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे साहित्यकार को प्रतिशोधी नहीं, प्रतिरोधी बनाया। इनके लेखन में आक्रोश मिल सकता है, क्रोध नहीं। वास्तविक दलित लेखन का यही मूल तत्त्व है।’ ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना इस बात पर खरी उतरती है। वे ‘मुख्यधारा और दलित-साहित्य’ में लिखते हैं—‘हिंदी साहित्य ने एक सीमित दायरे को ही अपनी दुनिया मान लिया है, लेकिन इससे दुनिया का अस्तित्व कम नहीं हो गया है। हजारों पस्त, दीन-हीन दलित धरती की शक्ल बदलकर अपनी अंतरिक ऊर्जा और ताप का सबूत देते हैं। उनके चेहरे भले ही उदास दिखें, पर उनके संकल्प दृढ़ हैं, इरादे बदस्तूर। वे विवश हैं, लेकिन इस हालात में बदलाव चाहते हैं, यह उनकी बारीक धड़कनों को सुनकर ही समझा जा सकता है।’¹²

‘मुख्यधारा और दलित-साहित्य’ में वाल्मीकि ने जाति की समस्या को आलोचना के केंद्र में रखा है। इसमें दलित-साहित्य, दलित-चेतना और साहित्य की सामाजिकता को पुनर्स्थापित तथा उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता का क्या अर्थ है, इसी तथ्य को विवेचित करने का

सफल प्रयास है।

साहित्य में आलोचना का शास्त्रीय आधार 'रस' है। किंतु, भारतीय समाज का रसवादी सौंदर्य दलित समाज और साहित्य पर लागू नहीं होता। दलित आलोचना का मूलाधार मानव-जीवन की विविध समस्याएँ और मानवीय प्रेम, स्नेह, सौहार्द और श्रम ही समाज की रुचि ही उनका नव्य सौंदर्य-बोध है। जबकि, दलित-साहित्य विद्रोह और प्रतिरोध के संघर्ष से निर्मित है। वहीं, पारंपरिक आलोचना पुराने संस्कारों से संस्कारित। इस पर ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है—'वर्ण व्यवस्थाओं से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रखकर ही दलित-साहित्य का विश्लेषण करके, सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक मूल्यांकन की दिशा को आगे बढ़ाते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिंबित करने के साथ ही उसे पहचाने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य की महत्ता का उचित मूल्यांकन भी।...प्रकृति की तरह साहित्य, समाज और चिंतन भी परिवर्तनशील है। ऐसा कोई शाश्वत सिद्धांत नहीं है, जिसके आधार पर सौंदर्य-मूल्य निर्धारित किए जा सकें। इस कार्य में दर्शन और पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है।'³

'दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में वाल्मीकि ने एक आलोचक के रूप में दलित-साहित्य और उसकी वैचारिकी व दृष्टि को व्यापक करने का प्रयास किया है। उनकी आलोचना साहित्यांदोलन में एक बड़ी कमी को पूरी करती हुई, दलित रचनात्मकता की कुछ मूलभूत आस्थाओं की खोज करती है। उन्होंने एक साक्षत्कार में कहा था—'यह सही है कि सौंदर्यशास्त्र पर लगातार काम करने की जरूरत है, जो एक किताब या एक व्यक्ति के द्वारा नहीं बनाया जा सकता है।...दलित-साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की बुनावट पारंपरिक, पाश्चात्य और रामचंद्र शुक्ल की अवधारणाओं से निःसंदेह अलग होगी और किसी भी रचना को सामाजिक संदर्भों से जोड़ती है। साहित्य का सामाजशास्त्रीय मूल्यांकन जरूरी है। दलित-साहित्य, साहित्य और समाज के संबंधों को ज्यादा गंभीरता से लेता है। सौंदर्यशास्त्र का जो स्वरूप बनेगा, वही दलित-साहित्य की ठीक-ठीक व्याख्या भी कर पाएगा।'⁴

सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता साहित्य की समीक्षा के लिए होती है। हिंदी में जो सौंदर्यशास्त्र उपलब्ध है, वह संस्कृत और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र पर आधारित है। ये दोनों ही शास्त्र सामंती सोच के सौंदर्यशास्त्र हैं, जिनके आधार पर दलित-साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता। यदि ऐसा करने की कोशिश की जाएगी तो समीक्षक गलत निष्कर्षों पर पहुँचेंगे। दलित-साहित्य का अपना सौंदर्यशास्त्र होगा, ऐसे में वे तमाम तत्त्व निकृष्ट माने जाएँगे, जो शोषण की प्रक्रिया को तेज करते हैं। दलित-साहित्य सामाजिक द्वेष को भाईचारे में बदलना चाहता है, उसकी लड़ाई बाह्य नहीं, आंतरिक है। जातिवाद के खिलाफ यह एक हथियार की तरह है।

वाल्मीकि की यह पुस्तक उनकी आलोचनात्मक दृष्टि को स्थापित करती है। इतना ही नहीं, यह पुस्तक दलित-साहित्य के समीक्षात्मक व आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयास है, साथ ही अन्य आलोचकों के लिए आलोचना का द्वार भी खोलती है। एतदर्थ, उनकी मान्यता है कि 'हिंदी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र संस्कृत के आधार पर तैयार किया गया

है। जिसके तहत उनकी मान्यताएँ सामंतवादी हैं और उनके जीवनमूल्य ब्रह्मणवादी विचारधारा से संचालित हैं। उस साहित्य में आनंद और रस की जो महत्ता स्थापित होती है, उसे दलित-साहित्य स्वीकार नहीं करता।⁵

ओमप्रकाश वाल्मीकि समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण को 'दलित-साहित्य : अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ' में उजागर करते हुए लिखते हैं—'हिंदी दलित-साहित्य ने अपने प्रारंभिक काल से ही यह अनुभव किया कि हिंदी आलोचक दलित-साहित्य में अंतर्निहित चेतना को समझने के बजाय उसे सामाजिक सरोकारों से दूर करने की कोशिश करते हैं और उसकी कलात्मकता, उसका सौंदर्यबोध, उसकी भाषा आदि को लेकर सवाल उठाते हैं। यह स्थिति आज भी बनी हुई है।

'हिंदी आलोचकों के सामने एक और बड़ी समस्या खड़ी हुई, अभी तक वे जिस महानता और सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक श्रेष्ठता भाव के अभिमान से चूर थे, दलित लेखकों ने उनके पुनर्मूल्यांकन को मुद्दा उठाकर उनके सामने एक विकट समस्या खड़ी कर दी। उनका श्रेष्ठ दलित के लिए श्रेष्ठ नहीं था। यह एक ऐसा सवाल था, जो साहित्य की लोकतांत्रिकता से जुड़ा हुआ है। क्योंकि भारतीय जीवन में जो सामाजिक अंतर्विरोध व्याप्त हैं, जिसपर साहित्य चुप्पी साधे बैठा था। थोड़ी-बहुत सिद्धों, नाथों, संतों ने आवाज उठाई थी, लेकिन वह भी नक्कारखाने में तूती ही साबित हुई थी, जिसे आध्यात्मिकता के आवरण में लपेटकर दबा दिया गया। कबीर जैसे चेतना से भरे कवि को भी रहस्यवाद की ओर मुड़ना पड़ा। लेकिन, दलित-साहित्य ने निराला, प्रेमचंद, तुलसीदास को भी अपने प्रश्नों के दायरे में लिया, तो साहित्य में जैसे एक ऐसे विरोध का स्वर उठा मानो दलित-साहित्य ने कोई अनैतिक जुर्म कर दिया हो। या साहित्यिक कृतियाँ धार्मिक पवित्र ग्रंथ हैं, जिन पर दलितों को बात करने का शास्त्रीय प्रतिबंध है। जिसकी अवमानना करने पर दंड का भागीदार बनना पड़ेगा।'⁶

'साहित्यिक-सामाजिक प्रतिबद्धता और वैचारिक पक्षधरता के रचनाकार' ओमप्रकाश वाल्मीकि की अंतिम आलोचनात्मक कृति 'दलित-साहित्य : अनुभव संघर्ष और यथार्थ' दलित संवेदना एवं सरोकारों की एक अनूठी प्रस्तुती है। यह आलोचनात्मक पुस्तक आठ उपविषयों में विभक्त है, जिसमें आलोचना का नया संस्करण तथा नवीन पाठ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह कृति पाठकों, आलोचकों के लिए मार्ग भी प्रशस्त करती है। 'वास्तव में यह आलोचनात्मक पुस्तक हिंदी पुस्तक के एकांगीपन एवं अधूरेपन की पूर्ति की भी पुस्तक है। इसे हिंदी साहित्यालोचना की समृद्धि और संवर्द्धन के रूप में देखा जाना चाहिए। यह पुस्तक परंपरागत आलोचना के मानक एवं मानदंड को भंग करती है। इसके अध्ययनोपरांत यह महसूस किया जा सकता है कि इसमें संस्मरण, आत्मकथांश, लेख, शोध-आलेख, भाषण और एक पाठक के पत्र के उत्तर के माध्यम से एक नवीन भावभूमि सृजित की गई है, जैसे- 'रचना प्रक्रिया' के अंतर्गत 'मेरे लिए लेखन किसी यातना से कम नहीं है', 'मेरी कहानियाँ' मानवीय सरोकारों की पक्षधर हैं तथा 'मेरी कविताओं का आंतरिक यथार्थ' में अनुभव संघर्ष और यथार्थ के साथ-साथ रचनाकार की रचनाधर्मिता पुष्ट होती है, जिससे सामाजिक, संस्कृति एवं साहित्यिक आलोचना का नवीन प्रकाश भी प्रदीप्त होता है।...ओमप्रकाश वाल्मीकि साहित्यालोचन

की नवीन परंपरा की आधारभूमि का सृजन करते हैं, जो अभी तक परंपरागत साहित्यिक आलोचनात्मक परंपरा में संभाव नहीं था।...उनके यथार्थजनित जीवन की टीस से पनपता रचनात्मक कर्म आलोचनात्मक दृष्टि में परिणत होता है। अपमान, अन्याय, अनादर, घृणा और हिंसा आधारित सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था में जीने वाले सर्जक ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्यिक-आलोचकीय सरोकार समता-आधारित समाज का सपना है।⁷

वर्णव्यवस्था के अमानवीय बंधनों ने शताब्दियों से दलितों के भीतर हीनता की भावना को पुख्ता कर दिया है। धर्म और संस्कृति की आड़ में साहित्य ने भी इस भावना को एक हद तक संपोषित किया। स्वर्णवादी व्यवस्था ने साहित्य में एक ऐसे सौंदर्यशास्त्र का निर्माण किया था, जो अपनी प्रकृति से दलित-विरोधी घोषित होता है। ऐसा नहीं है कि हिंदी में दलितों के लिए लेखन नहीं हो रहा था या उसका सर्वथा आभाव था, हो रहा था। लेकिन उसका नजरिया पारंपरिक था।

देखा जाए तो हिंदी साहित्य में समाजशास्त्रीय आलोचना का नितांत आभाव है। एतदर्थ, वर्षों के इस व्यूह का भेदन करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस आभाव को पूरा किया। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों के माध्यम से आलोचना में समाजशास्त्रीय तथा भौतिकवादी दृष्टि का प्रसार किया। साथ ही साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों पर प्रहार किया। साहित्य और समाज के बीच दलितों को लेकर जो आम रवैया रहा है, उसी की पुनःप्रतिष्ठा उनकी आलोचना है।

संदर्भ

1. दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, भूमिका से
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्ति, विचारक और सृजक, सं० जयप्रकाश कर्दम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ० 158
3. दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ० 58
4. कथादेश, सं० हरिनारायण, मार्च-2005, पृ० 67
5. वाङ्मय, सं० एम० फिरोज अहमद, जुलाई-दिसंबर, 2006, अलीगढ़, पृ० 107
6. दलित-साहित्य : अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ० 36-37
7. ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्ति, विचारक और सृजक, सं० जयप्रकाश कर्दम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ० 160

नेट/जे०आर०एफ०

स्नातकोत्तर हिंदी विभाग

तिलका माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर 812007

मो० 9162785146

jaykantyadav1989@gmail.com

महाभारत में वर्णित मानवीय पारिस्थितिकी एवं उसका अपने पर्यावरण पर प्रभाव

गौतम, शोधार्थी
संस्कृत विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मानव पारिस्थितिकी का क्षेत्र पर्यावरण की मूल्य शिक्षा के अंतर्गत आता है। अपने पर्यावरण को व्यक्ति किस प्रकार अपने क्रिया-कलापों से प्रभावित करता है तथा ऐसे कारक, जिनसे पर्यावरणीय पारिस्थितिकी को हानि होती है, इन बातों का संज्ञान पर्यावरण की मूल्य शिक्षा में लिया जाता है। अतः मानवीय पारिस्थितिकी पर्यावरण में होनेवाले प्रभावों में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती है।

आज के भौतिकवादी युग में मानव अपने लिए नए-नए आविष्कार अवश्य कर रहा हो, परंतु उसके अंदर अपनी प्रकृति के प्रति जागरूकता का बहुत तेजी से ह्रास होता दिखाई देता है। इसी का परिणाम है कि आज हमारे पास तेज गति से चलनेवाले वाहन हैं, बड़ी-बड़ी सड़कें-इमारतें हैं, मनोरंजन के कई साधन हैं, परंतु जीवन के लिए आवश्यक शुद्ध अन्न नहीं है, न ही पीने के लिए शुद्ध जल है, यहाँ तक कि साँस लेने के लिए भी शुद्ध हवा नहीं है। अगर मनुष्य के पास ये आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं तो उसके पास असलियत में सब-कुछ होकर भी कुछ नहीं है।

अन्न, जल, हवा, मृदा जैसे प्राकृतिक संसाधनों की प्रतिकूलता का कारण मानवीय हस्तक्षेप ही है और मानव में पर्यावरण के प्रति मूल्य का अभाव ही उसे ये भुलाकर कि पर्यावरण से प्रभावित हुए बिना वह रह नहीं सकता, पर्यावरण के शोषण की ओर प्रवृत्त करा देता है।

प्राचीन भारतीय चिंतनधारा में पर्यावरण की मूल्य शिक्षा के पर्याप्त उदाहरण देखने को मिलते हैं। महाभारत में हमारे अतीत की चर्चा में ये देखने को मिलता है कि उस समय के मानव में भले ही हाथी जैसा बल था, परंतु उसने कभी भी प्रकृति के सामर्थ्य को चुनौती नहीं दी, अपितु प्रकृति को पूरा आदर-सम्मान दिया। उस समय भले ही आज की तरह पर्यावरण या पारिस्थितिकी जैसे विषयों पर बड़ी-बड़ी खोज न हुई हो, परंतु सामान्य से सामान्य नागरिक में भी पर्यावरण के प्रति जागरूकता दृष्टिगोचर होती थी। मानव का अपने पर्यावरण पर क्या प्रभाव हो सकता है तथा उसे अपनी पारिस्थितिकी में किन व्यवस्थाओं का निर्माण करना चाहिए, जिससे प्रकृति मानव के अनुकूल ही बनी रहे, ऐसे कई उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं।

आइए, इसी प्रकार के तथ्यों को हम देखने का प्रयास करते हैं—

मानव का प्रकृति पर प्रभाव

सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।

सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति।¹

अर्थात् 'जहाँ युधिष्ठिर रहते होंगे वहाँ मेघ सदा ठीक-ठीक वर्षा करते होंगे इसमें संशय नहीं है। वहाँ की भूमि पर खेती लहलहाती होगी और वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी।'

इसी प्रकार आगे कहा गया है कि 'वहाँ गुण युक्त धान्य, सरस फल, सुगंधयुक्त माला और मांगलिक शब्दों से युक्त वाणी सुलभ होगी।'² 'वहाँ जिसका स्पर्श सुखदायक हो ऐसी शीतल एवं मंद वायु चलती होगी।'³ 'जिस देश में राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ गुणकारी पेय और सरस भोज्य पदार्थ सुलभ होंगे।'⁴ उस जनपद में गौओं की अधिकता होगी और वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी। उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट तथा हितकारी होंगे।'⁵

इस प्रकार यहाँ स्पष्ट उल्लिखित है कि मानव ही अपने पर्यावरण या अपनी प्रकृति के प्रति उत्तरदायी है। उसके किए हुए कर्म का प्रभाव प्रकृति पर निश्चित रूप से पड़ता है।

इसी प्रसंग में आगे बतलाया गया है कि मानव के व्यवहार से उसके आस-पास के लोग भी प्रभावित होते हैं। यदि शासक उत्तम गुणों से युक्त हो तो वहाँ की प्रजा भी अच्छे कर्मों में लगती है। इसी को वर्णन इस प्रकार है—

मानव के आचरण का समाज में प्रभाव

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।

हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः।⁶

अर्थात् 'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे वहाँ के मनुष्य सदा प्रिय वचन बोलनेवाले, जितेंद्रिय, कल्याणभागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे।'

इसी प्रकार आगे कहा गया है कि 'वहाँ न तो कोई दूसरे के दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु। न किसी में अभिमान होगा और न मात्सर्य (द्वेष)। वहाँ के सब लोग स्वयं ही धर्म में तत्पर होंगे।'⁷ 'वे जहाँ भी होंगे, वहाँ के समस्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अपने-अपने धर्मों का पालन करते होंगे और धर्म भी अपने गुण तथा प्रभाव से संपन्न होंगे।'⁸ 'जहाँ युधिष्ठिर रहते होंगे वहाँ के लोग असत्यभाषण का त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण एवं मंगल से युक्त शुभ वस्तुओं की प्राप्ति के इच्छुक तथा शुभ में ही मन लगानेवाले होंगे।'⁹

इस प्रकार यहाँ पर यह सिद्ध किया गया है कि श्रेष्ठ मनुष्य का आचरण उसके आस-पास के लोगों के आचरण एवं व्यवहार को भी प्रभावित करता है। श्रेष्ठ पुरुष में सत्य, धर्म, दया, सदाचार, शांति, सरलता आदि गुण होते हैं, जो युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा व्यक्ति में थे। अतः निश्चय ही इन गुणों का लाभ उनके साथ रहनेवाले लोग अवश्य उठाते हैं, उन लोगों से सीखते हैं। गीता में भी इसलिए यह सिद्धांत दिया गया है कि 'श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करेगा, अन्य

लोग भी उसी की तरह व्यवहार करने लग जाएँगे।¹⁰

अतः यहाँ पर इस सिद्धांत की पुष्टि होती है कि मानव अपने समाज के आचार-व्यवहार के लिए स्वयं उत्तरदायी है। महाभारतकालीन मानव-समाज में धार्मिक कर्मों का बहुत ही महत्त्व रहा है। यज्ञ, दान, व्रत, ब्रह्मचर्य तथा तप आदि तब की धार्मिक पारिस्थितिकी में महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे। इन तत्त्वों का उद्देश्य मानव को पाप से बचाना था तथा इनके कारण समाज के सभी लोग धार्मिकता से बँध जाते थे। उनका पुण्य कर्मों में विश्वास रहता था। यही कारण रहा कि यज्ञ से उनके मन-मस्तिष्क में पर्यावरण की सुरक्षा का ख्याल रहता था। दान से वे परोपकार की भावना से जुड़ जाते थे। तप उन्हें प्रकृति के निकट ले आता था। इन धार्मिक कृत्यों का लाभ यह होता था कि उस समय के मानव में लोभ की प्रवृत्ति तथा स्वार्थ की भावना नहीं दिखाई देती थी, जिससे कि उस समय का मानव प्रकृति को हानि नहीं पहुँचाता था तथा उसके प्रति आदर-भाव ही रखता था। मानव का आचरण धार्मिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है, इसी की चर्चा करते हुए प्रसंग है।

मानव के आचरण का धार्मिक प्रभाव

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च।

ऋतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः।¹¹

अर्थात् 'जहाँ युधिष्ठिर होंगे, उस देश में प्रचुर रूप से वेदध्वनि होती होगी, यज्ञों में पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले बहुत से यज्ञ हो रहे होंगे।'

ऐसे ही आगे कहा गया है कि—'देवता और अतिथियों की पूजा में सबका सर्वतोभावेन अनुराग होगा। सभी लोग दान को प्रिय मानेंगे, सबमें भारी उत्साह भरा होगा और सभी अपने-अपने धर्म के पालन में तत्पर होंगे।'¹²

'वहाँ के लोग अशुभ को छोड़कर शुभ के अभिलाषी होंगे। यज्ञों का अनुष्ठान उनके लिए अभीष्ट कार्य होगा और वे श्रेष्ठ व्रतों को धारण करनेवाले होंगे।'¹³

अतः यहाँ पर इस बात की पुष्टि होती है कि समाज में धार्मिक अनुष्ठान विशेषकर यज्ञ, दान आदि जैसे समाज में कल्याणकारी कर्तव्य भी श्रेष्ठ मानवों के द्वारा स्थापित होते हैं, जिससे अन्य लोग प्रेरित होते हैं तथा जो समाज में सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अब उन कुछ विशिष्ट तथ्यों का अध्ययन करेंगे, जो कि महाभारतकालीन मानवीय पारिस्थितिकी विशेषकर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहे तथा उनका प्रकृति अथवा पर्यावरण पर भी प्रभाव रहा था।

सामाजिक पारिस्थितिकी के मुख्य निर्धारक तत्त्व—यज्ञ और तप

1. **यज्ञ**—महाभारत में यज्ञ एक प्रमुख धार्मिक अनुष्ठान के रूप में प्रस्तुत हुआ है। वहाँ यज्ञ के महत्त्व को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि तब यज्ञ हर नागरिक के जीवन के लिए आवश्यक था, तब स्वर्ग-प्राप्ति का सिद्धांत समाज में प्रचलित था और यज्ञ को स्वर्ग-प्राप्ति में सहायक आठ गुणों में से एक माना गया था।¹⁴

महाभारत में यज्ञ को किसी भी हिंसा से दूर रखने के कई उदाहरण मिलते हैं। महाभारत

में यज्ञ-क्रिया को हिंसारहित रखने के लिए कई बार वर्णन देखने को मिलता है। इसी प्रकार का एक उदाहरण इस प्रकार है—

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते।¹⁵

अर्थात् 'यदि कहें कि मनुष्य यूपनिर्माण के उद्देश्य से जो वृक्ष काटते और यज्ञ के उद्देश्य से पशुबलि देकर जो मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है, अपितु धर्म ही है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करते।'

इसी प्रकार यज्ञ का कर्ता पुरोहित कैसा हो, उसकी योग्यता का निर्धारण करते हुए साफ-साफ यह बतलाया गया है कि 'वह पुरोहित अथवा ऋत्विज् बुद्धिमान्, सत्यवादी, इंद्रियसंयमी तथा किसी भी प्राणी की हिंसा न करनेवाला हो'¹⁶ ऋत्विज् में किसी भी प्रकार की क्रूरता का निषेध किया गया है।¹⁷

इस प्रकार यज्ञ के द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग को हिंसा से दूर किस प्रकार रखा गया, इसका महाभारत में वर्णन मिलता है। आज के युग में भी अनेक पर्यावरणविद् यह मानते हैं कि मांसाहार पर्यावरण के अनुकूल नहीं, जबकि शाकाहार ही पर्यावरण के अनुकूल है। हिंसा किसी भी सभ्य समाज का अंग नहीं हो सकती। आज मानव पर अत्याचार ही हिंसा समझा जाता है तथा बड़े स्तर पर केवल व्यंजनों का आनंद लेने के लिए जीवों को मारा जाता है, जिसमें गाय, घोड़े जैसे जीव भी हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महाभारतकालीन मानवीय समाजिक पारिस्थितिकी में 'यज्ञ' एक ऐसा कर्म था, जो कि समाज को हिंसा से दूर रखने तथा पर्यावरण-अनुकूलन में अपनी भूमिका निभा रहा था।

2. तप—सामाजिक पारिस्थितिकी में यज्ञ के बाद जो दूसरा प्रमुख तत्त्व देखने को मिलता है, वह है 'तप' या 'तपस्या'। महाभारत में पांडव हिंदू संस्कृति के मूर्त रूप हैं तथा वे धर्म के प्रतीक हैं, जो मानव को श्रेष्ठ कर्मों पर चलने की प्रेरणा देते हैं। पांडवों ने जीवन में तप के बल पर ही अन्याय से लड़कर विजय प्राप्त की थी। तप क्या होता है, इसकी महाभारत में स्पष्ट परिभाषा की गई है—

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुधीरा न शरीरस्य शोषणम्।¹⁸

'किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इंद्रियों को संयम में रखना तथा सबके प्रति दयाभाव बनाए रखना, इन्हीं को धीर पुरुषों ने तप कहा है। केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि तप को लेकर जो भ्रांतियाँ हैं, उसका निराकरण इस सिद्धांत से हो जाता है कि तप का सही अर्थ क्या है तथा लोककल्याण में उसका कितना महत्त्व है। इसी प्रकार आगे तप के विषय में कहा गया है कि 'जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाता ने तप से ही उत्पन्न किया है।'¹⁹ 'औषध, आरोग्य आदि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तपस्या से ही सिद्ध होती हैं, क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या ही है।'²⁰

अतः यहाँ हम कह सकते हैं कि तप का उद्देश्य न तो किसी दूसरे को, न ही अपने को कष्ट देना है, जबकि तप का उद्देश्य सिद्धि या उन्नति को प्राप्त करना ही है। तप के द्वारा ही अन्नादि की भी उत्पत्ति हुई है। उस समय के पर्यावरण में तप की यही महत्ता देखने को मिलती है। तप के ही बल पर ऋषियों ने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कीं, अर्जुन जैसे शस्त्रधारियों ने विविध दिव्यास्त्रों की प्राप्ति की। मुख्य बात यह देखने को मिलती है कि 'तप' के कारण प्रकृति के साथ उस समाज का तादात्म्य बहुत अधिक रहा और प्रकृति की सुरक्षा की तप द्वारा सिद्धि दिखाई देती है।

आज लोग प्रकृति को जो हानि पहुँचा रहे हैं, उसमें हम देखते हैं कि यदि आज यज्ञ और तप का महत्त्व या उसका ज्ञान मनुष्यों को कराया जाता तो निश्चित रूप से मानव तथा प्रकृति के बीच ऐसी खाई न बन पाती। अतः तत्कालीन सामाजिक मानवीय पारिस्थितिकी के इन दो तत्त्वों ने पर्यावरण के संरक्षण में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाई।

आर्थिक पारिस्थितिकी में 'दान' का महत्त्व

महाभारतकाल में दान का महत्त्व देखने को मिलता है। यह एक ऐसी उत्तम व्यवस्था या कर्म रहा है, जिसने समाज के सभी लोगों की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है। सामर्थ्यशाली अपने सामर्थ्य को लोगों की भलाई में लगावें, इस सिद्धांत का पालन करने को उस समय का प्रबुद्ध वर्ग उपदेश करता हुआ दिखलाई पड़ता है। महाभारत में मुख्य रूप से अन्न के दान को महत्ता मिली है। साथ ही भूमि, जल, खेती, सुवर्ण, गौ आदि के दान को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। अन्नदान के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि—'इस संसार में अन्नदान के समान विचित्र एवं पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं है।'²¹

ऐसे ही आगे एक वर्णन है कि—'जो लोग अगाध जल से भरे हुए तालाब और पोखर खुदवाते हैं, बावली, कुएँ तथा धर्मशालाएँ तैयार कराते हैं, अन्न का दान करते हैं और मधुर बोलते हैं, उन्हें यमराज की भी बातें नहीं सुननी पड़ती हैं।'²²

इसी प्रकार आगे इसी प्रसंग में कहा है कि 'अन्न, सुवर्ण, वस्त्र, भूमि, खेती, घर, जल, दीप, गौ आदि का दान करने वाले लोगों को परलोक में भी उत्तम फल की प्राप्ति होती है।'²³

इस प्रकार दान की इस व्यवस्था ने तत्कालीन अर्थव्यवस्था को तो दृढ़ता प्रदान की ही, साथ ही इसका पर्यावरण पर भी प्रभाव हुआ। अन्न के महत्त्व ने कृषि को बढ़ावा दिया। सरोवरों के निर्माण से उत्पादन अच्छा हो सका। गौ-दान ने पशुपालन को विस्तार दिया। फलस्वरूप हमारी अर्थ-व्यवस्था इको-फ्रेंडली साबित हुई, जिससे कि प्रकृति पर किसी प्रकार का कोई भी बुरा प्रभाव नहीं दिखा। हमारे देश की प्रकृति के आधार पर कृषि और पशुपालन आज भी अच्छे उपायों के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था में उपयोगी साबित होंगे।

राजनीतिक पारिस्थितिकी में 'दंड' का महत्त्व

प्राचीनकाल से लेकर आज तक समाज को सुरक्षित रखने में दंड का ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। दंड ही समाज के लोगों को अपने-अपने धर्म का पालन कराता है, जिससे समाज के लोग प्रगतिशील हो सके हैं। 'दंड' की महत्ता तथा उसकी स्थापना में भारतीय शास्त्रों में

निर्दिष्ट सिद्धांतों की आज भी बहुत प्रासंगिकता है। शास्त्रों में ऐसी दंड-व्यवस्था का वर्णन मिलता है, जो लोगों की सुरक्षा, इनके कर्तव्यपालन में सहायक तो हुई थी, साथ ही वह लोगों में किसी प्रकार की व्यर्थ की उद्विग्नता से भी बची।

महाभारत में वर्णन है कि दंड के बिना समाज में मत्स्यन्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।²⁴ ऐसे ही आगे कहा है कि आश्रम-व्यवस्था भी दंड के बल पर ही सही से चल सकती है।²⁵ समाज की सारी मर्यादाएँ भी दंड से ही सुरक्षित रह सकती हैं।²⁶ आगे यह भी कहा गया है कि मनुष्य का इहलोक और परलोक भी दंड पर ही प्रतिष्ठित है।²⁷

इस प्रकार यहाँ दंड का महत्त्व देखने को मिलता है। निश्चित रूप से एक अच्छी दंड-व्यवस्था समाज में राजनीतिक स्थिरता लाती है। सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। महाभारत में उल्लिखित 'दंड' की विशेषता यह रही कि वहाँ न केवल लोगों को इससे सुरक्षा मिली, अपितु मर्यादा व धर्म का पालन भी लोगों ने किया। वहीं आज की दंड-व्यवस्था केवल सुरक्षा तक की सीमित दिखाई देती है। इसका इससे कोई मतलब नहीं कि लोग सत्य, ईमानदारी जैसे गुणों का कितना पालन करते हैं।

इसी दंड-व्यवस्था का बल था कि उस समय लोगों में प्रकृति से छेड़-छाड़ की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती थी। शुद्ध अन्न, शुद्ध जल, शुद्ध मृदा, शुद्ध वायु की किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं थी। जब 'दंड' व्यवस्था लोगों को श्रेष्ठ गुण-कर्म में प्रेरित करे तो उसका प्रभाव पर्यावरण पर निश्चित ही पड़ता है, परंतु यदि दंड कठोर न हो तो लोग श्रेष्ठ कर्मों से विरत हो जाते हैं। उसी का यह प्रभाव होता है कि व्यक्ति में प्रकृति के सही-सही दोहन की जगह प्रकृति के शोषण की प्रवृत्ति बन जाती है।

इस प्रकार हमने यहाँ कुछ मुख्य तथ्यों का अध्ययन किया, जो कि महाभारतकाल में मानवों ने अपनी उन्नति के साथ प्रकृति का भी ध्यान रखते हुए समाज में स्थापित किए थे। यज्ञ, तप, दान, दंड ये कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ थीं, जो समाज को उन्नति देती थीं तथा लोगों में मर्यादा, अनुशासन जैसे गुणों को विकसित करने में बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुईं। इसी के कारण प्रकृति के प्रति मानव जागरूक रहा। ऐसे कर्मों की मन में भावना रखने से यह व्यवस्था आज भी उपयोगी सिद्ध होगी। इनके आधार पर आज का मानव-समाज यदि चले तो निश्चित ही वह समाज और प्रकृति दोनों के लिए लाभकारी सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर, विराट पर्व 28/19
2. वही, विराट पर्व 28/20
3. वही, विराट पर्व 28/21
4. वही, विराट पर्व 28/23
5. वही, विराट पर्व 28/22
6. वही, विराट पर्व 28/19
7. वही, विराट पर्व 28/17
8. वही, विराट पर्व 28/25

9. वही, विराट पर्व 28/29
10. श्रीमद्भगवद्गीता 3/21
11. महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर, विराट पर्व 28/18
12. वही, विराट पर्व 28/27
13. वही, विराट पर्व 28/28
14. महाभारत, स्वामी जगदीश्वरानंद, उद्योग पर्व 10/13
15. महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर, शान्ति पर्व 265/8
16. वही, शान्ति पर्व 79/5
17. वही, शान्ति पर्व 79/4
18. वही, शान्ति पर्व 79/18
19. वही, शान्ति पर्व 161/3
20. वही, शान्ति पर्व 161/4
21. वही, वनपर्व 200/36
22. वही, वनपर्व 200/40
23. वही, वनपर्व 200/51-55
24. वही, शान्ति पर्व 15/30
25. वही, शान्ति पर्व 15/12
26. वही, शान्ति पर्व 15/38
27. वही, शान्ति पर्व 15/43

गली नं० सी/8 गोपालपुरम्
पीएसी रोड, सुभाष नगर
ज्वालापुर (हरिद्वार) 249407
मो० 7017050891

आदिवासी साहित्य : चिंतन की दिशाएँ एवं मानदंड

डॉ० गौतम भाईदास कुवर

हिंदी विभाग प्रमुख

पू०सा०गु०वि०प्र० मंडल का कला

विज्ञान, वाणिज्य महाविद्यालय

शहादा (नंदुरबार)

भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य चिंतन की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हैं। भारतीय साहित्य तो भारतीय समाज की तरह अनेक जातियों के खेमों में विभाजित है। उन अलग-अलग साहित्य-विमर्शों की चिंतन की दिशाएँ भी भिन्न हैं। भारतीय साहित्य की अवधारणा की बात करें तो यह स्पष्ट हाथ लगता है कि भारतीय अभिजात साहित्य मनोरंजन, धन, प्रसिद्धि आदि के लिए लिखा गया है। स्वाभाविक है कि उसके मानदंड भी अलग हैं। अनेक भारतीय विद्वानों ने साहित्य की परिभाषाएँ की हैं। उन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि साहित्य का उद्देश्य जीवन की आलोचना करना है, मानवमूल्यों को रेखांकित करना है, परंतु भारतीय अभिजात साहित्य अपने उद्देश्य तक नहीं पहुँच पाया। वह केवल विशिष्ट जाति एवं प्रवृत्ति ही तक ही सीमित रहा। यही कारण है कि संविधान लागू होने के बाद अभिजात साहित्य के मानदंडों को तोड़कर, उसकी चिंतन की दिशाएँ स्पष्ट करने से पहले भारतीय साहित्य के मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की दिशाएँ तथा दलित साहित्य चिंतन की दिशाएँ दोनों को समझना आवश्यक है। यही कारण है कि कुछ आदिवासी साहित्यकार अभिजात साहित्यिक मानदंडों पर आधारित साहित्य-लेखन करते हैं, तो कुछ दलित और मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखते हैं, जो हमें उचित नहीं लगता।

मार्क्सवादी साहित्यकार मार्क्स के सिद्धांतों पर आधारित साहित्य का लेखन करते हैं। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय का कथन है, 'मार्क्सवादी साहित्य और समाज के बीच द्वंद्वत्मक संबंध मानता है, वह समाज से साहित्य की सापेक्ष स्वायत्तता स्वीकार करता है, समाज के परिवर्तन और विकास में साहित्य की क्रांतिकारी पक्षधर भूमिका पर बल देता है और साहित्य के कलात्मक सौंदर्य तथा सौंदर्यबोधीय महत्त्व की सार्थकता को भी मानता है। मुख्य बात यह है कि मार्क्सवाद साहित्य के वर्गीय रूप, प्रयोजन और विचारधारात्मक रूप को पहचानते हुए साहित्य के इतिहास को समाज के वर्गसंघर्ष के इतिहास से जोड़कर देखता है।' इससे यह स्पष्ट होता है कि मार्क्सवादी साहित्य के चिंतक साहित्य का लेखन तथा मूल्यांकन मार्क्स के 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। अतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से जो आदिवासी

साहित्यकार आदिवासी साहित्य का लेखन करते हैं, क्या वह समाजहित के लिए उचित है! वर्तमान में अनेक आदिवासी समूह, जातियाँ मार्क्सवादी आंदोलन तथा साहित्य के साथ जुड़े हैं, उन्हें इस बारे में सोचना चाहिए। अतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य नहीं हो सकता।

दलित साहित्य की अवधारणा के मूल में बुद्ध, फुले तथा डॉ॰ बाबासाहब आंबेडकर का जीवन, संघर्ष याने आंबेडकरवाद है। दलित साहित्यकार एवं चिंतक उन्हीं को अपनी तथा दलित साहित्य की प्रेरणा मानते हैं। दलित शब्द का अर्थ व्यापक है। भारतीय समाज में जिन्हें जानबूझकर कुचला गया है, रौंदा गया, उनकी संपत्ति छीनी गई है, उन्हें अपने अधिकारों से वंचित किया गया है, ऐसे लोग दलित हैं। इनमें दलित स्त्रियों एवं आदिवासियों का भी समावेश होता है। दलित साहित्य का एकमात्र स्वर है कि सामाजिक परिवर्तन आंबेडकरवादी विचारों से ही हो सकता है। बाबूराव बागुल लिखते हैं, 'मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करनेवाला, मनुष्य को महान माननेवाला, वंश, वर्ण और जाति श्रेष्ठत्व का प्रबल विरोध करनेवाला साहित्य की दलित साहित्य है।'² अतः आंबेडकरवादी विचारधारा की दृष्टि से दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है। यही कारण है कि गैरदलितों द्वारा लिखित साहित्य में दलितों के प्रति सहानुभूति के स्वर हैं, परंतु दलितों द्वारा लिखित साहित्य में स्वानुभूति है। यही तात्त्विक अंतर दोनों में है। क्या आदिवासी साहित्य आंबेडकरी विचारधारा को दृष्टि में रखकर लिखा जा सकता है। इस पर आदिवासी साहित्यकारों को व्यापक विचार करना चाहिए।

उपर्युक्त अभिजात साहित्य की चिंतन की दिशाएँ तथा दलित, मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की दिशाएँ अलग हैं। उनमें परस्पर तात्त्विक अंतर है, भेद है। अभिजात साहित्य, मार्क्सवादी साहित्य एवं दलित साहित्य चिंतन की दिशाओं को समझने के बाद हम आदिवासी साहित्य-चिंतन की दिशाओं पर विचार करेंगे। आदिवासी साहित्य किसे कहा जाए? इस बारे में अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। आदिवासी दर्शन को आधारभूत मानकर आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य को आदिवासी साहित्य कहा जाता है। लेकिन अधिकतर आदिवासी चिंतक केवल लिखित साहित्य को ही साहित्य नहीं मानते बल्कि पुरखों द्वारा निर्मित लोकसाहित्य को भी साहित्य मानते हैं। गैर-आदिवासी साहित्यकार केवल आदिवासी जीवन को चित्रित करते हैं, समस्याओं का वर्णन करते हैं, परंतु समाधान नहीं बताते। अतः वह साहित्य केवल सहानुभूति की दृष्टि से और आदिवासियों के नाम पर प्राप्त होनेवाली प्रसिद्धि के लिए लिखा गया है, यह आरोप अनेक आदिवासी विद्वानों का है। दलित और आदिवासी दोनों समाजों की स्थितियाँ, आशा-आकांक्षा, संस्कृति तथा जातीय संरचना, संस्कृति, इतिहास अलग-अलग है, इसलिए दलित साहित्य की प्रेरणा आदिवासी की प्रेरणा नहीं हो सकती, इस तरह का निष्कर्ष निकालने वाले पंडित भी अनेक हैं। वास्तव में देखा जाए तो दोनों समूह मूलनिवासी हैं। एक जैसी समस्याओं से संघर्ष कर रहे हैं।

आदिवासी दर्शन प्रकृति पर आधारित है। आदिवासी समाज की पूरी जातियाँ धरती, प्रकृति और सृष्टि को सर्वोच्च स्थान देती हैं। आदिवासी दर्शन में सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्,

पाप-पुण्य, झूठा-सच, सुंदर-कुरूप, मनुष्यता, अमनुष्यता, स्वर्ग-नरक जैसी कोई अवधारणाएँ नहीं हैं। वह न ही मनुष्य को श्रेष्ठ मानते हैं न कनिष्ठ। उनका विश्वास है सृष्टि में जो कुछ भी सजीव, निर्जीव है, वह सब समान है। न कोई बड़ा है, न कोई छोटा। न कोई दलित है, न मराठा, न ब्राह्मण। सब अर्थपूर्ण है एवं सबका अस्तित्व एक समान है। चाहे वह प्रकृति का कोई भी अंग हो, उसमें भेद नहीं करता। 'वह ज्ञान, तर्क, अनुभव और भौतिकता को प्रकृति के अनुशासन की सीमा के भीतर ही स्वीकार करता है, उसके विरुद्ध नहीं।'³ अतः समानता ही वह तत्त्व है। आदिवासी दर्शन सबको समान मानता है। उसमें भेदभाव नहीं करता। मानव हो या पत्थर दोनों समान हैं। मानव की सभी गतिविधियाँ, व्यवहार और विकास-प्रक्रिया प्रकृति व सृष्टि के विरुद्ध नहीं बल्कि पूरक ही है। वह उसका उपयोग सृष्टि हित के लिए करता है। इसी दर्शन को लेकर आदिवासी साहित्य लिखा जाता है। आदिवासी दर्शन को आधार मानकर आदिवासी साहित्य का लेखन करना चाहिए, इस तरह का विचार अनेक चिंतकों ने व्यक्त किया है। यही बात सही है कि आदिवासी दर्शन को केंद्रबिंदु मानकर आदिवासी साहित्य लिखा जाना चाहिए, परंतु हमारे मन में इस संदर्भ में थोड़ी सी आशंकाएँ हैं कि क्या संविधान निर्मित के पहले, संविधान लागू होने से पहले आदिवासी दर्शन नहीं था? फिर उस दर्शन को आधार मानकर आदिवासी साहित्यकारों ने आदिवासी साहित्य क्यों नहीं लिखा। सन् 1990 के बाद मराठी में दलित साहित्य-लेखन के बाद हिंदी तथा अन्य भाषाओं में दलित लेखन की परंपरा चली। क्या इस परंपरा का और आदिवासी साहित्य लेखन का कोई संबंध नहीं। वास्तव में देखा जाए तो संविधान ने ही आदिवासियों को पढ़ने-लिखने का अधिकार दिया, उस अधिकार की वजह से वे साहित्य-लेखन करने लगे। जिन्होंने हजारों साल आदिवासियों को अपने अधिकारों से वंचित रखा, ऐसे विषमतावादी और जिन्होंने उन्हें अधिकार दिए, हाथ में कलम थमाई ऐसे समतावादी आदिवासी दर्शन की दृष्टि से एक ही माने जाएँगे, जो उचित नहीं। अतः आदिवासी साहित्यकारों को इस संदर्भ में सोचना चाहिए। अपना मूल इतिहास ढूँढ़ना, खोजना चाहिए। तब कहीं जाकर वे आदिवासी साहित्य-चिंतन की सही दिशाएँ निश्चित कर पाएँगे। मूलनिवासी जिन्हें अनेक अधिकारों से वंचित किया गया था, उनके लिए प्रकृति के सारे अंग तथा विषमतावादी प्रवृत्तियाँ एक समान नहीं हो सकते। प्रकृति के सारे अंग समान हैं तो आदिवासियों को ही दुर्गम पहाड़ियों में क्यों बसाया गया? क्या समतल धरती, वहाँ की प्रकृति पर आदिवासियों का कोई हक नहीं। आदिवासियों का गत इतिहास वैभवशाली था। वे राजा थे। मूलनिवासी थे, परंतु विषमतावादी प्रवृत्तियों ने आदिवासियों को डराकर, धमकाकर और आक्रमण करके गुलाम बनाया। मानव को बंधक बनाने की प्रथा भी विषमतावादियों ने ही प्रारंभ की। मूलनिवासियों को जंगली, वनवासी, राक्षस आदि अपमानजनक संबोधन उन्होंने दिए। ज्ञान से वंचित रखा। अतः उन्हें भारतीय संविधान ने ही आत्मसम्मान दिया, इस बात को नकारा नहीं जा सकता।

निष्कर्षतः, पाश्चात्य साहित्य-विश्व एक जिज्ञासा है और मनुष्य उसका अन्वेषणकर्ता है, इस चिंतन की परंपरा से लिखा जाता है। उसी तरह से सभी प्राणियों में मनुष्य महान है और परम तत्त्व से साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् और वसुधैव कुटुंबकम् विश्व की मूल भावना है, इस चिंतन की दृष्टि से भारतीय

अभिजात्य साहित्य लिखा जाता है। उसी तरह मनुष्य सर्वश्रेष्ठ चेतनाशील प्राणी है तथा द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के माध्यम से समाजवाद की स्थापना उसका अंतिम उद्देश्य है, इसी मार्क्सवादी चिंतनप्रणाली के अनुसार मार्क्सवादी साहित्य लिखा जाता है। बुद्ध, फुले, शाहू तथा डॉ० बाबासाहब की विचारधारा को मुख्य केंद्रबिंदु मानकर मानव-मुक्ति के लिए दलित साहित्य लिखा जाता है। उसी तरह से सृष्टि सर्वोच्च नियामक सत्ता है। संपूर्ण प्रकृति तथा उसके अंगों पर सबका समान अधिकार है। मानव का उसके साथ सहजीवी संबंध है, इसी आदिवासी दर्शन पर आधारित आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है। वही उसकी चिंतन की दिशा है, परंतु अधिकतर आदिवासी विद्वान, विनायक तुमराम जैसे साहित्यकार बुद्ध, फुले, शाहू, अंबेडकर, बिरसा, खाज्या नाईक और अन्य आदिवासी क्रांतिकारी योद्धा तथा विचारक इस तरह की परंपरा मानते हैं और इसी परिवर्तनवादी विचारधारा को केंद्र में मानकर आदिवासी साहित्य-लेखन कर रहे हैं। अतः मेरी दृष्टि से इसी परंपरा के अनुसार आदिवासी साहित्यकारों ने साहित्य का लेखन किया तो वह सार्थक, उचित, समाजहित के लिए उपयोगी साबित होगा। साहित्य में समतावादी, मानवतावादी मूल्य इसी विचारधारा से पनपते हैं, इसे नकारा नहीं जा सकता।

भारतीय साहित्य में आदिवासी जीवन का चित्रण नहीं के बराबर है। भारतीय साहित्य में आरंभ से लेकर सन 1990 तक आदिवासी जीवन अनिवार्य तत्त्व के रूप में नहीं दिखाई देता। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के मानदंड वर्तमान आदिवासी साहित्य पर लागू नहीं होते। भारतीय साहित्य के मानदंडों का विचार करेंगे तो यह पता चलता है कि साहित्य को कला मानकर कला के लिए साहित्य लिखा गया है। यशप्राप्ति के लिए लगभग पूरा भारतीय साहित्य लिखा गया। मध्यकाल में तो धनप्राप्ति के लिए साहित्य लिखा गया। इसी युग में मनोरंजन के लिए साहित्य लिखा गया। ईश्वर-भक्ति के लिए साहित्य-लेखन बड़े पैमाने पर हुआ। लेकिन ईश्वर-भक्ति के लिए लिखे गए साहित्य में आदिवासियों का अभाव ही है। राजाओं की प्रशंसा के लिए दरबारी साहित्य लिखा गया। किसी सुंदर स्त्री को भगवान मानकर उसे पाने के लिए सूफी साहित्य लिखा गया। अतः भारतीय साहित्य के मानदंड कला-कला के लिए, जीवनकला के लिए, मनोरंजन के लिए, यशप्राप्ति के लिए, धनप्राप्ति के लिए, ईश्वरभक्ति के लिए, सुंदर स्त्री को भगवान मानकर उसे पाने के लिए आदि अनेक हैं। इन मानदंडों पर आधारित आदिवासी साहित्य कतई नहीं लिखा गया। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का कथन है—

‘दलित साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य भी जीवन और जीवन के यथार्थ का साहित्य है, कल्पना पर आधारित नहीं।⁴ इससे यह स्पष्ट है कि आदिवासी साहित्य ने स्वतंत्र मानदंड स्थापित किए हैं। भारतीय साहित्य के मानदंडों में और आदिवासी साहित्य के मानदंडों में काफी तात्त्विक अंतर है। आदिवासी साहित्य के मानदंड निम्नांकित हैं।

1. आदिवासी जीवन-दर्शन

आदिवासी साहित्य में आदिवासियों का जीवनदर्शन चित्रित किया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक तथा ऊर्ध्वक्रियक सारी गतिविधियाँ हमें आदिवासी साहित्य में चित्रित दिखाई देती

हैं। अत्यंत सीमित भौतिक सुविधाओं में भी वे जीवन-यापन कर लेते हैं—

बीहड़ जंगल के मध्य
उस आदिवासी महिला ने चुने
दो चार खेत
दो चार पशु
झोपड़ी के अंदर छोटे बरामदे में
मौसमों के विरुद्ध चुना केवल
अपने आपको।⁵

इससे यह स्पष्ट है कि आदिवासी साहित्य में आदिवासी जीवन-दर्शन होता है। कई आदिवासी साहित्यकार तथा समीक्षक आदिवासी जीवनदर्शन को ही आदिवासी साहित्य की अवधारणा मानते हैं। वही आदिवासी साहित्य का मुख्य मानदंड है। जिस साहित्य में आदिवासी जीवन-दर्शन को चित्रित किया है, वही साहित्य आदिवासी है, इस तरह की बात भी कई विद्वानों ने प्रकट की है।

2. आत्मसम्मान लिए

मूलनिवासी आदिवासियों को भी असभ्य और अपमानसूचक बना दिया गया। भारतीय पौराणिक शास्त्रों में उन्हें असभ्य, जंगली, दैत्य, राक्षस, भालू, बंदर, गरुड़ माना गया है, मनुष्य नहीं। यही कारण है आदिवासियों को विकास से वंचित रखा, अपने अधिकारों से दूर रखा, जान-बूझकर उन्हें जंगली, वनवासी कहा गया। इसके बावजूद 5000 वर्षों से उसने अपनी नस्ल की पहचान कायम रखने के साथ-साथ भाषा, संस्कृति तथा अपनी जीवनशैली को बरकरार रखा। अतः संविधान लागू होने के बाद तो उसने कलम थाम ली और अपने आत्मसम्मान के लिए साहित्य लिखने लगा—

इस देश में कास्ट सर्टिफिकेटों के माध्यम से ही
पहचाने जाते हम लोग
चौथी श्रेणी के नागरिक होने का
दर्द भोगते रहेंगे कबतक?

वे अपना आत्मसम्मान खोज रहे हैं। अपमानित जिंदगी को टुकरा रहे हैं। अपमानसूचक शब्दों को नकार रहे हैं। वे अपने आपको जंगली, वनवासी नहीं मानते, बल्कि देश के मूलनिवासी मानते हैं।

3. पीड़ा, दुःख, दर्द की अभिव्यक्ति के लिए

आदिवासी साहित्यकार अपनी पीड़ा, दुःख, दर्द को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। अभावों भरी जिंदगी होने के कारण पीड़ा, दुःख, दर्द का होना स्वाभाविक है। वे जिस इलाके में निवास करते हैं, उसमें मानवपयोगी प्राथमिक सुविधाएँ भी नहीं रहतीं। न स्कूल, न अस्पताल, न पक्का मकान, पीने के लिए पानी, बिजली, रोटी, कपड़ा आदि जीवनपयोगी चीजों से वंचित होते हैं। वे अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संवैधानिक मार्ग से आंदोलन करते

हैं, अभाव में रहकर संघर्ष करते हैं। रोटी, कपड़ा मकान पाने के लिए श्रम, करते हैं। जमीन तथा दूसरों के खेतों में मजदूरी करते हैं। परंतु मेहनत, मजदूरी के पैसे भी जमींदार, ठेकेदार वक्त पर नहीं देते। वे भूख के कारण अपनी जान गँवा देते हैं। भुखमरी की समस्या इसी कारण निर्माण होती है। अतः आदिवासी साहित्य अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से विश्वपटल पर रखना चाहता है।

4. समस्याओं की अभिव्यक्ति के लिए

आदिवासी समाज विभिन्न समस्याओं से घिरा है। उसे जानबूझकर उन समस्याओं में फँसाया गया है। आदिवासियों में भुखमरी, विस्थापन, जमीन से बेदखली, पलायन, विकास के नाम आदिवासी क्षेत्रों में होने वाली घुसपैठ, घुसपैठ के कारण निर्माण होनेवाले जातीय दंगे, विषमता है। वही घुसपैठी आदिवासियों का नेतृत्व करते हैं, उनका नाम लेकर योजनाएँ हड़प कर लेते हैं। इस संदर्भ में निर्मला पुतुल लिखती भी हैं—

ये वे लोग हैं

जो हमारे ही नाम पर लेकर गटक जाते हैं

हमारे ही हिस्से का समुद्र।⁷

उसी तरह से लड़कियों की तस्करी, उनपर होने वाले बलात्कार, अन्याय, उनकी संस्कृति, बोली, भाषा को समाप्त करने की साजिश आदि समस्याओं को आदिवासी साहित्य चित्रित करता है। सामाजिक दृष्टिकोण से उनमें कई समस्याएँ हैं—जैसे कि अंधश्रद्धा, डायन प्रथा, हर त्योहार के अवसर पर पशु-बलि, शराबखोरी, सांस्कृतिक रूपांतरण आदि विभिन्न समस्याओं को आदिवासी साहित्य चित्रित करता है। इस प्रकार समस्याओं की अभिव्यक्ति के लिए आदिवासी साहित्य लिखा जाता है।

5. प्रकृति धर्म

प्रचलित धर्मों से आदिवासियों का कोई संबंध नहीं। प्रचलित धर्मों के संस्कार, रीति-रिवाज और आदिवासियों के संस्कार, रीति-रिवाजों में काफी अंतर है। आदिवासी साहित्यकार प्रकृति के साथ सहजीवन की आकांक्षा रखते हैं। साहित्यकार आशा-आकांक्षा, सपने, हौसले आदि को नहीं हारा है। प्रकृति ही आदिवासियों की सबसे बड़ी ताकत है। उसी पर उसकी आशा-आकांक्षा, सपने, हौसले निर्भर हैं। खेत में बीज बोकर अनाज पैदा करना, श्रम, कष्ट कर अपने बच्चों को पढ़ाना, पालतू जानवरों को पालकर मानवोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति करना आदि सारी बातें प्रकृति पर आधारित हैं। अतः आदिवासियों का धर्म प्रकृति है।

6. भाग्य, नसीब का इंकार

अधिकतर पढ़े-लिखे आदिवासी लोग भाग्य, नसीब, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि संकल्पनाओं को ठुकराते हैं। 'आदिवासी मुश्किलों, बाधाओं, अवरोधों व आपत्तियों को अपनी नियति नहीं मानता। वह संकल्पित होकर अपनी नियति को बदलने के लिए प्रतिबद्ध हो उठा है।'⁸ अतः वह प्रकृति धर्म तथा भारत के संविधान के अनुसार जीवनयापन करता है। उसे भाग्य, नसीब स्वीकार नहीं।

उपर्युक्त मानदंडों के अलावा स्वनिर्णय, स्वायत्तता, प्राकृतिक संसाधनों पर अपना अधिकार, सर्वसम्मति से अपना प्रतिनिधि चुनना, सहयोग की भावना, मातृ-सत्तात्मक पद्धति, अपनी बोली-भाषा और संस्कृति को बनाए रखना, प्रकृति पर आधारित भक्ति-भावना, जात पंचायत, अन्याय, अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना, मानवीय मूल्यों का जिक्र, राष्ट्र-उन्नति, अपने पुरखों का गुणगान, अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए समर्पण की भावना, सामाजिक जागृति एवं परिवर्तन का आंदोलन, आदि कई सारे आदिवासी साहित्य के मान बिंदुओं को आधार मानकर ही आदिवासी साहित्य लिखा जाना चाहिए।

संदर्भ

1. मैनेजर पांडेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ० 111
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र
3. वंदना टेटे (सं०), आदिवासी दर्शन और दर्शन, पृ० 33
4. गंगासहाय मीणा, आदिवासी साहित्य-विमर्श, पृ० 137
5. वही, पृ० 167
6. महादेव रोप्पो, जंगल पहाड़ के पाठ (कविता-संग्रह), पृ० 11
7. निर्मला पुतुल (कविता-संग्रह)
8. गंगासहाय मीणा, आदिवासी साहित्य-विमर्श, पृ० 148

शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' एवं हृषीकेश सुलभ कृत 'माटीगाड़ी' में साम्य और वैभिन्य

कंचन बंसवाल
पीएच०डी० (शोध छात्रा)

शूद्रक नामक राजा का संस्कृत साहित्य में बहुत उल्लेख मिलता है। 'मृच्छकटिकम्' इन्हीं की प्रसिद्ध रचना है। हृषीकेश सुलभ हिंदी के जाने माने नाटककार और कहानीकार हैं। लोकनाट्य के क्षेत्र में इनका अमूल्य योगदान है। इन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से हिंदी रंगमंच के निजी स्वरूप की तलाश की है तथा अपने लेखन के द्वारा समकालीन जीवन की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया।

'माटीगाड़ी' शूद्रक रचित 'मृच्छकटिकम्' का हिंदी रूपांतरण है। इसमें नाटककार ने बड़ी कुशलता से प्रेम के कथानक को राजनीतिक, सामाजिक घटनाओं के साथ संबद्ध किया है। नाटक में सभी प्रकार के पात्रों के माध्यम से तत्कालीन राष्ट्र के समाज का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

'माटीगाड़ी' में दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त तथा वेश्या वसंतसेना के प्रणय की कथा विभिन्न सामाजिक मोड़ों के साथ वर्णित हुई है। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है। वसंतसेना (वेश्या) तथा धूता दो नायिकाएँ हैं। चारुदत्त अत्यंत उदार स्वभाव का व्यक्ति है, इसलिए वह अपने द्वार पर आए गरीबों को बिना सोचे-समझे धन देता है। अपनी इसी उदारता के कारण वह निर्धन हो जाता है। चारुदत्त के विदूषक का नाम मैत्रेय है। वह चारुदत्त का अच्छा मित्र है। चारुदत्त के सुख-दुःख में हमेशा उसके साथ रहता है। शकार बहुत ही विलासी व्यक्ति है। वह वसंतसेना को धन के बल पर पाना चाहता है। वसंतसेना शकार से बचती हुई चारुदत्त के घर पहुँच जाती है। चारुदत्त अँधेरे में वसंतसेना को रदनिका समझकर बालक रोहसेन को चादर उढ़ाने के लिए कहता है। वह उसे ओढ़ाने के लिए अपना दुपट्टा भी उस पर फेंकता है। वसंतसेना चुपचाप खड़ी रहती है। इतने में विदूषक और रदनिका अंदर आते हैं। घर जाने के पहिले वसंतसेना अपने आभूषण धरोहर के रूप में चारुदत्त को देती है। चारुदत्त और विदूषक वसंतसेना को उसके घर पहुँचा देते हैं।

वसंतसेना की दासी मदनिका उससे उसकी उदासी और अनिद्रा का कारण पूछती है। वसंतसेना चारुदत्त के संबंध में अपना प्रेम व्यक्त करती है। मदनिका चारुदत्त की गरीबी की तरफ उसका ध्यान दिलाती है, परंतु उससे उसका प्रेम कम नहीं होता है। जुआरी संवाहक वसंतसेना के घर में शरण लेता है। संवाहक चारुदत्त का पुराना सेवक है यह जानकर वसंतसेना

जाकर देखता है। चारुदत्त उसके बंधन कटवाकर उसे आजाद कर देता है। शकार का गाड़ीवान चेट गाड़ी लेकर आता है। शकार गाड़ी पर चढ़ता है। वह वसंतसेना को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता है। शकार, विट और चेट से वसंतसेना को मारने के लिए कहता है, लेकिन दोनों ही उसे इंकार कर देते हैं। शकार दोनों को वहाँ से भगा देता है और वसंतसेना से प्रणय-प्रार्थना करता है। वसंतसेना उसकी बात नहीं मानती। इस पर क्रोधित होकर शकार उसका गला दबा देता है। वसंतसेना मूर्च्छित होकर गिर जाती है। चेट और विट वापस आ जाते हैं।

शकार वसंतसेना के सारे आभूषण उतारकर उसके शरीर को सूखे पत्तों से ढककर छोड़ देता है और स्वयं चारुदत्त के विरुद्ध हत्या का मुकदमा चलाने न्यायालय जाता है।

शकार न्यायालय में शोधनक को सूचना देता है कि उद्यान में चारुदत्त ने धन के लोभ से वसंतसेना को मार डाला है। इस पर अधिकरणिक चारुदत्त को बुलवाते हैं। इतने में क्रोध में भरा वीरक वहाँ आता है। वह सभी को चंदनक के साथ हुए झगड़े की सूचना देता है। वह यह भी कहता है कि चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर वसंतसेना उद्यान जा रही थी। इस प्रकार अधिकरणिक वीरक को उद्यान जाकर यह देख आने के लिए भेजते हैं कि वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है या नहीं। वीरक जाकर देख आता है कि वहाँ एक स्त्री के मृत शरीर के पड़े रहने की बात का समर्थन करता है। राजा चारुदत्त को दोषी मानते हुए प्राणदंड की सजा देता है।

चांडाल चारुदत्त को वधस्थान पर ले जाते हैं, तभी भिक्षु और वसंतसेना वहाँ पहुँचते हैं। वसंतसेना को देख चांडाल चारुदत्त को छोड़ देता है। यह देखकर शकार वहाँ से भाग जाता है। तभी शर्विलक का प्रवेश होता है। वह चारुदत्त को आर्यक के द्वारा राजा पालक के मारे जाने का समाचार देता है। इसी समय कुछ लोग शकार को पकड़कर वहाँ लाते हैं। शकार चारुदत्त के पैरों में गिरकर क्षमा माँगता है। चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है।

संस्कृत साहित्य में मृच्छकटिकम् का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह अत्यंत लोकप्रिय नाटक है। भारत की अनेक प्रचलित भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। हृषीकेश सुलभ ने इस संस्कृत नाटक को आधार बनाकर 'माटीगाड़ी' नाटक की रचना की, जिसमें मुख्यतः शूद्रक रचित नाटक मृच्छकटिकम् का कथ्य लिया गया है। किंतु विषयवस्तु वही होते हुए भी इस नाटक की अपनी मौलिकता एवं विशिष्टताएँ हैं, जो उसे मृच्छकटिकम् से भिन्नता प्रदान करती हैं। 'माटीगाड़ी' और 'मृच्छकटिकम्' में साम्यता के साथ भिन्नता भी है—

मृच्छकटिकम् एवं माटीगाड़ी में साम्य और वैभिन्न्य

साम्य

'मृच्छकटिकम्' की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मध्यमवर्ग से कथावस्तु चुनी गई है। उज्जयिनी के मध्यमवर्ग के जीवन का स्वाभाविक वर्णन यहाँ किया गया है। यहाँ चोर, जुआरी, धूर्त, राजसेवक, भिक्षु, पुलिस, दरिद्र आदि का चित्रण किया गया है। इसके पात्र देव नहीं बल्कि इसी लोक के प्राणी हैं। इसी प्रकार हृषीकेश सुलभ ने 'माटीगाड़ी' में भी इन्हीं मध्यमवर्ग के प्राणियों का ही चित्रण किया है।

'मृच्छकटिकम्' के सभी पात्र चारुदत्त, वसंतसेना, शकार, विदूषक, शर्विलक, धूता,

मदनिका, रदनिका, आर्यक आदि पात्रों को हृषीकेश सुलभ ने अपने नाटक 'माटीगाड़ी' में इन्हीं नामों के साथ चित्रित किया है।

संवादों की दृष्टि से भी दोनों में काफी समानता है। 'मृच्छकटिकम्' के संवाद संक्षिप्त, सरल तथा लोकजीवन के जुड़े हुए नजर आते हैं। उदाहरण—

वसंतसेना : कुदो दे भअम्म।

संवाहक : अज्जे धरिगकादो।

वसंतसेना : हज्जे, संपंद अवावुरगु पक्खदुआरहम्।

संवाहक : (आत्मगतम्) कंध धरिगकादों तुलिदं शे भअकालरगम् शुटटु क्खु एवं बुच्चदि।¹¹

इस प्रकार 'माटीगाड़ी' में भी संक्षिप्त, सरल और लोकजीवन से संबंध रखनेवाले संवादों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण—

शंकार : पंडित! गया रे?

विट : हाँ, गया।

शकार : चलो, हम भी भाग चलें।

विट : तलवार?

शकार : तुम रख लो।

विट : ना, ई हमारी ना है

शकार : शही बात।¹²

'मृच्छकटिकम्' में शकार और चांडाल के संवादों में स, ष, के स्थान पर 'श' का प्रयोग किया गया है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

शकार : अगेण्हअ वसंतशेणिअं ण गमिश्शं

विट : एतदपि न श्रुतं त्वया? अलाने गृहयते हस्ती वाली वल्गासु गृहयते। हृदये गृहयते नारी यदिदं नास्ति गम्याताम।

शकार : जइ गच्छशि, गच्छ तुमं, हगे ण गमिश्शं।¹³

इसी प्रकार हृषीकेश सुलभ ने भी शकार के संवादों में 'स' के स्थान पर 'श' का प्रयोग किया है इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

शकार : पंडित, ई जनम की दाशी, पतुरिया शशुरी दरिद्वर चारुदत्तवा पर मोहित है। हम जानते हैं...शब जानते हैं। ई हमशे परेम ना करेगी। देखो, बाई ओर कंगले चारुदत्तवा का घर है, कहीं भाग के ना चली जाए! पंडित, तुम शंमझाओ-बुझाओ, ना तो जान शे मार डालेंगे हम।¹⁴

'मृच्छकटिकम्' के माध्यम से शूद्रक ने लोकजीवन की समस्याओं को प्रस्तुत किया है। जैसे—वेश्यावृत्ति की समस्या, अन्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था की समस्या आदि। 'माटीगाड़ी' के द्वारा हृषीकेश सुलभ ने भी समाज में व्याप्त वेश्यावृत्ति की समस्या तथा कमजोर कानून-व्यवस्था की समस्याओं को आधुनिक संदर्भ से जोड़कर प्रस्तुत किया है।

वैभिन्न्य

'मृच्छकटिकम्' में शूद्रक ने वसंतसेना और धूता के संबंधों में कोई तनाव नहीं दिखाया

है, इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय की पारिवारिक व्यवस्था में इसकी छूट रही हो। जबकि 'माटीगाड़ी' में धूता को जब वसंतसेना और चारुदत्त के प्रेम के बारे में पता चलता है, तो वह वसंतसेना को सहजता से स्वीकार नहीं करती। वह वसंतसेना के सामने अपने अधिकारों का प्रश्न खड़ा करती है—

धूता : ई रत्नावली वापस काहे किया?

वसंतसेना : आपकी है, सो आप ही रखें। ई रत्नावली पर आपका अधिकार है।

धूता : सिरिफ ई रत्नावली पर हमारा अधिकार है? हमारे अधिकार की चिंता छोड़ो।

आर्य तुमको रत्नावली भेंट दिए हैं, सो ई तुम्हारा हुआ। रख लो।

वसंतसेना : हम का करेंगे ई रत्नावली लेके? हम तो आर्य के गुन की दासी हैं।

धूता : अउर हमारे वास्ते आर्य ही गहना-गुरिया हैं। रत्न अउर सोना हमारा धरम न है। तो रत्नावली पहिन लो।⁵

इस प्रकार 'मृच्छकटिकम्' की वसंतसेना और धूता के संबंध 'माटीगाड़ी' की धूता और वसंतसेना के संबंधों से पूर्णतः भिन्न हैं। क्योंकि हृषीकेश सुलभ ने समकालीन नारी का चित्रण किया है, जो अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। इस संदर्भ में हृषीकेश सुलभ ने स्वयं कहा है— 'शूद्रक से अलग होते हुए मैंने अपने समय के अंतर्द्वंद्वों से टकाराने का प्रयास किया है।'⁶

'मृच्छकटिकम्' में आर्यक भाग्यवाद की उपज के रूप में स्वीकार किया जाता है, पर 'माटीगाड़ी' की आर्यक स्थितियों के गर्भ से उपजता है। मध्य बिहार में चलनेवाले अधिकारों और प्रतिष्ठा के संघर्ष से उपजे सत्य ने आर्यक के चरित्र को उभारा है। पालक के क्रूर शासन-तंत्र में जीवन के शुभ पक्षों की अवमानना के प्रतिकार के रूप में आर्यक का चरित्र आकार लेता है। माटीगाड़ी का पूर्वरंग लगभग पूरी तरह 'मृच्छकटिकम्' से भिन्न है।

'मृच्छकटिकम्' के पारंपरिक समापन से अलग 'माटीगाड़ी' का समापन होता है। 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त शकार को क्षमा कर देता है और सभी इस निर्णय को स्वीकार कर लेते हैं, जबकि 'माटीगाड़ी' में चारुदत्त द्वारा शकार को क्षमादान देने के बाद चितकबरा उसके प्रति मुखर विरोध प्रकट करता है। वह चारुदत्त के इस निर्णय को स्वीकार नहीं करता कि शकार को क्षमा कर दिया जाए। वह अपने समय और समाज के अनुरूप यह माँग करता है कि शकार को दंडित किया जाए। मंच पर उपस्थित सारे समाजी चितकबरा का पक्ष लेते हैं। अंततः जन-दबाव के फलस्वरूप सूत्रधार शकार को दंडित करने का निर्णय लेता है। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है—

चारुदत्त : ना भाई! छोड़ दो...। छिमा किए हम। सरन में आया है, सो छिमा किए।

चितकबरा : ई का किए उस्ताद! सब गुड़ गोबर कर दिए। बात-बात पर हमको लतियाते हो अउर सगरे खेल-तमासा का मजा बिगाड़ दिए...। अरे अब जाए। सूदरक का जमाना ना है ई! समझे।

समाजी : (समूह स्वर में) हाँ, उस्ताद। सजाय दो...सजाय।

सूत्रधार : जइसी पंचों की राय।⁷

भाषा की दृष्टि से दोनों नाटकों में पूर्णतः भिन्नता है। मृच्छकटिकम् की रचना शूद्रक ने संस्कृत भाषा में की है तो वहीं हृषीकेश सुलभ ने 'माटीगाड़ी' की रचना भोजपुरी मिश्रित हिंदीभाषा में की है। हृषीकेश सुलभ ने 'माटीगाड़ी' की भाषा पर विचार करते हुए कहा है—'मृच्छकटिकम् की शास्त्रीयता और बिदेसिया की रंग-युक्तियों की लोकधर्मी संरचना और संस्कृत जैसी अभिजात्य भाषा और भोजपुरी मिश्रित हिंदी की गँवई अनगढ़ता के रचनात्मक समन्वय से नयी नाट्यानुभूतियों की रचना का काम चुनौती भरा था।'⁸

दोनों नाटकों की भाषा के अंतर को इन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मृच्छकटिकम् का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मदनिका : सव्विलअ कधेहि।

मदनिका : सव्विलअ, कि प्रेपदम? ससडकों विअ लक्खीअसि।

शर्विलक : वक्ष्ये त्वां किञ्चिद्रहस्यम्। तद्विविक्तमिदम्।

मदनिका : अधई (अथ किम्)

वसंतसेना : कंध परमहस्यम्। ता राग सुरिगस्यम् (कथं परमरहस्यम् तन्न श्रोष्यामि)

शर्विलक : मदनिके, किं वसंतसेना मोक्षयति त्वां निष्क्रयेण?⁹

इसी प्रकार 'माटीगाड़ी' का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

शर्विलक : मदनिका, अगर हम धन देवें तो वसंतसेना तुमको छोड़ देगी?

वसंतसेना : (स्वगत) हमारी बात चल रही है। तब तो छिप के सुने में कवनो दोख ना है।

मदनिका : आर्या का वश चले, तो बिना धन किए सबको छोड़ दे, पर तुम्हारे पास धन कहाँ से आया कि हमो छुड़ा के ले आना चाहते हो।¹⁰

अतः हृषीकेश सुलभ ने भले ही 'माटीगाड़ी' की कथावस्तु नाटक 'मृच्छकटिक' से ली हो परंतु उन्होंने उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किए हैं, जिसके कारण हमें उनकी 'माटीगाड़ी' और शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में साम्य के साथ वैभिन्न्य भी दिखाई देता है।

संदर्भ

1. मृच्छकटिकम्, शास्त्री श्रीनिवास शर्मा, साहित्य भंडार, मेरठ, 1972, पृ० 88
2. तीन रंगनाटक, हृषीकेश सुलभ, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2006, पृ० 96
3. मृच्छकटिकम्, शूद्रक, रामनारायण बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1975, पृ० 75-76
4. तीन रंगनाटक, हृषीकेश सुलभ, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2006, पृ० 93
5. वही, पृ० 123
6. वही, पृ० 123
7. वही, पृ० 123
8. वही, पृ० 123
9. मृच्छकटिकम्, शास्त्री श्रीनिवास शर्मा, रामनारायण बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1972, वही, पृ० 148-149
10. तीन रंगनाटक, हृषीकेश सुलभ, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2006, वही, पृ० 112

12/146 खटीक पाड़ा

चित्रा सिनेमा के पास, आगरा 282002

बाजारवाद एवं वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में 'दौड़' उपन्यास

डॉ० प्रमोद गोकुळ पाटील

हिंदी विभाग

श्री शिवाजी विद्या प्रसारक संस्था का

कला व वाणिज्य महाविद्यालय

धुलिया 424002

ममता कालिया का 'दौड़' उपन्यास आर्थिक उदारीकरण एवं बाजारवादी, उपभोक्तावादी शक्तियों को केंद्र में रखकर लिखा गया है। दौड़ में मनुष्यत्व को खतरों ने घेर रखा है। पारंपरिक मूल्यों को दरकिनार कर आर्थिक (अर्थ) टकराहट में ही फँसा हुआ है। इक्कीसवीं सदी का युवक आज शिक्षा को इसलिए प्राप्त करता दिखाई देता है कि उसे सारी भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। इसके लिए अपना शहर, रिश्ते, मित्र, पत्नी, माता-पिता को तक को छोड़कर दूसरे शहरों में ही नहीं, विदेशों में चले जाते हैं, सिर्फ अपने सपनों की पूर्ति के लिए अर्थ को प्राप्त करने हेतु।

21वीं सदी में मनुष्य उपभोक्तावादी बन चुका है। भूमंडलीकरण के कारण विश्व के अनेक देशों में व्यापार बढ़ा है। भूमंडलीकरण की बढ़ती रफ्तार ने बाजारी शक्तियों को काफी मजबूत बना दिया है। हमारे जनजीवन में बाजार की इस बढ़ती दखल ने 'बाजारवाद' नामक एक नई सैद्धांतिकी को जन्म दिया है। बाजारवाद से ही उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिला है।¹¹ इस उपभोक्तावादी दृष्टिकोण ने ही मनुष्य को एक जगह शांति से रहने नहीं दिया है।

1. डिग्री-प्राप्ति की दौड़

पवन, सघन, शरद, अभिषेक शुक्ला, राजुल, शिल्पा काबरा आदि सभी शिक्षा की इस दौड़ में इतना भागते हैं कि कहीं रुकें, पता नहीं। सब एम०बी०ए०, एम०एम०एस०, एम०बी०बी०एस०, एम०डी०, केट परीक्षा प्राप्ति हेतु दौड़ तो लगा रहे हैं, पर अपनी सोच नहीं बदल पा रहे हैं। इस भागदौड़ में सिर्फ और सिर्फ पैसे कमाने का जरिया ही देखा जाता है। ममता कालिया ने लिखा, 'बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के तीन जादुई अक्षरों ने बहुत से नौजवानों के जीवन और सोच की दिशा ही बदल डाली थी। ये तीन अक्षर थे एम०बी०ए०।'¹²

सफलता पाने की इस लालसा में नौजवान अपना घर छोड़कर किराए के फ्लैट में रहते, मेस का खाना खाते डिग्री प्राप्त करते दिखाई देते हैं। अपने घरों में शहजादों की तरह रहनेवाले ये नौजवान लड़के अपने माता-पिता से बहुत दूर चले जाते हैं डिग्री को केंद्र में रख अपना टार्गेट पूरा करना उनका लक्ष्य दिखाई देता है। भूमंडलीकरण के इस दौर में आज का युवा डिग्री को अपनी

आर्थिक सत्ता में केंद्रीय रखता है, जहाँ कोई रिश्ता या सरोकार महत्त्व नहीं रखता है।

2. शहरों का विस्तार और प्रदूषण की समस्या

नौजवान डिग्री प्राप्त कर शहरों में बढ़ता चला आ रहा है। डिग्री हो या न हो शहरों का आकर्षण एवं अर्थ-प्राप्ति हेतु शहर बढ़ रहे हैं। आज का युवा नौकरी प्राप्ति हेतु एक शहर से दूसरे शहर में जा रहा है। पवन इलाहाबाद छोड़कर अठारह सौ किलोमीटर दूर अहमदाबाद चला आया, नौकरी करने हेतु। शहरों में आती भीड़ के कारण रोजगार और प्रदूषण की समस्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। आधुनिकता के इस दौर में, 'रोजविंदर कौर प्रदूषण पर प्रोजेक्ट रिपोर्ट तैयार कर रही है। कंधे पर पर्स और कैमरा लटकाए कभी वह एलिस ब्रिज के ट्रॉफिक जाम के चित्र उतारती हैं तो कभी बाजार में जेनरेटर से निकलने वाले धुएँ का जायजा लेती है।'³ दीपेंद्र कहता, 'रोजू तुम्हारी रिपोर्ट से क्या होगा। क्या टैम्पो और जेनरेटर धुआँ छोड़ना बंद कर देंगे?'⁴ वैश्वीकरण के इस दौर में रोजू को गाड़ी से निकलने वाले धुएँ से कुछ न पड़ी है, उसे सिर्फ हवा शुद्धिकरण संयंत्र बनाना है। हर्बल स्प्रे, जिसे एक बार नाक के पास स्प्रे कर लो तो धुएँ का प्रदूषण आपकी साँस के रास्ते अंदर नहीं जाता। 'मुँह बंद रखो और आँख में डालने को कोई आई ड्रॉप ले आओ।'

3. परंपरा, संस्कृति, रिश्तों में टकराहट

उपन्यास में रेखा और राकेश का परिवार दिखाया गया है। रेखा अध्यापिका एवं गृहिणी है। राकेश पेपर सँभालते हैं। साहित्यिक परिवार है। बच्चों की पढ़ाई-लिखाई पर पूरा खर्च करते, बच्चों के करियर की तरफ पूरा ध्यान देते। उन्होंने सघन और पवन को अच्छे संस्कारों को देना चाहा। रेखा की गोद में दोनों भाई सोते, माँ से संवाद स्थापित करते। घर में अध्यात्म का वातावरण और माँ की अपने बेटों की तरफ से अपेक्षाएँ। रेखा पवन की शादी धूमधाम से करना चाहती है, शादी का कार्ड बाँटना आदि सब-कुछ सोच रखा है। सघन को पास रखना चाहते हैं, पर वह दूसरे शहर चला जाता है।

भारतीय संस्कृति में मनुष्य से लेकर पशु-प्राणियों से दया-भाव और मूल्यों के प्रति सम्मान की बात होती है। उपन्यास में स्वामी कृष्णा महाराज के भक्त डॉक्टर, इंजीनियर, चोटी के कलाकार, विदेशी भक्त सारे शिक्षित हैं। मेडिटेशन कैंप लगाए जा रहे हैं। स्वामीजी कहते 'प्रेम करो, प्राणिमात्र से प्रेम करो। प्रेम वह आलोक है, जो समूचे कमरे को समूचे जीवन को आलोकित करता है।'⁵ इतना कुछ सोचने-समझने के बाद भी आधुनिक पीढ़ी का पवन कहता, 'ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ जहाँ कल्चर हो न हो, कंज्यूमर कल्चर जरूर हो। मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।'⁶ पवन संस्कृति-संस्कारों को छोड़ कामयाबी की ऊँचाई को महत्त्व देता है। बचपन में दिए माँ के संस्कार एवं थपकियाँ जिससे वह खड़ा रहा, सोया, धन्यता पाई, वह सब भूलकर आधुनिक धरातल पर अर्थ को महत्त्व देने लगा।

'दौड़' में रिश्तों में टकराहट दिखाई देती है। सघन-पवन दोनों अपने माता-पिता की बात मानते नहीं हैं। आखिर दोनों रेखा-राकेश को छोड़ चले जाते हैं। पवन की पत्नी स्टैला को

देखकर रेखा समझौता करने का प्रयास करती है। पैसे कमाने की दौड़ में सघन इंतना अंधा हो गया है कि पिता से कहता है, 'आपने इतने बरसों में क्या किया? दोनों बच्चों का खर्च आपके सिर से उठ गया। घूमने आप जाते नहीं, पिक्चर आप देखते नहीं, दारू आप पीते नहीं, फिर आपके पैसों का क्या हुआ?'⁷

पवना स्टैला से शादी करना तय कर लेता है, तब रेखा सहम जाती है। कहती है, 'अपने पापा को तुमने बिल्कुल किनारे कर दिया। उनसे पूछा तक नहीं और सब तय कर लिया।'⁸ स्वामीजी की सालगिरह पर हो रही पचास शादी में ही पवन सामूहिक विवाह कर लेता है। अभिषेक और राजुल में भी टकराहट है। अभिषेक विज्ञापन की दुनिया में आकर्षण में फँसता जा रहा है, राजुल कहती है कि विज्ञापन लोगों से धोखा करते हैं। इससे दोनों में अनबन है।

आधुनिकता, अर्थ एवं तंत्रज्ञान की दौड़ में युवा पीढ़ी

पवन पैसा कमाने की चाह में पहले माता-पिता से दूर चला जाता है, बाद में शादी के पहले पवन-स्टैला एक घर में रहते और तंत्रज्ञान में फँसे हैं। शादी के बाद पवन स्टैला को छोड़ विदेश चला जाता है। तो भी दोनों खुश है। पवन कहता माँ से, 'माँ स्टैला मेरी बिजनेस पार्टनर, लाइफ पार्टनर, रूम पार्टनर तीनों है।' स्टैला के माता-पिता शिकागो से बेटी को ई मेल पर बधाई भेजते हैं। पवन के पिता राकेश कहते, 'तुम अपनी तरक्की के लिए पत्नी और कंपनी दोनों छोड़ दोगे?' 'यानी सेटलाइट और इंटरनेट से तुम लोगों का दांपत्य चलेगा?'⁹ इस दौड़ में युवापीढ़ी यंत्रवत् चल रही है। सघन दिल्ली में कंप्यूटर पर रात तीन बजे तक बैठा रहता। इन युवाओं को क्या पता कि यह दलदल है। तंत्रज्ञान की चाह में सिर्फ भाग रहे हैं। स्टैला सास-ससुर को ई मेल पर मैसेज देकर हाल पूछती है।

कॉलोनी में सोनीजी की मृत्यु दिल का दौरा पड़ने से हो जाती है, उनका बेटा सिद्धार्थ विदेश में रहता है। सिद्धार्थ को फोन लगाया जाता है, वह कहता है—मुझे पहुँचने में हफ्ता लग जाएगा। आप मुरदाघर में रखवा दीजिए। यहाँ तो महीनों बॉडी मारच्युरी में रखी रहती है। जब बच्चों को फुर्सत होती है, फ़ोन कर देते हैं। 'मेरे आने तक डैडी को रखा नहीं जा सकता। इस काम के लिए किसी को बेटा बनाकर दाह-संस्कार करवाइए।'¹⁰ इस स्थिति में आज का युवा विदेशों में जाकर तंत्रज्ञान एवं वैश्विक हो गया है, सब अपनी मुठ्ठी में ही लेना चाहता है। इस दौड़ में रिश्ते या माँ-बाप थोड़ी रेडीमेड मिल जाएँगे। मिसेज सोनी कहती हैं—रेडीमेड बेटे मिल जाएँ, यह कहाँ मुमकिन है। बाजार में सब चीज मोल मिल जाती है, पर बच्चे नहीं मिलते।¹¹ सिन्हा साहब ने तो अपने जीते जी गऊदान कर लिया ताकि उनका बेटा अमित बंबई से आकर यह सब करे या नहीं।

बाजारीकरण के केंद्र में युवापीढ़ी

पवन-सघन रुपए कमाने की चाह में शहर छोड़कर चले जाते हैं। उदारीकरण ने तो सबको एक जगह लाकर खड़ा करना चाहा, एक ही छत के नीचे सब-कुछ देना चाहा, पर आदमी एक-दूसरे से, परिवार से कोसों दूर भाग रहे हैं। स्टैला शादी के पहले पवन के साथ रहती है, शादी के बाद पवन के विदेश जाने की बात पर उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। सघन

तो अपना शहर छोड़कर परदेश चला गया। वह माँ से कहता है, 'माँ, जब आने लायक हो जाऊँगा, तभी आऊँगा। तुम्हें थोड़ा इंतजार करना होगा। सोनी का बेटा सिद्धार्थ विदेश में जाकर बस गया है। विदेशों में कहाँ रिश्तों की बुनियाद खड़ी हो सकती है। जहाँ रात-दिन एक ही दौड़ लगी हुई है, बाजार में अपने आपको कैसे अलग स्थापित कर पैसों का पैकेज मिल सके। बाजारवाद ने संस्कृति पर गहरी चोट की है। नई पीढ़ी भाव-भावनाओं को कहीं पर भी शेष नहीं रख पा रही है।

ममता कालिया ने दौड़ उपन्यास में आर्थिक उदारीकरण और बाजारवादी व्यवस्था को साँचे में बिठाया है। युवापीढ़ी में सिर्फ दौड़ शेष बची है, जिस कारण भाईचारा, माँ-बाप के प्रति लगाव, गाँव-शहर से अपनापन, पति-पत्नी में लगाव नहीं रह पाया है। विदेशी संस्कृति को केंद्र में रख अपनी परंपराएँ, रिश्तों की बुनियाद को खोखला किया जा रहा है। उदारीकरण, वैश्विकता की ऊँचाइयों को छूने की चाह में संस्कार एवं मूल्यों का पतन हो गया है। जो माता-पिता अपनी संतान के लिए पूरा जीवन अर्पित कर देते हैं, उनको आज के युवा अपने निजी जीवन से दरकिनार कर देते हैं, कहीं पर उनके लिए जगह नहीं छोड़ते। वे यंत्रवत् जीवन जीते हैं, कहीं पर भी सुख-दुःख, भावों की व्यापकता शेष नहीं है। 'दौड़' उपन्यास युवापीढ़ी की बाजारी मनोवृत्ति को उजागर करने में सफल है।

संदर्भ

1. राष्ट्रवाणी, मार्च, अप्रैल 2013, पृ० 31
2. दौड़, ममता कालिया, पृ० 22
3. वही, पृ० 19
4. वही, पृ० 19
5. वही, पृ० 33
6. वही, पृ० 44
7. वही, पृ० 94
8. वही, पृ० 63
9. वही, पृ० 71
10. वही, पृ० 89
11. वही, पृ० 90

21वीं सदी में हिंदी महिला उपन्यास लेखन :

समझ एवं रचनात्मक पहलू

गिरजेश कुमार

शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर

स्त्रियों के लेखन में विचारों का मुख्य आधार अनुभव एवं व्यावहारिक ज्ञान होता है। स्त्रियाँ शास्त्र, ज्ञान एवं स्वाभिमान की छाया में होती हैं, जबकि पुरुषों का यह मुख्य गुण होता है। पुरुष का संपूर्ण जीवन तर्क एवं ज्ञान के केंद्र में होता है, जबकि स्त्री का जीवन हृदय पर केंद्रित होता है, जो संवेदना के तल को दर्शाता है, यही उसका स्वभावगत प्रभाव उसके लेखन में झलकता है। जो चीजें सरल, स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं संवेदना-प्रधान होती हैं, उन्हीं बिंदुओं को स्त्री अपने लेखन का आधार बनाती है। स्त्री के कोमल भाव उसके लेखन पर प्रभाव डालते हैं, जो पाठक के हृदय पर कोमल एवं संवेदनशील आघात होता है। स्त्री जब लिखती है, तो वह सामाजिक शिरकत करती है, यह सामाजिक शिरकत बिना किसी धारणा एवं विचार के संभव नहीं है, यह विचार उसके सामाजिक पारिवारिक जीवनमूल्यों से जुड़े होते हैं।

हमारे देश में स्त्रियाँ हमेशा ही साहित्य-सृजन करती रही हैं, उदाहरणार्थ ऋग्वेद में ऋषिकाएँ (लगभग दो दर्जन नाम उपलब्ध हैं), बौद्ध भिक्षुणी (थेरीगाथा) मुगलकाल का स्त्री-लेखन (शहजादी गुलबदन बेगम बाई चंदा), भक्तिकाल कवि (अक्का महादेवी, मीराबाई), संगम काल की कविताएँ (ए०के० रामानुज द्वारा अनूदित) इस लेखन के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। भारत के अन्य प्रांतों और अन्य भाषाओं के स्त्री-लेखन के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। विदेश में भी स्त्रियाँ लिखती आई हैं, पर उनका प्रयास सीमित रहा। यूनान में सोफी एरिना, सेफो, अस्पसिया तथा रोम की कोर्नियाफिसिया ने बहुत पहले काव्य रचा। गुलाम सोजर्नर टुथ की बात दूसरों ने लेखनीबद्ध की, सिमोन द बोउवा का 'दि सेकेंड सेक्स'(1949), केट मिलेट 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' (1969) लोकसाहित्य में स्त्री-स्वर प्रमुखता से मुखर है। स्वतंत्रता की घोषणा-मात्र से दमन-शोषण समाप्त नहीं हो जाते, वे चलते रहते हैं, दूसरों के द्वारा, अपनों के द्वारा स्थूल रूप में, सूक्ष्म रूप में।

स्त्रियाँ बहुविध ढंग से स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं, साहित्य उनमें से एक है। समय के साथ समाज बदला है, आज स्त्री घर के बाहर हर क्षेत्र में नजर आ रही है, फिर भी स्त्री की स्थिति में बहुत फर्क नहीं आया है। स्त्री की दायम दर्जे की स्थिति सब देशों में लगभग एक सी है। स्त्रियों को दूसरे समाज के साथ-साथ अपने समाज, अपने परिवार में भी भेदभाव का

सामना करना पड़ता है। पितृसत्तात्मक संस्थाओं द्वारा उसके मानसिक अनुकूलन को भी हम स्पष्ट देखते हैं। उसका शोषण-दमन सवर्ण, दलित दोनों में होता है, हर धर्म में होता है, यहाँ तक कि जिस समाज को मातृसत्तात्मक कहा जाता है, वहाँ भी उसकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। उसे हर जगह लैंगिक लड़ाई लड़नी होती है, जातिवादी स्थितियों से जूझना होता है। इसमें लेखन उसका हथियार बनता है। आज के स्त्री-विमर्श और स्त्रीवाद ने कई सोपान पार कर लिए हैं, पर शोषणतंत्र अभी भी बहुत मजबूत है। सामंती दृष्टिकोण में अभी भी परिवर्तन नहीं आया है, पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ढाँचा चरमराया है, टूटा नहीं है। हाँ, पहले की अपेक्षा स्त्री का प्रतिरोध और अपना पक्ष अधिक मुखर हुआ है। हिंदी में कई पीढ़ी की स्त्रियाँ लेखन कर रही हैं—कहानी, उपन्यास, कविता, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, राजनीतिक और सामाजिक आलेख लगभग सब विधाओं में लिख रही हैं। आज उनके लेखन को रेखांकित किया जा रहा है। कुछ सीमा तक उन्होंने साहित्य की कमान सँभाली है। अपने अनुभवों, अनुभूतियों विचार और नजरिए को विभिन्न विधाओं और शैलियों में वह प्रस्तुत कर रही है। अपने लेखन में वह दुःख-दर्द, हर्ष-उल्लास, आशा-आकांक्षा, प्रेम को प्रकट कर रही है। उसका लेखन मात्र औरतों की पीड़ा तक सीमित नहीं है। उनकी नजर आज के समय, समाज और दुनिया पर है और इसे वह अपनी रचनाओं में उकेर रही है।²

स्वस्थ स्त्री-विमर्श, स्त्री-पुरुष समानता की बात करता है। समाज में समानता की आवाज को समझता है। हिंदी साहित्य में कई तरह के स्त्री-लेखन के दर्शन होते हैं। कहीं वह सारी व्यवस्था के खिलाफ खड़ी नजर आती है, समाज के समस्त बंधनों को ध्वस्त करती हुई। कहीं वह समतामूलक समाज की पोषणकर्ता और संघर्षशील दिखती है। कहीं स्त्री स्त्री की दुश्मन बनी हुई है। कुछ लोग स्त्री-लेखन को मात्र देह अथवा पुरुष-विरोधी लेखन तक सीमित मानने की जिद पाले हुए हैं, जबकि ऐसा है नहीं। महिला रचनाकार केवल नारी के सुख-दुःख एवं देहमुक्ति तक सीमित नहीं है। वह व्यापक रूप से भूमंडलीकरण, अर्थतंत्र की साजिशों, बाजारवाद की चालाकियों पर भी निगाह जमाए हुए है। उसके लेखन में विविध अनुभव-अनुभूति, विचार अभिव्यक्त हो रहे हैं। उसका साहित्य स्त्री-विमर्श के साथ-साथ दलित-विमर्श, वर्ग-विमर्श का प्रयास भी है। समाज में हो रहे परिवर्तन, बदलती स्त्री, बदलते पुरुष, बदलते नियम-कानून, बदलते रीति-रिवाज स्त्री-लेखन के मुद्दे हैं। इनमें वर्तमान की सच्चाई और आगत की सुनहरी झलक मिलती है। स्त्री रचनाकार अपनी बात खुलकर, साहस के साथ कह रही हैं। समय और समाज की हर धड़कन पर अँगुली रख रही हैं। हिंदी कथा रचना के क्षेत्र में महिलाओं का प्रवेश प्रेमचंदयुग में ही हो चुका था, किंतु स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद नारी-जागरण और स्त्री-शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप इस क्षेत्र में महिला रचनाकारों की एक सशक्त पीढ़ी का आगमन हुआ।³

उपन्यास और कहानियाँ हमारे साहित्य की नई विधाएँ हैं। प्राचीन कथा और आख्यायिका से इस मामले में भिन्न है कि इसमें मनोरंजन की अपेक्षा यथार्थवाद पर जोर है। उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए, किसी जाति या समाज के बढ़ते विचारों और निरंतर उत्पन्न होते रहने वाली परिस्थितियों का अध्ययन। उपन्यास को विद्वानों ने मध्यवर्गी जीवन का

महाकाव्य कहा है। पश्चिम में औ। गीकरण, नगरीकरण एवं मध्यमवर्ग के उदय ने उपन्यास को संभव बनाया, किंतु औपन्यासिक भारत में एक ओर राष्ट्र का स्वरूप ग्रहण किया, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जीवन की विपन्नता एवं त्रासदी को अपना विषय बनाया। प्रेमचंद के उपन्यास इन दोनों ही प्रवृत्तियों के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। उपन्यास में कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन एवं उद्देश्य होते हैं और कई बार उसमें एक तत्त्व की प्रधानता के कारण भेद, उपभेद किए जाते हैं। उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में महिलाएँ तेजी से आगे आई हैं और लिख रही हैं।

मैत्रेयी पुष्पा का 'फरिश्ते निकले' उपन्यास में ग्रामीण स्त्री पर हो रहे अत्याचार और दमन को कथा का आधार बनाया है। उपन्यास की नायिका बेला बहू एक सीमा तक सब-कुछ बर्दाश्त करती है, पर एक दिन सभी अत्याचारियों को घर में जलाकर संघर्ष के अंतहीन रास्ते पर निकल पड़ती है। यह कमजोर स्त्री के ताकतवर स्त्री के रूप में तब्दील होने की कथा है। मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यासों के माध्यम से ग्रामीण स्त्री को नायकत्व प्रदान करती हैं और स्त्री-विमर्श को एक नया अर्थ देती हैं।⁴ 'कुतो पंथा' में रमासिंह ने विश्वबैंक द्वारा किए जानेवाले विकास-कार्यों में व्याप्त भ्रष्टाचार और देश के नेताओं द्वारा उसे दिए जाने वाले अनैतिक समर्थन का पर्दाफाश है। लेखिका ने स्पष्ट किया है कि विकास के नाम पर आदिवासियों को हर प्रकार से छला जाता है और उनके जीवन को दयनीय बना दिया जाता है। लेखिका को इस अत्याचार का कोई मार्ग नहीं दिखता।⁵ निर्मल भुराड़िया का 'गुलाम मंडी' (2014) ह्यूमन ट्रेफिकिंग, देह-व्यापार एवं किन्नरों की समस्याओं पर आधारित नवीनतम उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका कल्याणी और जानकी अद्भुत चरित्र हैं। कथाकार ने किस्म-किस्म की दुनियाओं को बेपर्द करने की कोशिश की है। देह और उनके व्यापार के घृणित सिलसिले से जुड़ा होने के बावजूद, इस उपन्यास की कहान-कला की विशेषता ही कही जाएगी की पाठक कथा की मूल चिंता से गहरे जुड़ जाता है। वह उसके दृश्यों के रस में डूबकर, उनके पार्श्व में छिपी नग्नता से दो-चार होता है।⁶ अलका सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद' (2008) कार्पोरेट का सच है। इस उपन्यास में वैश्वीकरण उदारीकरण और बाजार-तंत्र के मायाजाल को और इस जटिल दुनिया में जीवन जी रहे पात्रों की मनःस्थितियों एवं परिस्थितियों को यथार्थ अभिव्यक्ति देने में अलका सरावगी का यह उपन्यास काफी हद तक सफल रहा है। दरअसल, इस उपन्यास में वर्तमान परिदृश्य की विभीषिका का लेखिका ने पूरी तन्मयता के साथ वर्णन किया है। इसके लिए लेखिका ने काफी शोध करके तथ्य एवं आँकड़े जुटाए हैं। चित्रा मुद्गल का 'गिलिगडु' (2002) उपन्यास आज की युवा पीढ़ी द्वारा अपने बुजुर्गों की घोर उपेक्षा और अवमानना का बड़ा ही मार्मिक और सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। आज के भरे-पूरे परिवार में भी बुजुर्गों की स्थिति परिवार के पालतू कुत्तों से भी बदतर है। महानगरों के शिक्षित मध्यवर्गी परिवार का समकालीन जीवन किस सीमा तक यांत्रिक, आत्मकेंद्रित और अमानवीय हो गया है, यह उपन्यास इसका जीवंत दस्तावेज है। चर्चित युवा कथाकार जयश्री राय का साथ चलते हुए (2013) उपन्यास अपर्णा के साथ-साथ एक ऐसी कथा से जोड़ता है, जहाँ स्त्री का दुःख स्त्री ही समझ पाती है। जहाँ माँ की तकलीफ उसी के साथ उसके भीतर बजती रहती है, जहाँ पुरुष अपने सामंती रूप में मौजूद है और पल-भर संबंध की आत्मीयता को झटककर किसी

दूसरी स्त्री का साथ अपना सकता है। यहाँ उदासी भीतर से बाहर और बाहर से भीतर भाषा में सफर करती है। व्यक्ति से समाज की कथा बनाने का अंदाज ही जयश्री राय की विशेषता है। अंतरात्मा की आवाज के साथ यथार्थबोध है। यह उपन्यास आमजन के आभाव को भी उकेरता है। उषा प्रियंवदा के 'नदी' (2014) उपन्यास में बस बहने दो जीवन-सरिता को, कहीं-न-कहीं जल्दी या देरी से कोई न कोई हल तो निकलेगा। यही सूत्र है नदी उपन्यास का। विदेश में निवास करती आकाशगंगा पुत्र भविष्य की मृत्यु के लिए इस सीमा तक उत्तरदायी मानी जाती है कि परिवार से विछिन्न कर दी जाती है। पति गगनेंद्र दो बेटियों सहित भारत आ जाते हैं। यही से एकाकी छूट गई आकाशगंगा का संघर्ष प्रारंभ होता है। उषा प्रियंवदा ने आकाशगंगा के बहाने स्त्री-जीवन के कटु-कठोर यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है। भाषा एवं शैली के लिए तो वे अलग से पहचानी ही जाती हैं।⁷ सुशीला टॉकभौरे का 'तुम्हें बदलना ही होगा' उपन्यास दलित-जीवन, वर्ण जाति-भेद की समस्याओं को वर्तमान संदर्भ में गहराई से रेखांकित करता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सुशीला टॉकभौरे की नजर महज भेद-भाव पर ही अटकी नहीं रह जाती है, वह कथा को इससे आगे भी ले जाना चाहती हैं। उनकी मान्यता है कि आज अंतर्जातीय विवाह भी उच्चवर्ग के मध्य ही हो रहे हैं। दलितों के साथ वैवाहिक संबंध बनाने से अब भी सवर्ण बच रहे हैं। कमलकुमार का 'पासवर्ड' (2010) अनेक विरोधी सत्यों का यथार्थ उद्घाटित करता है। ई-मेल के फॉर्मेट में आई इस कथा-रचना में घटनाओं का कोई क्रम नहीं है। होता भी कैसे? वर्तमान में दृश्य होता अतीत और अतीत में दृश्य होता वर्तमान। यह एक कथा-प्रयोग है। किसी स्वप्न में जीते चले जाने के बाद स्वयं को पहचानने की इच्छा का प्रतिफलन है। यहाँ स्त्री अपने निर्णय स्वयं लेती है और साक्षी होती है रचना-जीवन की। यह एक अद्भुत पहल है। सूर्यबाला का 'अग्नि पंखी' (2011) सामाजिक उपन्यास है। अग्नि पंखी में आत्माभिमानी जयशंकर को शहर के मशीनी जीवन में माँ व पत्नी के साथ आर्थिक चुनौतियों तथा अभावों से जूझते दिखाया गया है। शिल्पा बनर्जी के 'मृगतृष्णा' (2013) उपन्यास की कहानी एक नारी की असीम सहनशक्ति की कहानी है, जिसमें वो धरती की बराबरी करती है; उसकी पीड़ाओं की जिन पर वह एक माँ बनकर विजय प्राप्त करती है और उनके अतुल्य धैर्य की जिनके सहारे वह सभी बाधाओं को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाती है।⁸ रुषा किरण खान का 'भामती' (2010) उपन्यास मिथिला के मीमांसक अद्वैत दर्शन के टीकाकार पं० वाचस्पति मिश्र के जीवन पर आधारित बहु प्रासंगिक उपन्यास है। मंडन लिखित ब्रह्मसूत्र के शंकरभाष्य की टीका में वाचस्पति ऐसे लीन हुए कि उन्हें दीन-दुनिया की सुध ही न रही। नवविवाहित भामती इस दौरान उनकी सेवा में हरदम समर्पित रही। उन्होंने वाचस्पति के काम में कोई बाधा न आने दी। टीका दीर्घकाल तक चलती रही। जब संपन्न हुई तो वाचस्पति ने देखा एक अधेड़ स्त्री दीये जला रही है। पूछा आप कौन है? भामती ने उत्तर दिया मैं आपकी पत्नी हूँ। वाचस्पति ने टीका का नामकरण ही भामती टीका रख दिया। मनीषा कुलश्रेष्ठ के 'पंचकन्या' (2014) उपन्यास में लोक से आए जटिल चरित्र का सच है और व्यक्ति के विवेक से निकला निष्कर्ष। उसके लिए देसी पात्र भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना विदेशी। यहाँ आधुनिक जीवन से ही प्रश्न है, पुराण कथाओं से भी खासी जद्दोजहद है। पश्चिम के विचारों

को बटोरा-भर नहीं गया है, उनके साथ पूर्व के दर्शन और पुरातन कथाओं का संबंध भी खोजने की चेष्टा है। स्फीतिविहीन कथा-कहन का यह एक ऐसा उदाहरण है, जो लंबे समय से हिंदी कथासाहित्य में अनुपस्थित था। इस उपन्यास की भाषा, पात्र और उनका ट्रीटमेंट पढ़कर ही आप जान पाएँगे कि मनीषा कुलश्रेष्ठ वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य में सबसे विशिष्ट शैली की रचनाकार हैं। उपन्यास को पढ़ना एक वृहद काव्यात्मक अनुभव से गुजरना है। इसके बहाने बदलते वक्त के नए उपन्यास पर विमर्श संभव है।⁹

इसप्रकार आज हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि 21वीं सदी में हिंदी महिला उपन्यासकार अपने लेखन को जो मजबूती दे रही हैं, वह उनकी समझ और संघर्ष का ही परिणाम है। जीवन और जगत इतना जटिल है कि उसको समझना और अभिव्यक्ति करना सामान्य बात नहीं है। फिर भी इन विषयों को शब्दों का जामा पहनाकर वे जो दृश्य समाज के सामने ला रही हैं, वह प्रशंसनीय है। पुरुषवादी विकृति की सामाजिक व्यवस्थाओं पर कुठाराघात कर रही है, अपनी स्वतंत्रता, समानता को लेकर आवाजें बुलंद कर रही है, अपनी रचनाधर्मिता को बड़ी ईमानदारी और बेबाक तरीके से पेश कर रही है, जो आनेवाली पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक बनेगा।

संदर्भ

1. अहा जिंदगी, संपादक, अलोक श्रीवास्तव, मार्च 2016 (दैनिक भास्कर समूह की प्रस्तुति), पृ० 28
2. महिला उपन्यास लेखन एवं स्त्री-विमर्श, डॉ० कीर्ति मिश्रा, समीक्षा प्रकाशन, इलाहबाद, पृ० 22
3. महिला कथाकारों के उपन्यासों में समय, समाज और संवेदना, डॉ० वीरेंद्रसिंह यादव, पैसिफिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2012 पृ० 24
4. हिंदी का ग। साहित्य, डॉ० रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 346
5. वही, पृ० 348
6. गुलाम मंडी, निर्मल भुराड़िया, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 7
7. नदी, उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, फ्लैप से।
8. मृगतृष्णा, शिल्पा बनर्जी, प्रिंटेड इन इंडिया दिल्ली, लेखकीय पृष्ठ से।
9. पंचकन्या, मनीषा कुलश्रेष्ठ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, फ्लैप से।

मो० 8949016862

शेखर जोशी की कहानियों में संघर्ष से जूझता मध्यम व निम्नवर्ग

डॉ० मृदुल जोशी

शोध निर्देशिका, हिंदी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)

तनुजा राणा

शोधार्थी, हिंदी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)

समाज मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त है जिसमें एक अत्यधिक धनी वर्ग होता है, दूसरा अत्यधिक गरीब वर्ग, तीसरा वर्ग मध्यम होता है। मध्यमवर्ग तीनों वर्गों में उत्तम है, क्योंकि यह वर्ग बुद्धिसंगत सिद्धांतों पर चलता है। जो व्यक्ति सौंदर्य, शक्ति, कुलीनता या धन-दौलत की दृष्टि से उत्तम है, वह बुद्धिसंगत विवेकपूर्ण सिद्धांतों पर नहीं चल सकता। वह या तो उग्र भयंकर अपराधकर्मी हो जाता है या फिर धूर्त, दुष्ट और बदमाश बन जाता है।¹ समाज में सबसे ज्यादा निम्न एवं मध्यमवर्ग की ही संख्या है। समाज को ये वर्ग सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं और सामाजिक परिवर्तन इन वर्गों को। साहित्य में भी इन्हीं वर्गों की अनेक समस्याओं को रचनाकारों ने उजागर किया है। इन वर्गों पर लिखा गया अपार साहित्य हिंदी-साहित्य में मौजूद है। प्रेमचंद, रेणु, यशपाल, कमलेश्वर, दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नागार्जुन अनेक ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने इन वर्गों के विभिन्न पक्षों को दृष्टिगोचर किया है। निम्न-मध्यम वर्ग समाज का महत्वपूर्ण वर्ग है, जिनकी मेहनत के कारण ही पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भर रही हैं। कमरतोड़ मेहनत के बाद भी इन वर्गों को कुछ प्राप्त नहीं होता। इनके हिस्से का लाभ शोषकवर्ग गटक जाते हैं और इसी कारण पूँजीपति और पूँजीपति बन जाते हैं और निम्न-मध्यम वर्ग और शोषित होते जाते हैं। मैक्सबेवर के अनुसार 'संपत्ति के भेद से वर्ग पैदा होते हैं, शक्ति में अंतर के कारण राजनीतिक दल पैदा होते हैं और सम्मान में भेद से स्तर का निर्माण होता है।'² संपत्ति के इसी भेद से उच्च निम्न एवं मध्यमवर्ग का जन्म हुआ।

मध्यमवर्ग

मध्यमवर्ग के अंतर्गत शिक्षक, क्लर्क, वेतनभोगी, छोटे-छोटे दुकानदार आदि आते हैं। इस वर्ग का उदय परिस्थितिअनुसार हुआ है। मध्यमवर्ग को प्रत्येक स्थिति में अपने जीवन में समझौता करना पड़ता है। निम्न एवं मध्यवर्ग के बीच की कड़ी कहा जानेवाला यह वर्ग ही

सामाजिक मान-मर्यादाओं व मूल्यों का बोझ उठाए घूम रहा है। रूढ़िवादिता और विषम परिस्थितियों के कारण मध्यमवर्ग ही इन मान्यताओं का पालन करता है। इस वर्ग का जन्म आर्थिक व तकनीकी परिवर्तन के कारण हुआ है। प्रथमतः यह वर्ग पश्चिम देशों में उत्पन्न हुआ था। मध्यमवर्ग की गति व स्थिति में बहुस्तरता दिखाई देती है। मध्यमवर्ग को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। परंतु इसकी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक नहीं है। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइन्सेज' में मध्यमवर्ग को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया गया है—मध्यमवर्ग अपनी सीमाओं में उद्योग और व्यापार के मँझली स्थिति के उ। मकतर्ता, जैसे शिल्पी और किसान अर्थात् वस्तुओं के छोटे उत्पादक, छोटे दुकानदार और व्यापारी तथा दफ्तरों के कर्मचारियों एवं वेतनभोगी लोगों को समाविष्ट करता है।³ वहीं 'मानक हिंदी कोश' में समाज के आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से विभाजित वर्गों (उच्च, मध्यम और निम्न) में से बुद्धि-प्रधान एक वर्ग जो सामान्य आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति वाला समझा जाता है और उच्चवर्ग, धनीवर्ग और निम्नवर्ग श्रमिक वर्ग के बीच में माना जाता है।⁴

मध्यमवर्ग को समाज का महत्त्वपूर्ण अंग बताते हुए गोविंद सदाशिव धुर्ये जी ने लिखा है—'मध्यवर्ग पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के दो चरमसीमा पर पहुँचे हुए वर्गों में केंद्रीय स्थिति रखता है और वह समाज का मुख्य प्रयोजन पूर्ण करता प्रतीत होता है।'⁵

मध्यमवर्ग की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति सामाजिक परिवर्तन व समाज के साथ हुई है। इसके विकास के पीछे अंतर्राष्ट्रीय शक्तियाँ व घटनाओं का योगदान माना जाता है। चौदहवीं शदी में इंग्लैंड से इस वर्ग की उत्पत्ति की बात कही जाती है, जिसका संबंध औ। गैगिक क्रांति से माना जाता है। मध्यमवर्ग की उत्पत्ति के संबंध में एफ०सी० पाम का कथन है—सन् 1812 तक मध्यवर्ग की संज्ञा किसी समुदाय-विशेष की नहीं थी। औद्योगिक विकास तथा नगरीय सभ्यता के बढ़ते स्वरूप ने पूँजीपति तथा श्रमिक के बीच एक नये वर्ग को उत्पन्न किया।⁶ इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के कारण संपूर्ण यूरोप में मध्यवर्ग सामाजिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया और अमेरिका जैसे देशों में भी इस वर्ग का जन्म हुआ। डॉ० बी०बी० मिश्र ने मध्यवर्ग का सूत्रपात भारत में अँग्रेजों के शासनकाल से माना है। आधुनिककाल में भारतीय मध्यवर्ग का विकास यकीनन नई परिस्थितियों के निर्माण होने से, जो ईस्ट इंडिया कंपनी के कानून से सुधरित विशेषतः सन् 1833 में व्यापार में स्थिति एकाधिकार शाही नष्ट करने के बाद हुआ।⁷ मध्यमवर्ग की परिभाषा व उत्पत्ति के विषय में ठोस रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

निम्नवर्ग

इस वर्ग के अंतर्गत किसान, मजदूर, शोषित वर्ग, पिछड़ा वर्ग आदि आते हैं। जिन व्यक्तियों की आय बहुत कम होती है तथा बहुत गरीब होते हैं, उन्हें इस निम्नवर्ग में रखा गया है। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर होती है। निम्नवर्ग अभी तक दासों की भाँति जीवन-यापन करता आया है। जिस कारण उच्चवर्ग व कुछ मध्यवर्ग के व्यक्ति भी निम्नवर्ग को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। प्राचीनकाल से आधुनिककाल तक इस वर्ग को सिर्फ यातनाएँ

और कष्टप्रद जीवन ही मिला है। जिस वर्ग की सहायता करनी चाहिए थी, लोगों ने उसी वर्ग का शोषण किया। जिस वजह से इनकी आर्थिक स्थिति बंद से बदतर होती गई। इस वर्ग में पिछड़ा वर्ग समूह भी आता है, जिसकी स्थिति को सुधारने के लिए सरकार द्वारा अनेक कार्य किए जा रहे हैं, जिनमें से पिछड़े वर्गों के नागरिकों के लिए सरकारी पद आरक्षित किए गए। उन्हें कुछ विशेष नियमों से मुक्ति दी गई।⁸ जिसके परिणामस्वरूप इस वर्ग में चेतना और जागृति का संचार हुआ है। निम्नवर्ग को भी चंद शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। निम्नवर्ग के संबंध में हिंदी साहित्य कोश में परिभाषा मिलती है—‘यह समाज का वह भाग है, जो अपनी जीविका का उपार्जन श्रम से करता है और अधिकतर इस वर्ग का ही शोषण किया जाता है। इस वर्ग के अंतर्गत किसान, मजदूर आदि आते हैं।’⁹ इसके अलावा ‘निम्नवर्ग को बेरोजगारवर्ग के रूप में परिभाषित किया गया, जो राज्य द्वारा प्रदत्त लाभों पर निर्भर रहता है।’¹⁰ निम्नवर्ग का शोषण कर शोषकवर्ग मजे व आरामदायक जिंदगी जी रहा है और शोषितवर्ग रोटी तक के लिए तरस रहा है। इस स्थिति से क्षुब्ध डॉ० सुशीला मित्तल लिखती हैं—‘शोषकवर्ग समाज पर अधिक और राजनीतिक शासन करता है। शोषितवर्ग उन लोगों का वर्ग है, जो शारीरिक श्रम तो करते हैं, परंतु इस श्रम का फल उन्हें प्राप्त होने के बदले शोषकवर्ग को प्राप्त होता है।’¹¹

आर्थिक तंगी के चलते न तो यह वर्ग स्वयं पढ़ पाता है और न अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दे पाता है, जिस कारण इनके बच्चे भी बेरोजगारी की समस्या से जूझते रहते हैं और अपना पेट पालने के लिए कोई भी कार्य करने को मजबूर हो जाते हैं। परिणामतः निम्नवर्ग के लोग अपने को अधिक अलग-थलग महसूस करते हैं।

शेखर जोशी जी ने निम्न एवं मध्यमवर्ग की स्थिति का वर्णन करते हुए उनकी आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उन्होंने उच्चवर्ग द्वारा किए जानेवाले निम्न-मध्यमवर्ग के शोषण को अपनी कहानियों के द्वारा उजागर किया है। शेखर जोशी एक सरल व ईमानदार लेखक हैं। इन्होंने नगरों व गाँवों के निम्न एवं मध्यमवर्ग की दयनीय स्थिति को अनुभव किया और इन वर्गों से सहानुभूति रखते हुए समाज को इनके हालात से अवगत कराया। शिक्षा के अभाव में जातिगत भेद के कारण निम्नवर्ग उच्चवर्ग के अधीन काम करता आया है। उच्चवर्ग द्वारा मिले तिरस्कार को सहते हुए मजदूरवर्ग अपना व अपने परिवार का पेट पालने के लिए उच्चवर्ग के घरों, खेतों, व्यवसाय आदि में नौकर बनकर काम करता है। ‘समर्पण’ कहानी में शिल्पकार जमींदारों के खेतों में मजदूरी करते हैं, क्योंकि उनके पास आय का अन्य कोई साधन नहीं है—‘विभाजित जमींदारीवाले घरों से मिली हुई दो-तीन नाली जमीन तथा मालिकों के खेतों में हल चलाने, गोड़ने, काटने की नित्यप्रति की मजदूरी के अतिरिक्त जीविका का अन्य कोई साधन विरले ही शिल्पकार के पास था। मालिकों की एक ही आवाज पर हाथ का कौर हाथ में लेकर जो न दौड़ पड़ता हो, ऐसा कोई नहीं था।’¹² लोगों को लगता है कि सिर्फ निम्नवर्ग ही छोटे काम के लिए बना है। इस कहानी में निम्नवर्ग द्वारा सम्मान के लिए उठाई गई आवाज का उच्चवर्ग पर पड़ा प्रभाव दिखाया गया है कि यह वर्ग काम करने से मना कर दे तो उच्चवर्ग की हालत खस्ता हो जाएगी। इस कहानी में शोषित वर्ग के कारण चिंतित मालिक

लोग सोचते हैं—मान लो, कल कोई गाय-बछिया गोठ में मर जाए और ये लोग उठाने से इनकार कर दें तो घर के आँगन में ही चील-कौए मँडराने लगेंगे। बदबू से सिर भन्ना जाएगा।...ब्याह-बरात में कुल चार शिल्पकार डोली उठाने न आएँ तो दूल्हा द्वार से ही पैदल चलेगा।...कल को ढोली कह दे कि वह नगाड़ा दमुवाँ बजाने नहीं आएगा तो क्या हर काम-काज में बैँड-बाजा लेने अल्मोड़ा शहर ही जाना पड़ेगा?'¹³ निम्न एवं मध्यमवर्ग की आर्थिक विपन्नता का कारण रोजगार के साधनों का अभाव भी है। पर्वतीय क्षेत्रों में आज के समय भी लोग खेती पर ही निर्भर हैं। पर 'परिवार की बढ़ती के साथ पहाड़ की खेती पर निर्वाह किसका होता?'¹⁴ जिस कारण वे लोग नगरों में रोजगार की तलाश में जाते हैं और वहाँ शोषकवर्ग द्वारा शोषित होकर रह जाते हैं। शहरों में ठेकेदारों के चंगुल में फँसकर अपनी स्थिति सुधर नहीं पाते, परंतु ठेकेदार व उच्चवर्ग की स्थिति अवश्य सुधार देते हैं। अपने शहरी आश्रयदाताओं के रूप में गाँव में निम्नवर्गीय व्यक्ति को गाँव का शोषकवर्ग ही दिखाई देता है—'होटल की बेयरागिरी से लेकर घरेलू नौकरी तक और हर जगह उसे यही अनुभव हुआ था कि उसे आश्रय देनेवाले किसी भी रूप में भीमसिंह पधन, मोतीराम जी या सैलानी साहबों से भिन्न नहीं हैं।'¹⁵

गाँव में निम्न एवं मध्यमवर्ग अपनी रोजी-रोटी के लिए संघर्षरत रहता है और अपने बच्चों को बड़ा आदमी बनाने के लिए हरसंभव प्रयास करता है, जिसकी व्याख्या शेखर जोशी जी ने की 'गलता लोहा' कहानी में मोहन को छात्रवृत्ति मिलने पर साधरण हैसियत वाले यजमानों की पुरोहिताई करने वाले वंशी तिवारी का हौसला बढ़ गया और वे भी अपने पुत्र को पढ़ा-लिखाकर बड़ा आदमी बनाने का स्वप्न देखने लगे। पीढ़ियों से चले आते पैतृक धंधे ने उन्हें निराश कर दिया था। दान-दक्षिणा के बूते वे किसी तरह परिवार का आधा पेट भर पाते थे।¹⁶ आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण निम्न एवं मध्यमवर्ग की इच्छा और आकाशाएँ यँ ही दम तोड़ देती हैं। उच्चवर्ग की तरह जीवन जीने की चाहत में मध्यमवर्ग घुटन भरी जिंदगी जीने को मजबूर है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए यह वर्ग गाँवों से निकलकर शहरों की ओर निकल तो जाता है, पर अपने गाँव में वापस आने की उसकी इच्छा आर्थिक हालात की वजह से पूरी नहीं हो पाती, शहर में एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में भेंट-मुलाकात करने की बात तो हर बार अगले महीने पर टल जाती है। फिर इतने वर्षों से छूटा हुआ घर है, टूट-फूट, मरम्मत सफाई इतना लंबा परिवार लेकर जाना, नाते-रिश्तेदार, लेन-देन सभी कुछ है—कभी इस लायक स्थिति हुई तो जाएँगे ही।'¹⁷ इसी आर्थिक विपन्नता की समस्या को मुखरित करती कहानी 'कथा-व्यथा' में जीवन्ती की आय का साधन केवल उसकी एक गाय है—यह गाय न होती तो उसके नून-तेल की भी आफत थी।'¹⁸

लेखक ने अपनी कहानियों में इस मुद्दे को उजागर करते हुए उच्चवर्ग के द्वारा किए गए शोषण की कहानी कही है। प्रत्येक परिस्थिति में निम्न व मध्यमवर्ग ही प्रभावित होता है और इन्हीं वर्गों के लोग सबसे ज्यादा मेहनत करते हैं। आर्थिक संपन्नता का सपना लिए यह वर्ग अपनी कार्य पद्धति पर चलता रहता है, फिर भी इस वर्ग के स्तर को सुधरने के लिए इन्हें किसी-न-किसी सहारे की आवश्यकता अवश्य है।

संदर्भ

1. पॉलिटिक्स, अरस्तू, मार्टन लाइब्रेरी, न्यूयार्क, 1943, पृ० 1990
2. उद्धृत, मध्यवर्गीय चेतना और हिंदी उपन्यास, भूपसिंह भूपेंद्र, पृ० 5
3. एनसायक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइंसेज, पृ० 407
4. मानक हिंदी कोश, सं० रामचंद्र वर्मा, पृ० 284
5. जाति, वर्ग और व्यवसाय, गोविंद सदाशिव धुर्ये, पृ० 264
6. कास्ट, क्लास एंड ओक्यूपेशन, गोविंद सदाशिव धुर्ये, पृ० 290
7. द इंडियन मिडिल क्लासेज, डॉ० बी०बी० मिश्र, पृ० 7
8. नई कहानी, मीरा सीकरी, पृ० 28
9. हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, डॉ० धीरेंद्र वर्मा, पृ० 449
10. The wise dictionary.com
11. आधुनिक हिंदी कहानी में नारी भूमिकाएँ, डॉ० सुशीला मित्तल, पृ० 35
12. 'समर्पण', शेखर जोशी : संकलित कहानियाँ, शेखर जोशी, पृ० 59
13. वही, पृ० 62
14. 'बिरादरी', मेरा पहाड़, शेखर जोशी, पृ० 75
15. 'बोझ', प्रतिनिधि कहानियाँ, शेखर जोशी, पृ० 46
16. 'गलता लोहा', डांगरी वाले, शेखर जोशी, पृ० 76
17. 'व्यतीत' मेरा पहाड़, शेखर जोशी, पृ० 98
18. 'कथा-व्यथा', मेरा पहाड़, शेखर जोशी, पृ० 106

काका हाथरसी के काव्य में हास्य-व्यंग

प्रा० डॉ० महेमूद पटेल

आनंदराव धोंडे महाविद्यालय, कड़ा

मनुष्य जीवन में रिक्तता, कड़वाहट और कसैलापन आ गया है। बाहरी-भीतरी दोनों रूपों में घात-प्रतिघात व्यक्ति झेल रहा है। घृणा, क्रोध, करुणाभरे वातावरण की अनुभूति की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन हास्य-व्यंग ही है।

हास्य मनुष्य की एक सर्वसामान्य प्रवृत्ति है। मनुष्य के मनोरंजन की परिणति हास्य में होती है। हास्य का महत्त्व बताते हुए डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी कहते हैं, 'हँसी जीवन का विटामिन है। इसके बिना जीवनरस की परिपुष्टि नहीं। यदि मनुष्य और कुछ न सीखकर केवल हँसना सीख ले, दूसरों को देखकर हँसना नहीं, अपने आप पर हँसना तो वह सहज ही संसार और घर-गृहस्थी के भार तथा दुःख-झंझटों को झेल सकता है।'¹ जीवन के संपूर्ण आस्वाद के लिए हास्य का होना आवश्यक है।

व्यंग में शोषित वर्ग के प्रति करुणा का भाव होता है, जो सामाजिक बदलाव के लिए प्रेरित करता है। व्यंग्य को स्पष्ट करते हुए रवींद्रनाथ त्यागी एक साक्षात्कार में बताते हैं कि समाज की कुरीतियों का भंडाफोड़ करने का कार्य मुख्यतया व्यंग्य द्वारा ही हो सकता है। जब मैं दुःखी होता हूँ, तो व्यंग्य लिखता हूँ'² डॉ० बापु देसाई कहते हैं, 'व्यंग्य समाज की तत्कालीन विसंगतिपूर्ण परिवेश की वह तल्लख अभिव्यक्ति है, जो प्रहार कर व्यक्ति, वस्तु तथा समाज की पोल खोलने का एक अस्त्र है।'³

प्रभुलाल गर्ग उर्फ काका हाथरसी हास्य-व्यंग के पुरोधामाने जाते हैं। अनेक दशकों तक उन्होंने लोगों को हँसाया है। काकाजी हास्य-व्यंग्य के ज्ञान को अपनी पहली दौलत मानते हैं। काकाजी के व्यंग्य पर डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल कहते हैं, 'काका की कलम का कमाल कार से लेकर बेकार तक, शिष्टाचार से लेकर भ्रष्टाचार तक, रिश्वत से त्याग तक और कमाई से मँहगाई तक देखने को मिलता है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में धड़ल्ले से प्रवेश किया है।'⁴ काका के व्यक्तित्व की अलग पहचान बनानेवाली दाढ़ी सन् 1956 के आस-पास उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गई है। उन्होंने अपनी कविताओं में भी दाढ़ी के महत्त्व का गुणगान किया है—

काका दाढ़ी रखिए, बिन दाढ़ी मुख सून,

ज्यों मंसूरी के बिना, व्यर्थ देहरादून।

अपनी पत्नी पर हास्य-व्यंग की रचनाएँ करना हास्य-व्यंग कवियों की एक प्रवृत्ति रही

है। काकाजी के सौंदर्य का वर्णन करते हुए काकाजी लिखते हैं—

भिंडी जैसी भृकुटि है, तुरई जैसी नाक।
जामुन जैसी पुतलियाँ, आँख आम की फाँक।
कच्चे पापड़-से पलक, ढंके-उघारे नैन।
मन में कुदके मेंढका, मटकायो जब सैन।⁵

काकाजी के नख-शिख वर्णन के बाद काका मानते हैं कि ऐसी पत्नी को घर में पाकर कौन खुश रह सकता है। काकाजी 'मत पूछो मेरा हाल' कविता में अपने दिल की व्यथा कहते हैं—

मत पूछो मेरा हाल, सखे।
काकी घर में आई जब से, ये पिचक गए हैं गाल सखे।
मैके जाने का नोटिस देकर, मुझको नित्य डराती है,
लेकिन मोटर के अड्डे से वापस घर को आ जाती है।
कोई ऐसी तरकीब बता, यह कट जाए जंजाल सखे!
मत पूछो मेरा हाल, सखे।⁶

काकाजी ने सिर्फ इंसानों को ही नहीं, मानवैतर प्राणियों को भी अपनी कविता का लक्ष्य बनाया है। काकाजी ने गधे पर कविता लिखी है, जो बेचारा ईमानदार है, किंतु अगर वह अपने मालिक को पिटवाने पर आ जाए तो वह क्या कर सकता है। 'गदहा भाव' कविता में काकाजी कहते हैं—

गदहा मालिक से कहे, तू क्या पीटे मोहि,
चल तो सही बजार में, मैं पिटवाऊँ तोहि।
मैं पिटवाऊँ तोहि, चाल तिरछी कुछ आड़ी,
सूटबूटधारी के एक दुलत्ती झाड़ी।
बदले की भावना गधे ने तुरंत दिखाई,
मालिक की हो गई, सरे-बाजार पिटाई।⁷

पक्षियों में कौए का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'काकदूत' कविता में काकाजी का महत्त्व बताते हुए काकाजी लिखते हैं, 'पक्षियों में कौए का उतना ही महत्त्व है, जितना क्रिकेट के 'बॉलर' का और अमेरिका में 'डॉलर' का। यदि 'काक' कोई थर्ड रेट का पक्षी होता, तो बाप के भाई को काका नाम से संबोधित किया जाता।⁸

रूठकर मायके चली गई काकी को मनाने के लिए काका अपना संदेश काक द्वारा काकी तक भेजते हैं—

तभी खोलता-सा भविष्य के पृष्ठ, अचानक
काँव-काँव कर बोल उठा, कोठे पर कागा।⁹

काका हाथरसी ने देश-विदेशों में आयोजित कविसम्मेलनों में हिस्सा लिया, तभी तो ख्यातिप्राप्त कवियों में उनका नाम लिया जाता है। उन्होंने अपने अनुभवों के सहारे 'मेरा परिचय' कविता में लिखा है—

मैं जन्मजात कवि काका हूँ, कोई न अब तक गुरु किया,
धरती पर आते ही मैंने, कविता में रोना शुरू किया।
गर्भावस्था से ही मुझमें, कविता के अंकुर फूट रहे,
चच्चा खुश होकर कूद रहे, मम्मा के छक्के छूट रहे।¹⁰

कहा जाता है कि जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। अर्थात् जहाँ पर रवि की किरणें नहीं पहुँचतीं, वहाँ पर कवि अपनी कल्पना के माध्यम से पहुँचता है। इस कहावत का आधुनिक रूप काकाजी ने अपनी कविता 'जहाँ न पहुँचे रवि' प्रस्तुत की है—

काका! अर्थ अभाव में, व्यर्थ रहे क्यों डोल,
सो जाएँ जब श्रीमती, उनका पर्स टटोल।
उनका पर्स टटोल, कला-प्रतिभा दिखलाओ,
पकड़े जाओ रँग हाथ, तो यों समझाओ।
देवी! तेरे बटुए में, न पहुँच पाया रवि,
रवि नहीं पहुँचे जहाँ, वहाँ पर पहुँच गया कवि।¹¹

कवि जब कवि सम्मेलन में जाते हैं, तब उनका उत्साह से सम्मान किया जाता है, गले में हार डाले जाते हैं, प्रशंसा होती है, चाय पिलाई जाती है। फोटो खिंचवाए जाते हैं, किंतु जैसे ही 'कवि सम्मेलन' खत्म होता है, तब संयोजक मैदान छोड़कर भाग जाते हैं। क्योंकि उनके पास कवियों को 'पत्रम्-पुष्पम्' प्रदान करने के लिए पर्याप्त धन नहीं होता। ऐसे कई अनुभव काकाजी ने प्राप्त किए हैं।

आधुनिक कविता में विशिष्ट वादों पर काकाजी ने कविताएँ लिखी हैं। काकाजी 'रहस्यवाद' पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि जिस कविता को समझा न जा सके वह रहस्यवाद है। रहस्यवाद' कविता में काकाजी लिखते हैं—

माइट इज राइट, ब्लैक इज व्हाइट,
यू आर राँग, आई एम राइट।
टैक्सिग हाई, ट्राई ऑन ट्राई,
आई एम मिर्च, यू आर खटाई।
समझे, इस कविता की गहराई,
इसे 'मिस्टीसिज्म' यानी रहस्यवाद कहते हैं चुकंदरभाई।¹²

इस प्रकार नई कविता पर हमेशा काकाजी ने व्यंग्य किया है। नई कविता पर व्यंग्य करते हुए 'स्लीपर में साहित्य चर्चा' कविता में काकाजी लिखते हैं—

जो समझ में न आए, वही है कला का सार,
और यही सिद्धांत है, नई कविता का आधार।
शब्द ऐसे फिट करो, जो अपने स्थान से हिल न सकें,
उनके अर्थ किसी भी कोश में मिल ना सकें।
तुक मिलाने का कहीं भी किया कष्ट,
तो नई कविता हो जाएगी भ्रष्ट।¹³

‘बुद्धिजीवी’ कविता में काकाजी एक उदाहरण देकर बुद्धिजीवी वर्ग पर तीखा व्यंग्य करते हैं। एक थोक व्यापारी को छापामार दस्ते के अफसर ने जमाखोरी के केस में पकड़ा और उससे पूछा कि लाला स्टॉक में इतना घोटाला क्यों करते हो, तो उसका उत्तर कितना मर्मभेदी और बुद्धिजीवी वर्गपर व्यंग्य करता है। काकाजी लिखते हैं—

एक शून्य का ही तो फर्क है सरकार
हम क्या चीज हैं,
अच्छे-अच्छे मचा रहे हैं लूट-खसोट,
पद्मश्री के यहाँ पकड़े गए थे,
आठ लाख के नोट।
जैसी बुद्धि से प्रेरणा मिलती है,
वैसा लिख देते हैं हिसाब,
अपन तो बुद्धिजीवी हैं साब।¹⁴

काकाजी ने अपने व्यंग्य से फिल्म सिटी को भी नहीं बखशा है। काकाजी ने फिल्मी व्यंग्य के रूप में फिल्मी संसार में व्याप्त बुराइयों पर भी व्यंग्य किए हैं। फिल्मों में एक स्थान पर एक अभिनेता एक अभिनेत्री के साथ पिता का अभिनय करता है, तो वही अभिनेता उसी अभिनेत्री के साथ अन्य फिल्मों में पति, पुत्र, प्रेमी या भाई का अभिनय करता है। बड़े बड़े नेताओं जैसे डेनी, प्राण आदि पर भी उन्होंने छिंटकसी की है—

नाक-नक्श नेपाल के, हिंदुस्तानी आर्ट।
फबता है तुम पर बहुत, खलनायक का पार्ट।
तज करके खलनायकी, लिए करैक्टर रोल।
यह प्रण करके प्राण का, और बढ़ गया मोल।¹⁵

आजकल कार्यालयों में फाइलों का ताँता-सा लगा रहता है, लेकिन भ्रष्टाचार इतना समाया हुआ है कि लेनदेन बगैर फाइल आगे बढ़ने का नाम ही नहीं लेती। किसी भी कार्यालय में फाइलों का ढेर रहता है। काकाजी ‘फाइल महिमा’ कविता में लिखते हैं—

फाइल, तू बड़भागिनी है, कौन तपस्या कीन,
नेता, अफसर, क्लर्क सब, हैं तेरे आधीन।
हैं तेरे आधीन, मिनिस्टर बाहर जाते,
पत्नी को घर छोड़, साथ तुझको ले जाते।¹⁶

इस तरह भले ही फाइलें मंजूर हों या न हों, किंतु नेता, अफसर फाइलों को जरूर ढो रहे हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काकाजी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से समाज के कोने-कोने को देखा, परखा, समझा है। जहाँ पर भी गंदगी दिखाई दी, उन्होंने अपने हास्य-व्यंग्य की मधुर मार से उसे साफ किया है। आधुनिककाल में हास्य-व्यंग्य के पुरोधा काकाजी का साहित्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ

1. डॉ० बसानेलाल चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य में हास्यरस, पृ० 13
2. कमलकिशोर गोयनका, प्रतिनिधि व्यंग्य, पृ० 292, 293
3. डॉ० बापूराव देसाई, हिंदी व्यंग्य विधा : शास्त्र और इतिहास, पृ० 20
4. काका हाथरसी, काका का दरबार, पृ० 77
5. डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, काका की विशिष्ट रचनाएँ, पृ० 30
6. काका हाथरसी, काका काकी के लवलेटर्स, पृ० 22
7. डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पैरोडियाँ और कविताएँ, पृ० 27
8. वही, पृ० 68
9. काका हाथरसी, कक्के के छक्के, पृ० 105
10. काका हाथरसी, काका की चौपाल, पृ० 119
11. काका हाथरसी, काका शतक, पृ० 45
12. डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पैरोडियाँ और कविताएँ, पृ० 23
13. डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, काका की विशिष्ट रचनाएँ, पृ० 38
14. काका हाथरसी, कूटनीति मंथन करी, पृ० 45
15. काका हाथरसी, काका का दरबार, पृ० 26
16. डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, काका की विशिष्ट रचनाएँ, पृ० 163

इक्कीसवीं सदी के हिंदी साहित्य में चित्रित दलित स्त्री-संवेदना

डॉ० दोड्डा शेषु बाबु
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी
हैदराबाद 32

स्त्रीवादी साहित्य स्त्री-चेतना का साहित्य है। स्त्रियों का उत्पीड़न और दासता का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना उत्पीड़न पर आधारित सामाजिक संरचनाओं के उद्भव और विकास का। नारी प्रचीनकाल से ही उत्पीड़न का शिकार होती रही है। धार्मिक रीति-रिवाजों के तहत स्त्री का अस्तित्व बहुत कम दिखाई देता है। मध्यकाल में शृंगार की देवी के रूप में दिखाई देती है। आधुनिककाल में एक सही इंसान के रूप में पहचानने का प्रयत्न आज भी जारी है। कानूनी स्वरूप में बदलाव और सामाजिक दशा-दिशा ने स्त्री को कुछ हद तक सुरक्षा तथा अधिकार (पहचान-सरोकार) प्रदान करने में मदद की है। फिर भी में यह विकास या परिवर्तन केवल उच्चवर्ण की स्त्रियों तक ही सीमित है। क्योंकि उच्चवर्ण की स्त्रियाँ आर्थिक तथा सामाजिक रूप में सक्षम हैं। शिक्षा तथा रोजगार के संदर्भ में भी उन्होंने स्वयं संवृद्धि पाई है। स्त्री-विकास के नाम पर जो भी विकास की योजनाएँ बनी हैं, वे सब उच्चवर्ण की स्त्रियों तक ही पहुँचना वर्तमान की सच्चाई है। इस समाज में स्त्री-विकास को लेकर जो भी चर्चा होती है, वह केवल तथाकथित स्त्रियों को लेकर ही होती है। दुर्भाग्य की बात यह है कि हम भारत की आबादी में हाशिए के समुदाय को लेकर, मुख्यतः दलित समुदाय को लेकर, कोई चर्चा नहीं करते हैं। इसका मुख्य कारण है वर्ण-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक दर्जा।

दलित स्त्रियों की आशा-आकांक्षाओं तथा जीवन की गतिविधियों को लेकर आज तक कोई भी साहित्य यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं हुआ है। तथाकथित प्रामाणिक साहित्य स्त्रियों को एक ही इकाई के रूप में दिखाने का प्रयास करता रहा है। इसी कारण दलित स्त्रियों के जीवन-इतिवृत्त को सही रूप में नहीं दर्शाया गया है। दलित स्त्रियों का जीवन हमेशा से अभिशप्त जीवन है। जाति के नाम से, संप्रदायों के नाम से, वर्ण के नाम से उन्हें हमेशा अपमान ही मिलता रहा है। गरीबी के कारण बचपन से ही दलित बच्चियाँ यातनाओं का शिकार होती रही हैं। गरीबी के कारण इन्हें अमीरों के घरों में बेगारी करने के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है। वहाँ पर उन्हें कदम-कदम पर अन्याय और अपमान का शिकार होना पड़ता है। घर के

कामकाजों से लेकर यौन-शोषण तक इनका प्रताड़न होता है। इतना ही नहीं, बचपन में ही उन्हें देवदासी बनाकर यौन-शोषण के साथ-साथ उनकी पूरी जिंदगी को बर्बाद किया गया है। इन्हीं लोगों को धर्म या संप्रदायों की अंधता के कारण या किसी अन्य साजिश से डायन कहकर या काला जादू के नाम से मारते भी हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग के अनुसार दलित महिलाओं पर हिंसा या अत्याचार की घटनाएँ 6 प्रकार से होती हैं। वे हैं—‘शारीरिक हमला, मौखिक दुर्व्यवहार, बलात्कार, यौन-शोषण, वेश्यावृत्ति, अपहरण और इसके साथ-साथ भ्रूणहत्या, बाल यौन-शोषण और घरेलू हिंसा। दलित महिलाओं पर उच्चवर्ण के पुरुष उनके कार्य-स्थलों में विभिन्न प्रकार के अमानवीय व्यवहार करते हैं।’¹ धर्म या अंधविश्वासों के नाम पर दलित महिलाओं को मारने की घटनाएँ आज भी हमारे सामने आती रही हैं। हाल में हुई घटनाएँ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। झारखंड के पूर्वी सिंहभूमि तथा तेलंगाना के नल्गोंडा और महबूबनगर में दलित महिलाओं को काला जादू के नाम पर जिंदा जलाकर मारा गया है।

इस प्रकार की अमानवीय व्यवस्थागत दुराचार या स्थितियों पर प्रहार करते हुए अनिता भारती लिखती हैं—

जब इस देश की
दलित दमित-आदिवासी
बच्चियों का बचपन महँगे ऊँचे चमकीले घरों में
बँधुआ मजदूर की तरह
कराहता, सिसकता हो....
यौन उत्पीड़न के नाम पर
होम हो जाता हो
डायन, देवदासी, बेड़ियाँ
मैल ढोने और
देह की मंडी में परंपराओं के नाम पर धकेल दिया जाता है।²

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेष संवादाता के संदर्भ में यह बात साबित होती है कि ‘दलित महिलाओं पर हमले (अत्याचार, अपहरण, मार डालना आदि) उच्चवर्ण के लोग करते हैं। इसका मुख्य कारण है—वर्ण-व्यवस्था पर आधारित प्रभुत्व।’³ दलित समाज को प्राचीनकाल से ही गाँव से दूर रखकर मौलिक सुविधाओं से वंचित रखा है। प्रधान समाज से दूर रखकर उन्हें केवल ग्रामीण मजदूरों के रूप में ही माना गया है। आज भी दलित अधिक संख्या में गाँव में खेतीहर मजदूर बनकर और शहर में सफाई कर्मचारी बनकर काम कर रहे हैं। आज भी 20 हजार से ज्यादा दलित लोग अपने हाथों से मानव मल-मूत्र उठा रहे हैं। इसमें अधिक भाग युग-युगों से सफाई का काम करनेवाली दलित स्त्रियों का है। इसी बात को रजनी तिलक अपनी कविता के माध्यम से बताती है—

परंतु समाज में हम भंगिन, चमारी, धोबिन कहलाई
भंगिन ढोती है सर मैला
खींचती है कूड़े की ट्राली

चमारिन करती है बेगारी खेतों में
शहरों में माँजती है बर्तन
ढोती है सिर पर ईंट
समझी जाती है संपत्ती मालिक की।³

इस देश की संपत्ति या विकास के संदर्भ में दलित महिलाओं का योगदान नहीं भूलना चाहिए। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक वह कभी भी अपने लिए नहीं जी। आँधी हो या बाढ़, हमेशा ये महिलाएँ समाज के हित में ही काम करती रही हैं—

हमारी बस्ती में
काली-काली-सी बुढ़िया
हर रोज बिना रुके
आँधी हो या तूफान
रविवार हो या तीज-त्योहार
सुबह होते ही
हाथ में बालटी झाड़ू थामे
आती है।⁴

दलित महिलाएँ जिंदगी-भर मेहनत करती रहती हैं। चाहे वह ग्रामीण स्त्री हो या शहर की। घर के अंदर और बाहर दिन-रात काम करना पड़ता है। लेकिन इनके श्रम का फल ठीक से आज तक मिला नहीं। इतना श्रम करने पर भी वे आर्थिक रूप से आज भी परतंत्र हैं। अक्सर लोग कहते हैं दलित-स्त्री स्वतंत्र है। लेकिन वैसी स्थिति उनके साथ रही नहीं। इसी बात पर रजतरानी मीनू अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं कि 'अक्सर सवर्ण स्त्रियों की ओर से दलित और आदिवासी स्त्रियों के बारे में एक भ्रामक बात बार-बार फैलाई जाती है कि वे अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र होती हैं। ऐसा कहनेवालों ने कभी सोचा है कि वे बाई का काम, सफाई का काम, बेलदारी का काम, इस्तरी का काम, सब्जी बेचने का काम, कपड़े धोने का काम, इनके बच्चे खिलाने इत्यादि काम करने की आजादी से अपने पढ़ने-लिखने, साहित्य रचने, किट्टी पार्टी करने, ब्यूटी पार्लर में मसाज करवाने, मॉलों में शापिंग, महँगे...आदि सुख-सुविधाओं को यदि गुलामी समझती हैं तो वे दलित महिलाओं की तथाकथित आजादी से अपनी गुलामी बदल क्यों नहीं सकतीं।'⁵ वास्तव में दलित-स्त्री भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की शिकार बननेवालों में पहली है। हिंदू वर्ण-व्यवस्था से संबंधित सभी विषयों का अनुपालन करती है। दैनंदिन जीवन में अनेक प्रकारों के दमन की शिकार हो रही है। लड़की के कारण पैदा होने के कारण घर में, वह भी अस्पृश्य जाति में होने के कारण गली में, वह कदम-कदम पर अपमानित होती रही है। इसी बात को चल्लपल्ली स्वरूपा रानी बताती हैं कि—

अरे हा...अपनी जिंदगी को मैंने जिया कब?
घर में पुरुषअहंकार एक गाल पर थप्पड़
मारता है
गली में वर्ण आधिपत्य दूसरे गाल पर चोट करता है।⁶

दलित-स्त्रियों के संदर्भ में और एक मुख्य विषय है मुखारबिंद या सुंदरता। इस वर्ण-व्यवस्था पर आधारित समाज में व्यक्ति की इज्जत उसके रूप या श्रम पर नहीं, बल्कि उनके वर्ण के आधार पर की जाती है। रंग और रूप अपने-अपने सामाजिक, प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण पर निर्भर होते हैं। लेकिन यहाँ जाति के आधार पर रंग और रूप की परिभाषा करते हैं। इसी बात का विरोध करते हुए रजतरानी मीनू लिखती हैं—

याद हैं मुझे वे सहेलियाँ
जो कहती थीं
तू चमार तो लगती नहीं
और मैं सोचती थी
यह लगना क्या है...⁷

इसी बात को रजनी तिलक कहती है कि—

अच्छा या बुरा मुखारबिंद से पता होता है क्या
सुंदरता योग्यता में है
या उसके वर्ण में।⁸

इन्हीं कारणों से दलित-स्त्री अपनी वेदना और संवेदना को अलग समझती है। उसका जीवन तथा सामाजिक परिवेश अलग होने के कारण, वह हमेशा स्वयं की आम स्त्री से अलग ही समझती है। स्त्रीवाद के प्रमुख मुद्दे-बहनापा, (Sisterhood is powerful) जैसे नारों से विभेदित है। वह अपनी अस्मिता तथा अस्तित्व को अलग से ही घोषित करना चाहती है—

तुम्हारा बहना किस काम का
जिसमें मेरा दुःख शामिल नहीं
तुम्हारी स्त्री-मुक्ति की लड़ाई किस काम की
जिसमें मेरी लड़ाई शामिल नहीं
मुझे कहते हैं सांसी
मैं हूँ तुम्हारी दुनिया में बदनाम औरत।⁹

वास्तव में स्त्रीवादी विचारधारा के लोग आज भी 'स्त्री का मतलब स्त्री ही है' कहकर दलित-स्त्री की जिंदगी से जुड़े विभिन्न पहलुओं को नजरअंदाज करना चाहते हैं। विदेशों की तरह भारत एक जाति या एक धर्मवाला देश नहीं है। यहाँ धर्म और वर्ण के नाम से सामाजिक संप्रदायों तथा रीति-रिवाजों में विभाजन स्पष्ट दिखाई देता है। उच्चवर्ण की स्त्रियों को वर्ण के नाम पर जो सम्मान मिलता है, उसी तरह दलित स्त्री होने के कारण उन्हें अपमान ही मिलता है। इसी वजह से वह तथाकथित बहनापा पर प्रश्नचिह्न लगाती है। दलित महिलाओं का रेप (अत्याचार), अपमान, अवहेलना तथा मारना इस समाज के नियमित काम हैं। इस पर कोई महिला संगठन या उस संगठन के नेताओं की आवाज उठाती नहीं। इस प्रकार की दोगली नीति हर क्षेत्र में दिखाई देती है। दलित और उच्चवर्ण की स्त्रियों के बीच के सामाजिक अंतर में आज भी कोई तब्दीली नहीं आई है। उच्चवर्ण की स्त्री हमेशा उस अंतराल को बनाए रखना चाहती है। दलित स्त्रियाँ जब भी अत्याचार या हत्या का शिकार होती हैं, उस संदर्भ में उच्चवर्ण

की स्त्रियों की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। वही अगर उच्चवर्ण की स्त्रियों के संदर्भ में होता है, तो उनकी प्रतिक्रिया उग्र रूप में होती है। ऐसी व्यवस्थीकृत विचारधारा का खंडन करते हुए अनिता भारती लिखती हैं—

जब इस देश में हजार निर्भयाएँ हों
तब एक ही निर्भया के लिए
जंतर-मंतर को
देश की संसद को
देश के पुलिस थानों को
देश के गली-मोहल्ले को
युद्ध-स्थलों में बदल देना
कहाँ तक वाजिब है।¹⁰

अतः इस समाज में जिस प्रकार जातियों का विभाजन है, उसी प्रकार स्त्रियों के बीच में भी विभाजन स्पष्ट दिखाई देता है। सभी स्त्रियाँ एक नहीं हैं और सबकी समस्याएँ तथा जीवन की गतिविधियाँ एक नहीं हैं। धर्म तथा जातिपरक नियमों से संचालित इस सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियाँ भी विभाजित हैं और उनकी सोच में भी विभाजन है। इसी कारण दलित स्त्री अपने-आपको स्वयं मुक्त करना चाहती है। वर्ण-व्यवस्था से जुड़ी तमाम परंपराओं का खंडन कर इंसानियत को स्थापित करना चाहती है और कहती है—

बरसों से थामा था जो कारवाँ,
आज निकल पड़ा अपनी मंजिल को पाने।
इंसान का रुतबा पाने,
आज निकल पड़ा है, दलित स्त्रियों का कारवाँ।
चिंदियों में बिखेर समाज का नकाब,
कर रही हैं खुलासा इस सच्चाई का,
हम भी हैं इंसान, दलितों में दलित नहीं।
चाहे बहाना पड़े खून का कतरा,
नहीं थमेगा अब हमारा यह कारवाँ,
जब तक मिल नहीं जाता,
हमें इंसान का रुतबा।¹¹

निष्कर्षतः, दलित स्त्रीवाद दलित स्त्रियों के जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करनेवाला एक विशिष्ट वाद है। परंपरागत रूप से आ रहे सभी स्त्रीवादी विचारों में परिवर्तन की आकांक्षा अलग विचारधारा को प्रकट करना चाहती है। अब तक परिभाषित सभी स्त्रीवादी विचार केवल उच्चवर्ण की स्त्रियों की समस्याओं के रूप में घोषित कर दलित तथा आदिवासी स्त्रियों के अस्तित्व तथा समस्याओं को नजरअंदाज किया गया है। इसका मुख्य कारण है वर्ण-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक व्यवस्था। अतः उच्चवर्ण की स्त्रियाँ वर्ण-व्यवस्था की चपेट से जब तक बाहर नहीं आतीं, जब तक दलित स्त्रियों के साथ नहीं जुड़तीं, तब तक

भारतीय स्त्रियों के विकास या उससे जुड़े बहनापे के नारे, नारे ही रह जाएँगे।

संदर्भ

1. The information in this briefing note is based on the 2006 study on Violence against Dalit women in India prepared by the National Campaign on Dalit Human Rights, Violence against Dalit Women Briefing note prepared for the 11th session of the Human Rights Council Link: http://www.kiosn.org/kuploaos/media/Violence_against_Dalit_Woment.pdf
2. अनिता भारती, रुखसाना का घर, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 43
3. Un Special Rapporteur on Violence against Women, 2002. Cultural Practices in the Family that are Violent towards Women. UN Doc. E/kCN.4/k2002/k83, para.53./k Violence against Dalit Women Briefing note prepared for the 11th session of the Human Rights Council
रजनी तिलक, हवा-सी बेचैन युवतियाँ, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 43,
4. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 66
5. वही, पृ० 14
6. डॉ० मंजू सुमन, दलित नारी : एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 176
7. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 22
8. रजनी तिलक, हवा-सी बेचैन युवतियाँ, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 35
9. वही, पृ० 30
10. अनिता भारती, रुखसाना का घर, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 44
11. मेरली के पुन्नूस, समकालीन भारतीय महिला लेखन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 56

Email : doddaseshubabu@gmail.com

मो० 9985281090

छतरपुर जनपद की पत्रकारिता की विकास-यात्रा : एक अध्ययन

नरेंद्र अरजरिया, शोधछात्र
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, सतना (मध्यप्रदेश)

प्रारम्भ

मध्यप्रदेश में 1900 तक का कालखंड पत्रकारिता के लिए संघर्ष का काल रहा। इस अवधि में एक तरफ जहाँ समाचार पत्र-पत्रिकाएँ अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे थे, तो वहीं आजादी की लड़ाई में वह कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग दे रहे थे। मध्यप्रदेश के कई जनपदों से सन् 1900 तक कई पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। लेकिन जनपद छतरपुर में इस काल में एक भी समाचार-पत्र का प्रकाशन संभव नहीं हो सका था। 15 अगस्त 1947 को भारत के प्रांगण में आजादी का सूरज का उगा। इसके साथ ही मध्यप्रदेश में भी पत्रकारिता को नए सूरज की किरणों ने आलोकित किया। पत्रकारिता को नई दिशा भी मिली। छतरपुर मध्यप्रदेश के हृदयस्थल बुंदेलखंड का प्रमुख जिला है। इस जिले को बुंदेलखंड केसरी महाराजा छात्रसाल ने छतरपुर के नाम से बसाया था। पत्रकारिता के क्षेत्र में छतरपुर देश के किसी अंचल से कम नहीं रहा। वर्तमान में पत्रकारिता के क्षेत्र में जो कार्य जिले की पत्र-पत्रिकाओं द्वारा संपन्न किया जा रहा है, उसे मध्ययुग में बुंदेले हरबोले और कविजन किया करते थे। सुप्रसिद्ध कवयित्री स्वर्गीय सुभद्राकुमारी चौहान के शब्द इतिहास में अमर हैं—

बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी

छतरपुर की पत्रकारिता का इतिहास

छतरपुर की पत्रकारिता का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि छतरपुर के महाराजा विश्वनाथसिंह के राज्यकाल में ही अँग्रेज साहित्यकार जॉन ई० फोस्टर, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, डॉ० हरिराम मिश्रा, चंद्रदत्त पांडे आदि साहित्यकारों ने पत्रकारिता की चेतना की ज्योति जला दी थी। इस ज्योति के प्रकाश के प्रभाव के कारण जिले के पहले समाचारपत्र के प्रकाशन की नींव पड़ी। इस समाचारपत्र का नाम 'विंध्याचल' था। 'विंध्याचल' साप्ताहिक समाचारपत्र की नींव गांधी जयंती के दिन अर्थात् 2 अक्टूबर 1952 को डाली गई थी। इसी शुभ तिथि को इस जिले का प्रथम साप्ताहिक समाचारपत्र विंध्याचल छतरपुर से प्रकाशित हुआ था। स्वर्गीय श्री मन्नूलाल द्विवेदी तथा महेंद्रकुमार मानव ने इसका संपादन किया था। दोनों मूर्धन्य संपादकों के संपादन में प्रकाशित होनेवाले इस साप्ताहिक समाचारपत्र का मुख्य उद्देश्य क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक चेतना को जाग्रत और समृद्ध करना था। कुछ ही दिनों के

अंतराल पर यह साप्ताहिक समाचारपत्र 'विंध्याचल' खूब लोकप्रिय हो गया। इसकी लोकप्रियता और पाठकों की बढ़ती संख्या को देखते हुए 'विंध्याचल' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन पत्र के कर्ताधर्ता महेंद्रकुमार जैन रीवा से भी प्रकाशित करने लगे। 'विंध्याचल' साप्ताहिक पत्र साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों को समेटता हुआ सफलतापूर्वक सन् 1955 ई० तक निरंतर यात्रा करता रहा।

1 नवंबर सन् 1956 ई० में विंध्य प्रदेश का विलीनीकरण मध्यप्रदेश में हो जाने पर छतरपुर भी एक महत्त्वपूर्ण जनपद बन गया। जिले में जिला सूचना एवं प्रकाशन विभाग की स्थापना के साथ ही श्री पी०एन० चतुर्वेदी ने पहले जिला सूचना एवं प्रकाशन अधिकारी का पदभार संभाला।

श्री पी०एन० चतुर्वेदी सुप्रसिद्ध टीकमगढ़ के लब्धप्रतिष्ठित कवि, लेखक, साहित्यकार और 'मधुकर' पत्रिका के संस्थापक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के वंशज थे। आजादी के बाद छतरपुर जिले की पत्रकारिता को पंख लगने लगे। आजादी के बाद सूचना अधिकारी श्री पी०एन० चतुर्वेदी के कार्यकाल में छतरपुर से 3 साप्ताहिक पत्र 'कर्तव्य', 'मिली-जुली आवाज' और 'प्रचंड ज्वाला' का प्रकाशन शुरू हुआ। 1 जुलाई 1975 के बाद जिला सूचना व प्रकाशन अधिकारी के पद पर श्री पाराशर जी का आवागमन हुआ। इनके कार्यकाल में श्री भानुकुमार जैन ने 'दैनिक मजबूत' और 'मिल-जुली आवाज' समाचारपत्रों का प्रकाशन शुरू किया। शुरूआती दौर में प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों का जीवनकाल अधिक लंबा नहीं रहा। लेकिन इन समाचारपत्रों ने पाठकों में समाचार, साहित्य, कविताओं और सामाजिक सारोकारों से जुड़ी सूचनाओं को हासिल करने की जो भूख जगाई, उसका परिणाम यह हुआ कि 1970 के दशक तक आते आते छतरपुर जिले में समाचारपत्रों के प्रकाशन की होड़ शुरू हो गई। दूसरे शब्दों में कहें तो समाचारपत्रों की बाढ़ जैसी आ गई। जैसे-जैसे समाचारपत्रों की संख्या बढ़ी, वैसे ही वैसे इस कालखंड में समाचारपत्रों की आवधिकता में भी परिवर्तन हुआ। साप्ताहिक के साथ कई दैनिक समाचारपत्रों का प्रकाशन भी शुरू हुआ।

छतरपुर जनपद की पत्रकारिता : एक दृष्टि

तालिका 1.1

1952 से 2017 तक की अवधि में छतरपुर से प्रकाशित साप्ताहिक समाचार पत्र

क्रम सं०	पत्र का नाम	संपादक साप्ताहिक	कुल पृष्ठ	प्रकाशन वर्ष
01	विंध्याचल	मन्लाल द्विवेदी	02	1952
02	कर्तव्य	रमानंद जौर	02	1975
03	प्रचंड ज्वाला	श्याम अग्रवाल	02	1975
04	साप्ताहिक सजग भारत	पंकज चतुर्वेदी	16	1985
05	लोकपथ वाणी	देवेन्द्र पहारिया	08	1988
06	न्यू स्टे टाइम	मुन्ना खान दैनिक	08	1988
07	साप्ताहिक बुंदेलखंड शक्ति	कृष्णगोपाल दुबे	08	2010

08	साप्ताहिक विनायक खबर	लक्ष्मीकांत चतुर्वेदी	04	2012
09	साप्ताहिक प्रदेश हैडलाइन	नीलेश दुबे	04	2012
10	साप्ताहिक उज्ज्वल क्रांति	गोविंद शुक्ला	04	2017

विश्लेषण

छतरपुर में पिछले 70 सालों में छोटे-बड़े कुल 10 साप्ताहिक समाचारपत्रों का प्रकाशन हुआ। इनमें से 'विंध्याचल' पत्र ने सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। इस पत्र का साहित्यिक होना इसकी बड़ी वजह थी। विंध्याचल पत्र में कथा, कहानी, काव्य को प्राथमिकता जरूर मिलती थी, लेकिन आम जनमानस की समस्याओं से संबंधित बड़ी खबरों को भी पत्र में प्रमुखता से जगह दी जाती थी। यह पत्र अपने समय में बेहद लोकप्रिय था। मन्लूलाल द्विवेदी के बेहतरीन संपादन के कारण यह पत्र लोगों के लिए एक जरूरत बन गया था। 1975 में शुरू हुआ 'कर्तव्य' भी बेहतरीन पत्रों की श्रेणी में शामिल किया जाता है। 'प्रचंड ज्वाला' पत्र भी 1975 में शुरू हुआ। इस पत्र की भाषा और विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण इतना अच्छा था कि लोग पत्र का इंतजार करते थे। अपने समकालीन पत्रों में 'प्रचंड ज्वाला' काफी आक्रामक माना जाता था। लेकिन आर्थिक झंझावातों के चलते इस पत्र की हालत जल्दी ही खराब होने लगी। इस पत्र का हाल देखने के बाद अगले 10 सालों तक छतरपुर में किसी ने अखबार निकलाने की कोशिश नहीं की। वर्ष 1985 में पंकज चतुर्वेदी ने साप्ताहिक पत्रों की कमी को पूरा करने के लिए पहल की और 'सजग भारत' का प्रकाशन शुरू किया। यह पत्र इससे पहले प्रकाशित पत्रों से कई दृष्टिकोण में अलग था। वर्ष 1952 से लेकर 1985 तक छतरपुर से जितने भी साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन हुआ, वह सभी 2 पृष्ठों के थे। पंकज चतुर्वेदी का पत्र 'सजग भारत' 16 पृष्ठों का था। साप्ताहिक 'सजग भारत' में उन सभी विषयों को समाहित किया गया, जो एक साप्ताहिक समाचारपत्र का जरूरी हिस्सा हो सकते थे। राजनीति, अपराध, अर्थ, खेल और कला संस्कृति के साथ फिल्मों को भी इस पत्र में जगह दी गई। साप्ताहिक सजग भारत में दैनिक समाचारपत्रों से अलग खबरें प्रकाशित की गईं। इस पत्र में सप्ताह की बड़ी खबरों का विश्लेषण बड़े चित्रों के साथ प्रस्तुत किया गया। खबरों की भाषा भी इस तरह रची गई ताकि दैनिक समाचारपत्रों की खबरें और रोचक बन सकें। खबरों के पीछे की खबर भी इस पत्र में देने की कोशिश की गई। रोचक विषयवस्तु, सामान्य भाषा-शैली और चित्रों के सोदेश्य चयन के कारण साप्ताहिक सजग भारत काफी लोकप्रिय हुआ।

साप्ताहिक 'सजग भारत' की लोकप्रियता को देखकर वर्ष 1988 में छतरपुर जिले से एक साथ 2 साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन शुरू हुआ। दोनों पत्र 8-8 पृष्ठों के थे। लेकिन अगले 20 वर्षों तक कोई नया साप्ताहिक समाचारपत्र शुरू नहीं हो सका। यह वह दौर था, जब दैनिक पत्रों की लोकप्रियता और उनके पाठकों की संख्या लगातार बढ़ रही थी। साप्ताहिक समाचारपत्रों से पाठकों का मोहभंग हुआ। इस खालीपन को दैनिक पत्रों ने बेहतरीन तरीके से भरा। पत्रकार कृष्ण गोयल ने 2010 में साप्ताहिक 'बुंदेलखंड शक्ति' का प्रकाशन शुरू किया। यह पत्र 8 पृष्ठों का था। इसके बाद लक्ष्मीकांत चतुर्वेदी ने वर्ष 2012 में 4 पृष्ठों का 'विनायक खबर' और

नीलेश दूबे ने 'साप्ताहिक प्रदेश डेडलाइन' नाम से पत्रों का प्रकाशन शुरू किया। 2017 में गोविंद शुक्ला ने 'उज्ज्वल क्रांति' नाम का पत्र शुरू किया। यह पत्र भी 4 पृष्ठों का था। इन सभी पत्रों में कई बातें सामान थीं। ये सभी पत्र साप्ताहिक थे। सभी पत्रों में स्थानीयता का पुट अधिक था। इन सभी पत्रों में देश-दुनिया की खबरें तो प्रस्तुत की गईं, लेकिन 'सजग भारत' के अलावा किसी पत्र ने खबरों के पीछे की खबर को प्रस्तुत करने की कोशिश नहीं की। साप्ताहिक समाचारपत्र का अंदाज और प्रस्तुतीकरण दैनिक पत्रों से बिल्कुल अलग होता है। दैनिक पत्रों में बीते दिन की बड़ी से लेकर छोटी खबरों को जगह मिलती है तो साप्ताहिक समाचारपत्रों के सामने खबरों के नवीनीकरण की चुनौती रहती है। सप्ताह की बड़ी खबर और खबरों के पीछे की खबर, खबरों का विश्लेषण देना आवश्यक होता है।

छतरपुर की पत्रकारिता का आधुनिक काल

सन् 1975 में दो दैनिक 'शुभ भारत' श्री श्यामकिशोर अग्रवाल और दैनिक 'कर्तव्य' श्री रामानंद जौर के संपादन में निकलने आरंभ हुए। 'शुभ भारत' आजतक सफलता के साथ प्रकाशित और प्रसारित हो रहा है। सन् 1988 में साप्ताहिक 'लोकपथ वाणी' देवेन्द्र पहारिया के संपादन में और 'न्यू स्टेट टाइम' मुन्ना खान के संपादन में निकलने आरंभ हुए। जो कुछ ही समय बाद बंद हो गए। इसके बाद चार दैनिक क्रमशः जनहित दर्शन, क्रांतिकृष्ण और राष्ट्र भ्रमण इस जिले की पत्रकारिता के स्तंभ के रूप में उदित हुए, जिनका क्रमशः संपादन श्रीमती सुभद्रादेवी पहारिया, डॉ॰ अजय दोसाज और सुरेंद्र अग्रवाल ने किया। यह पत्र वर्तमान में भी प्रकाशित हो रहे हैं। हालाँकि कई पत्रों के नाम परिवर्तित हुए हैं। उदाहरण के लिए दैनिक 'राष्ट्र भ्रमण' का नाम 'न्यू राष्ट्र भ्रमण' हो गया है, जिसने एक सर्वे के अनुसार ग्रामीण विकास की खबरों में जिले में प्रथम स्थान बनाया है। सन् 1993 में भी जिले की पत्रकारिता में कई नामों का उदय हुआ, जिसमें नेशनल 'जनहित प्रभाकर' श्री आशोक चौरसिया, साप्ताहिक 'खजुराहो वैभव' और 'खजुराहो चर्चा' राजेश अग्रवाल, साप्ताहिक 'चर्चा का आलेख' प्रमोद दीक्षित साप्ताहिक 'बुंदेली टाइगर' संजय भट्ट के संपादकत्व में प्रकाशित हुए।

जिले की विश्लेषणात्मक खबरों के लिए साप्ताहिक 'बुंदेली टाइगर' ने अल्प समय में अपनी गहरी पेट बना ली थी, लेकिन जमीन के विवाद के चलते संपादक संजय भट्ट की हत्या कर दी गई। इसके बाद दैनिक 'फौलादी कलम' डॉ॰ रज्जाव खान और दैनिक 'मध्य प्रभात' जगदीश रूसिया के संपादन में निकलने आरंभ हुए। 1990 के दशक में छतरपुर से सांध्य अखबारों का प्रकाशन शुरू हुआ। सांध्य छतरपुर टाइम्स सनत जैन के संपादन में निकला। इसके बाद एक और साप्ताहिक 'मंगलमय' श्री राजेंद्र शर्मा के संपादन में प्रकाशित हुआ। यह पत्र सन् 2000 में दैनिक हो गया। इसी समय रशीद खान के संपादन में दैनिक 'नजरेहिंद' तथा दैनिक 'खजुराहो टाइगर' खलील खान के संपादन में निकलने आरंभ हुए। दैनिक खजुराहो टाइम्स का प्रकाशन भी सन् 2000 में हुआ, जिसकी संपादक श्रीमती वि। देवी खरे थीं। यह पत्र सांध्य छतरपुर टाइम्स प्रेस में छपता था, लेकिन पैसों के लेन-देन के विवाद में संपादक के पति की हत्या कर दी गई, जिसमें सांध्य छतरपुर टाइम्स के संपादन श्री सनद जैन और उनके

बेटों को आरोपित किया गया। इस हत्याकांड से जिले की पत्रकारिता में एक बदनुमा दाग लगा।

ये सभी समाचारपत्र छतरपुर जनपद को अपनी पत्रकारिता की हलचलों से प्रगति-पथ पर अग्रसर होने में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। हालाँकि इनमें से कुछ तो समय की गति के अधीन होकर अल्पकाल में ही काल-कवलित हो गए। छतरपुर जिले से पहली मासिक पत्रिका श्री रवींद्र व्यास के संपादन में सन् 2000 में शुरू हुई। इस पत्रिका का नाम 'राजदर्शन' था। इसके बाद मासिक 'आपकी बात' का प्रकाशन जीतेंद्र रिछारिया के संपादन में शुरू हुआ। समाचार एजेंसी चर्चा समाचार एवं आलेख सेवा का संपादन भी श्री रवींद्र व्यास कर रहे हैं।

इसी प्रकार छतरपुर मुख्यालय के अलावा जिले के नौगाँव से दैनिक 'खतरों के खिलाड़ी' श्री अशोक शिवहरे के संपादन में तथा साप्ताहिक 'जुझारू कलम' और 'बुंदेली सम्राट' समाचारपत्र भी प्रकाशित होते रहे हैं। बड़ा मलहरा, हरपालपुर, लौडी आदि जगहों से एक या दो अल्पजीवी पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं और बंद हो गईं, जिसमें हरपालपुर से प्रकाशित साप्ताहिक बुंदेली भावना ने अपनी अलग पहचान बनाई थी।

तालिका 1.2

1952 से 2017 तक की अवधि में छतरपुर से प्रकाशित दैनिक समाचार-पत्र

क्रम सं०	पत्र का नाम	प्रकाशन आरंभ वर्ष	प्रकाशन स्थान
01	दैनिक मजबूत	1975	छतरपुर
02	दैनिक मिली-जुली आवाज	1975	छतरपुर
03	दैनिक शुभ भारत	1978	छतरपुर
04	दैनिक जनहित दर्शन	1980	छतरपुर
05	दैनिक कृष्ण क्रांति	1980	छतरपुर
06	दैनिक राष्ट्र भ्रमण	1980	छतरपुर
07	दैनिक सांध्य छतरपुर टाइम्स	1984	छतरपुर
08	दैनिक फौलादी कलम	1985	छतरपुर
09	दैनिक छतरपुर भ्रमण	1990	छतरपुर
10	दैनिक मंगलमय	2000	छतरपुर
11	दैनिक जनपथ दर्शन	2001	छतरपुर
12	दैनिक भोपाल की जान	2001	छतरपुर
13	दैनिक राज की दुनिया	2005	छतरपुर
14	दैनिक दि वेस्ट न्यूज	2010	छतरपुर
15	दैनिक हम पाँच	2010	छतरपुर
16	दैनिक बुंदेली मंच	2010	छतरपुर
17	दैनिक परिहार गर्जना	2011	छतरपुर
18	दैनिक राज्य का आईना	2012	छतरपुर
19	दैनिक न्यू साधना न्यूज	2014	छतरपुर
20	दैनिक पेपटेक टाइम्स	2015	छतरपुर

विश्लेषण

छतरपुर बुंदेलखंड का एक छोटा जिला है। इस जिले से 1975 में पहला दैनिक समाचारपत्र प्रकाशित हुआ। दैनिक 'मजबूत' नाम के इस समाचारपत्र के प्रकाशन के बाद से लेकर 4 दशकों तक तकरीबन 20 से अधिक दैनिक समाचारपत्र प्रकाशित हुए। इन सभी पत्रों को पाठकों का भरपूर समर्थन मिला। छतरपुर औद्योगिक रूप से भले ही पिछड़ा जिला माना जाता है, लेकिन शिक्षा के दृष्टिकोण से यह जिला बुंदेलखंड में बेहतर रहा। यही कारण रहा कि दैनिक समाचारपत्रों का निरंतर प्रकाशन जारी रहा। हालाँकि स्तर की दृष्टि से छतरपुर से प्रकाशित होने वाले अधिकांश पत्र राजधानी भोपाल से प्रकाशित होनेवाले पत्रों की तुलना में कम स्तरीय रहे।

निष्कर्ष

जनपद छतरपुर की गतिशील पत्रकारिता में यहाँ के संघर्षशील पत्रकारों ने भी पत्रकारिता के इतिहास में चार चाँद लगाए हैं। 20वीं सदी के पाँचवें दशक से आरंभ हुई पत्रकारिता सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्य के प्रति चेतना जगाती जब आगे बढ़ रही थी, तभी शहीद पत्रकार स्वर्गीय नारायण बुधौलिया ने छठे और सातवें दशक में असामाजिक और गुंडा तत्वों के खिलाफ कलम घिसते हुए अपने प्राणों का बलिदान किया था। इसके बाद के दशक में सन् 1975 से श्री राकेश शुक्ल स्वदेश ग्वालियर, राजेश बादल जागरण, झाँसी, शिवअनुराग पटैरिया भास्कर, भोपाल, विभूति शर्मा नई दुनिया, इंदौर श्यामकिशोर अग्रवाल अजय दोशाज, सुरेंद्र अग्रवाल ने 'दैनिक भारत', 'राष्ट्र भ्रमण', 'कृष्ण क्रांति' तथा अनेक प्रांतीय, राष्ट्रीय स्तर के दैनिक समाचारपत्रों के जरिए जिला प्रशासन से जो लड़ाई लड़ी और जीती, वह मीडिया में स्वर्ण अक्षरों में लिखी जा चुकी है।

छतरपुर के पत्रकारों ने जिले में घटित कु० सीमा अवस्थी हत्याकांड, पुलिस दरोगा द्वारा किया गया बलात्कार कांड, खजुराहो कांड, खजुराहो प्रेस फोटो कांड, यौन परीक्षण कांड जैसे आपराधिक प्रकरणों को उजागर कर देश में यश अर्जित किया। राज्य प्रशासन ने पत्रकारों के विरुद्ध नियुक्त न्यायाधीश पांडे आयोग द्वारा दिए गए निर्णय से तो जिला प्रशासन को मुँह की खानी पड़ी थी। पत्रकार श्री राजेश बादल, शिवअनुराग पटैरिया, विभूति शर्मा, राकेश शुक्ला आदि राज्यस्तरीय पुरस्कारों से सम्मानित किए गए। यहाँ का प्रेस-पुलिस विवाद भी बहुत चर्चित रहा। जिसमें दिनेश निगम त्यागी और श्याम अग्रवाल को जिला पुलिस ने कठोर यातनाएँ दी थीं। वर्तमान में भी छतरपुर जनपद में कई नामचीन और मूर्धन्य पत्रकार हैं, जिन्होंने छतरपुर से शुरुआत करने के बाद दिल्ली में राष्ट्रीय स्तर की पत्रकारिता में अपनी पहचान बनाई है। इनमें श्री पंकज चतुर्वेदी ने दैनिक जागरण झाँसी के रिपोर्टर से लेकर नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया नई दिल्ली तक का सफर तय किया। वर्तमान में यह संपादक के पद पर आसीन हैं। इसी तरह श्री राजेश बादल ने आंचलिक पत्रकारिता से शुरुआत करते हुए राष्ट्रीय पत्रकारिता में अपनी एक अलग पहचान बनाई है। टेलीविजन की दुनिया में यह नाम पहचान का मुहताज नहीं है। रवींद्र व्यास ने छतरपुर टाइम्स से अपने सफर की शुरुआत करते हुए 'आज तक' टीवी

न्यूज चैनल तक का सफर तय किया है, जिन्हें माखनलाल चतुर्वेदी स्मृति आंचलिक पत्रकारिता पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह जिले के लिए गौरव का विषय है। श्री भारत श्रीवास्तव, विनीत खरे, प्रमोद दीक्षित, श्याम अग्रवाल, घनश्याम पटेल जैसे पत्रकार अब भी जिले की पत्रकारिता को गौरवान्वित कर रहे हैं।

संदर्भ

1. पंकज चतुर्वेदी, 21.10.1985 से 2.11.1985, साप्ताहिक सजग भारत, छतरपुर, मध्य प्रदेश
2. श्याम अग्रवाल, 20 अक्टूबर 1990, दैनिक शुभ भारत, छतरपुर, (म०प्र०)
3. डॉ० काशीप्रसाद त्रिपाठी, 1991, बुंदेलखंड का बृहद इतिहास, प्रकाशक ललितनारायण त्रिपाठी भारत भवन, पुरानी टेहरी टीकमगढ़
4. पारसनाथ राय/सी०पी० राय, 2010-11, अनुसंधान परिचय, प्रकाशक लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
5. संतोष भदौरिया, वर्ष 2008, बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएँ, प्रकाशक स्वराज संस्थान संचालनालय संस्कृति विभाग म०प्र० शासन भोपाल।

आदिवासी उपन्यासों में व्यक्त नक्सलवाद

(‘आमचो बस्तर’, ‘नक्सली कौन?’ और ‘लाल लकीर’ के विशेष संदर्भ में)

डॉ० महेंद्रकुमार रा० वाढे

हिंदी विभाग

श्री शिवाजी विद्या प्रसारक संस्था का

कला व वाणिज्य महाविद्यालय, धुलिया 424002

आजादी के बाद भारतीय साहित्य सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों और प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्त होने लगा है। वर्तमान समय में वैश्विकता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य में दलित, ग्रामीण, आदिवासी, स्त्री, अल्पसंख्य, किन्नर आदि अन्य विमर्शों का लेखन बड़ी तेजी से होने लगा है। आठवीं सदी पश्चात् आधुनिक हिंदी साहित्य में दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श के साथ ही आदिवासी विमर्श को व्यापक स्पेस मिलने के कारण हिंदी में नवचेतना और नवऊर्जा का संचार हो गया। आदिवासी विमर्श को लेकर साहित्य की प्रमुखतम विधा कविता, कहानी और उपन्यास में अधिकतर लेखन निरंतरता से हो रहा है। इस साहित्य में आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि समस्याओं के साथ ही आदिवासी इलाकों में पनपे नक्सलवाद के लेखन से अधिक स्पेस मिल गया। आदिवासी संस्कृति, जीवनशैली, आचार-विचार, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों के साथ ही नक्सलवाद के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान विदारक, शोषित परिस्थिति का लेखा-जोखा आदिवासी साहित्य में प्रस्तुत हो रहा है। विशेषतः वर्तमान समय में आदिवासी परिप्रेक्ष्य को रेखांकित करनेवाले साहित्य में कविता के साथ ही उपन्यास का प्रभाव तुलना में अधिक है। इसी वास्तविकता को देखते हुए हिंदी में हाल ही में प्रकाशित ‘आमचो बस्तर’, ‘नक्सली कौन?’ और ‘लाल लकीर’ इन तीन आदिवासी उपन्यासों में चित्रित नक्सल समस्या को यहाँ उजागर किया गया है।

हिंदी उपन्यास साहित्य में आदिवासी समाज जीवन को झकझोरने वाले नक्सलवाद का चित्रण कई उपन्यासों में हुआ है। इनमें संजीव का ‘आकाश चंपा’, मधु काँकरिया का ‘खुले गगन के लाल सितारे’, विनोदकुमार का ‘रेड जोन’, घनश्याम सक्सेना का ‘7 नागपाश में अनछुई’, आशुतोष भारद्वाज का ‘नक्सल डायरी’, मधुकर सिंह का ‘कथा कहो कुंती माई’, कुणालसिंह का ‘आदिग्राम उपाख्यान’, निर्भय मल्लिक का ‘घात-प्रतिघात’ और ‘कालपुरुष’, राकेशकुमार सिंह का ‘महाअरण्य में गिद्ध’, अमरदयाल सिंह का ‘नक्सली वाया दिल्ली’ और पंकज दुबे का ‘लवकरी’ आदि के अलावा कई ऐसे आदिवासी जनजीवन को रेखांकित करनेवाले उपन्यास हैं, जिनमें नक्सली गतिविधियों का चित्रण मिलता है।

नक्सल-आंदोलन जिन मूल उद्देश्यों को लेकर शुरू हुआ था, अब वह केवल आदिवासियों के जीवन का नासूर बनकर रह गया है, ऐसी चर्चा है। जिनके हकों के लिए लड़ने का नारा नक्सलियों ने दिया था, अब वे ही नक्सलियों के खौफ में जीने के लिए मजबूर हैं। दूसरी ओर अभी भी आदिवासी मूलभूत सुविधाओं से वंचित हैं। अपनी ही जमीन से बेदखल होता वह शहरों की खाक छान रहा है। आदिवासियों की दुर्दशा के लिए सरकारी नीतियाँ और खोखली भ्रष्ट व्यवस्था के साथ ही पुलिसिया तंत्र की फर्जी मुठभेड़ और आदिवासी महिलाओं के साथ हो रहे बलात्कार जैसी वारदातें जिम्मेदार हैं। देश के युवाओं के बीच नक्सल-आंदोलन चर्चित रहा, वहीं नक्सलवाद के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी समाज कविता, कहानी और उपन्यास के साथ डायरी विधा आदि में विशेष रूप से चर्चित है। आदिवासी और गैरआदिवासी रचनाकार आदिवासी साहित्य में अपना योगदान दे रहे हैं। इन दिनों तीन उपन्यासों की चर्चा हिंदी-जगत में बड़े जोरों पर है, इन उपन्यासों का प्रमुख विषय आदिवासी इलाकों में फैले नक्सलवाद से संबंधित है। इन उपन्यासों में लेखक राजीवरंजन प्रसाद का यश प्रकाशन से प्रकाशित 'आमचो बस्तर', युवा लेखक संजयकुमार अविनाश का उद्योग नगर प्रकाशन से प्रकाशित 'नक्सली कौन' और पत्रकार हृदयेश जोशी का हार्पर कॉलिस पब्लिशर्स इंडिया से प्रकाशित उपन्यास 'लाल लकीर' है।

'आमचो बस्तर' लेखक राजीवरंजन प्रसाद का बस्तर की भूमि पर लिखा इतिहास और वर्तमान के समय को जोड़नेवाला यह उपन्यास आदिवासियों के उसी यथार्थ का अहसास दिलाता है, जो घटित हो गया है और हो रहा है। बस्तर-झारखंड के घने जंगलों और इतिहास के अमिट चिह्नों को रेखांकित इस इलाके के आदिवासी अपनी जनजातीय संस्कृति एवं परंपराओं को सदियों से सँजोए हुए हैं। इतिहास और वर्तमान के समय का तानाबाना बुनते हुए आदिवासियों को राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से जोड़ते हुए इस उपन्यास की कथा का सूत्रपात लेखक राजीवरंजन प्रसाद ने किया है। शहर के वातानुकूलित कमरे में बैठकर लिखनेवाला यह विषय नहीं है, लेखक ने इस वास्तविकता को भली-भाँति समझा है। इसीलिए उसने बस्तर के कठिन इलाकों की खाक छानी और कई दिनों तक वहाँ रहकर यह उपन्यास लिखा। इसी कारण आदिवासियों की गहरी संवेदना इस उपन्यास में उसी रूप में व्यक्त हुई है, जो है। इसीलिए यह सिर्फ एक उपन्यास ही नहीं, बल्कि बस्तर के आदिवासियों की विरासत का प्रामाणिक दस्तावेज भी है। रिपोर्ताज शैली का अहसास देता यह उपन्यास एक साथ दो कहानियों को बताता चलता है। एक कहानी इस इलाके के ऐतिहासिक दस्तावेज को चिह्नित करती हुए प्रचलित मिथकों को जोड़ती है, तो दूसरी कहानी वर्तमान बस्तर के युवाओं के संघर्ष और नक्सलवाद को रेखांकित करती है। उपन्यास में नक्सलग्रस्त और सरकारी सुविधाओं से वंचित बस्तर की वर्तमान स्थिति से चिंतित मरकाम जैसे शिक्षित युवक के समान शालिनी, सोमाली, निधि, दीपक, शैलेश, बुदरू आदि जाग्रत युवाओं का प्रातिनिधिक चित्रण लेखक ने किया है।

'आमचो बस्तर' इस उपन्यास के बारे में आलोचक डॉ॰ कौशलेन्द्र लिखते हैं कि 'अपनी ही धरती पर बेगानों के साथ मिलकर अपनों द्वारा क्रूरता से छिछियाए हुए पीड़ित संसार का

इतिहास है, शोषण की अजस्र प्रवाहित विषधारा के प्रति व्यापक चिंता है, छोटी-छोटी समस्याओं के विराट ज्वालामुखी हैं, गोलियों से बहे निर्दोष खून और मासूम चीखों से अपने अहं को तुष्ट करती सत्ता की कहानी है। सत्ता के गलियारों में नक्सलवाद और माओवाद एक अजूबा फैशन बनता जा रहा है, जिसे समझने और समझाने की कोशिश में लेखक ने आदिवासी समाज की एनाटॉमी, प्रशासन की फिजियोलोजी और सत्ता की पैथो-फिजियोलॉजी का पूरी ईमानदारी के साथ विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण के प्रयास में एक कुशल जुलाहे की भूमिका निभाते हुए लेखक को अपनी बीविंग मशीन में आगे-पीछे के कई तानों-बानों को आपस में पिरोना पड़ा है, जिसके कारण यह उपन्यास अतीत और वर्तमान की कई कहानियों को अपने में समेटकर चल सकने में समर्थ हो सका। बस्तर को दूर बैठकर करीब से देखने का एक अवसर है 'आमचो बस्तर'।¹¹

उपन्यास की समीक्षा करते हुए समीक्षक शरदचंद्र गौड़ कहते हैं कि 'प्रत्येक सृजन के पीछे कोई-न-कोई उद्देश्य होता है। इस उपन्यास में राजीव जी का उद्देश्य नक्सलवादी त्रासदी से पीड़ित बस्तर की सही तस्वीर प्रस्तुत करना है। वे अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल रहे हैं।'¹² यह स्पष्ट है कि 'आमचो बस्तर' झारखंड की उस वास्तविकता से परिचित करवाता है, जो दरी कंदराओं और घने जंगलों में बसे आदिवासियों के दुख-दर्द की पुकार को शहरों में बसे लोगों तक तलखी से पहुँचाने में सफल है।

दूसरा उपन्यास युवा लेखक संजयकुमार अविनाश का 'नक्सली कौन?' है। उपन्यास अपने शीर्षक से ही अपनी कहानी को स्पष्ट करता है। उपन्यास का कथानक आदिवासियों की वर्तमान स्थिति और नक्सल-समस्या के मूल कारणों को आदर्शवाद की दृष्टि से देखता है। इसका प्रमुख पात्र गौरव लोकतंत्र पर विश्वास रखनेवाला युवक है। लेखक का अपना एक दृष्टिकोण होता है, जिसका प्रभाव उसके पात्रों पर होना स्वाभाविक होता है। गौरव की सोच लेखक की सोच है। वह सोचता है कि आदिवासी युवकों को नक्सली बनाने के लिए विवश स्थिति को खत्म करना चाहिए। उपन्यास कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में डॉ॰ अ॰ कीर्तिवर्धन नक्सली कौन की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि 'अविनाश' ने हर पहलू का गंभीरता से अध्ययन किया है। एक ओर किसानों, आदिवासियों व मजदूरों की विकराल होती समस्याएँ, अपनी ही धरती से विछोह और दूसरी तरफ आंदोलन की अगुवाई कर रहे वामपंथी नेताओं के चरित्र का दोगलापन, साथ में सफेदपोश पूँजीवाद समर्थक उद्योगपतियों व राष्ट्र की अगुवाई करनेवाले जनप्रतिनिधियों का धिनौना खेल...सब-कुछ सहज सरल भाषा में बेबाकी से उजागर किया गया है। यह सच है कि यह उपन्यास 'नक्सली कौन' उपन्यासकार की मौलिक सोच पर आधारित लंबी कहानी है। 'नक्सली कौन' मात्र उपन्यास नहीं, अपितु उपन्यास की शक्ल में समस्या पर शोध-पत्र है, जिस पर गंभीरता से चिंतन-मनन कर समाधान की आवश्यकता है।'¹³

इसी शृंखला में अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन संस्था हार्परकॉल्लिंस पब्लिशर्स इंडिया से प्रकाशित वरिष्ठ पत्रकार हृदयेश जोशी का उपन्यास 'लाल लकीर' भीमे कुंजाम और रामदेव के प्रेम की कहानी के बहाने झारखंड में पनपे नक्सलियों और सुरक्षाबलों की बंदूकों की आग में झुलसते

आदिवासियों की त्रासदी का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। लेखक झारखंड के नक्सल-प्रभावित बस्तर और दंतेवाड़ा जिले के वॉर जोन का पिछले दस सालों से लगातार रिपोर्टिंग करते रहे हैं।

आदिवासियों की व्यथा को कहानी के परे जाकर सोचने की ललक पैदा करनेवाले इस उपन्यास पर सुप्रसिद्ध टीवी पत्रकार रवीशकुमार कहते हैं कि 'लाल लकीर हृदयेश जोशी की कलम से निकली ऐसी रचना है, जिसे पढ़ते हुए आप बस्तर में बड़े होने लगते हैं। गंगा और राजू की तरह पुलिस से भागते हुए गोलियों की शिकार हो जाते हैं। हेडिया कुंजाम की तरह मारे जाते हैं और भीमे की तरह रामदेव से प्रेम करने लगते हैं। आप बस्तर नहीं गए होंगे। लाल लकीर' आपको बस्तर ले जाती है। किताब की शकल में एक फिल्म है 'लाल लकीर'। इतनी गहरी खिंच गई है कि इसके आर-पार नक्सल और पुलिस एक जैसे लगते हैं।¹⁴ इसी तरह उपन्यास में दो शब्दों के बीच न जाने कितनी कहानियों को बसाने और बतानेवाले इसे उपन्यास के मुखपृष्ठ पर अभिनेता और निर्देशक तिग्मांशु धूलिया कहते हैं कि 'बस्तर में जंग की लकीरों के बीच एक लड़की की मोहब्बत और हौसले की दास्तान। यह कहानी किसी एक्शन मूवी की तरह आँखों के सामने दौड़ती है।'¹⁵

'लाल लकीर' झारखंड के ही नहीं, बल्कि देश के उन तमाम आदिवासियों की उम्मीद की तरह है, जो पुलिसिया सत्तांत्र के आतंक और नक्सलियों के खौफ को बखूबी रेखांकित करती है। यह कहानी हाशिये से परे घने जंगलों में बसे मनुष्यों के जीवनसंघर्ष की सच्चाई को प्रखरता से उकेरती है, जो बिना रुके निरंतरता से एक के बाद एक दृश्य और अदृश्य स्थिति से अवगत कराती है। 'लाल लकीर' आदिवासी युवकों के नक्सलवादी बनने के नहीं, बल्कि उनके नक्सलवादी बनाने के षड्यंत्र को उजागर करती है। शांतिपूर्ण जीवन बसर करनेवाले भीमे और रामदेव के प्रेम की ही बल्कि उन तमाम मनुष्यों की कहानी है, जो विकास के नाम पर सत्तांत्र की बलि बनकर अपनी ही भूमि से विस्थापित होने के लिए मजबूर निर्दोष मनुष्यों की कहानी है।

तीनों उपन्यास का कथानक नक्सलवाद के परिप्रेक्ष्य में आदिवासियों की वर्तमान स्थितियों को उजागर करता है। नक्सल-प्रभावित आदिवासी इलाकों के हालात आज भी बदतर हैं। तीनों उपन्यास उसी का बयान करते हैं, जो घटनाएँ वास्तविक हैं। मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार बीजापुर, सुकमा और दंतेवाड़ा जिलों में बड़ी संख्या में ऐसी घटनाएँ दोहराई गई हैं। 2016 में 11 से 14 जनवरी के बीच इन जिलों में कई जगह सुरक्षाबल के जवानों ने आदिवासी महिलाओं के साथ बलात्कार किए और उन्हें शारीरिक प्रताड़ना दी। यह सब नक्सलियों के खिलाफ अभियान के नाम पर हुआ। बस्तर के ताड़मेटला, तिम्मापुर और मोरपल्ली गाँवों में 11 से 16 मार्च 2011 के दौरान आदिवासियों के घर जला दिए गए थे। इन घरों को जलाने का आरोप सुरक्षाबलों पर था। यह मामला सुप्रीम कोर्ट पहुँचा तो कोर्ट ने 5 जुलाई 2011 को इस मामले की जाँच सीबीआई को सौंपी। जाँच के दौरान सीबीआई अफसरों पर भी हमला हुआ। अक्टूबर, 2016 को सीबीआई ने चार्जशीट पेश की और सुप्रीम कोर्ट को बताया कि 'आदिवासियों के घर सुरक्षाबलों ने ही जलाए थे।'¹⁶

मूलतः आदिवासियों की यह लड़ाई मुख्यतः जल, जंगल, जमीन की लड़ाई है। नक्सली

तो इसमें बाद में जुड़ गए। 'सरकार बड़े पैमाने पर कॉरपोरेट घरानों को जमीन बेच रही है। आयरन, मैंगनेट, बाक्साइड आदि के लिए जमीनें लीज पर दी जा चुकी हैं। आदिवासी अपनी जमीनें छोड़ने को तैयार नहीं हैं। सरकार जमीनें कंपनियों को देने के लिए प्रतिबद्ध है। जो इसमें रोड़ा अटकाता है, सरकार उसे निपटाने का यत्न करती है। इस संदर्भ में सामाजिक कार्यकर्ता कमल शुक्ला ने कुछ आरटीआई सूचनाओं और अपनी छानबीन के हवाले से बताया, 'बस्तर के लगभग आधे जंगल और पहाड़ खनन की प्रक्रिया में हैं। गाँव-गाँव में जाकर प्रशासन जबरन जनसुनवाई करा रहा है। जो भी लोग इसका विरोध करते हैं, उन पर फर्जी मामले बनाकर उन्हें परेशान किया जा रहा है। दूसरे, जिन स्थानों पर खनन होना है, उन्हीं गाँव के लोगों को नक्सल के नाम पर परेशान किया जा रहा है। सलवा जुद्ध के समय भी बाकायदा 650 गाँवों को इसी तरह खाली कराया था। बाद में कोर्ट में सरकार ने इसे स्वीकार किया। यह आज भी जारी है। तरह तरह से कार्रवाई करके लोगों को गाँवों से भगाना जारी है। जिन गाँवों में महिलाओं के साथ बलात्कार हुए या बच्चों का एनकाउंटर हुआ, वे सभी गाँव खनन के लिए चिह्नित हैं और उन्हें खाली कराना है। ग्रामीणों को डराने की नीति लागू की जा रही है।'⁷

क्रांतिकारी कवि और नक्सलवाद के समर्थक गदर मानते हैं कि 'प्रजातंत्र के विफल होने के कारण नक्सली आंदोलन का जन्म हुआ और लोगों ने हथियार उठाए। दूसरी ओर देश के सुपरिचित पुलिस अधिकारी रह चुके प्रकाशसिंह भी कहते हैं कि नक्सली आंदोलन अपने रास्ते से भटक गया है, लेकिन वे कहते हैं कि न व्यवस्था सुधर रही है और न इसके सुधरने के संकेत हैं इसलिए नक्सली आंदोलन बढ़ रहा है।'⁸

तीनों उपन्यास आदिवासियों की उस वास्तविक स्थिति को कहानी रूप में बयान करते हैं, जिसे वह आज भी भोगने के लिए अभिशप्त है। साहित्य ने आज आदिवासियों के बदहाल जीवन की व्यथा का वह चेहरा उजागर किया है, जो सरकारी दमन-तंत्र और नक्सलियों की बंदूकों के बीच फँसे आदिवासियों की बेबसी और मौत का है। इनकी चीत्कार मानवाधिकार, गैरसरकारी सामाजिक संगठनों के साथ ही इंसानियत पर विश्वास रखनेवाले पत्रकार, साहित्यकार और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष को जारी रखनेवाले आदिवासी युवाओं और नेताओं ने दुनिया के नक्शे पर रेखांकित की है।

संदर्भ

1. डॉ॰ कौशलेंद्र, इंडियन लिटरेचर, फावरिड, संपा॰ अविनाश सिंग (6 मे, 2013)
2. शरदचंद्र गौड़, बस्तर का साहित्य, ब्लॉग (8 मार्च, 2012)
3. डॉ॰ अ॰ कीर्तिवर्धन, नक्सली कौन पर, फेसबुक पोस्ट (14 जनवरी, 2015)
4. लाल लकीर के पिछले पृष्ठ से, रवीशकुमार
5. लाल लकीर के मुखपृष्ठ से, निर्देशक तिग्मांशु धूलिया
6. मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट, द वायर, विशेष रिपोर्ट, कृष्णकांत (8 मार्च, 2017)
7. वही
8. नक्सलवाद के पीछे व्यवस्था की विफलता, बीबीसी संवाददाता, नगेंद्र शर्मा और उमर फारूक (23 अक्टूबर, 2005)

समकालीन लेखिका सुषमा अग्रवाल के 'जागृति' उपन्यास में चित्रित ग्रामीण समस्याएँ

सईदा मेहराज

हिंदी विभाग

कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

हिंदी कथासाहित्य में सुषमा अग्रवाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज की विभिन्न समस्याओं को उजागर किया तथा उनका बिंब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। आपने अभी तक लगभग नौ उपन्यासों की रचना की है और उनमें 'जागृति' आपका आठवाँ उपन्यास है। इस उपन्यास में आपने मुख्य रूप से ग्रामीण समस्याओं का चित्रण किया है तथा ग्रामीण उत्थान आपका उद्देश्य रहा है। जब हमारे गाँव समृद्ध व संपन्न होंगे, देश की प्रगति भी तभी संभव हो पाएगी। भारतीय कृषि आरंभ से ही ग्रामों पर आधारित रही है। यही कारण है कि भारत में गाँव को हमेशा से प्रमुखता दी जाती रही है। यदि गाँव उन्नत एवं विकसित होंगे, तभी गाँव का उद्धार भी संभव हो पाएगा। अगर बात मूलभूत आवश्यकताओं की कही जाए तो हम पाएँगे कि आज भी भारत में कई ऐसे गाँव हैं, जिनमें मूलभूत सुविधाओं का आभाव है। गाँव में शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार आदि के साधनों की कमी होती है। शिक्षा के क्षेत्र में अधिकांश गाँवों में प्राइमरी शिक्षा के बाद ही पूर्ण विराम लग जाता है। यदि कहीं-कहीं माध्यमिक विद्यालय होते भी हैं, तो वे भी पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में शिक्षा के पूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। बच्चे ही तो देश का भविष्य होते हैं। यदि बच्चों को ही गलत संगति मिल रही हो तो देश का भविष्य उज्ज्वल कैसे हो सकता है। इस मानसिकता को लेकर सुषमा अग्रवाल ने अपने 'जागृति' उपन्यास में 'उदिता' के द्वारा गाँव के जीवन में व्याप्त अंधकार को वि।। से विवेकयुक्त बनाकर वहाँ के लोगों में जागृति लाने का सफल प्रयास किया है। 'उसने गाँव में शिक्षा की ऐसी ज्योति जलाई कि घर-घर में अज्ञानता का अंधकार मिटाकर ज्ञान के प्रकाश की किरणें विकीर्ण हो गईं, जो बच्चे शिक्षा की राह से भटक गए थे, उनमें शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न करके उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित किया। साथ ही साथ शिक्षकों से भी अपने कार्य के लिए वफादार होने का निवेदन किया, क्योंकि बच्चे तो गीली मिट्टी के समान हैं, जिन्हें सुंदर-से-सुंदर आकार प्रदान किया जा सकता है। बच्चों को प्यार-प्यार से जितना सिखाया जा सकता है, उतना मार-फटकार से नहीं। फिर क्यों न प्यार से उनके सर पर हाथ फैलाकर उनके मन में शिक्षा की ज्योति जलाई जाए।'¹

आज के आधुनिक समाज में जहाँ 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' के प्रेरणादायक नारों की

गूँज न केवल भारत में लोगों की सोच बदल रही है, अपितु भारत से बाहर भी इन नारों की भरपूर सराहना हो रही है। सुषमा अग्रवाल का 'जागृति' उपन्यास हमें इसी वास्तविकता से परिचित करवा रहा है, जिसमें 'माधुरी' की दो बेटियों के बाद जब तीसरी बार गर्भ ठहरता है, वहीं उसके ससुराल वाले इस लालसा से उसकी जगह बदल देते हैं ताकि तीसरी बार वह बेटे को जन्म दे सके, किंतु ऐसा न होने पर 'माधुरी' को अस्पताल में ससुराल से कोई देखने भी नहीं आता, क्योंकि तीसरी बार भी उसकी बेटी ही हुई थी। यह घटना हमें इस सत्य से परिचित करा रही है कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' नारे कितने खोखले हैं। शहरों में जहाँ बेटा-बेटी के बीच अंतर को गिरता देखा जा सकता है, वहीं ग्रामीण जीवन में इस समस्या के प्रति लोगों की सोच भी धीरे-धीरे बदलने लगी है। 'केवल बेटों की ही इच्छा करना व बेटियों को गर्भ में ही मार देनेवाले अमानवीय अपराधों के प्रति अब गाँववालों की विचारधारा भी बदलने लगी है। कन्याओं के गिरते आँकड़े हमारे समाज के गिरते मानसिक स्तर की गवाही देते हैं।'¹² यहीं इस उपन्यास का एक पहलू माना जा सकता है।

आधुनिक भारत को स्वच्छ एवं साफ बनाने का संकल्प स्वच्छ भारत अभियान, जोकि 2 अक्टूबर 2014 में प्रधानमंत्री मोदीजी ने शुरू किया था, सुषमा अग्रवाल काफी प्रभावित दिखाई दे रही हैं। यही कारण है कि 'जागृति' उपन्यास में उन्होंने इस आंदोलन को 'उदिता' के द्वारा विस्तार ही नहीं दिया अपितु इसके प्रति लोगों में जागरूकता भी फैलाई है। 'स्वच्छता व सुंदरता तो आँखों को प्यारी लगती ही है, साथ-ही-साथ हमारे स्वास्थ्य के लिए भी लाभकारी है। इसी प्रकार सफाई अभियान के तहत गाँववालों में जागरूकता उत्पन्न की गई। खुले में शौच न जाने की जागरूकता उत्पन्न करके घर-घर शौचालय बनवाने का बीड़ा उठाया गया। उसकी वाणी लोगों के हृदय में अपना प्रभाव डालती रही, क्योंकि बोलनेवाला यदि प्रभावशाली है, तो उसका असर लोगों पर पड़ता ही है।'¹³

'उदिता' शहर की लड़की है, किंतु उसकी शादी एक छोटे से गाँव 'नया गाँव' में होती है। उस गाँव की दुर्दशा देखकर कोई और होता तो एक पल भी वहाँ न ठहरता, किंतु 'उदिता' पढ़ी-लिखी होने के साथ-साथ सभ्य एवं साहसी आधुनिक नारी होने के कारण पूरे गाँव को बदलने का संकल्प लेती है और गाँववालों के लिए किसी मसीहा से कम नहीं होती। वह पूरे गाँव में न केवल शौचालय तथा अस्पताल बनवाती है, बल्कि गाँव की सड़कों पर लगे गोबर के ढेर साफ करवाकर गाँववालों में साफ-सफाई के प्रति जागरूकता भी उत्पन्न करती है। वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करके पूरे गाँव की दशा व दिशा दोनों बदलकर एक सफल एवं जागरूक नागरिक का कर्तव्य निभाती है। 'जिस नारी को गाँव में उपभोग की वस्तु समझा जाता रहा है, उसे आत्मसम्मान दिलाना, इधर-उधर कूड़े का ढेर न बनाकर कूड़ा एकत्रित करके गाड़ी में ही डालना व स्वच्छता के लिए गाँववालों को पुरस्कृत करना, परिवार-नियोजन के लिए जागरूकता उत्पन्न करना व कम बच्चे पैदा करके उन्हें संस्कारी व शिक्षित बनाना, प्राकृतिक आपदा से होनेवाले विनाश को टालने के लिए सर के ऊपर ईंट-सीमेंट के पक्के घर बनाने के लिए प्रोत्साहित करना, अपनी सीमित आय में से सामर्थ्य के अनुसार अल्पबचत

करना व उस धन को जमा करने के लिए गाँव में बैंक की एक शाखा खुलवाना।⁴

लेखिका ने इस उपन्यास में शराबखोरी की समस्या के प्रति भी लोगों में जागरूकता उत्पन्न की है 'शराबी के घर में बीबी-बच्चे भूखे बैठे रहें, परंतु शराबी को उनकी भूख से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो पीने से मतलब होता है फिर बच्चे चाहे भूख से बिलखते रहें, पत्नी चाहे कितने कष्ट सहकर उन बच्चों को पाले, परंतु उसे कहाँ होश होता है कि वह यह सब समझ सके। शराब ऐसा जहर है, जो धीरे-धीरे हमारे शरीर को नष्ट करता रहता है। शरीर खोखला हो जाता है। शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है। तब ऐसे जहर का सेवन क्यों किया जाए, जिससे हमारे तन-मन-धन सभी को हानि होती है।'⁵

सुषमा अग्रवाल ने समाज में नारी के महत्त्व को उजागर करने का भी सफल प्रयास इस उपन्यास में किया है। ग्रामोत्थान के लिए नारी-शिक्षा और उनका सहयोग भी जरूरी है। उन्हें आधुनिक नारियों की तरह मजबूत, सचेत व सतर्क बनाया जाना जरूरी है। 'अब तो गाँव के घर-घर से बेटियाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल जाने लगी हैं। वे स्वयं शिक्षित होंगी, तभी तो आनेवाली पीढ़ी को शिक्षित कर पाएँगी।'⁶

इसी प्रकार गाँव में मानव और पशुओं आदि सभी के लिए पीने के पानी की उचित आवश्यक व्यवस्था, स्वास्थ्य रक्षा-केंद्र की आधुनिक व्यवस्था, मनोरंजन गृहों की व्यवस्था आदि की आवश्यकता बहुत जरूरी है। अतः कहा जा सकता है कि 'उदिता' के द्वारा सुषमा अग्रवाल 'जागृति' उपन्यास में ग्रामीण समस्याओं का चित्रण करने में पूर्णरूप से सफल रही हैं।

संदर्भ

1. सुषमा अग्रवाल, जागृति, गीतिका प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2017, पृ० 6
2. वही, पृ० 7
3. वही, पृ० 6
4. वही, पृ० 7
5. वही, पृ० 99
6. वही, पृ० 8

हिंदी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय
हजरतबल, श्रीनगर (कश्मीर) 190006
मो० 8491970491
मो० 8899674094

भगवानदास मोरवाल के 'नरक मसीहा' उपन्यास का विश्लेषण

रुमैसा नजीर

कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

उपन्यास मानव-जीवन की व्यथा को दर्शाता है, यह कथन तो प्रत्येक उपन्यास पढ़नेवाले की जुबान पर है, पर किस प्रकार की व्यथा को दर्शाता है—असफल प्रेम, दांपत्य जीवन की समस्या, अनमेल विवाह या विवाहेतर संबंध? यह तो दिन-प्रतिदिन की समस्याएँ एवं घटनाएँ हैं, परंतु इस से बढ़कर कुछ और भी है, जो हमारे समाज को अंदर ही अंदर खोखला कर रहा है, हमारे गरीब, बेरोजगार वर्ग को आगे बढ़ने के बजाय पीछे ही धकेलता चला जा रहा है, परंतु वह क्या है? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का बेड़ा भगवानदास मोरवालजी ने सन् 2009 में उठाया और पाँच वर्ष बाद यानि 2014 में अंततः इसका उत्तर ढूँढ़ ही लिया और इसका उत्तर है 'नरक मसीहा।' जी हाँ, नरक मसीहा अर्थात् नरक का मसीहा। NGO का व्यापार चलाने का मसीहा या यूँ कहें कि NGO का बाप। भगवानदास मोरवाल के अनुसार 'पाप करते हुए मसीहा माने जानेवाले ये स्वार्थी देश में फल-फूल रहे हैं। इन मसीहाओं में स्वार्थ है, पैसा कमाने के अपने-अपने तर्क हैं, मार्ग है, कुमार्ग है, भ्रष्टाचार है, स्वच्छंदता है। यह एनजीओज की दुनिया सचमुच का नरक है, जिस नरक के ये मसीहा बन बैठे हैं।'

'नरक मसीहा' उपन्यास में उत्तर शती में पनपती गई एनजीओ संस्कृति को विषय बनाकर इसका पर्दाफाश किया गया है। 'नरक मसीहा' एन जी ओ का धंधा चलाने वाले इन लोगों को नंगा करता है, जो समाज-कल्याण के नाम पर अपने घरों का कल्याण करते हैं, गरीब एवं असहाय लोगों को निशाना बनाकर उन्हें कभी मिर्ची पाउडर तो कभी मामूली-सी साड़ी का लालच देकर पैसे निकालने वाले यही लोग देश की उन्नति में सबसे बड़ी बाधा हैं।

गैर-सरकारी संगठन अर्थात् NGO भारत में कुछ वर्षों से तीव्र गति से बढ़ते जा रहे हैं हालाँकि सरकार द्वारा कुछ साल पहले बहुत-से ऐसे संगठनों को बंद भी कर दिया था, जिनके पंजीकरण पर सरकार को संदेह था, पर लोग तो रातों-रात तरक्की करना चाहते हैं। एक NGO बंद हुआ तो क्या हुआ, दूसरा खोल दिया, वह भी पंजीकरण करनेवाले अफसर को तगड़ी मिठाई खिलाकर। आप मानो या ना मानो, यही इस देश की वास्तविकता है।

इस उपन्यास में चित्रित इसी NGO की गाथा को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है, जिसमें दो तरह के गांधीवादी विचारधारा के लोगों को दर्शाया गया है। एक इसकी मुख्य पात्र या कहें कि इस उपन्यास की मुख्य दलाल बहन भाग्यवती हैं, जो गैरसरकारी संगठन का समूह चलाती हैं और साथ ही वह बाल एवं महिला कल्याण परिषद् की अध्यक्ष भी हैं, जो केवल नाम-मात्र के लिए गांधीवादी हैं, वह सिर्फ अपने फायदे के लिए गांधीजी के उसूलों का इस्तेमाल करती

हैं और दूसरी तरफ आचार्य गंगाधरजी हैं, जो एक आदर्शवादी व्यक्ति हैं। वह अपनी संस्था 'सर्वोदय कल्याण सभा' चलाते हैं साथ ही बहन भाग्यवती के सहपाठी भी हैं, परंतु वह सेवावृत्ति के रूप में गांधीजी के मिशन को चलाते हैं। बहन भाग्यवती आचार्य गंगाधरजी की संस्था का नाम बदलना चाहती है क्योंकि उन्हें लगता है कि सभा की जगह यदि आश्रम रखा जाए तो उसमें गांधी जी का पूरा चिंतन समाया हुआ लगेगा और फिर बाद में सभा और आश्रम के स्थान पर ट्रस्ट या फाउंडेशन रखना चाहती हैं, क्योंकि उसे लगता है कि इससे विदेशी अनुदान मिलना सुलभ हो जाएगा। इस प्रकार यह उपन्यास NGO चलानेवाले और घटिया लोगों की घटिया मानसिकता को दर्शाता है, जो हमारे देश के महान राजनीतिज्ञों की छवि को आजादी के 70 साल बाद भी कलंकित करने का कोई अवसर नहीं छोड़ते। महात्मा गांधी जैसे अहिंसावादी व्यक्ति के नाम पर विदेशों से भीख माँगते इन्हें शर्म नहीं आती। आएगी भी क्यों, यही करके तो इनके घर संगमरमर के बने हैं—'कबीर और उसकी पत्नी सानिया देश-विदेश से लाखों-करोड़ों रुपए का अनुदान प्राप्त करते हैं। उनका महलनुमा निवास स्थान है। परंतु उन्होंने उसका नामकरण किया है, कबीर सानिया कुटीर। इसमें कीमती इटालियन पत्थर से बने फर्श हैं, दुर्लभ कांस्य प्रतिमाएँ हैं, दीवार पर विशाल पेंटिंग्ज है, जिन्हें देखकर लगता है मानो किसी स्वर्गलोक में आ गए हों।² कबीर और सानिया की तरह इस उपन्यास के अन्य पात्र जैसे सरला बजाज, टीना डालमिया, डॉ॰ वंदना राव, सुमन भारती, अमीना खान आदि अपने-अपने तरीकों से यह धंधा करते हैं, अर्थात् NGO चलाकर अपने बैंक एवं तिजोरियाँ भरने में दिन-रात लगे रहते हैं।

'नरक मसीहा' ऐसे मसीहाओं की खुली दास्तान है, जो संप्रति गैरसरकारी संगठनों की स्थापना कर देश-विदेश से अनुदान के नाम पर धन बटोरने और धन से पद-प्रतिष्ठा और अपार संपत्ति प्राप्त करने की मानसिकता रखते हैं। भगवानदास मोरवालजी ने 5 वर्ष तक इस समस्या पर विशेष रूप से अध्ययन कर इस परिणाम तक पहुँचे हैं कि 'जनकल्याण के लिए मिलनेवाली अनुदान या सहायता राशि का 95% जनकल्याण की योजना पर एवं 5% संगठन के कार्यालयी खर्च के लिए व्यवस्था थी, परंतु संगठनों ने फर्जी बिल बनाकर अधिकांश धन हड़प लिया और यह यह साजिश के रूप में हुआ।'³

अतः इस उपन्यास का ताना-बाना गैरसरकारी संगठनों की भीतरी दुनिया के इर्द-गिर्द बुना गया है, जो देश के गरीब लोगों के प्रति बनावटी संवेदना दर्शाकर धन एकत्रित करते हैं। इस उपन्यास में स्वतंत्रता के पश्चात् जो लोगों की मानसिकता में परिवर्तन हुआ है, उसकी ओर भी संकेत किया गया है, जो लोग स्वतंत्रता की लड़ाई में आगे आगे थे, वही लोग स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् लुटेरे बन गए हैं जहाँ जिस पद पर वह लूट-खसोटकर रहे हैं, और जोड़-तोड़ के माध्यम से लाखों-करोड़ों रुपए हड़प लिए जाते हैं।

उपन्यास की समीक्षा करते हुए डॉ॰ सत्यकाम ने लिखा है—'औपन्यासिक कृति 'नरक मसीहा' में कथाकार सामाजिक आंदोलनों की छद्म दुनिया हमारे सामने पेश करते हुए उनके किरदारों और कृत्यों से हमारा परिचय कराता है। यह दुनिया एनजीओ की अनसुनी और अनकही कहानियों से पैबस्त है, जिनमें तथाकथित सामाजिक आंदोलनों के गर्भगृह में क्रियाशील

दुष्ट मानसिकता और टुच्चेपन की अँधेरी कंदराओं का रोचक रहस्योद्घाटन किया है।¹⁴

अंततः गैरसरकारी संगठनों की लंबी फहरिस्त जैसे राहत फाउंडेशन, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, अखिल भारतीय अबला मंच, सर्वोदय कल्याण सभा, हार्मनी फॉर गोल्डन फाउंडेशन इत्यादि जिनके नामों की गिनती करना असंभव-सा प्रतीत होता है, भगवानदास मोरवाल ने इनका अवलोकन करके ही इस विशाल उपन्यास की रचना की है। ऐसा आज के जमाने में कौन करता है? यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि भगवानदास मोरवाल भी किसी मसीहा से कम नहीं हैं और हमारे साहित्य को ऐसे ही लेखकों की अत्यंत आवश्यकता है।

संदर्भ

1. डॉ० मधु खराटे, उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल, वि।। प्रकाशन कानपुर, 2016, पृ० 138
2. वही, पृ० 131
3. वही, पृ० 129
4. वही, पृ० 145

हिंदी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय
हजरतबल, श्रीनगर (कश्मीर) 190006
मो० 8491970491

अजनबीयत व एकाकीपन : मनोहरश्याम जोशी के कथासाहित्य के संदर्भ में

डॉ० मृदुल जोशी, निर्देशिका
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी विभाग) कन्या गुरुकुल परिसर
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
अनिका सिंह, शोधार्थी
शोध छात्रा (हिंदी), गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आज की भागदौड़-भरी जिंदगी में व्यक्ति स्वयं को अजनबी अनुभव करता है। पहले तो वह समाज व परिवार से अलग व्यक्तिगत जीवन जीना चाहता है, लेकिन बाद में यहीं व्यक्तिगत जीवन जब स्थायीत्व ग्रहण कर लेता है तो मानसिक अवसाद का कारण बना जाता है।

यंत्रिकरण के दौर में अजनबीयत एक ऐसी विकट समस्या बनती जा रही है, जिसका समाधान ढूँढ़ना अनिवार्य है। अकेलापन (एकाकीपन) एक ऐसी दशा या अवस्था है, जिसमें व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में सब-कुछ होते हुए भी संबंधों से विच्छिन्न या अकेला अनुभव करता है।

दिनों-दिन बढ़ती आकांक्षाएँ एकाकीपन को बढ़ावा दे रही हैं। इन अतृप्त आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए व्यक्ति महानगरों की ओर पलायन करता है और परिवार से दूर बंद मकानों में एकांत जीवन व्यतीत करता है।

महानगरीय भीड़ में तो वह अकेला अनुभव करता है, साथ ही इस स्थिति का प्रभाव आने वाली पीढ़ी पर भी पड़ता है। महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के चक्कर में एक ओर बुजुर्ग माँ-बाप गाँव में या अन्यथा अकेलेपन से जूझते हैं, वहीं दूसरी ओर आनेवाली पीढ़ी इस स्थिति का शिकार होती है। देवेन्द्र इस्सर जी इस समस्या पर अपने विचार व्यक्त करते हैं—‘आज मनुष्य अपने एकाकीपन में छिपा अपने परिवेश से कटता जा रहा है। परिवार का आश्रय टूट चुका है। अब कोई आदर्श ऐसा नहीं, जिसके लिए मनुष्य संघर्ष करना आवश्यक समझे, क्योंकि तमाम आदर्श झूठे सिद्ध हो चुके हैं।’

यह स्थिति व्यक्ति की स्वयं की पैदा की हुई है। वह इतना यंत्रवत् हो गया है कि उसे अन्य व्यक्ति के साथ की आवश्यकता ही नहीं रही। उसके पास अन्य संबंधियों के लिए तो क्या, अपने माँ-बाप व बच्चों के लिए ही पर्याप्त समय नहीं है। बच्चों को आया के भरोसे छोड़कर माँ-बाप अपना बोझ हलका कर लेते हैं, लेकिन अंत में यही उनके बच्चों व उनके

लिए घातक सिद्ध होता है।

डॉ० सुरेश सिन्हा एकाकीपन को व्यक्ति की नियति स्वीकार करते हैं—‘अकेलापन आदि को आधुनिक मनुष्य के लिए अनिवार्य नियति माना गया है, क्योंकि चेतना की वृद्धि और अपने वर्तमान अस्तित्व के बारे में उसकी निरंतर सजगता उसे समुदाय से संपृक्त कर देती है।’¹²

वर्तमान समय की आपाधापी में मात्र प्रदर्शन व औपचारिकता ही शेष रह गई है। व्यक्ति औपचारिक रूप से व्यक्ति के साथ है। एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता, लगाव, सहनशीलता अन्य सभी गुण तो कहीं धूमिल से ही हो गए हैं—

केवल औपचारिकता बाँहों में कसते हैं,
हँस-हँस कर रोते हैं, रो-रोकर हँसते हैं।¹³

शेरजंग की ये पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं कि किस प्रकार व्यक्ति अंदर से अकेला व उदास होते हुए भी बाहर से हँसने व खुश होने का प्रदर्शन कर रहा है।

मनोहरश्याम जोशी जी व्यक्ति के अंतस् की अनुभूति को अभिव्यक्त करने में माहिर हैं। उन्होंने व्यक्ति के मन से जुड़ी विसंगतियों व अन्य समस्याओं को व्यापक रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की है। आज व्यक्ति अकेलेपन से जूझ रहा है और इस अकेलेपन को दूर करने के लिए नए-नए साधनों का प्रयोग कर रहा है। बदलते जीवनमूल्यों के कारण वह परिवार के बीच घुटन, नीरसता व अशांति का अनुभव करते हुए वहाँ से निकलना चाहता है और अन्यत्र अकेलेपन को दूर करने के लिए छटपटाता भी है। एकाकीपन व्यक्ति की भयावह मानसिक स्थिति है।

आधुनिक बदलावों के कारण जीवन-शैली में आये परिवर्तन से व्यक्ति में एकाकीपन की स्थिति पैदा हुई है। कभी-कभी व्यक्ति चारों ओर से सगे-संबंधियों से घिरा होने के बावजूद स्वयं को अकेला महसूस करता है। अकेलेपन की यह स्थिति मन को चिंता व अवसादग्रस्त बना देती है। लेखक ने इस अवस्था को अनेक स्थलों में स्वर दिया है।

‘कुरु-कुरु स्वाहा’ उपन्यास में नायक के तीसरे रूप में जोशी जी ने दूर के रिश्ते की बहन और जीजा जी के माध्यम से भारत में आधुनिक परिवर्तन के कारण हो रही विसंगतियों पर व्यंग्य किया है। पहले परिवारों के सदस्यों व रिश्तेदारों के मध्य जो संबंध थे, उनमें कभी एकाकीपन व अलगाव महसूस नहीं हुआ, लेकिन बढ़ते औ। गैगिकीकरण, महानगरीकरण आदि परिवर्तनों से अपनों के बीच ही व्यक्ति स्वयं को अकेला महसूस करता है।

स्थितियाँ बदली हैं। संबंधों के मध्य भी खोखलापन व दिखावा है। इस परिवर्तित स्थिति पर दोनों के विचार व्यक्त होते हैं—‘विदेश में रहना जीजा जी को अच्छा नहीं लगता। चुरुट, खैनी का सबस्टिट्यूट हो नहीं सकता। लेकिन यहाँ भारत में भी उनके पिता के जमाने की वह दुनिया कहाँ है, जिसमें हफ्तों होली की बैठकें हुआ करती थीं और एक बेहतरीन डायलॉग बोली थी बहन पिछली मर्तबा जब आई थी भारत, ‘अपनों के बीच में अजनबी रहने से तो अजनबियों के बीच अजनबी रहना क्या बुरा है?’¹⁴

‘कसप’ उपन्यास में नायक डी०डी० स्वयं को इस संसार से अलग-थलग मानता है। वह आधुनिकता की चकाचौंध की चादर ओढ़े इस संसार में स्वयं को अकेला महसूस करता है।

नायक बनावटी, दोगली दुनिया में खुद के लिए कुछ नहीं पाता, क्योंकि वह इस सबको पाने के लिए काबिल नहीं है।

‘कौन हूँ मैं’ उपन्यास में विभावती (नायिका) इस समस्या से ग्रसित है। वह अपने दांपत्य सुख से संतुष्ट नहीं है। पति का उसे पर्याप्त समय न देना और वेश्यागमन करना उसके एकाकीपन को बढ़ावा देता है। राजमहल में भरा-पूरा परिवार होने पर भी वह स्वयं को अकेला महसूस करती है। क्योंकि जिस पति-प्रेम की उसकी चाह थी, वहीं उसको नहीं मिल पा रहा है। पति उसको केवल भोग्या रूप में ही देखता है। इसे नायिका स्वीकार नहीं कर पाती और दूर रहने लगती है। विभावती के एकाकीपन ने उसको कई बीमारियों से ग्रसित कर दिया है—‘ठाकुर माँ के उपदेश से मेरी उदासी और भी सघन हो उठी। मैं अनिद्रा और भोजन के प्रति अनिच्छा की लपेट में आ गई। भयंकर सिरदर्द तो पहले से ही होने लगा था, अब आँखों की नींद उड़ जाने और आँतों में भूख न रह जाने का रोग भी लग गया।’⁵

इस एकाकीपन व उपेक्षा के कारण नायिका अनेक मानसिक व शारीरिक बीमारियों का शिकार हो जाती है। अकेलेपन से जुड़ी न जाने कितनी समस्याओं से वह ग्रस्त हो जाती है।

‘एक दुर्लभ व्यक्तित्व’ कहानी में रोशन बाबू पत्नी और बच्चों के होने के बावजूद स्वयं को अकेला महसूस करते हैं। घर में रहते हुए वे अपने को तरह-तरह की बातों से परेशान किए रहते हैं। अपने बच्चों का मनमर्जी से काम करना, सलाह-मशविरा न लेना उन्हें बहुत खलता है। यह उपेक्षा उन्हें मृत्यु के निकट होने का आभास कराती है। रोशन बाबू अपने अकेलेपन की पीड़ा को पत्नी के समक्ष करते हैं—‘प्रभा, इस बीमारी ने जैसे मुझे भीतर से तोड़ दिया है। अपने को बहुत ही अकेला महसूस करता हूँ। मुझे लगता है कि किसी को मेरी कोई जरूरत नहीं। और तो और, मेरे बच्चों को भी नहीं। मैं मर जाऊँ तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा।’⁶

इस तरह मन की रिक्तता व्यक्ति को कभी-कभी मरणांतक पीड़ा का अनुभव कराती है।

‘जिंदगी के चौराहे पर’ कहानी में महेश समाज में स्वयं को अकेला महसूस करता है। वह अपने अंतर्मन की पीड़ा को किसी को सुनाना चाहता है। पारिवारिक सदस्यों के होने के बावजूद वह उनमें से किसी से अपना दर्द बयान नहीं कर सकता। क्योंकि उनके लिए उसका दुख-दर्द कोई मायने नहीं रखता। क्योंकि आज व्यक्ति का चरित्र केवल अपने तक सिमटकर रह गया है। महेश का मौलिक दर्द है कि इस दोगले समाज में उसके सिद्धांतों का कोई महत्त्व नहीं है। इन विसंगतियों के बीच महेश खुद को बेहद अकेला पाकर निराश होता है। उसकी पीड़ा व अंतर्द्वंद्व को लेखक ने सटीक अभिव्यक्ति दी है—‘वह अकेला, एकदम अकेला है। मोटर के हार्न ने उसे चौंका दिया। वह लालबाग के चौराहे पर खड़ा हुआ था। उसने गले में कोई चीज अटकी हुई अनुभव की, उसकी आँखों के कोरों में पानी जम गया था।’⁷

समाज में दिखावटीपन व स्वार्थी होना, व्यक्ति का एक-दूसरे पर से विश्वास खत्म करता जा रहा है। इसीलिए वह अपने अनुभव किसी से साझा करने से कतराता है और अकेलापन अनुभव करता है।

अजनबीयत व एकाकीपन का दंश झेलना आज के समाज की नियति है, जिसमें व्यक्ति तनाव, घुटन व हीनता का शिकार होता है। मनुष्य का मन इतना कोमल होता है कि कड़वे,

असहनीय पल उसे कठोर बना देते हैं। डिजिटल समय में व्यक्ति अपने एकाकीपन को दूर करने के लिए अपनों को छोड़कर अन्य तकनीकी साधनों का प्रयोग कर रहे हैं। इन साधनों से उनका मन कई विकृतियों का शिकार हो रहा है।

निष्कर्षतः, आधुनिक युग की विकटतम समस्या अजनबीयत व एकाकीपन को मनोहरश्याम जोशी अपने कथासाहित्य में अभिव्यक्त करने में सक्षम सिद्ध हुए हैं।

संदर्भ

1. देवेन्द्र इस्सर, साहित्य और आधुनिक युगबोध, पृ० 60
2. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिंदी उपन्यास : उद्भव और विकास, पृ० 119
3. उद्धृतांश, डॉ० विनयकुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ० 150
4. मनोहरश्याम जोशी, कुरु कुरु-स्वाहा, पृ० 206
5. मनोहरश्याम जोशी, कौन हूँ मैं, पृ० 158
6. मनोहरश्याम जोशी, एक दुर्लभ व्यक्तित्व, मनोहरश्याम जोशी की संपूर्ण कहानियाँ, पृ० 64
7. मनोहरश्याम जोशी, जिंदगी के चौराहे पर, मनोहरश्याम जोशी की संपूर्ण कहानियाँ, पृ० 110

गढ़वाली लोकसाहित्य : स्वरूप, लक्षण और विकास

डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्वाल

सहायक आचार्य, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान

श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)

भारत के हिमालयी राज्यों में उत्तराखण्ड का विशिष्ट स्थान है। इस राज्य का न केवल भौगोलिक, प्राकृतिक महत्त्व है, अपितु यह आध्यात्मिक महत्त्व के कारण भी जगत्प्रसिद्ध है। यहाँ की समृद्ध संस्कृति देश-दुनिया के लोगों को आकर्षित करती है। गढ़वाल और कुमाऊँ यहाँ के दो मुख्य भाग हैं। यह विभाजन इस राज्य की कतिपय सांस्कृतिक और भाषिक भिन्नताओं के आधार पर है। गढ़वाल की भाषा गढ़वाली और कुमाऊँ की कुमाऊँनी है। ये दोनों हिंदी की उपभाषा पहाड़ी की बोलियों के अंतर्गत वर्गीकृत हैं। गढ़वाल का नैसर्गिक सौंदर्य जगख्यात है। यहाँ के अकृत्रिम जनजीवन में हार्दिक निश्चलता और पवित्रता की सुगंध है। विषम भौगोलिक परिस्थितियों से उत्पन्न जीवन की दुश्वारियों ने यहाँ के मनुष्य को जीवट और संघर्ष से सामना करने को सशक्त बनाया है। यहाँ प्रकृति का स्वरूप निराला और संस्कृति के रंग न्यारे हैं। न्यून आकांक्षाओं के साथ जीवन-यापन करनेवाले यहाँ के लोगों का प्रमुख गुण ईमानदारी है। गढ़वाल का भाषायी वैशिष्ट्य यहाँ की प्राकृतिक सुषमा की ही तरह है। गढ़वाली भाषा ने, जो एक समय में टिहरी राज्य की राजभाषा भी रही, अनेक साहित्यकार दिए हैं। मुहावरों, लोकोक्तियों, कहानी, नाटकों, गीतों-गाथाओं आदि साहित्यिक विधाओं से परिपूर्ण गढ़वाली ने भाषा लोकसाहित्य के क्षेत्र में कुछ वर्षों में बहुत उन्नति और प्रगति की है। एक समय में गढ़वाल में 52 छोटे-छोटे गढ़ अर्थात् राज्य अस्तित्व में होने के कारण इस क्षेत्र का नाम गढ़वाल पड़ा। पंवार वंश के 60 राजाओं ने गढ़वाल राज्य पर वर्षों तक राज्य किया। गढ़वाल में जब राजतंत्र था, तब यहाँ की राजभाषा गढ़वाली थी। यह स्वयं में पूर्ण भाषा है। वर्तमान में यह स्वावलंबी, सुगठित और सुदृढ़ है। कविता, कहानी, नाटक, गीत आदि अनेक विधाएँ इसमें रची गई हैं।

गढ़वाल की धरा साहित्यिक दृष्टि से उर्वरा है। यहाँ का वातावरण मनुष्यों के मन में एक विशेष राग और अनुराग उत्पन्न करता है। पग-पग पर झर-झर झरते झरने, बलखाती सर्पीली सरिताएँ, गगन को चूमते उंचुंग शिखर, नाना प्रकार के पक्षियों का कलरव, प्यौली, डंडोला, ग्वीर्याळ के रंग-बिरंगे पुष्प और वन्यजीवों का स्वच्छंद विचरण मानवीय भावों को उदात्त स्तर पर ले जाते हैं। मनुष्य ऐसे वातावरण में प्रकृति से मित्रता करना चाहता है। उसके प्रति अपनी भावनाएँ व्यक्त करना चाहता है। गढ़वाल में प्रकृति और धर्म-अध्यात्म पर बहुत कुछ लिखा गया है। सनातन धर्म के चार प्रमुख तीर्थों-बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्तरी,

यमुनोत्तरी के साथ ही हरिद्वार के स्थित होने के कारण इस धरा का संपूर्ण विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गढ़वाल हिमालय के पाँच खंडों में से एक है, जिसका नाम केदारखंड भी था—

खंडा पंच हिमालयस्य कथिताः नेपालकूर्माचलौ।

केदारोऽथ जलंधरोऽथ रुचिरः कश्मीरसंज्ञोऽन्तिमः।

अर्थात् पहला खंड नेपाल प्रदेश, दूसरा खंड कूर्माचल (कुमाऊँ) तीसरा खंड केदारखंड (गढ़वाल), चौथा खंड जालंधर अर्थात् पंजाब का पर्वतीय भाग और पाँचवाँ खंड कश्मीर है। इन पाँचों खंडों में से केदारखंड अब गढ़वाल के नाम से विख्यात है और पुराणों में इस देश का नाम 'हिमालय' या 'केदारखंड' के नाम से पाया जाता है।¹

इस भूमि में श्रीकृष्ण और पांडवों के श्रीचरण पड़े हैं। यह धरा शंकर भगवान की क्रीड़ास्थली एवं पार्वती का मातृगृह (मायका) रही है। महाकवि कालिदास का जन्म भी यहाँ हुआ बताया जाता है। अनेक ऋषि-मुनियों ने यहाँ कठिन तप कर ईश्वर और ज्ञान की प्राप्ति की।

गढ़वाल शब्द की व्युत्पत्ति 'गढ़ों' के कारण हुई मानी जाती है। 'गढ़' अर्थात् छोटे-छोटे राज्य, जो बहुत समय पहले यहाँ अनेक संख्या में थे। पंवार वंश के राजा अजयपाल को इनके एकीकरण का श्रेय जाता है। उन्होंने इन गढ़ों को एक करने के पश्चात् एक राज्य स्थापित किया, जो गढ़वाल राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह काल सोलहवीं शताब्दी का माना जाता है।

गढ़वाल राज्य की स्थापना, राजवंशावलियों एवं जनश्रुतियों के अनुसार 16वीं सदी के आरंभ में इस क्षेत्र में स्थित विभिन्न 64 सामंतीय गढ़ों के संघर्षरत होने से लाभ उठाकर, चाँदपुर गढ़ के नरेश अजयपाल ने इन सभी गढ़ों को एकीकृत करके की थी।²

प्रत्येक क्षेत्र अथवा लोक का अपना लोकसाहित्य होता है। लोकसाहित्य किसी भी लोक की भावनाओं का दर्पण होता है। यह लोक के हास-परिहास, हर्ष-विषाद को व्यक्त करता है। गढ़वाल का लोकसाहित्य बड़ा समृद्ध है। गढ़वाली भाषा अत्यंत प्राचीन है और इसका विशाल शब्द-भंडार है। अनेक लोकगीत, लोकगाथाएँ, लोककथाएँ, कविताएँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ इसके साहित्य के अंग हैं, जिनमें यहाँ का लोकजीवन सशक्त ढंग से प्रतिबिंबित हुआ है। गढ़वाली की विशाल शब्द-संपदा एवं लोकप्रियता इससे पुष्ट होती है कि अब तक अनेक नाटक, कविताएँ, कहानियाँ एवं पत्र-पत्रिकाएँ इसमें प्रकाशित हो चुकी हैं और यह कार्य निरंतर गतिमान है। लगभग सौ वर्ष पूर्व भाषाविशेषज्ञ ग्रियर्सन अपने 'भाषा-सर्वेक्षण' में गढ़वाली को विख्यात विभाषा स्वीकर कर चुके हैं। गढ़वाली भाषा की विशिष्टता और महत्त्व के कारण ही उसे यह पदवी प्राप्त हो पाई है।

प्राकृतिक दृष्टि से गढ़वाल की सुषमा मनुष्यों को तो क्या, देवताओं को भी अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखती है, किंतु यहाँ का मौसम उतना ही विकट भी है। यहाँ का जनजीवन बड़ा कठिन है। आर्थिकी कमजोर है। अर्थोपार्जन के लिए लोग लंबे समय से संघर्ष करते आए हैं। या पि अब यह स्थिति परिवर्तित होने लगी है। यहाँ आर्थिकी को लेकर

तनाव-अभाव और प्रकृति के साथ मानव की घनिष्टता यहाँ के लोकसाहित्य में प्रतिबिंबित हुई है। गढ़वाल का मंत्र और साधना साहित्य महत्त्वपूर्ण है, जो बौद्धकाल से आया बतलाया गया है। नाथसंप्रदाय के गुरु गोरखनाथ को गढ़वाली भाषा का पहला साहित्यकार माना गया है। इसी संप्रदाय के मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ ने इसके बाद इस परंपरा का निर्वहन किया। इन नाथों ने एक प्रकार से गढ़वाल के धर्म-अध्यात्म और साहित्यिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग दिया। गुरु गोरखनाथ नाथसंप्रदाय के संगठनकर्ता थे। नाथसंप्रदाय मान्य रचनाओं को गोरख संप्रदाय अथवा नाथसंप्रदाय का साहित्य कहा जाता है।

इस साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम मत्स्येंद्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तकें नेपाल की लाइब्रेरी दरबार में सुरक्षित बताई जाती हैं। इन पुस्तकों में एक कौल ज्ञान निर्णय है।³

‘ढोल सागर’ में वा। शास्त्र की चर्चा के साथ गोरखपंथी सिद्धांतों की भी चर्चा यत्र-तत्र की गई है। संभवतः इसीलिए गढ़वाल में आवजी वादक तथा बाजगी लोग इस शास्त्र ग्रंथ को जोगेश्वरी ‘ढोल सागर’ भी कहते हैं। यह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि गोरखनाथ के नाम से भी ‘जोगेश्वरी साखी’ नामक हस्तलिखित पोथी मिलती है।⁴ ‘ढोल सागर’ की रचना कत्यूरियों के आश्रय में रहनेवाले गुरु खेगदास ने की थी, इसकी भाषा कुमाऊँनी, गढ़वाली, ब्रज आदि के मिले-जुले रूप से निर्मित है और पुरानी प्रतियाँ खस लिपि में लिखी बताई जाती हैं।⁵

‘ढोल सागर’ को गढ़वाली लोक में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना गया है, जिसमें इस वा। शास्त्र की विशद चर्चा है। ढोल का गढ़वाल में धार्मिक-आध्यात्मिक महत्त्व है। इसकी भूमिका मनोरंजन (संगीत) के साथ ही पूजा-अनुष्ठान में भी है। इसे देव वा। मानकर बड़ी प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। अतः इसके शास्त्रीय विवरण को यहाँ का हर व्यक्ति गंभीरता के साथ श्रवण करता है। या पि इसकी भाषा विचित्र है, किंतु लोगों को वह रुचिकर लगती है। इसमें न केवल ढोल की बनावट आदि का वर्णन है, अपितु सृष्टि की उत्पत्ति और योग की भी बात कही गई है।

हमारे यहाँ नाथसंप्रदाय के कबीले अभी भी पर्याप्त रूप में वि। मान हैं, जिनका पेशा गोरखवाणी का गायन ही मुख्य है। गायन में वे एकतारा और खंजीरी या डफली का प्रयोग करते हैं। गोरखवाणी के अतिरिक्त ये नाथपंथी जोगी ‘ढोल सागर’ की झाड़खंडी व्यवस्था के भी जानकार होते हैं। यह झाड़खंडी परंपरा तंत्र-मंत्र प्रधान योगिक विधान है। ‘ढोल सागर’ की योगगर्भित अवधारणा को देखते हुए लगता है कि इसका रचयिता अवश्य गुरु गोरखनाथ से प्रभावित हुआ है। कतिपय स्थलों पर तो ऐसा लगता है कि वह स्वयं नाथसंप्रदाय का ही सदस्य है।⁶

नाथसाहित्य का प्रयोग गढ़वाल में मंत्र-झाड़-फूँक में किया जाता रहा है, यही कारण है कि यह साहित्य यहाँ के पंडितों-ओझाओं के कंठ से वर्तमान तक सुरक्षित चला आ रहा है। ढोल सागर, दमौ सागर, बैरी बिणास और उषेल ये नाथ योग साहित्य के प्रकाशित अंश हैं। इसके अप्रकाशित साहित्य में मंगावली, समैण, छिद्रावली, डैण की रखवाली, मंत्र गोरीलकाई,

पंचमुखी हनुमान, लोमड़ा का मंत्र आदि हैं।⁷

देखा जाए तो गढ़वाली साहित्य के सृजन और विकास आदि में नाथपंथ का बड़ा योगदान है। इस संप्रदाय का मंत्र साहित्य गढ़वाल में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विचित्र भाषा में रचे गए ये मंत्र यहाँ के लोगों को संकट से मुक्ति दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं। गढ़वाल में नाथों के प्रभाव से रचे गए ढोल सागर, घट-स्थापना, इंद्रजाल, श्रीनाथ जी की सुकलैस, समैणा आदि अनेक गोरखपंथी ग्रंथ मिलते हैं। इसी काल के उखेल भेद, बैरी बिणास, सुने जर की बैदाई और छवाणों- पूजन जैसे लिखित निबंध भी उपलब्ध हैं। ये निबंध मन की उच्छृंखल स्थिति की साहित्यिक अभिव्यक्ति हैं।⁸

गढ़वाली लोकसाहित्य यूँ तो बहुत पहले से ही अनवरत रूप से अनेक लोगों के कंटों के माध्यम से व्यक्त हुआ आ रहा है, किंतु इसकी शृंखलाबद्ध रचना 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में मानी जाती है। इस युग में गढ़वाल में प्रसिद्ध कवि मौलाराम हुए हैं। मौलाराम ने गढ़वाल राजवंश का इतिहास लिखा है। मौलाराम (1740-1833) के समय अनेक घटनाएँ घटीं, जिनके वे प्रत्यक्षदर्शी थे। 1803 की गोरख्यांगी (गोरखाओं का गढ़वाल पर आक्रमण-अत्याचार) के वे प्रत्यक्षदर्शी थे। जब गढ़वाल अँग्रेजों के अधीन हो गया और टिहरी अलग राज्य बन गया, उस समय की घटनाएँ उन्होंने देखी थीं। मई, 1658 में जब दाराशिकोह औरंगजेब के कोपभाजन हुए तो उन्होंने गढ़वाल में शरण ली। उन्हीं के साथ दिल्ली निवासी बनारसीदास के पुत्र शामदास और उनका पौत्र हरदास श्रीनगर आए थे। 9वें दोनों चित्रकार थे। हरदास का पोता मौलाराम था, जो महान कवि, चित्रकार और काली भक्त हुआ।¹⁰

मौलाराम के बाद गढ़वाली लोकसाहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा जाने लगा। विशेष रूप से अँग्रेजी शासन के बाद यहाँ साहित्यसृजन में विशेष क्रांति आई। भारत में तब अँग्रेजी पढ़े-लिखे गढ़वालियों में अपने अंचल के विकास के लिए ललक उठने लगी। उस काल में जो कार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में वाराणसी में किया, वही कार्य अँग्रेजी पढ़े-लिखे और हिंदीप्रेमी गढ़वाली गढ़वाल में कर रहे थे। उस कालखंड में गढ़वाल में अनेक कवियों और लेखकों ने गढ़वाली के साथ ही हिंदी में भी अच्छे स्तर का लेखन किया और यह कार्य अबाध गति से बढ़ता गया। सर्वश्री गोविंदप्रसाद घिल्डियाल, हरिकृष्ण रतूड़ी, सदानंद कुकरेती, डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़धवाल, भवानीदत्त थपलियाल, ईश्वरीदत्त घिल्डियाल, चंद्रकुँवर बर्त्वाल, परमेश्वरानंद घिल्डियाल, डॉ॰ बलदेव नौटियाल, देवीप्रसाद घिल्डियाल और मुकुंदीलाल जैसे ख्यात साहित्यकार उस कालखंड में हुए हैं।

साहित्य-सृजन की यह धारा सबसे और वेगवती हुई और इसने और व्यापक रूप लिया। परिणामस्वरूप गढ़वाल में अब साहित्यकारों का विशाल संसार अस्तित्व में आ चुका है। डॉ॰ गोविंद चातक, मोहनलाल बाबुलकर, डॉ॰ शिवानंद नौटियाल, डॉ॰ हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', कन्हैयालाल डंडरियाल, भजनसिंह 'सिंह', अबोधबंधु बहुगुणा, लीलाधर जगूड़ी, भगवतीप्रसाद नौटियाल, जीवानंद श्रीयाल, गोकुलानंद किमोठी जैसे स्वनामधन्य साहित्यकारों को जन्म देनेवाली इस पुण्य धरा पर वर्तमान में रमेश पोखरियाल 'निशंक', शांतिप्रकाश 'जिज्ञासु', डॉ॰

अचलानंद जखमोला, मनोहर चमोली 'मनु', डॉ० सरला चंदोला, डॉ० रणवीरसिंह चौहान, डॉ० दिनेश चमोला 'शैलेश', संदीप रावत, रमाकांत बेंजवाल, बीना बेंजवाल, दीपक केंतुरा, मदन डुकलान, रवि केंतुरा आदि साहित्य की पुण्य सलिला बहा रहे हैं।

डॉ० चातक ने 'गढ़वाली लोकगाथाएँ', 'भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय', मोहनलाल बाबुलकर ने 'गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन', डॉ० 'शैलेश' ने 'गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य', डॉ० नौटियाल ने 'गढ़वाल के लोकनृत्य गीत', अबोधबंधु बहुगुणा ने 'धुर्याल' और 'भूम्याल', संदीप रावत ने 'गढ़वाळि भाषा अर साहित्य की विकास जात्रा', डॉ० सरला चंदोला ने 'उत्तराखंड का लोकसाहित्य और जनजीवन', डॉ० रणवीरसिंह चौहान ने 'उत्तराखंड के वीर भड' जैसी कालजयी कृतियों का सृजन कर गढ़वाली लोकसाहित्य की समृद्धि और संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

गढ़वाली लोकसाहित्य के विकास में यहाँ के लोकगीतों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। सूचना तकनीक और मनोरंजन के साधनों में विकास के कारण पहाड़ के गीत मैदानी शहरों तथा सात समुद्र पास तक पहुँचे। परिणामस्वरूप गढ़वाल का सांस्कृतिक स्वरूप अधिसंख्य जनों के मध्य उपस्थित हो पाया।

इधर, गढ़वाली लोकसाहित्य के अभिन्न और महत्त्वपूर्ण अंग गीत और जागरों की भी कुछ वर्षों में त्वरित धारा बही है। नब्बे के दशक से गढ़वाल के जागरों-गीतों के गायन में एक क्रांति सी आई है। पहले ऑडियो कैसेट, फिर सीडी-डीवीडी और पेन ड्राइव आदि जैसे माध्यमों से इन विधाओं को देश-दुनिया में प्रचारित-प्रसारित होने में सहायता मिली। नरेंद्रसिंह नेगी ने गढ़वाली लोकगीतों के गायन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।...नरेंद्रसिंह नेगी के बाद गढ़वाल के लोकगीत गायन और जागर गायन में प्रीतम भरतवाण ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।¹¹

श्री नेगी और श्री भरतवाण से पहले भी गढ़वाली गीतों का गायन हुआ, किंतु इस त्वरित और व्यापक स्तर पर नहीं। बहुत पहले के दौर में शिवप्रसाद पोखरियाल, घनश्याम 'सैलानी', जीत सिंह नेगी, किशनसिंह पंवार, चंद्रसिंह राही, रमेश बगियाल, नत्थीलाल नौटियाल, जगदीश बकरोला हुए, जबकि वर्तमान में इस रससिक्त परंपरा को साहबसिंह रमोला, ओम बधाणी, मंगलेश डंगवाल, किशन महिपाल, वीरेंद्र राजपूत आदि गायक लोकगायक आगे बढ़ा रहे हैं।

निष्कर्ष

गढ़वाली भाषा का लोकसाहित्यिक स्वरूप कुछ वर्षों में बहुत निखरकर सामने आया है। इसने अप्रत्याशित उन्नति और प्रगति की है। शिक्षा के प्रसार और सुविधाओं की उपलब्धता, सूचना- तकनीक के विकास और सोशल साइटों के आविर्भाव इत्यादि कारणों ने इस भाषा को फल-फूलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गढ़वाली लोकसाहित्य के आरंभिक काल पर दृष्टिपात करें तो तब इसके विकास और संरक्षण में नाथ-पंथ ने बड़ी भूमिका निभाई। आज भी इस संप्रदाय के मंत्र गढ़वाली लोक में वि। मान हैं और उनका उपयोग किया जाता है, जिन पर आज शोध की नितांत आवश्यकता है। अन्य लोकसाहित्यों की ही भाँति गढ़वाली लोकसाहित्य

में भी यहाँ के लोक के समस्त मानवी भाव प्रतिबिंबित हुए हैं, क्योंकि लोकसाहित्य यथार्थ और आदर्शवाद का मनोहारी समन्वयक होता है। वह सच्चा लोकप्रतिनिधि जनकाव्य होता है, जो लोक के जनजीवन की आशा-निराशा, कष्ट-आनंद, हर्ष-विषाद, हास-परिहास, सुख-दुःख आदि भावनाओं का जीवंत चित्रण करता है। यदि गढ़वाली लोक में आज वर्षों पुरानी लोकोक्तियाँ, कहानियाँ, कविताएँ, पहेलियाँ और लोकगीत जीवित हैं, तो वे यहाँ के लिपिबद्ध लोकसाहित्य के कारण ही हैं। इन विधाओं में न केवल गढ़वाल की प्रकृति के विविध रूप प्रकट हुए हैं, अपितु यहाँ के रहन-सहन और यहाँ के लोकजीवन-संबंधी समस्याओं और आनंद की सहज अभिव्यक्ति उनमें है। इन विधाओं में मानव-जीवन के समस्त भाव प्रतिबिंबित होते हैं। यहाँ के लोकविश्वासों और आस्थाओं का संवहन कर रहे इस लोकसाहित्य पर मनवैज्ञानिक दृष्टि से शोध किए जाने की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. पं० हरिकृष्ण रतूड़ी, गढ़वाल का इतिहास, संपादक डॉ० यशवंतसिंह कठोच, पृ० 1
2. डॉ० संतनसिंह नेगी, गढ़वाल और गढ़वाल, गोरखा आक्रमणकालीन गढ़वाल, पृ० 18
3. डॉ० विष्णुदत्त कुकरेती, नाथपंथ : गढ़वाल के परिप्रेक्ष्य में, पृ० 164
4. डॉ० बड़थवाल, हिंदी-काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० 71 (फुटनोट)
5. डॉ० गोविंद चातक, भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ० 102
6. केशव अनुरागी, गोरखपंथ के परिप्रेक्ष्य में ढोल-सागर, गढ़वाल और गढ़वाल, सं० चंद्रपाल सिंह रावत, पृ० 230
7. डॉ० शांतिप्रसाद चंदोला, नाथ पंथ, पृ० 198
8. अबोधबंधु बहुगुणा, गढ़वाली साहित्य की परंपरा, गढ़वाल और गढ़वाल, सं० चंद्रपाल सिंह रावत, पृ० 181
9. राहुल सांस्कृत्यायन, हिमालय परिचय, पृ० 133
10. डॉ० शिवानंद नौटियाल, गढ़वाल के लोकनृत्य गीत, पृ० 28 (भूमिका भाग)
11. डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्त्वाल, गढ़वाली गाथाओं में लोक और देवता, पृ० 26

एच-301, नेहरू कॉलोनी

धर्मपुर, देहरादून (उत्तराखंड) 248001

मो० 9411341443, 7535975381

ई-मेल: veerendra.bartwal8@gmail.com

माहेश्वर तिवारी के नवगीतों में राजनीतिक विसंगति का यथार्थ चित्रण

ललितकुमार सारस्वत, शोधछात्र
हिंदी विभाग

एस०डी० (पी०जी०) कॉलेज, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

नवगीत पारंपरिक गीतों से ही विकसित नए काव्य की एक विधा है। यह बात विचारणीय हो जाती है कि नवगीत और गीत को बाँटनेवाली रेखा कौनसी है? नवगीत विधा को लेकर अधिकांश आलोचक इस बात पर सहमत दिखाई पड़ते हैं कि नवगीत का प्रारंभिक अंकुरण सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के उत्तरवर्ती गीतों में हो गया था। इस दृष्टि से डॉ० शंभुनाथसिंह का मत है कि नवगीत की विकास-प्रक्रिया का प्रारंभ तो भारतेंदुयुग से ही हो गया था, पर उसका वास्तविक प्रारंभ निराला की कविताओं से माना जाना चाहिए। वे लिखते हैं, 'नवगीत भारतेंदुयुग से चली आती उस गीत परंपरा की संज्ञा है, जो प्रारंभ से ही लोकजीवन से संयुक्त थी और युगीनबोध से उत्तरोत्तर परिपुष्ट होती रही। छायावादीयुग में भक्तिकालीन पद, गीत का स्थान स्वच्छंदतावादी गीत-शैली ने ले लिया, जो अँग्रेजी के रोमांटिक कवियों वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन आदि के गीतों से अनुप्रेरित थी। इस शैली के गीतों का लोकजीवन की यथार्थ स्थितियों से सरोकार नहीं था। छायावादी गीत बहुपठित समाज की मानसिकता वाले तथा भारतीय पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों से प्रभावित शिष्टवर्गीय कवियों की देन थे।'¹

नवगीत से तात्पर्य

नवगीत से तात्पर्य आजादी के बाद लिखे गए उन हिंदी गीतों से है, जिसमें वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है और जो सामाजिक यथार्थ से जुड़े थे। इन गीतों में लोकधुनों का सहारा लिया गया तथा बिंब-विधान पर विशेष बल दिया गया एवं नवीन प्रतीक योजना की गई। नवगीतकार का आधुनिकता पर विशेष ध्यान रहा। डॉ० शंभुनाथसिंह ने 'नवगीत' को स्पष्ट ढंग से परिभाषित किया। उन्होंने नवगीत को अनुभूति के नवीन आयामों की अभिव्यक्ति देते हुए कहा—'हिंदी गीत विधा की वर्तमान धारा का नाम 'नवगीत' है। नवगीत एक सापेक्ष शब्द है, जो अपनी नवीनता को प्रमाणित करने के लिए पुराने अथवा पारंपरिक गीत की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः नवीनता पुरानेपन की तुलना में ही दृष्टिगत होती है। गीत-रचना की परंपरागत पद्धति और रूढ़ भाव को छोड़कर नवीन पद्धति और अनुभूति के नवीन आयामों एवं युगीन भावबोध को अभिव्यक्त करनेवाले गीत ही नवगीत हैं।'²

डॉ० माहेश्वर तिवारी के अनुसार, 'नवगीत आज का गीत है, जो आज के मनुष्य के

बहिरतर संघर्षों की प्रतीति अलग-अलग मोर्चों पर जूझ रहा है, इसलिए उसकी रचना किन्हीं अर्थों में, आज के आम आदमी की संघर्ष-क्षमता और उसकी व्यापक मानवीय आकांक्षा की प्रतीति है।’

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि पारंपरिक गीत का अधुनातम रूप नवगीत है, जिसमें एक ओर अभिनव शिल्प है, बिंब-विधान है तो दूसरी ओर उसमें मानवीय त्रास, पीड़ा आदि का चित्रण है। एक ओर वह लोकगीतों की धुनों को अपनाता है तो दूसरी ओर उसमें प्राचीन सांस्कृतिक प्रतीकों की स्वीकृति भी है। गीत को वैयक्तिक अनुभूति के स्तर से उतारकर लोकमानस की अनुभूति पर स्थापित करने का कार्य नवगीत ने किया है।

नवगीत की विकास-यात्रा

नवगीत के बारे में चर्चा बीसवीं शताब्दी के छठे दशक से प्रारंभ होती है और उसको पूर्ण स्वीकृति नवें दशक तक मिल जाती है। डॉ॰ शंभुनाथसिंह नवगीत का प्रारंभ सन् 1935 से मानते हैं और उसके विकास को चार चरणों के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

1. विकास का प्रथम चरण, सन् 1935 से 1950
2. विकास का द्वितीय चरण, सन् 1951 से 1960
3. विकास का तृतीय चरण, सन् 1961 से 1970
4. विकास का चतुर्थ चरण, सन् 1971 से 1985

डॉ॰ माहेश्वर तिवारी के नवगीत संग्रहों का सामान्य परिचय

1. **सच की कोई शर्त नहीं**—डॉ॰ माहेश्वर तिवारी द्वारा रचित ‘सच की कोई शर्त नहीं’ नवगीत संग्रह 2003 में प्रकाशित हुआ। इस नवगीत-संकलन में तिवारीजी ने जीवन के यथार्थ का वर्णन किया है। जीवन के राग-रास के गायक इस गीति-कवि की संवेदना इस संग्रह में उन यथार्थपरक व्याख्याओं की ओर मुखरित हुई है, जो सामाजिक विसंगतियों, छल-प्रपंचों को उद्घाटित करती है। इस संग्रह में तिवारी जी ने आजादी के बाद उपजी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और मानसिक विसंगतियों से झंकृत संवेदना को 53 नवगीतों के माध्यम से व्यक्त किया है।

2. **फूल आए कनेरों में**—फूल आए कनेरों में नवगीत संग्रह 2010 में प्रकाशित हुआ है। इसमें श्री माहेश्वर तिवारी की लेखनी से सुंदर नवगीतों की रचना हुई है।

3. **सच की कोई शर्त नहीं**—इसमें माहेश्वर तिवारी ने अनेक समसामयिक विषयों पर सुंदर नवगीतों की रचना करके इस संग्रह को प्रासंगिक बना दिया। आजादी से पूर्व जिन राजनीतिक वैचारिक सिद्धांतों को लेकर यह लड़ाई लड़ी गई, आजादी के बाद वही राजनीतिक वैचारिक सिद्धांत हमारे प्रतिनिधियों के लिए बेमानी हो गए। किसी भी कार्य अथवा योजना में वैचारिक प्रतिबद्धता नजर नहीं आती है। महात्मा गांधी के सिद्धांत सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह आदि मात्र खोखले शब्द बनकर रह गए। किसी भी राजनीतिक दल अथवा नेता के पास कोई भी सिद्धांत अथवा विचार नहीं रह गया, बल्कि चारों ओर वैचारिक क्षरणता नजर आने लगी।

भारतीय समाज के चहुँमुखी परिवेश सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि में द्वंद्व नजर आने लगा। भारत में विभाजन की त्रासदी जो घटित हुई, उससे भी वैचारिकी छिन्न-भिन्न हो गई। वैयक्तिक जीवन हो या सामाजिक जीवन, कहीं भी वैचारिक प्रतिबद्धता नजर नहीं दिखाई पड़ती। भारतीय राजनीति में दल-बदल, खरीद-फरोख्त, जोड़-तोड़ आदि प्रमुख हो गए। इन सबके बीच विचार न जाने कहाँ तिरोहित हो गया? यदि कोई सकारात्मक जनआंदोलन हुए भी तो उन्हें जबरन शक्ति के बल पर दबा दिया गया। लोगों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन किया गया। इन सब स्थितियों का हिंदी-कविता बड़ा सटीक चित्रण करती है। लीलाधर जगूड़ी की कविता इस संदर्भ में प्रासंगिक है—

राजा जागता है
हिलाने से
बच्चा सोता है।

तात्पर्य यह है कि राजा अपनी कुर्सी के मोह में सोया हुआ था। जहाँ उसने निर्ममतापूर्वक सभी वैचारिक आंदोलनों, साहित्यकारों, चिंतकों, मनीषियों आदि के विचारों को दबा दिया। समाज में सर्वत्र राजनीतिक वैचारिक क्षरण का माहौल व्याप्त हो गया। भारतीय महापुरुष एवं उनके सिद्धांत मात्र तस्वीरों व उनके द्वारा कहे गए प्रेरक कथनों तक ही सीमित रह गए थे। नवगीतकार डॉ॰ माहेश्वर तिवारी के गीतों में भी इस राजनीतिक वैचारिकता की क्षरणपूर्ण स्थिति का अंकन हुआ है—

सुनो सभासद,
हम केवल विलाप सुनते हैं
तुम कैसे सुनते हो अनहद,
पहरा वैसे बहुत कड़ा है
देश किंतु अवसन्न पड़ा है
खत्म नहीं हो पाई अब तक
मंदिर से मुर्दों की आमद
आवाजों से बचती जाए
कानों में है रुई लगाए
दिन पर दिन है बहरी होती जाती
यह बड़बोली संसद।⁴

डॉ॰ तिवारी ने उपर्युक्त उदाहरण में राजनीतिक वैचारिक क्षरण को स्पष्ट किया है। नवगीतकार ने देश को चलानेवाली संसद पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया कि इस राष्ट्र के चुने हुए जनप्रतिनिधियों का राजनीतिक वैचारिक क्षरण किस हद तक हुआ है कि देश की चिंता किसी को भी नहीं। जनप्रतिनिधि अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हुए हैं। अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने के लिए दो समुदायों को आपस में लड़ाकर अपना राजनीतिक हित साध रहे हैं।

वर्तमान समय में संसद की कार्य-प्रणाली पर विचार करते हुए ये इसे बड़बोली और बहरी संसद की संज्ञा देते हैं, क्योंकि संसद में बैठे लोग विचारशून्य हैं। उनमें वैचारिकता का क्षरण पूर्णतः

हो चुका है। धूमिल की कविता में भी कुछ इस तरह के तेवर देखने को मिलते हैं—

मैं पृछता हूँ यह तीसरा आदमी कौन है
मेरे देश की संसद मौन है।

इस संबंध में डॉ० जगदीशनारायण की टिप्पणी द्रष्टव्य है—‘लोकतंत्र जनता का नहीं, पूँजीपतियों, भू-स्वामियों, नेताओं का था, इस त्रिगुट को लोकतंत्र की अपेक्षा थी। अतः उसे लोगों पर लाद दिया गया।’⁵

अनेक समकालीन कवियों ने राजनीतिक वैचारिक क्षरण के मुद्दों को प्रमुखता से उठाया है—

नए भेड़िए घूम रहे हैं
खाल ओढ़कर ऊँचे कुल की
सुख बंदी
माँदों में जिनके
ठेकेदार रात के
दिन के।⁶

डॉ० माहेश्वर तिवारी ने अपने नवगीतों में राजनीति के विकृत स्वरूप को प्रस्तुत किया है, जो राजनीति आमजन के संरक्षण की बात करती है, उसी के लिए ये अपने रक्षकों के प्रति भय व शंका-भाव दिखाया है, जिसमें राजनीति के वैचारिक क्षरण की ओर ध्यान जाता है। वे राजनेताओं को प्रतीकात्मक भाषा में खाल ओढ़े सफेदपोश कहते हैं। श्री तिवारी राजनीति के प्रतिनिधि राजनेताओं को भेड़िए की संज्ञा देते हैं। इस संबंध में डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णीय की टिप्पणी समीचीन प्रतीत होती है—‘उच्चपदस्थ राजनीतिक कार्यकर्ता और सरकारी कर्मचारी दोनों मिलकर अपने ढंग से जनता से पैसा एँठने में लगे हैं, जैसे उनकी आत्मा मर गई हो, उनके आचरण से राजनीतिक जीवन दूषित हो गया। दलबदल राष्ट्रीय धर्म हो गया है।’⁷

बिल्ली ने
बच्चे दिए
आँख खोलते ही
अपने सब गुण
उनको सिखलाए?
कई-कई
जंगल के शेरों से
रिश्ते बतलाए।⁸

डॉ० माहेश्वर तिवारी ने राजनीतिक वैचारिकता के क्षरण का प्रमुख कारक ‘वंशवाद’ को बताया है। आज की राजनीति में वंशवाद का बोलबाला है। किसी भी राष्ट्रीय या क्षेत्रीय पार्टी को देखें तो उसमें परिवारवाद, वंशवाद की उपस्थिति मिल ही जाएगी। बिल्ली के प्रतीक के माध्यम से राजनेता की ओर श्री तिवारी का ध्यान जाता है। बिल्ली को चतुर माना जाता है। ये

वंशवाद की राजनीति की उपस्थिति को स्पष्ट करते हैं कि एक राजनेता अपने बेटे को राजनेता बनाने का चिंतन करता है तथा उसमें अपने जैसी चालाकी, अवसरवादिता धूर्तता आदि को विकसित करता है। 'वंशवाद' की राजनीति ठीक प्रकार से चले, वह राजनीति के जंगल के बड़े-बड़े कद्दावर शेर यानी राजनेताओं से अपने रिश्तों की जानकारी भी देता है। वर्तमान समय में यह बात प्रासंगिक भी है। अनेक राजनेताओं ने राजनीति में वंशवाद को पोषण देते हुए अपनी संतानों को राजनीति की ओर अग्रसर किया है, जो केवल राजनीतिक हितों का प्रयोग महज अपने लिए कहते हैं—

छाती पर लटकाए बिल्ले
घूम रहे हैं केवल पिल्ले
बोलेगा अब सिर्फ मसीहा
और जुबानों पर पाबंदी
माथा टेके शीश नवाए
केवल उसके ही गुन
लौटे हैं भाई आनंदी।⁹

राजनीति के वैचारिक रूप से क्षरण में बाहुबल एक प्रमुख कारक है। जबसे राजनीति में बाहुबलियों का दखल हुआ, यह वैचारिक रूप से और पतन की ओर गई है।

उपर्युक्त उदाहरण में आनंदी भाई के माध्यम से राजनीति में बाहुबल के दस्तक की आहट सुनाई दी है। आज चुनाव के समय बाहुबलियों का प्राबल्य देखा जा सकता है। वे जो कहते हैं, उसे केवल ध्यान से सुना जाता है। बोलने पर पाबंदी होती है। उनके सामने आम आदमी चुप ही रहता है। बाहुबलियों के सामने सब माथा झुकाते हैं। यह आज का राजनीतिक यथार्थ है। दुष्यंतकुमार त्यागी के शब्दों में—

जिस तरह बजाओ इस सभा में
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं।

बाहुबल की राजनीति के चलते ऐसा प्रतीत होता है, जैसे आम आदमी इनके सामने झुनझुना ही है। डॉ० तिवारी ने समसामयिक राजनीति के इस कटु यथार्थ का बड़ा सटीक चित्रण किया है—

सच को/ जिंदा रखनेवाली
हर जुबान सील दी गई
झूठ/ सरेआम घूमता है
पहने/ जनतंत्र के लबादे
कुली की तरह
ढोता आदमी
बौनी कसमें
पोले वादे।¹⁰

उपर्युक्त उदाहरण डॉ० तिवारी ने राजनीतिक वैचारिक क्षरण की ओर ध्यान दिलाया है।

इस स्थिति में सबमें सच कहनेवाली जुबान पर अंकुश लगा दिया गया है। आजादी के इतने दिनों के बाद भी जनतंत्र अपने सच्चे स्वरूप में नहीं आ पाया है। डॉ० तिवारी ने जनतंत्र को बोझ के समान बताते हुए उसे आम आदमी पर बोझ ही माना है, क्योंकि राजनेताओं के विकास और तरक्की के वादे झूठ ही साबित हुए हैं।

लोकतंत्र और वर्तमान राजनीति के परिदृश्य पर विजय गौड़ की टिप्पणी सार्थक प्रतीत होती है—‘जनतंत्र के ढोल के पोल कहीं भी देखे जा सकते हैं। भ्रष्टाचार की सरिता के सामने आम आदमी के हक-हकूकों की बात बेमानी है।¹¹

तुम्हें पहनने को
देगा यह
कुर्ता फूलों का
और वास्ता
देगा
मुर्दा बने
उसूलों का।¹²

माहेश्वर तिवारी ने राजनीति में खरीद-फरोख्त और राजनीतिक पिट्टुओं की योजना तैयार करने की ओर इशारा किया है कि किस प्रकार खरीद-फरोख्त की राजनीति से वैचारिक क्षरण हो रहा है। आज राजनीति में सत्ता पाने की लालसा में राजनेता लालच और खरीद-फरोख्त पर भी अमदा हैं। एक ओर राजनीति के मृत सिद्धांतों की भी दुहाई देते हैं। यह अजब विरोधाभास की स्थिति की है।

यह हल बैलों के
खिलाफ तुमको
भड़काएगा
फिर खेतों तक
लेकर अपना
फीता जाएगा
इसकी तरफ
नोक हल की
हर समय
खड़े रक्खो।¹³

डॉ० माहेश्वर तिवारी ने राजनैतिक वैचारिक क्षरण में दमनकारी नीति की ओर भी संकेत किया है कि किस प्रकार अपने अधिकार माँगने पर जनता को निर्ममता से कुचल दिया जाता है। अभी हाल ही में भूमि अधिग्रहण मुद्दे पर जहाँ-जहाँ भी आंदोलन हुए उन्हें बड़ी कठोरता से एक साथ दबाया गया। जिसने भी इन आंदोलनों का नेतृत्व किया उसकी तरफ क्रूर राजनीति की भौंह टेढ़ी हो गई। समसामयिक राजनीति में ऐसा देखा जा सकता है—

बोलों पर पहरे हैं
लगता गूँगे प्रदेश में
हम सब ठहरे हैं।¹⁴

इन पंक्तियों में कवि ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन की ओर ध्यान दिलाया है। आज अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन हो रहा है। राजनीति के वैचारिक क्षरण में यह महत्वपूर्ण कारक है, जो भी अपनी अभिव्यक्ति का प्रयोग करता है, उस पर ही प्रतिबंध लगा दिया जाता है। वर्तमान परिदृश्य को देखकर नवगीतकार का हृदय इस स्थिति पर व्यथित हो उठता। उनके शब्दों में ही लगता है 'गूँगे प्रदेश में हम सब ठहरे हैं'—

स्याह-सफेद
महारत वाले
दर्पण जैसे धुले स्वच्छ हैं
नए तंत्र हैं
नए मंत्र हैं
जनता कीलित
वे स्वतंत्र हैं।¹⁵

श्री तिवारी ने राजनीति और राजनेताओं के चरित्र की सृष्टि की है। राजनेताओं का बाह्य चरित्र दर्पण की तरह स्वच्छ होता है, लेकिन नवगीतकार इसे स्याह कहकर संबोधित करता है। आजादी के बाद की स्थिति पर विचार करते हुए कहते हैं कि नए तंत्र हैं, नए मंत्र हैं। जनता को बाँध दिया गया है तथा ये आजादी का जीवन जीते हैं। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में सर्वत्र राजनीतिक वैचारिकता के क्षरण की स्थिति दिखाई पड़ती है।

संदर्भ

1. डॉ० राजेशसिंह, समकालीन नवगीत का विकास, पृ० 8
2. राजेंद्रप्रसादसिंह, हिंदी नवगीत : उद्भव और विकास, पृ० 7
3. शंभुनाथसिंह, नवगीत अर्द्धशती, पृ० 10
4. डॉ० माहेश्वर तिवारी, सच की कोई शर्त नहीं (सुनो सभासद), पृ० 14
5. डॉ० जगदीशशरण श्रीवास्तव, समकालीन कविता पर बहस, पृ० 37
6. डॉ० माहेश्वर तिवारी, सच की कोई शर्त नहीं (नए भेड़िए), पृ० 15
7. डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णीय, द्वितीय महायुद्धेतर हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 46
8. डॉ० माहेश्वर तिवारी, सच की कोई शर्त नहीं (महज अपने लिए), पृ० 26
9. वही, आनंदी, पृ० 44
10. वही, कड़ी नजर, पृ० 35
11. विजय गौड़, जनसत्ता में प्रकाशित लेख, 14 अगस्त 2011
12. डॉ० माहेश्वर तिवारी, सच की कोई शर्त नहीं (कड़ी नजर), पृ० 35
13. वही, पहरे हैं, पृ० 44
14. वही, कड़ी नजर, पृ० 35
15. वही, लोकपक्ष, पृ० 44

शैलेश मटियानी का कथासाहित्य

डॉ० हसमुख परमार

उपाचार्य, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग

सरदार पटेल विश्वविद्यालय

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)

हिंदी कथासाहित्य के प्रमुख सृजनकर्ताओं की सूची में शामिल एक महत्वपूर्ण नाम है—शैलेश मटियानी। साहित्य-जगत् में कई ऐसे भी साहित्यसेवी हैं, जिनकी आजीविका का आधार उनका लेखन रहा है। मटियानी भी इस पंक्ति में आते हैं—एक लेखनीजीवी कथा लेखक। जीवन और साहित्य के प्रति प्रतिश्रुत-प्रतिबद्ध इस लेखक का कृतित्व 1950 से प्रारंभ होता है और उनका निधन अप्रैल 2001 में हुआ। इस तरह मटियानीजी का लेखन लगभग आधी सदी में फैला हुआ है। इस समयावधि की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ इनके कृतित्व में प्रतिबिंबित होती हैं। स्वाधीन भारत के समाज का यथार्थ चित्र हमें मटियानीजी के कथासाहित्य में दृष्टिगत होता है। इनका साहित्य इस बात का प्रमाण है कि रचनाकार की संवेदना हमेशा दलित, पीड़ित, शोषित व गरीब-वर्ग के प्रति रही है। 'बीसवीं शताब्दी के पाँचवें-छठे दशक से रचनाकर्म में सक्रिय होनेवाले शैलेश मटियानी ने हिंदी कथासाहित्य को नवीन दृष्टि से संपन्न किया है। अपने उपन्यास के कथ्यगत वैविध्य, अनुभव-समृद्धि, संवेदनात्मक गहराई और विचारों की स्पष्टता आदि के कारण ये समकालीन रचनाकारों में विशिष्ट बन गए हैं। समकालीन समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं और कठोर यथार्थ से प्रेरित होकर मटियानीजी ने अपने कथासाहित्य की रचना की है। इन रचनाओं में न सिर्फ सामाजिक समस्याओं का अंकन हुआ है, बल्कि उसके बदलते हुए स्वरूप तथा प्रगति के लिए व्यक्ति की अकुलाहट भी व्यक्त हुई है।"

शैलेश मटियानी का साहित्य गुणवत्ता और प्रमाण उभय दृष्टि से विपुल और संपन्न है। उनके लगभग 28 कहानी-संग्रह, 30 उपन्यास, 03 संस्मरणात्मक पुस्तकें, 13 विविध प्रकार की पुस्तकें, 16 बालसाहित्य की किताबें, 07 लोककथा संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त 'विकल्प' और 'जनपक्ष' नामक दो पत्रिकाओं को भी चलाते रहे हैं। इनके संपादकीय भी चिंतनपरक एवं विचारोत्तेजक हैं।

इतना होते हुए भी इस लेखक को हिंदी कथासाहित्य संबंधी संग्रह, संपादन व समीक्षा के क्षेत्र में जितनी जगह मिलनी चाहिए, उतनी मिली नहीं। असल में मटियानीजी किसी लेखक-मंडल की विचारधारा के पक्षधर कम और अपनी स्वयं की विचारधारा के वाहक

ज्यादा रहे। वे अपने समय के किसी विशेष कथाकार खेमे से भी बँधे नहीं रहे। न तो इनका अपने समय के कहानी आदि से जुड़े किसी आंदोलन से ज्यादा सरोकार रहा। ऐसे तो और भी कई कारण हैं, जिसके चलते मटियानी को कथासाहित्य में कम आँका गया। उनकी उपेक्षा होती रही। उनके कुछेक उपन्यासों के आधार पर इन्हें आंचलिक उपन्यास के खाते में खतिया दिया गया। जब हम हिंदी के विविध कहानी-संग्रह को देखते हैं, तो उसमें हमें गुलेरी, प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, मोहन राकेश, उषा प्रियंवदा आदि अनेक नाम व इनकी रचनाएँ मिलेंगी, पर इनमें मटियानीजी एक सिरे से गायब मिलेंगे। राजेंद्र यादव और बटरोही ने शैलेश मटियानी के कथाकार की शिखिसयत को स्वीकार करते हुए अपने द्वारा संपादित कहानी-संग्रह में इस लेखक की कहानियों को शामिल किया है।

हिंदी कथासाहित्य में जिस स्थान व महत्त्व के मटियानीजी हकदार थे, वह उन्हें अपने जीवनकाल में पूरी तरह नहीं मिला, किंतु उनके निधनोपरांत कई कथा-समीक्षक इन्हें एक महान कथा-लेखक के रूप में देखने लगे। मटियानी के निधन पर 'पहाड़' पत्रिका का एक विशेषांक 'शैलेश मटियानी के मायने' प्रकाशित हुआ। मटियानीजी का जीवन जन्म से मृत्युपर्यंत एक स्वप्नजीवी और स्मृतिजीवी व्यक्ति की यातनाओं का जीवन है। अपने जीवन की अनवरत संघर्ष-यात्रा ने ही इन्हें अपने साहित्य में पीड़ित मानवता का पक्षधर बनाया। आधुनिक कथासाहित्य के मर्मज्ञ सुधी आलोचक डॉ० पंकज विष्ट लिखते हैं—'असल में मटियानीजी की त्रासदी मूलतः सामाजिक त्रासदी है, जिसे साहित्य के सत्ता-प्रतिष्ठानों के मठाधीशों ने, जो अपनी सत्ता और बल के खिलाफ किसी भी तरह का कोई विरोध या चुनौती स्वीकार नहीं करते, उन्हें घेरकर बिरादरी बाहर करने की प्रक्रिया और तेज कर दी थी और इस रूप में मटियानी की यह त्रासदी मात्र पुत्र-शोक से कई गुना भयावह थी।...संभव है कि अगर उन्हें इस तरह से अकेला नहीं किया जाता, तो पूरी संभावना थी कि वह एक ऐसे क्रांतिकारी लेखक के रूप में उभरते, जो हिंदी साहित्य में प्रेमचंद के ऊपर नहीं तो उनके समकक्ष अवश्य होता। यह बात और है कि आज भी प्रेमचंद के बाद हिंदी की सबसे महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं।'²

शैलेश मटियानी का कहानी-साहित्य

शैलेश मटियानी के कहानी-संग्रहों में अतीत तथा अन्य कहानियाँ, अहिंसा तथा अन्य कहानियाँ, चील, छिद्दा पहलवान वाली गली, पापमुक्ति तथा अन्य कहानियाँ सफर पर जाने से पहले, सुहागिन तथा अन्य कहानियाँ, सुहागिन तथा अन्य कहानियाँ, बर्फ की चट्टानें, भेड़ें तथा गड़रिए, मेरी तैंतीस कहानियाँ, हारा हुआ आदि हैं। इनकी कुछ कहानियाँ इनके कई कहानी-संग्रहों में दी गई हैं।

मटियानी एक ऐसे कहानीकार हैं, जिनकी कहानियों में मुख्यतः समाज के उस वर्ग की उपस्थिति है, जो ज्यादातर उपेक्षित और तिरस्कृत रहा है। दलित, गलित व पीड़ितवर्ग के पात्रों की विविध समस्याओं के साथ इनकी जिजीविषा व संघर्ष का निरूपण मटियानी की कहानियों में हुआ है। डॉ० कला जोशी के शब्दों में—'शैलेश मटियानी समकालीन कहानी के सशक्त हस्ताक्षर हैं। बीसवीं शती के उत्तरार्ध की कहानियाँ (1950 के बाद) वस्तुपरक अनुभव से

गुंथी हैं। इनमें मध्यम एवं निम्नवर्ग के पीड़ित, शोषित, उपेक्षित एवं अभावग्रस्त व्यक्ति की समस्याओं को गहराई के साथ उभारा गया है। इस वर्ग की कुंठा, निराशा, अकुलाहट को कथाकारों ने कथा का विषय बनाया है। इसके बाद की समकालीन कहानी ने संवेदना एवं शिल्प को नया संस्कार दिया। इस समय की कहानी मनुष्य के विश्वास और आदर्श पर नहीं की है वरन् वह उसके संकट-बोध की यथार्थ कथा कहती है। इस यथार्थ को सही मायने में भोगकर शैलेश के कथाकार ने कहानी का रूप दिया है।¹³

मटियानी की कहानियों में मुख्यतः कुमाऊँ के पहाड़ी प्रदेश का जीवन तथा मुंबई की फुटपाथी भिखमंगों, मजदूरों की जिंदगी का वर्णन है। दलित व अभावग्रस्त समाज का दर्द, स्त्री-जीवन की व्यथा, वेश्याजीवन के अंकन के साथ इनकी कहानियों में मुस्लिम तथा ईसाई समाज व संस्कृति की भी मौजूदगी है। मटियानी की कहानियों के अध्येता ने इनकी कहानियों के कथ्य के आधार पर कुछ भेद बताए हैं। 'इनके कथ्य के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं—1. कुमायूँ अंचल की कहानियाँ—आर्थिक तंगी, शोषण और पिछड़ेपन की कहानियाँ, 2. बंबइया जीवन की कहानियाँ—दादा, मवाली, चोर, उचक्के, जेबकतरे एवं फुटपाथी जीवन की कहानियाँ, 3. दलित-जीवन की कहानियाँ—शोषित, पीड़ित, भूख से व्यथित समाज की कहानियाँ, 4. नारी विमर्श—उत्पीड़न, संघर्ष और जिजीविषा की कहानियाँ।'¹⁴

कुमायूँ परिवेश पर आधारित कहानियों में घुघुतिया त्यौहार, सतजुगिया आदमी, नंगा, प्रेतमुक्ति, चिट्ठी के चार अक्षर, लाटी, लीक, नेताजी की चुटिया आदि को देखा जा सकता है, इस वर्ग की कहानियों में बाड़ेछीना, रायछीना, भोगाँव, विमलकोट, दुंगरी आदि कुमाऊँ के ग्रामीण इलाके के पात्र व परिवेश हैं। मुंबई के परिवेश पर आधारित कहानियों में ज्यादातर झोपड़पट्टी और फुटपाथों पर रहनेवालों की नग्न-रुग्ण जिंदगी को उकेरा गया है। पत्थर, प्यास, एक कोप चाः दो खारी बिस्कुट जैसी कहानियों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

दलित-जीवन से संदर्भित कहानियों में पर्याप्त वैविध्य है। इन कहानियों से यह प्रमाणित होता है कि मटियानी की दलित-विमर्श विषयक दृष्टि तटस्थ एवं पूर्वाग्रह-रहित है। इनमें एक तरफ जहाँ दलित-शोषण की बात है, वहीं दूसरी ओर आजादी के बाद इस वर्ग में जो नई चेतना उभरकर आ रही है, उसका चित्रण मिलता है। दलित एवं अभावग्रस्त जीवन-केंद्रित कहानियों में कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें मटियानीजी ने तथाकथित ऊँची, संपन्न, अभिजात जातियों के भीतर के खोखलेपन और सड़ाँध को चित्रित किया है, वहाँ मुंबई की झोपड़पट्टी और फुटपाथों पर सड़ाँध-भरा जीवन जी रहे लोगों में भी कहीं-कहीं ऊँचे मानवीय मूल्य पाए गए हैं।

स्त्री-जीवन को केंद्र में रखकर लिखी गई कहानियों में कहानीकार ने वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक जीवन में स्त्री की भूमिका को बखूबी स्पष्ट किया है। सुख, दुःख, दया, ममता, त्याग, समर्पण, संघर्ष, चेतना आदि भावों व गुणों को लिए हुए विविध स्त्री-पात्रों तथा लेखक के स्त्री-जीवन-संबंधी सकारात्मक दृष्टिकोण ने इन कहानियों को एक 'हाइट' दी है। 'मटियानीजी की कहानियों में स्त्री अपनी अस्मिता और सामाजिक स्थिति को खोजती

दिखाई देती है। पुरुष-वर्चस्व से मिली उपेक्षा से उपजी स्त्री के भीतर की तड़प इनकी कहानियों में विरोध को एक मंथर गति देती है। स्त्री जब अपनी पीड़ा परिवार में किसी से नहीं कह पाती और परिवार का कोई समझ भी नहीं पाता, तब वह आसपास के परिवेश में अपनी पीड़ा का सहभागी ढूँढती है। शैलेश ने इस पीड़ा को भी कभी मूक पशु के साथ बाँटते स्त्री को देखा है, कभी वह प्रकृति के विभिन्न उपादानों में अपनी पीड़ा को गला देना चाहती है। शैलेश की कहानियों का यह भाव सत्य उन्हें विश्व कहानी की दहलीज पर पहुँचा देता है।¹⁵

स्त्री-जीवन से संदर्भित कहानियों में अहिंसा, अर्धांगिनी, कन्या, भँवरों की जात, घर-गृहस्थी, कपिला, कुसुमी, चिट्ठी के चार अक्षर, गोपुली गफूरन, कालिका अवतार, वृत्ति, आदि और अंत, सुहागिनी, माता, सावित्री, नीत्सी, लाटी, महाभोज आदि को हम देख सकते हैं।

मटियानी के कहानी-साहित्य की पात्र-सृष्टि इकहरी नहीं है। तरह-तरह के पात्र अपने स्वभाव, संस्कार व स्थिति के अनुकूल व्यवहार करते हुए पाए जाते हैं। कुछ पात्र ऐसे होते हैं, जो मनुष्यता के आदर्श को बखूबी प्रस्तुत करते हैं, तो कहीं ऐसे पात्र भी हैं, जो मनुष्य होते हुए भी मनुष्यता इन्होंने कोसों दूर कर दी है। कुछ नारी-पात्र अभाव व सामाजिक विषमता को झेलते हुए अपने आत्मसम्मान के लिए जूझते हुए दिखाई देते हैं। इस तरह के सशक्त स्त्री-पात्रों में से एक है इनकी 'महाभोज' नामक कहानी की शिवरती। बेरोजगार पति, बीमार ससुर, चार बच्चे; इन सबको सँभालनेवाली यह एक संघर्षशील जुझारू स्त्री है। ससुर की मृत्यु के बाद जाति-बिरादरीवालों को कराये जानेवाले भोज की व्यवस्था करना पति के बस की बात नहीं, तब यह शिवरती बिरादरी में पति की इज्जत को बचाने हेतु अपनी चाँदी की करधनी बेचकर सारा खर्च उठाती है। इनके यह कथन इनके चरित्र की 'हाइट' को बढ़ाते हैं—'मोती के बापू, बाप के मरने का रोना सभी मरदों को शोभा देता है, पर तुम्हारा यह जोरू के आगे का रोना मुझे बर्दाश्त न होगा। अरे बेवकूफ, मैं किसी राह-चलते की बेसवा हूँ, या तुम्हारी घरवाली हूँ? जिस बहुरिया से अपनी घर-गिरस्ती ही न सधे, उसको तो मेरीगंज में जा बैठना ही भला।'¹⁶

मटियानी उन भारतीय लेखकों में से हैं, जिन्होंने देश की विविध जातियों, धर्मों व वर्गों को अपने साहित्य में बराबर जगह दी। कभी-कभी कुछ लोग यह कहते हैं कि हिंदी-लेखकों में मुस्लिम समाज की अनुपस्थिति थोड़ी खलती है, किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो लेखक प्रगतिवादी सोच तथा मानवीय मूल्यों को लेकर चलता है, उसकी लेखनी से कोई धर्म, जाति तथा वर्ग दूर नहीं रहता। हिंदी के कई ऐसे कथा-लेखक हैं, जिनके लेखन में मुस्लिम समाज की मौजूदगी मिलती है। मटियानी इसी तरह के लेखक हैं। इनकी अनेक कहानियों में मुस्लिम समाज, संस्कृति व सभ्यता का निरूपण हुआ है। इस विषय से जुड़ी कहानियों में मैमूद, रहमतुल्ला, इब्बू मलंग, पत्थर, गोपुली गफूरन, एक कोप चा : दो खारी बिस्कुट एवं हलाल प्रमुख हैं।

मटियानीजी की कहानियों में जिस तरह का सामाजिक जीवन निरूपित हुआ है, वह उनका भोगा हुआ या बहुत निकट से देखा हुआ है। वे जिस कुमाऊँ प्रदेश से जुड़े हुए थे, वहाँ बहुत पहले से ईसाई धर्म के प्रचारकों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार हो रहा था। उनके

पिताजी भी अपने उत्तरजीवन में ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुए थे। ऐसी स्थितियों में लेखक शैलेश की अनुभव-संपदा व्यापक हो गई। इनकी कहानियों में अन्य विषयों के साथ-साथ ईसाई संदर्भ भी मिलता है। मिसेज ग्रीनवुड, चुनाव, झुरमुट, दीक्षा, नीत्शी छाक आदि इसी संदर्भ की कहानियाँ हैं। कुमाऊँ प्रदेश में कई हिंदू धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा ईसाई हुए हैं। हिंदुओं में यह जो प्रवृत्ति मिलती है। उसके दो कारण हैं—निम्नजातियों में जातिगत कट्टरता, जातिगत ऊँच-नीच का संस्करण। निम्नजातियों पर अत्याचार, अन्याय और बात-बात में उनका होनेवाला अपमान आदि कारणभूत हैं, तो ऊँची जाति के लोग प्रायः अंतर्जातीय विवाह-प्रेम आदि के कारण धर्म-परिवर्तन करते हैं।

नगरीय परिवेश से जुड़ी मटियानी जी की कहानियों में बंबई की जमीन व जीवन के अतिरिक्त दिल्ली, इलाहाबाद, अल्मोड़ा, नैनीताल, बनारस जैसे नगरों के परिवेश को भी लिया गया है। बंबई के फुटपाथी जीवन को लेखक ने करीब से देखा-जाना ही नहीं, बल्कि इस जीवन को जीया भी था। इनके जीवन का एक पड़ाव यह भी था, जिसमें वे फुटपाथी जिंदगी जीनेवाले भिखमंगों, मजदूरों, कुलियों, जेबकतरों के बीच आश्रय पाकर दान में मिली रूखी-सूखी रोटियों से अपना पेट पालते रहे, अतः इस जीवन को अपनी कहानियों व उपन्यासों में बहुत ही अच्छी तरह से प्रस्तुत कर सके हैं, जिन कहानियों में इस फुटपाथी जिंदगी—जिसमें चोर-डाकू, उचक्के, उठाईगीर, जेबकतरों, भिखारी, गुंडे, मवाली आदि आते हैं को लिया है, इनमें अनेक छोटी-बड़ी समस्याओं के साथ बच्चों के यौन-शोषण, बाल-मजदूरी, बच्चों से भीख मँगवाने जैसी समस्याएँ भी चित्रित हैं।

शैलेश मटियानी का उपन्यास साहित्य

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास के विकास में शैलेश मटियानी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनकी औपन्यासिक रचनाएँ इस प्रकार हैं—बोरीवली से बोरीबंदर, कबूतरखाना, हौलदार, चिट्ठीरसैन, तिरिया भली न काठ की, किस्सा नर्मदाबेन गंगू बाई, चौथी मुट्ठी, बारूद और बचुली, मुख सरोवर के हंस, एक मूठ सरसों, बेला हुई अबेर, कोई अजनबी नहीं, दो बूँद जल, भागे हुए लोग, पुनर्जन्म के बाद, जलतरंग, बर्फ गिर चुकने के बाद, उगते सूरज की किरण, छोटे-छोटे पक्षी, रामकली, सर्पगंधा, आकाश कितना अनंत है, उत्तरकांड, सवित्तरी, गोपुली गफूरन, बावन नदियों का संगम, अर्द्ध कुंभ की यात्रा, मुठभेड़, नागवल्लरी, माया सरोवर, चंद औरतों का शहर।

कहानी साहित्य की तरह मटियानीजी के उपन्यास भी मुख्यतः कुमायूँ के पर्वतीय प्रदेश एवं बंबई आदि के नगरीय परिवेश को लेकर लिखे गए हैं। इन उभय परिवेशों के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन को लेखक ने अपनी रचनाओं में निरूपित किया है। 'शैलेश मटियानी ने प्रचुर मात्रा में उपन्यास साहित्य का सृजन किया है। इनमें जहाँ पर्वतीय अंचल के अनेक महत्त्वपूर्ण चरित्रों के माध्यम से ग्रामीण समाज का यथार्थ संपूर्णता में व्यक्त हुआ है, वहीं वहाँ के सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों को भी उभारा गया है, जिसमें एक तरफ ग्रामीण-जीवन में निहित मानवीय मूल्य उजागर हुए हैं, तो दूसरी ओर विकास के कारण उत्पन्न होती हुई

सामाजिक विकृतियाँ और विडंबनाएँ भी अभिव्यक्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त अनेक औपन्यासिक कृतियाँ नगरीय-सामाजिक जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करनेवाली भी हैं। इनमें नगरजीवन अपनी शक्ति और दुर्बलताओं के साथ उजागर हुआ है।⁷

मटियानी के उपन्यासों में कथ्य एवं शिल्प का वैविध्य ज्यादा मिलता है। रचनाएँ जिस जमीन, परिवेश एवं समाज से संबद्ध हैं, उसी के अनुसार इनमें यथार्थ जीवन, मानवीय समस्याएँ तथा भाषा-शैली में वैविध्य है। बोरीवली से बोरीबंदर, कबूतरखाना तथा किस्सा नर्मदाबेन गंगू बाई मुंबई के परिवेश पर आधारित मटियानीजी के प्रारंभिक उपन्यास हैं। इन रचनाओं में लेखक ने मुंबई के उसी जीवन का यथार्थ चित्रण किया है, जो आर्थिक अभाव व असमानता, हिंसा, अमानवीयता, यातना, विवशता, भोग-विलास आदि से भरा हुआ है। लेखक के प्रत्यक्ष व प्रामाणिक अनुभवों की सहज अभिव्यक्ति इन रचनाओं में हुई है। प्रो० गोपालराय के शब्दों में—‘मटियानी के बंबई के अपराध और गजालत भरी नैतिक दृष्टि से गंधाती जिंदगी के अनुभव पर आधारित प्राकृतिक ढंग से अति साधारण उपन्यास है। अकूत वैभव के नीचे पलते हुए विलास और व्यभिचार, नारी की अतृप्ति और घुटन, महानगरीय जीवन के अंतर्विरोध, महानगरी में पलनेवाले आवारा समाज, बंबई के रंगों में पल रहे अत्याचार और शोषण, बंबईया चालों के कबूतरखानों की जिंदगी, सेठों के घरों से लेकर वेश्याओं के कोठों तक, आलीशान होटलों से लेकर चमकते चौराहों तक चलनेवाला देह-व्यापार आदि का अंकन प्रामाणिक, पर कच्चे अनुभवों के रूप में और प्रकृतिवादी शैली में किया गया है।⁸ हौलदार, मुख सरोवर के हंस, चिट्ठीरसैन, चौथी मुट्ठी, एक मूठ सरसों, दो जल बूँद जैसी औपन्यासिक रचनाएँ, कुमायूँ अंचल-पहाड़ी जीवन को लेकर लिखी गई हैं। अंचल-विशेष के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन एवं वहाँ के प्राकृतिक परिवेश को चित्रित करनेवाली ये रचनाएँ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कूर्मांचल प्रदेश में जन्मे इस लेखक के लिए पहाड़ी जीवन का अनुभव लेखक का एक महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। मंजिल दर मंजिल, दो बूँद जल, कोई अजनबी नहीं, सवित्तरी, बावन नदियों का संगम, गोपुली गफूरन, चंद औरतों का शहर, रामकली आदि उपन्यासों के केंद्र में स्त्री जीवन के विविध संदर्भों को रखा गया है। ‘नागवल्लरी’ में दलित संदर्भ को लिया गया है। इसके अतिरिक्त धर्म की आड़ में हो रहे काले कारनामे, स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध, मानसिक अंतर्द्वंद्व, स्त्री-पुरुष के अवैध संबंध, सामाजिक-राजनीतिक-प्रशासनिक स्थिति जैसे अनेक विषयों की विस्तृत व्याख्या मटियानीजी के उपन्यासों में हुई है।

विशेषतः पहाड़ी अंचलों के जीवन को लेकर लिखे गए उपन्यासों के आधार पर शैलेश मटियानी की गणना एक आंचलिक उपन्यासकार के रूप में भी होती रही है। ‘हिंदी उपन्यास—एक अंतर्यात्रा’ में रामदरश मिश्र ने मटियानीजी के हौलदार, चिट्ठीरसैन, चौथी मुट्ठी, मुख सरोवर के हंस को आंचलिक उपन्यासों में स्थान दिया है। इन उपन्यासों में कथ्य के साथ-साथ भाषा में भी आंचलिकता का पुट ज्यादा है।

गिने-चुने विषयों पर ही लेखक की लेखनी नहीं चली है। इनकी अनुभव-संपदा काफी संपन्न व वैविध्यपूर्ण रही है। इनके उपन्यासों का कथ्यपक्ष अनेक संदर्भों को स्पर्श करते हुए विकसित होता है। इतना होते हुए भी आकार और लेखकीय दृष्टिकोण से इनके उपन्यास बृहद

कोटि के नहीं कहें जाएँगे। प्रो० गोपालराय के मतानुसार आकार और 'विजन' की दृष्टि से शैलेश मटियानी के सभी उपन्यास 'लघु उपन्यास' की श्रेणी में आते हैं।

पिछले दो-तीन दशकों से हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श का प्रवाह ज्यादा तेज रहा है। मटियानीजी के कथासाहित्य में भी स्त्री एवं दलित समाज की उपस्थिति पर्याप्त मात्रा में मिलती है। 'मटियानी मुख्यतः दलित-विमर्श के उपन्यासकार हैं, जिसमें नारी एवं दलित-वर्ग की मुख्य भूमिका रही है। उनके उपन्यासों का परिवेश भले ही आंचलिक हो, वस्तुतः वह है भी, पर उस परिवेश में पुरुष सत्ता-प्रधान समाज में नारकीय पीड़ा झेलती और उससे लगातार लड़ती स्त्री की गाथा ही प्रस्तुत हुई है। मटियानी के उपन्यासों के नारी-पात्र शरत् के उपन्यासों की तरह करुण और कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान तथा मैत्रेयी पुष्पा के पात्रों की तरह ही जुझारू हैं। मटियानी आरक्षण-विरोधी लेखक हैं, पर इसका कारण उच्चवर्ग के प्रति उनका पक्षपात नहीं, बल्कि दलित-वर्ग के वास्तविक उत्थान के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ही है। दलित समाज के नारकीय जीवन का चित्रण उन्होंने जिस वैचारिक तल्लीन और संवेदनात्मक गहराई के साथ किया है, वह अद्भुत है।'⁹

शैलेश मटियानी की भाषा पर जबरदस्त पकड़ है। सहज, स्वाभाविक व सजीव भाषा-प्रयोग के लिए वे जाने जाते हैं। पात्र एवं परिवेश के अनुकूल व अनुरूप भाषा इनके कथासाहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता है। ग्रामीण अंचल, नगरीय परिवेश तथा इससे संबंधित विविध वर्ग के पात्रों की कथा तथा संवाद की भाषा, रचनाओं के कथ्य को ज्यादा प्रभावशाली बनाती है। पात्रों का भाषागत एक विशेष 'टोन' इनके परिवेश, धर्म, जाति, शिक्षा, संस्कृति आदि को अच्छी तरह से प्रकट करता है। इनके कथासाहित्य का विस्तार ग्रामीण अंचलों से लेकर महानगरों तक रहा है। इतने व्यापक कथानक को प्रस्तुत करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसमें भी काफी वैविध्य है। इनकी रचनाओं की खड़ीबोली हिंदी में असंख्य आंचलिक शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, तद्भव-तत्सम के साथ-साथ अँग्रेजी, अरबी-फारसी के शब्द बंबइया हिंदी में मराठी-गुजराती के शब्द मिलते हैं। विविध सूक्तियों तथा बिंब, प्रतीक, अलंकार आदि के स्पर्श से भाषा में कलात्मकता भी आ गई है।

कई रचनाओं के कथ्य का मूलाधार कुमायूँ का आंचलिक परिवेश रहा है। इस पृष्ठभूमि पर आधारित कहानियों तथा उपन्यासों की खड़ीबोली में कुमायूँनी के अनेक शब्दों व मुहावरों का पुट मिलता है। जो कथा-कृतियाँ बंबई के नगरीय परिवेश को प्रस्तुत करती हैं, उनकी भाषा का भी एक अलग मिजाज है। 'बोरीवली से बोरीबंदर तक', 'कबूतर खाना' जैसे उपन्यासों तथा कई कहानियों में बंबइया हिंदी को देखा जा सकता है।

मटियानी ने इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि वह जिस समाज से पात्रों, घटनाओं व माहौल को लेते हैं, उसी के अनुरूप भाषा प्रयोग करते हैं। जैसे कि उनकी कई कहानियाँ मुस्लिम समाज से संदर्भित हैं, ऐसी कहानियों में भी मुस्लिम समाज, संस्कृति व सभ्यता को बहुत ही सहज रूप में प्रस्तुत करने में मुस्लिम बोलचाल की अहम भूमिका रही है। रहमतुल्ला, इब्नू मलंग, मैमूद जैसी कहानियाँ इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। शोरबा, मुल्ला, दोपियामा,

कुनबापरस्ती, गोशतखोर, पुलाव, खयालात, अब्बा, मादरखसम, बिस्मिल्ला, मामूजान, अजानी जैसे शब्द; मूं में, अबे, तेरी जात का मैदा मारूँ, निगा फिरा दिया है आदि विशेष लहजा (टोन) उक्त विशेषता की पुष्टि करते हैं। ठीक इसी तरह ईसाई संदर्भ में आए कुछ शब्द व वाक्य ईसाई परिवेश के उपयुक्त हैं। जैसे इनकी 'दीक्षा' नामक कहानी में 'बपतिस्मा', 'होली बाथ' या 'पवित्र स्नान', 'ब्रेसरी', 'कनफेस', 'संत-पिता', शब्द तथा कुछ वाक्य जैसे—'दुःख इंसान को प्रभु के निकट ले जाता है।'¹⁰ बपतिस्मा के समय की प्रार्थना—'तू सर्व-शक्तिमान है/ मैंने तुझे प्रभु के रूप में जाना है/.... और तू मुझ पर/ और मैं तेरे वचनों पर/ जो कि तूने इस संसार में/ सबको पाप और डर और दुखों से/ मुक्त करने के लिए किए हैं/ मैं तेरे वचनों पर ईमान लाती हूँ/ तू सर्वशक्तिमान है।'¹¹ यह प्रार्थना ईसाई परिवेश के उपयुक्त है।

संदर्भ

1. शैलेश मटियानी के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ० प्रवीणचंद्र विष्ट, प्राक्कथन से
2. लेख एक लेखक का टूटना, पंकज विष्ट, हंस जून 2011, पृ० 23-25
3. शैलेश मटियानी की कहानियों का अनुशीलन, भूमिका से, डॉ० कला जोशी, डॉ० प्रतिभा जोशी
4. वही, पृ० 62
5. वही, पृ० 96
6. महाभोज, भविष्य तथा अन्य कहानियाँ, शैलेश मटियानी, पृ० 107
7. शैलेश मटियानी के उपन्यासों में समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ० प्रवीणचंद्र विष्ट, पृ० 68
8. हिंदी उपन्यास का इतिहास, प्रो० गोपालराय, पृ० 265
9. वही, पृ० 270
10. दीक्षा, शैलेश मटियानी, संकलन सूखा सागर, पृ० 128
11. वही, पृ० 125

D-43 यूनिवर्सिटी स्टाफ कॉलोनी
वल्लभ विद्यानगर
आनंद (गुजरात) 388120
मो० 09909035053

भारतीय समाज में रिश्तों का लोमहर्षक रिसाव

डॉ० रूबी जुत्सी

हिंदी विभाग

कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

समाज दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रहा है, जिससे आज का मानव-जीवन के हर पहलू में तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है। इस बदलाव में कहीं-कहीं पर हम पुनः सोचने के लिए विवश होते हैं, क्या हम उन्नति की ओर जा रहे हैं या हम असभ्य हो रहे हैं, क्योंकि आज के युग में हमें ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जो पहले न के बराबर थी। हिंदू घरों में यही मान्यता रही है कि विवाहित नारी के लिए पति शिव का रूप होता है। यहाँ तक यह भी कहा जाता था कि विवाहित नारी शिव की पूजा नहीं कर सकती है। पति ही उसका शिव है। पति के सेवाभाव से ही सारे पाप धुल जाते हैं, किंतु युगों के बदलाव से प्रभावित होकर आज की नारी पति की सेवा तो दूर उनको जहर देने में भी चूक नहीं करती है। वह इतनी बदल गई है कि अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई भी बात सुनने को तैयार नहीं है। इस उपन्यास में कमला रूपी स्त्री पात्र के माध्यम से यह सिद्ध होता है—‘अब सूरज के साथ जाने के लिए पुड़िया का सहारा लेना ही पड़ेगा। आज सायं को जब सूरज की माता जी सूरज के पीने के लिए मुझे दूध देंगी, उस दूध में घोल दूँगी। इसके बाद सूरज मेरी ही बात मानेगा।’¹ अपनी माँ की सहायता से कमला पति को दूध में विष पिलाने में सफल होती है।

हमारा समाज आज एक नई समस्या से जूझ रहा है, जिससे अधिकांश परिवार चिंतित हैं। आज की माँ बेटी के ससुराल तथा वैवाहिक जीवन में इस तरह घुस गई है कि उनकी बेटी ससुराल में अपने माँ के हा-ना पर कठपुतली बनकर नाचती है, जिससे आज की बहू अपने ससुराल को हृदय से अपना घर न समझकर केवल पति को ही अपना समझकर उनके साथ-साथ रहने की इच्छुक होती है या तो पति की अनुपस्थिति में मायके जाना पसंद करती है, न कि परंपरावादी बहू की भाँति सास-ससुर की सेवा करना अपना कर्तव्य समझती है। ‘यह सब बीज बोया हुआ तो मेरी माँ का है।’² माँ नामक नारी में उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे की कहावत चरितार्थ हो रही है। अपने किए पर पश्चात्ताप तो दूर बल्कि बेटी को भी क्षमा-याचना की सलाह न देकर उलटे दामाद सूरज के साथ अपराधनी कमला को भेजने के लिए माँ और भाई इंकार कर देते हैं, ‘पहले आप अपने पिताजी को भेजना हमारे यहाँ, उनसे बात करने के बाद ही सोचेंगे कमला को तुम्हारे साथ भेजने के बारे में।’³ वर्तमान समय में लड़कीवाले बहुत

निडर हो गए हैं। अगर पहले लड़केवालों की तरफ से कोई भी छोटी-बड़ी बात सुनने में अपना अनादर समझते थे, किंतु बदलते परिवेश में आदर-अनादर का कोई अर्थ नहीं है। पश्चात्ताप का स्थान 'हम भी किसी से कम नहीं' ने ले लिया है, क्योंकि आज लड़का-लड़की में कोई विशेष अंतर नहीं रहा। नारियों का वर्चस्व इतना बढ़ गया है घर में पुरुष की बात मानी ही नहीं जाती है। घर के सारे निर्णय अब घर की महिला ही लेने में सक्षम है, चाहे वह गलत ही क्यों न करे, किंतु निर्णायक वही होती है—'सच्ची बात तो यह है कि मेरी तो घर में पूछ है नहीं। यदि मेरी चलती तब तो ऐसी नौबत आती ही नहीं। मैं कमला को सूरज के साथ भेज ही देता। मुझे पता है कि गलती किसकी है।'¹⁴ परिवारों में तीव्रता से विखराव हो रहा है। कारण यही है कि आज प्रत्येक घर में पैसों की होड़ लगी है। माँ को भी बेटे का वेतन चाहे और पत्नी को भी। हर माँ सास बनते ही अपने तेवर बदलती है। वह कभी यह नहीं सोचती है कि जिस तरह उसको अपने परिवार के विकास के लिए अपने पति का वेतन चाहिए था, उसी प्रकार आज उसकी बहू भी अपने पति के वेतन की अधिकारिणी है, किंतु यह सब जानते हुए भी अपनी अशोभनीय भूमिका निभाती है, जिससे आज के अधिकांश परिवार बिखरकर रह गए हैं और दो महिलाओं के बीच एक पुरुष कठपुतली बनकर नाचता है। इस उपन्यास में सूरज नामक पुरुष-पात्र भी इन्हीं परिस्थितियों से झूझ रहा है। जब परिवारों में बहू का पाँव भारी होता है, तो सबसे अधिक चिंता सासू माँ को होती है, कहीं बहू के बेटे पैदा न हो और बहू भी नौ महीने इसी चिंता में रहती है, अगर लड़की पैदा हुई तो उसका जीना दूभर हो जाएगा। अपने मान-सम्मान तथा सुरक्षा के लिए वह भी चाहती है कि उससे लड़का ही पैदा हो, 'लड़का पैदा हो गया तो सूरज कितना खुश होगा। वह तो खुशी के कारण फूला न समाएगा। भतेरी भी खुश हो जाएगी, परंतु जो भगवान ने कन्या दे दी तो भतेरी के माथे में त्योरियाँ पड़ जाएँगी।'¹⁵

'बेटी बचाओ' नारा कागजों तक ही सीमित है। इक्कीसवीं सदी में भी समाज में कुछ ऐसे दकियानूसी नर-नारियाँ हैं, जो बालक-बालिका में अंतर करके बहु-बेटियों को बालिका को जन्म देने पर अनादर का पात्र ठहराते हैं, जबकि हम देख रहे हैं कि लड़का-लड़की में शरीर के अवयवों में अंतर है, वरना हर कदम पर लड़की ही आगे है। इस समाज की दर्दनाक कहानी यह भी है माँ- बाप तथा भाइयों को अपनी बेटी, बहन की खुशी के लिए दामाद अर्थात् पुरुष के सामने खुशी की भीख माँगनी पड़ती है, क्योंकि लड़कियाँ कहीं-कहीं पर अभी भी अस्तित्वहीन हैं, जो चिंता का विषय है—'जीजाजी, हमारी तो केवल एक ही शर्त है कि मेरी बहन निर्मला दुःखी नहीं होनी चाहिए। हम ही नहीं, सभी यह चाहते हैं कि उनकी बहन-बेटी सुखी रहे।'¹⁶ वरना अपने ससुराल में अपनी अस्मिता खोजती रहेगी। संसार सभ्य तथा आदर्शवान लोगों का नहीं है, इस संसार में ऐसे लोगों के साथ अत्याचार किए जाते हैं, उनकी भावनाओं के साथ खेला जाता तथा कुचला जाता है, जिसके कारण उनकी मृत्यु हो जाती है, किंतु इस मानव की पहचान तब होती है, जब अन्य मानव इसके विपरीत मिलते हैं। उपन्यास की कमला अपने सुशील स्वभाव के लिए मानी जाती थी, किंतु साँसू माँ समय पर पहचान नहीं पाई। अब कमला की छोटी बहन निर्मला बहू के रूप में आने से इस घर की स्थिति कुछ दूसरी ही है,

‘चंडाली, वह बहू तुम्हारे जैसी नहीं थी। उसने तो मेरे सामने कभी दो शब्द नहीं बोले तथा उसने तो घर का सारा काम-धंधा किया। वह कभी सूरज के साथ नहीं गई। उसी के कारण ले लिया हमने तुम्हारा रिश्ता, परंतु हमें क्या पता था कि तू एक नंबर की चंडाली है।’⁷ आज बहू रूपी नारी संयुक्त परिवार में रहना नहीं चाहती है। एकल परिवार में रहकर वह अपना अधिकार पाना चाहती है, अपने अस्तित्व की खोज में अपने रिश्ते खोने की चिंता भी नहीं करती है। हर धर्म का मानना है कि माँ के पाँव-तले स्वर्ग है, किंतु कुछ माँएँ ऐसी हैं, जो इस सत्य का गलत फायदा उठाती हैं और पुत्र के साथ तरह-तरह के भेदभाव करती हैं, किंतु अधिकांश माँएँ अपने पुत्र को अपने से अलग देखना पसंद नहीं करती हैं, ठीक ऐसी ही स्थिति इसमें भेतरी (माँ) की भी है, वह बेटे की दूरी दिल पर पत्थर रखकर ही स्वीकारती है—‘माँ ने बिना कुछ बोले उसे पुचकारा तथा अपनी आँखों में पानी भर लिया। माँ की ममता चीज ही ऐसी है।’⁸ कुछ प्राचीन परंपराओं तथा रीति-रिवाजों से हम अति आधुनिक होकर भी विमुख नहीं होते हैं। अभी भी ये रिवाज हमारे साथ संलग्न हैं जैसे कि किसी भी विवाहित लड़की को जब पहला बच्चा पैदा होता है, तो अपने मायके में छूछक लेने के लिए जाती है, जो दहेज का ही दूसरा रूप है—‘छः सात जोड़ी कपड़े लड़की लक्ष्मी के, पाँच-छः सूट निर्मला के तथा एक धड़ी (पाँच किलो) धी निर्मला के प्रसूति में खाने के लिए लेकर गया। बटेऊ सूरज की सोने की चेन लक्ष्मी लड़की के लिए सूरज-चाँद और तागड़ी चाँदी के।’⁹ दहेज समाज का बहुत बड़ा अभिशाप है। पहले जमाने में लड़की को थोड़ा-सा धन उपहार के रूप में घरवाले अपनी इच्छा से दे देते थे, किंतु धीरे-धीरे यही छोटे-मोटे उपहार समाज में एक जहरीले रोग की तरह इस प्रकार फैल गए। कोई इसका उपचार ही नहीं कर सकता है और अब इसने दूसरा रूप धारण कर लिया है। आज प्रेम से नहीं, बल्कि विवश होकर दहेज देना पड़ता है। जिस तरह सूरज की छोटी बेटा पिता का आर्थिक अभाव देखकर भी पिता को गाड़ी देने में विवश करती है, कहीं-कहीं पर माँ-बाप को लगता है कि अधिक सामान देकर बेटा ससुराल में प्रसन्न रहेगी—‘लड़की सुखी रहनी चाहिए पैसे तो हाथ का मैल है, फिर बन जाएगा।’¹⁰ पुराने जमाने में जब लड़कियों की शादी होती थी, तो वे फूट-फूटकर रोती थीं, क्योंकि उनको अपने रक्त-रिश्ते अर्थात् माता-पिता, भाई-बहनों के बिछड़ने का बहुत ही दुख होता था और बिछड़ने के शोक में बिना कुछ सोचे-समझे बिलख-बिलख कर रोते थे, किंतु आज लड़कियाँ बड़ी शातिर हैं, वे रोने का नाम ही नहीं लेतीं, क्योंकि आज जवान होने पर शादी होती है। पहले तो बचपन में ही शादी होती थी। उनको शादी के बारे में कुछ नहीं पता होता था। आज वह सभी बातों को समझती हैं। ‘आजकल यह मेकअप ऐसा चल पड़ा कि वे आँसुओं को कम निकलने देता है। कभी मेकअप न बिगड़ जाए। ये सब समय-समय की बातें हैं।’¹¹

संसार में धन कमाने के लिए एक इंसान अपने-आपको जोखिम में डालने से भी दूर नहीं रहता है, क्योंकि यह समाज पूँजीपतियों का है, दरिद्र लोगों का नहीं। फौज एवं पुलिस आदि सरकारी नौकरियाँ ऐसी हैं, जहाँ हर समय जन का भय रहता है, लेकिन लोग अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए तो काम करते हैं, पर न उनके मन में सकून होता है और

न ही अपने परिवार के साथ न्याय कर पाते हैं—‘यह चिट्ठी घर से आई है। इसमें जरूर बच्चे के बारे में लिखा हुआ होगा। ओह यह तो बहुत ही मनहूस चिट्ठी है। कमला मेरे को क्यों छोड़कर चली गई। कम-से-कम मेरे को छुट्टी लेकर आने तो देती। हो सकता है, कमला देखभाल न होने के कारण मरी हो। मेरी माँ ने उसको कहीं हस्पताल में दाखिल न करवाया हो।’¹² बात तो शतप्रतिशत सत्य थी, किंतु सूरज के हाथ केवल पश्चात्ताप था, क्योंकि माँ-बेटे अर्थात् उसका परिवार (पत्नी-बेटा) मिट्टी से मिल गए थे। वर्तमान समय में हर वर्ग, हर घर तथा हर धर्म के रिश्तों का रिसाव देखने को मिलता है और आज भी कुछ ऐसे रिश्ते विद्यमान हैं, जो टूटकर भी रिसते नहीं बल्कि पुनः प्रेम के धागे से पिरोए जाते हैं और समाज में उदाहरण बनकर प्रस्तुत होते हैं—‘रिश्तेदारी ऐसी ही होनी चाहिए, वरना इनकी लड़की मर जाने के बाद इनको मेरे रिश्ते की क्या पड़ी थी। उनकी लड़की कमला हमारे घर इतनी खुश भी नहीं थी। मेरी माँ हमेशा उसे घर-खेत के काम-धंधे में लगाए जो रखती थी। मेरी छोटी साली के साथ रिश्ता हो जाए तो बहुत अच्छा। इस तरह के रिश्तेदार दूसरे कहाँ मिल सकते हैं।’¹³

रामयुग अर्थात् सत्ययुग के साथ ही राम जैसे आदर्शवान पुत्र भी लुप्त हो गए हैं। आज रावण जैसे पुत्र जन्म लेते हैं और राक्षसों जैसे काम भी करते हैं। इन बच्चों को अपने माता-पिता के प्रति न आदर भाव है, न ही सेवाभाव है। राम ने पूरा राज्य पिता के कहने पर छोड़ दिया था, किंतु आज बच्चे माँ-बाप को ही अपने अधीन समझते हैं, अपने अनुशासन के अनुसार चलाते हैं। लज्जा नाम की चीज उनमें है ही नहीं—‘पिताजी इसमें पालने या न पालनेवाली तो कोई ऐसी बात ही नहीं है। मेरे अपने भी चार बच्चे हैं। जैसा तुमने मुझे पाला, वैसा मैं अपने इन चार बच्चों को पालूँगा और पढ़ाऊँगा-लिखाऊँगा। तुमने मुझे पाल-पोसकर अपना फर्ज निभाया। यह काम तो सभी करते आ रहे हैं, तुमने कौनसा कोई अलग कार्य किया है। मैंने तो दो-दो लड़कियों की शादी भी करनी है, जो मैं अपने पैसों को इस तरह से बाँटता रहा, तब मेरा खर्चा कैसे चलेगा? अब तुम्हें पैसों की जरूरत है। मैं दे देता हूँ। फिर तुम मेरे पैसे वापिस कर देना। यह बात है नहीं कि एक बार पैसे लेकर फिर वापिस देने का नाम ही ना लो।’¹⁴ पहले माता-पिता को जन्मदाता तथा पालनहार मानते थे और उनका आदर-सत्कार, इच्छा-अनिच्छा का ध्यान रखा जाता था, किंतु आज के मशीनी युग ने सारे रिश्ते उजाड़ दिए हैं। माता-पिता का रिश्ता भी दूरदराज रिश्ते की भाँति एक सामान्य-सा रिश्ता बन गया है, वहाँ भी लेन-देन तक ही रिश्ता कायम रह गया है, क्योंकि प्रेम नाम का शब्द स्वार्थ एवं अहं में परिवर्तित हुआ है, जिसके कारण अपने पराए होते जा रहे हैं और पराए अपने। पैसा वापिस करनेवाली बात सुनकर पिताजी के शरीर में तो क्रोध की आग भड़क उठती है, क्योंकि उसने अपने समय में ऐसा असंस्कारी पुत्र नहीं देखा था।

हिंदूधर्म में सबसे बड़ा दोष है जाँति-पाँति। इसी भेदभाव के कारण लाखों हिंदू लोग धर्म परिवर्तन कर रहे हैं। कारण इतना ही है कि अपने धर्म में उनकी अवहेलना की जाती है, उनको दबाया जाता है। वे कितने अच्छे मानव क्यों न हों, फिर भी उनको मुक्त जीवन जीने का अधिकार नहीं। वह कभी अगर उच्च जातिवालों में कहीं फँस भी जाते हैं, तो वह घुट-घुटकर

अपना जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ इस झंझट से मुक्त होकर धर्म परिवर्तन करने में ही अपनी सफलता समझते हैं ताकि समाज जीवन में कम-से-कम सर उठाकर तो जिएँ—‘हम हिंदू थे, अनुसूचित जाति से संबंध रखते थे। वहाँ गाँव के लोग हमें दुखी रखते थे। इस प्रताड़ना के विरोध में हमारे बुजुर्ग हिंदू से ईसाई बन गए।’¹⁵ आजकल भी धर्म परिवर्तन के लिए कई तरह के प्रलोभन दिए जाते हैं। इस धर्म की एक और विशेषता यह है कि वहाँ लड़कियों को कोई दहेज नहीं दिया जाता। यहाँ तक बारात और सगे-संबंधियों के खाने का खर्चा भी लड़केवाले ही उठाते हैं। ज्यादा-से-ज्यादा दो-चार गिफ्ट दे देते हैं। इस तरह लोगों का झुकाव ईसाइयों के प्रति अधिक रहता है।

स्वच्छ भारत अभियान तब सफल सिद्ध होगा, जब मानव-मन और मस्तिष्क से स्वच्छ होगा, क्योंकि इस संसार में सभी लोग स्वच्छता अपने घर तक ही सीमित रखते हैं, उनके चारों ओर कितनी गंदगी पड़ी होती है, किसी को चिंता नहीं। ‘सभी लोग अपने-अपने घर के सामने से गोबर, कीचड़ आगे को सरका देते हैं। इस तरह से यह सबका गंद चौराहे पर आकर इकट्ठा हो जाता है। चारों ओर से आनेवाले ट्रैक्टर, बुगी भी फँस जाते हैं, इस कीचड़ में। लोगों को पैसे से डाक्टरों के घर भरने स्वीकार हैं, परंतु मजदूर लगाकर इस गंद को उठवाना मंजूर नहीं।’¹⁶ आज का मानव अपने तक ही सीमित है। घर की चारदीवारी के बाहर अच्छे-बुरे का ज्ञान वह अपना दायित्व नहीं समझता है, किंतु उपन्यास का सूरज एक फौजी होने के नाते सारे मोहल्ले की गंदगी अकेले अपने हाथों से साफ करता है, क्योंकि उसके लिए अपना-पराया कोई माने नहीं रखता है।

अंधविश्वास पर भी लेखक ने अपनी लेखनी चलाई है। इक्कीसवीं सदी तक आते-आते लोग कुछ अंधविश्वासों को भूले नहीं हैं—‘त्योहार पर नुकसान हो गया, पता नहीं सारा साल किस तरह से गुजरेगा। पता नहीं, आज किस मनहूस का मुँह देखा था।’¹⁷ पिछले कई सालों से लोग अपने बच्चों को डॉक्टर बनाने के चक्कर में घर की संपत्ति बेचकर किसी भी शहर, देश-विदेश में पढ़ने के लिए भेजते हैं कारण यही है अगर नौकरी न भी मिलेगी फिर भी दुकान खोलकर अच्छा कमा सकते हैं, क्योंकि ‘आजकल बीमारी ही इतनी चल रही है कि कोई भी डॉक्टर खाली नहीं बैठता। चाहे आप छोटे-से-छोटे डॉक्टर की दुकान पर जाकर देख लो। सभी की दुकानों पर हमेशा भीड़ लगी रहती है।’¹⁸

सामाजिक मूल्य इतने गिर रहे हैं कि लड़की अगर कितनी भी चरित्रवान क्यों न हो, फिर भी उसको समाज छोड़ी हुई मानकर दुत्कारता है। दुख तो ज्यादा इस बात का है कि उसको किसी दूसरी जगह अच्छा रिश्ता मिल भी नहीं सकता है, क्योंकि पुरुष के छोड़ने पर नारी को ही समाज दोषी ठहरता है। ‘इस समाज को मैं जलाकर नष्ट कर दूँ, परंतु ऐसा भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि हमने भी तो समाज में ही रहना है। इससे बाहर कहाँ जाएँ?’¹⁹ त्रासदी इस बात की है। स्त्री-पुरुष इस समाज के महत्वपूर्ण अंग हैं, किंतु दोनों के साथ अलग-अलग व्यवहार किया जाता है। पुरुष अगर विधुर भी होगा फिर भी उसके लिए समाज में कुँवारी नारी अपनाने का अधिकार है, किंतु छोड़ी हुई नारी इस समाज में दुत्कारी जाती है—‘वह लड़की

छोड़ी हुई है। ऐसी लड़की के रिश्ते को न तो आप लो और न ही मैंने ऐसी लड़की के साथ सूरज का रिश्ता करवाने के लिए कहदी तो मौजी जी तुम्हें तो गालियाँ बाद में देगा, पहले मेरे को अच्छी भूँडी सुनाएगा।²⁰

समाज के अच्छे-बुरे के साथ मानव को रहना है, वह विद्रोह नहीं कर सकता है। शिक्षा-व्यवस्था इतनी बदल रही है कि आज हम अपने बच्चों को बचपन से ही उनका खेलना-कूदना छीनकर कमरे बंद करके उनके जान के जखम बन जाते हैं, क्योंकि दिन में दस बार उनको उनकी रैंकिंग के पीछे लगे रहते हैं। अगर एक प्रतिशत अंक कम होंगे तो उनको चैन से रहने नहीं देते हैं, क्योंकि लोगों को इंजीनियरिंग तथा डॉक्टरी का भूत सवार हो गया है। इसके अतिरिक्त किसी पद को वह स्वीकारते ही नहीं हैं—‘पिताजी, यह मैं अखिल भारतीय रैंकिंग बता रही हूँ। स्टेट में तो मेरी रैंकिंग एक सौ पाँच है।’²¹

हिंदीभाषा को राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्क भाषा तथा अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनने में कितना काम तथा कितना पैसा खर्च किया जाता है, किंतु यह सारा कागज के पन्नों तक ही सीमित है, व्यवहार में कुछ और ही है। हिंदी बोलनेवाली लड़की को पति से घृणा मिलती है, क्योंकि पति एक डॉक्टर होने के कारण पत्नी से भी अँग्रेजी में ही बात-चीत करना-सुनना चाहता है, क्योंकि अँग्रेजी में बात करना ही उसको उच्चता लगती है—‘दीपक ने जो अँग्रेजी बोलनेवाली चाहिए थी, तो पहले से इंकार क्यों नहीं कर दिया था। उस समय भी तो मैं हिंदी ही बोलती थी। यह मुझे देखने आया, तब भी मैंने हिंदी बोली थी।’²² जब हिंदी में बात करने से रिश्तों में दरार आ जाएगी तो हिंदी बोलने से लोग दूर हो जाएँगे। हमारी युवापीढ़ी में हिंदी का विकास कैसे होगा, भारत कितना भी पैसा इस पर क्यों न खर्च करे। फिर भी हिंदी का विकास असंभव-सा लगता है।

परंपराएँ परिवर्तित होती जा रही हैं, सामाजिक मूल्यों का विघटन हो रहा है, रिश्तों में बिखराव बढ़ता जा रहा है, संस्कार तथा संस्कृति लुप्त हो रही है। भारतीय लोग विदेशी संस्कृति को अपनाने में कही पीछे नहीं हैं, जिससे भारतीय समाज असभ्य तथा अवसरवादी हो रहा है, जिससे हमारे समाज का विकास न होकर दिन-प्रतिदिन पतन ही हो रहा है। इस उपन्यास की भाषा की बात करें तो लेखक ने लठमार भाषा का ही प्रयोग किया है। जैसे ‘मेरे को यह पक्का विश्वास है।’²³ आदरसूचक शब्दों का बहुत ही कम प्रयोग किया है।

संदर्भ

1. डॉ॰ राजवीर सिंह धनखड़, उपन्यास ‘रिसते रिश्ते’, पृ॰, 37 अमर प्रकाशन लोनी गाजियाबाद (उ॰प्र॰)
2. वही, पृ॰ 39
3. वही, पृ॰ 39, 40
4. वही, पृ॰ 40
5. वही, पृ॰ 49
6. वही, पृ॰ 63
7. वही, पृ॰ 68
8. वही, पृ॰ 70

9. वही, पृ० 72
10. वही, पृ० 94
11. वही, पृ० 127
12. वही, पृ० 56
13. वही, पृ० 62
14. वही, पृ० 83
15. वही, पृ० 117
16. वही, पृ० 45
17. वही, पृ० 20
18. वही, पृ० 90
19. वही, पृ० 103
20. वही, पृ० 60
21. वही, पृ० 108
22. वही, पृ० 97, 98
23. वही, पृ० 63

हिंदी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय
हजरतबल, श्रीनगर (कश्मीर) 190006
मो० 9419058585

विवेकीराय कृत उपन्यास 'सोना माटी' में आंचलिकता

विभा रीन

शोध-छात्रा, हिंदी-विभाग

डॉ० सुनीलकुमार

सहायक प्रोफेसर, हिंदी-विभाग

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय

अमृतसर 143005

साहित्य समाज की अमूल्य धरोहर है, जिसमें असंख्य अनुभवों का सामंजस्य समाहित रहता है। भाषा साहित्य का प्रमुख आधार है, जिनके माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति संभव होती है। हिंदी साहित्य की परिधि अति विस्तृत है, समाज का प्रत्येक पक्ष उजागर करने में इसकी प्रत्येक विधा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उपन्यास विधा अपने-आप में ही मनुष्य तथा समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाली सबसे सफलतम विधा के रूप में विख्यात है। भीष्म साहनी के मतानुसार, 'उपन्यास सोद्देश्य होते हैं अर्थात् उपन्यास या कोई भी साहित्यिक विधा मनोरंजन के लिए ही नहीं होती, वह मानव-जीवन को शक्ति तथा सुंदरता प्रदान करने वाली सोद्देश्य रचना है।'¹ उपन्यास में संपूर्ण जीवन का सर्वांगीण निरीक्षण व मूल्यांकन करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान होती है। इसमें भाव-समृद्धि व बुद्धि-वैभव की वैविध्यपूर्ण प्रवृत्ति का अध्ययन समाहित होता है। अर्थात् 'उपन्यास हमारे युग का सबसे प्राणवान् और लोकप्रिय साहित्य-रूप है। अंतरंग और बहिरंग सामाजिक इतिहास और प्रगीति (अमूर्त दर्शन तत्त्व), प्रयोग और परंपरा तथा व्यष्टि और समष्टि के सहज समन्वय की यह शक्ति ही उसकी प्राणवत्ता की भित्ति है।'² वस्तुतः वर्तमान जीवन में विचारों और भावों का गद्यानुवाद ही उपन्यास है, जो मानव-जीवन का साक्षात् प्रतिबिंब है तथा उपन्यास के उद्देश्य की सफलता इसी में है कि अधिक से अधिक लोग प्रेरणा प्राप्त कर सकें। अतः साहित्य की श्रेष्ठता तथा कलात्मकता का सफल प्रमाण ही उपन्यास है। पाश्चात्य उपन्यासकार व प्रसिद्ध विद्वान् रैल्फ फॉक्स के मतानुसार, 'उपन्यास हमारी सभ्यता की महान् लोककथा है, यद्यपि उपन्यास विधा नवीन है, किंतु वह अपने को औचित्यपूर्ण, सार्वभौमिक एवं सर्वमान्य कला के रूप में प्रतिष्ठित करता है।'³ उपन्यास विधा को विभिन्न दृष्टिकोणों का आवरण लेते हुए सृजित किया जाता है। इनमें मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, दार्शनिक तथा आंचलिक उपन्यासों इत्यादि कोई भी आधार ग्रहण करने हेतु उपन्यास की रचना की जा सकती है।

आंचलिक उपन्यास विधा आधुनिक साहित्य-जगत की सुप्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट विधा मानी जाती है। आंचलिक 'अंचल' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—एक वैशिष्ट्यपूर्ण-भाग

व भू-प्रदेश के विशिष्ट भौगोलिक पर्यावरण का सृजन, जो 'कहानी उपन्यास में प्रचलित आधुनिक प्रवृत्ति जो किसी जनपद या अंचल के जीवन को समग्र रूप से चित्रित करना अपना उद्देश्य मानती है।'⁴ प्रत्येक अंचल का अपना भौगोलिक, आर्थिक, प्राकृतिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश होता है। अपनी अलग-अलग समस्याएँ होती हैं, जीवन-पद्धति होती है, उसकी अपनी विशिष्ट विशेषताएँ होती हैं। वास्तव में आंचलिकता ही वह प्राण तत्त्व है, जिसके आधार पर साहित्य की कोई भी कृति किसी भी अंचल की विशेषताओं को अपने भीतर समाहित करने का गौरव प्राप्त करता है। 'अंचल के भौगोलिक या सामाजिक या सांस्कृतिक-सीमाबद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन-सत्यों का अंतर या एकरूपता का निर्देशन, देश-काल जाति, धर्म, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक-सामाजिक प्रणाली, रीति-नीति के मनोवैज्ञानिक रहस्य के बीच स्थापित क्षेत्रीय जीवन की स्वीकृति आंचलिकता को व्यक्त करती है।'⁵

अंचल का गौरव, विशेषताएँ व संस्कृति का प्रतिनिधित्व वहाँ के निवासियों में समाहित होता है। देश के छोटे-छोटे अंचल, जो किसी पर्वत श्रृंखला पर बसे, सागर के तट पर बसे ग्राम व नदी के पास विकसित क्षेत्र होते हैं, उनकी विभिन्न भाषा, बोली, तीर्थ, उत्सव-पर्व, संस्कार, रहन-सहन, लोकनृत्य, लोकगीत व लोककथाएँ होती हैं। एक प्रकार से इन्हें अंचल की विशिष्टताएँ स्वीकार किया गया है। इस भाँति एक अंचल या क्षेत्र दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है। इसकी विभिन्नता ही आंचलिकता के तत्त्व को दृढ़ आधार प्रदान करती है। आधुनिक आंचलिकतावाद का आविर्भाव अमेरिका में हुआ। 'प्रायः सन् 1930 में अमेरिकी उपन्यासकारों ने संयुक्त-राज्य अमेरिका के विभिन्न अंचलों या क्षेत्र-विशेष के जीवन को एकबारगी नए दृष्टिकोण से देखने के सफल प्रयास किए।'⁶

अमेरिका से ही आंचलिकता का जन्म माना जा सकता है, जिससे निकलकर अन्य देशों में भी आंचलिकता का साहित्य में प्रयोग किया जाने लगा। उपन्यास साहित्य में आंचलिकता के ग्रहण ने युगांतकारी परिवर्तन किया और आंचलिक उपन्यास एक नवीन औपन्यासिक विधा के रूप में स्वीकृत किए गए। हिंदी साहित्य में भी आंचलिकता को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। हिंदी उपन्यास के परंपरागत विकास की कहानी में आंचलिक उपन्यासों का उद्भव व विकास एक अति-महत्वपूर्ण घटना है। इससे संपूर्ण हिंदी साहित्य के औपन्यासिक दृष्टिकोण में नवीन परिवर्तन आया, जिससे शिल्पगत विशिष्टताएँ भी बदलीं। इसका प्रारंभ स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् के युग से माना जा सकता है। उपन्यास विधा में इसका प्रतिभाशाली स्वरूप निखरकर उजागर हुआ। हिंदी आंचलिक उपन्यास के प्रथम उपन्यासकार फणीश्वर नाथ 'रेणु' को माना जाता है। रेणु के 'मैला आँचल' को प्रथम आंचलिक उपन्यास की कोटि से विभूषित किया जाता है। परंतु आंचलिक उपन्यास के उद्भव को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा। क्योंकि कुछ आलोचक इसे स्वातंत्र्योत्तर उपलब्धि मानते हैं, तो कुछ समीक्षक इसका अभ्युदय 'स्वातंत्र्यपूर्व युग' तक खींच ले जाते हैं। इसका कारण उन उपन्यासकारों के उपन्यासों का वह आधार माना जा सकता है, जिसने आंचलिकतावाद को हिंदी साहित्य में सार्थक सबल प्रदान किया। इसमें स्वातंत्र्यपूर्व काल के मुंशी प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, निराला, नागार्जुन के उपन्यासों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस युग में संपूर्ण रूप से आंचलिक तत्त्वों का प्रयोग तो

नहीं हुआ, परंतु इसने ही शुद्ध आंचलिक कृतियों के सृजन का परवर्ती युग में पथ प्रशस्त किया, 'आंचलिक उपन्यास के नामकरण, उद्भव एवं उत्कर्ष का श्रेय फणीश्वर नाथ रेणु तथा उनके 'मैला आँचल' उपन्यास को है।'⁷

आंचलिक उपन्यासों में प्रायः अंचल की संस्कृति, संस्कार, भाषा-व्यवहार की व्यंजना होती है, जो आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, तथा सामाजिक स्थिति का उद्घाटन कुछ इस प्रकार से करती हैं, 'आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य एक अंचल-विशेष के विषय में निश्चित दृष्टिकोण प्रदान करना होता है। इस दृष्टिकोण की निर्मिति आवश्यक रूप से तीखे यथार्थ की भूमिका पर ही होती है।'⁸

आंचलिकता के प्रमुख लक्षण सीमित अंचल या प्रदेश-विशेष, लोकजीवन के सांस्कृतिक तत्त्व, प्रभावी प्राकृतिक पार्श्वभूमि या वातावरण की प्रधानता, यथार्थवादी तथा जनतांत्रिक दृष्टिकोण, सामूहिक चरित-चित्रण, नवीन सामाजिक चेतना, स्थानीय बोली एवं भाषा का प्रयोग इत्यादि हैं, जिनको किसी न किसी रूप में उपन्यासकार प्रयोग करता है। आंचलिक उपन्यासों में प्रमुखतः एक विशेष अंचल के इर्द-गिर्द की ही कहानी होती है, जिसमें अधिकतर ग्रामीण वातावरण एवं पिछड़े हुए लोगों का जीवन, जातीयता, स्थानीय रंग, कौतुहल, लोकसाहित्य, राष्ट्रीय एकता व जागरण, फोटोग्राफिक शैली तथा समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इत्यादि विशेषताओं को स्वीकृत किया जा सकता है। 'अंचल के लोगों के खान-पान, तीज-त्योहार, मनोरंजन के साधन, उनके रीति-रिवाज, पुश्त-दर-पुश्त से चली आई परंपरागत धारणाओं आदि का भी चित्रण इसमें होता है।'⁹

आंचलिक उपन्यासों के सृजन से उपन्यासकारों ने भारतीय अंचलों व प्रदेशों की एक मूलभूत समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया है। शोषण, निर्धनता, अनपढ़ता, बेरोजगारी, मजदूरों की दयनीय स्थिति के साथ-साथ अत्याचारी शोषण की व्याख्या तथा मूलभूत समस्याओं को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। इसने भाषाओं तथा कथ्य, शिल्प-शैली को भी नए आयाम दिए। समसामयिक परिवेश में आज आंचलिक उपन्यासों की वृद्धि हो रही है। समकालीन युग के ऐसे ही एक बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न उपन्यासकार हैं—डॉ० विवेकीराय। अपने उपन्यासों में प्रमुखतः ग्रामांचल अर्थात् ग्रामीण जनजीवन का यथार्थ चित्रण करनेवाले उपन्यासकार विवेकीराय जी भी आंचलिकता के प्रयोग से विमुख नहीं रह सके। विवेकीराय ग्रामांचलिक जनजीवन के सिद्धहस्त लेखक रहे हैं। डॉ० राय का संपूर्ण साहित्यिक अस्तित्व किसानी जीवन को प्रस्तुत करने में पूर्ण रूप से सक्षम रहा। भारतीय ग्रामीण जीवन तथा कृषकवर्ग की समस्याओं तथा ग्रामीण संस्कृति को उजागर करनेवाले उपन्यासकार विवेकीराय के दो उपन्यास 'लोकऋण' तथा 'सोना माटी' पूर्ण रूप से आंचलिक उपन्यास हैं। उन्होंने इनमें एक विशिष्ट अंचल को केंद्र मानकर उपन्यासों का सृजन किया है, जो संपूर्ण रूप से आंचलिकता की प्रत्येक विशेषता को अपने भीतर समाहित किए हुए है। क्योंकि 'आंचलिक उपन्यास एक प्रकार के परिवेश में क्षेत्र-विशेष की संपूर्ण जनसंख्या को लेता है, उसके पात्र इकाई या किस्म-विशेष न होकर वर्ग होते हैं, उस क्षेत्र विशेष की जीवन-प्रथा के विभिन्न स्तरों, विभिन्न प्रकारों तथा पृथक्-पृथक् दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः वह आदर्श व्यक्तित्व का निरूपण और जीवन के सर्वमान्य

सत्य का उद्घाटन नहीं होता वरन् एक विशेष भौगोलिक या सांस्कृतिक क्षेत्र के सामान्य जीवन-सत्य को अभिव्यक्त करता है।¹⁰

विवेकीराय के उपन्यासों में आंचलिकता का तत्त्व किसी-न-किसी रूप में व्याप्त है। विवेकीराय के अनुसार—‘अंचल वह भू-भाग है और उनमें रहनेवाले वे लोग हैं, जो अपने पूरे विश्वासों के साथ परंपराओं के साथ, अपनी भाषाओं के साथ, अपनी लोकरीतियों के साथ जी रहे हैं या जीने के साथ संघर्ष कर रहे हैं, उस अंचल को एक समग्र रूप, एक बिंब के रूप में हम रखते हैं, लेकिन उसका आशय, उस अंचल को ही रखना या उसकी प्रदर्शनी करना नहीं होता।’¹¹ डॉ० विवेकीराय के उपन्यासों में ग्रामीण व्यवस्था की प्रत्येक परिस्थिति चाहे कृषकवर्ग का जीवन हो या अशिक्षा, बेरोजगारी का प्रसार, ग्रामीण अर्थव्यवस्था का असफल होना तथा सरकार के झूठे वायदे, कृषकवर्ग द्वारा भारी ब्याज सहित ऋण न चुका पाने के कारण, किसी विशेष अंचल की भौगोलिक, खान-पान, व्रत-तीर्थ, उत्सव इत्यादि का वर्णन मिलता ही है। ‘सोना माटी’ उपन्यास संपूर्ण रूप से आंचलिक उपन्यास माना जा सकता है। अपने विशालफलक और व्यापक जीवन दृष्टिकोण को समेटने के कारण महाकाव्यात्मक गरिमा को प्राप्त हुआ। यह उपन्यास गाजीपुर, बलिया के संधिस्थल से लगभग तीस किलोमीटर के वृत्त में फैले विशाल करईल क्षेत्र के जीवन को केंद्र में रखकर लिखा गया है।¹²

कृषकवर्ग का वास्तविक परिचय देनेवाला उपन्यास ‘सोना माटी’ शोषण की कथा का ऐसा ताना-बाना है, जो कृषकवर्ग के हर पहलू को उजागर करता है। इसका स्वरूप आंचलिक है तथा अंचल-विशेष की प्रत्येक परिस्थिति, समस्या, भौगोलिकता व प्रकृति को चित्रित करता है। इसे भारतीय ग्रामीण कृषि संस्कृति का महाकाव्यात्मक दस्तावेज माना जा सकता है।

‘सोना माटी’ में करईल क्षेत्र के आस-पास के ग्रामों का वर्णन किया गया है। करईल क्षेत्र की मिट्टी की विशेषताओं से लेकर वहाँ के पर्वत, नदी, प्रकृति, ऋतुओं का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। रामरूप इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है, उसके द्वारा कहे गए शब्द आंचलिकता के प्रथम लक्षण अंचल-विशेष को सजीव बनाते हैं। ‘धरती के बीच माटी है कि स्वर्ग का टुकड़ा है। अलंकार रूप में नहीं, यहाँ की माटी सचमुच सोना है। बिना खाद-पानी के कम से कम श्रम में उत्तमोत्तम फसल उमड़ती है, तो माघ-फागुन में इस रास्ते से निकलनेवाले दूर-दराज के यात्री सिहक उठते हैं। दिन-भर सूरज की चौड़ी किरणों के बीच नयनाभिराम हरियाली पर लक्ष्मी जी के पायल की रुनझुन झमक सुनते मन नहीं अघाता है।’¹³

उपन्यास की भूमिका में भी उपन्यासकार विवेकीराय ने अंचल-विशेष की बात को स्वीकारते हुए करईल अंचल का महत्त्व दर्शाया है। ‘पूर्वी उत्तरप्रदेश के दो जिलों, गाजीपुर और बलिया, का मध्यवर्ती एक विशिष्ट अंचल है करईल।’¹⁴ करईल अंचल में बसे विभिन्न ग्रामों का वर्णन मिलता है, जिसमें गठिया, चटार्टोला, मुहवारी बराडपुर आदि प्रमुख हैं। इन सभी की कथा उपन्यासकार ने बड़ी तारतम्यता के साथ जोड़ी है। ग्रामीण लोगों के जनजीवन का यथार्थ वर्णन, वहाँ की विभिन्न ऋतुएँ बरसात, सावन, भादो, शिशिर, चतुर्मासा, बसंत इत्यादि का मनोरम चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। ‘आसमान में सुबह-सुबह बादल घिर आए हैं। लगता है अब पानी बरसा, तब बरसा। किसान के लिए इस मुँहमाँगी मुराद से बढ़कर मूल्यवान कुछ

नहीं कहते हैं, अगहन बरसे दूना।¹⁵ बारिश की कमी के कारण सूखा पड़ने से ग्रामीण लोगों के त्रासद जीवन की व्याख्या स्थान-स्थान पर मिलती है, उदाहरण—‘बरसात में वही एक पानी शुरू में पड़ा कि ताल-खाल भर गया और फिर पानी की जगह ऊपर से माहुर घाम, घाम और घाम। यह तो कहो कि रोहिनी नक्षत्र का बीओ पड़ा था, अपने प्रभाव से लहराता रहा।’¹⁶ भारत कृषिप्रधान है, जहाँ ग्रामीण लोग अधिकतर कृषकवर्ग से संबंधित है। उनका जीवन-यापन का सबसे बड़ा स्रोत कृषि है। सोना माटी उपन्यास भारत के उत्तरी-क्षेत्र के किसानों के वर्तमान जीवन का सशक्त प्रतिनिधित्व करनेवाली कृति है। यहाँ कृषि तथा खेतों संबंधी प्रकृति-चित्रण के साथ जोड़कर मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है—

‘इनकी हरियाली से ही संसार के चेहरों पर हरियाली है। इनकी दिव्य नवीनता ही तो किसान की विपन्न मनहूसी के बीच चाँदनी का लास भर देती है। गदराई और कुछ-कुछ पिअराई फसलों के बीच साफ, चिकनी, गोरी-भूरी, मौन पड़ी कलात्मक और तन्वंगी पगडंडी का ऐसा मोहक रूप पहले कभी वर्मा ने देखा था?’¹⁷ फागुन के मौसम में जो एक अलग ही सुहावना मौसम होता है, जिससे खेत-खलियानों का प्रत्येक पौधा अपनी एक अलग आभा को प्रस्फुटित करता है, उसका वर्णन उपन्यासकार ने यहाँ किया है—बाहर की फागुनी हवा ने पिटे मन पर मरहम का काम किया और सूरज की किरणों में खिले मैदान के विराट दिव्य फसली पुष्पों के अनंत प्रसारी सौंदर्य वैभव देखकर जैसे सारा दुख भूल गया।¹⁸

आंचलिक उपन्यासकारों में प्रायः विशेष अंचल से संबंधित लोकजीवन के सांस्कृतिक तत्त्वों का चित्रण मिलता है। यह विशिष्ट रूप से एक दो पात्रों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के साथ-साथ उस संपूर्ण अंचल के समग्र लोकजीवन का चित्रण किया जाता है। लोकसंस्कृति का संबंध जनजीवन से संबंधित जितनी परंपराएँ, मान्यताएँ, धर्म, आचार-व्यवहार, पर्व, त्योहार, व्रत, रीतियाँ, विवाह-मृत्यु से संबंधित परंपराओं से होता है। ‘सोनामाटी’ में करईल अंचल के जनजीवन का संपूर्ण यथार्थ रूप अंकित किया गया है। लोकगीत, लोकनृत्य, लोकविश्वास, लोकबोली, लोककथा आदि सभी लोकसंस्कृति के अंतर्गत ही आते हैं।

लोकगीत किसी क्षेत्र की वास्तविक संस्कृति तथा अस्तित्व का निर्वाह करते हैं। इस उपन्यास में प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक परिस्थिति, रीति-रिवाजों, त्योहारों, व्रत तथा उत्सवों से संबंधित गीत मिलते हैं। यहाँ तक कि फसल की कटाई-बुवाई से संबंधित गीतों का सृजन भी उपन्यासकार ने किया है। सारे गीत प्रमुखतः भोजपुरी लोकगीत हैं। विवाह-संबंधी लोकगीतों का सजीव उदाहरण प्रस्तुत है—

आरे दुधवा के निखियों न दीहलू ए बेटी
चचलू सुनर बर साथ ए।
काहे के दुधवा पिअक्ल ए बाबा
काहे के कइल दुलार ए।
जानते त रहल बाबा धिअवा पराई
लगली सुनर बर साथ ए।¹⁹

‘सोनामाटी’ उपन्यास में उत्तर भारत की ग्रामीण संस्कृति का संपूर्ण रूप से सृजन किया

है। विभिन्न ऋतुओं के साथ मनाए जानेवाले त्योहार, मेले, व्रत-उत्सव भारतीय पर्व अपने आपमें ही अनूठे अनुभवों से प्रतीत होते हैं। हेमंत की ऋतु आते ही 'पंचकोस का मेला' बिहार में बहुत धूम-धाम से मनाया जाता है। 'मेला, बीती सदियों के अतीत जीवियों का मेला, मेलों में मेला पंचकोस, पाँच कोस की पाँच दिवसीय परिक्रमा और परिक्रमा क्या मात्र पाँच गाँवी के इर्द-गिर्द? गाँव के बहाने ठेठ भोजपुरी संस्कृति की परिक्रमा, किस गाँव में दही-चिउड़ा, किस गाँव में सत्तू का घोरघार, किस गाँव में खिचड़ी और कहाँ उपसंहार की यह चिट्ठी।'²⁰

फागुन मास के साथ ही होली के त्योहार की धूम, तत्पश्चात् जन्माष्टमी, नवरात्रि, रामनवमी, दशहरा, सतुआदान, जलकुंभदान और विष्णुपूजा इत्यादि त्योहार मनाए जाते हैं। उत्सव-पर्व-तीज-त्यौहार मेले आदि से ग्रामांचलिक जनजीवन में एकात्मकता, सामूहिकता, बंधुता के दर्शन होते हैं। विशेषतः दीपावली, मकर संक्रांति सभी त्योहार महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका वर्णन यथास्थान उपन्यासकार के द्वारा किया गया है। होली के पर्व से संबंधित करईल अंचल में जो धूम है, उसका वर्णन इस प्रकार है—'हर साल की तरह सम्मत बाबा फूँके गए और होलरी जलाकर उसे लुकार जैसे भाँजते लोगों की भीड़ सीवान की ओर बगट्ट भगी... हो-हो-होल्लरी।'²¹ होली मनाते हुए नाच-गाना, ढोल पीटना तथा सारे गाँव का साथ मिलकर त्योहार को आनंद से मनाने से भी वहाँ की संस्कृति को सजीव रखता है। होली गायन के दो दल हैं, जिसमें प्रत्येक गाँव चमटोल, महुवारी, गठिया, बराड़पुर, चटाईटोला, अपने-अपने ढंग से नृत्य-गायन करते हैं। 'सदा आनंद रहे एहि द्वारे, जिए से खेले होरी।'²² 'शादी के बिठाल मौसम में श्रीकृष्ण भगवान के जन्मोत्सव की खुशियों में डूब जाता है। इस पार मुहवारी में बाबुओं की परंपरागत जन्माष्टमी अब फीकी पड़ती जाती है।'²³ इसमें पंजीरी बाँटकर हरिकीर्तन का विधान है। परंतु हरिबसती वाले इस दिन नाच-गायन का आयोजन करते हैं तथा खूब आनंद से कृष्ण जन्माष्टमी में ढोल बजाते हुए कृष्ण के जन्म की खुशी मनाते हैं। होली तथा जन्माष्टमी का त्योहार यहाँ बहुत धूमधाम से मनाया जाता है।

व्रत, नियम, पूजा का निर्वाह करते हुए देवी के मंदिर में मनौती पूरी करने का विधान भी भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। हनुमानप्रसाद जेल से छूटने के लिए मनौती माँगते हैं। इसी कारण मंदिर में अपनी मनौती, पूरी करने आते हैं। 'बने-बने फुलवा फुलइले हो रामा..।'²⁴ तो हनुमानप्रसाद का मन एकदम लहरा उठा। वे सब-कुछ भूलकर उसमें खो गए। इसी प्रकार सतुआन, जलकुंभदान तथा विष्णु पूजा हमारे धार्मिक लोकपर्व हैं, जिसमें सतुआन के त्योहार का इन शब्दों से वर्णन मिलता है, 'सतुआ खाने की परंपरा का पालन सुबह गुड़-सत्तू खाकर हो जाती है। मगर उसमें गुड़ और सत्तू से अधिक घी की मात्रा हुआ करती है और सूखे मोहन-भोग जैसा पदार्थ प्लेट में रखकर चम्मच से खाया जाता है।'²⁵ मौसम व ऋतुओं के बदलते ही ग्रामीण जनजीवन पूर्ण से उससे प्रभावित होता है। जैसे जेठ के मास की गर्मी अति ताप से मुनष्य को व्यग्र कर उठती है तथा दूसरी ओर बरसात के मौसम की शीतलता ग्रामीण लोगों को सुख का एहसास करवाती है। 'जेठ की तवाठी से धकियाए भेद आदमी जुडांसी की तलाश में गाँव-घर छोड़कर... भग चले आ रहे हैं तो धूप की अदेख आँच से आतंकित हो दिशा-दिशा से खुले आसमान के नीचे।'²⁶ बैल-गाय खरीदने के मेले लगते, जहाँ कृषकवर्ग की आवश्यकता

संबंधी खाद, चारा, भूसा, गाय, भैंस व बैल की खरीदारी की जाती है। विवाह के दोनों पक्षों संबंधी अलग-अलग रीतियाँ बिहार व उत्तर प्रदेश के अंचलों में आज भी प्रचलित हैं। कन्यापक्ष विवाह से पहले वरपक्ष को तिलक लगाने की रस्म करता है, जो बहुत ही प्रचलित है, इसमें पुरोहित पूजा करते हुए तिलक की विधि आरंभ करता है तथा लड़की का भाई दूल्हे का तिलक करते हुए बहुत सारा सामान शगुन में देता है, इसके पश्चात् माड़ो, हल्दी का उत्सव कन्यापक्ष द्वारा कन्या के घर पर मनाया जाता है। 'माड़ो गाड़ने का कार्य समापन पर था। मूँज का पतलो ऊपर डालकर लोग बान्ह डाल रहे थे।¹²⁷ औरतें रस्में गाती हैं, जो सांस्कृतिक गालियाँ होती हैं। लोक परंपराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी साथ-साथ चलती हैं। 'तिनमंगरा तथा पंचमंगरा की लोकपरंपरा और पंचाग के ग्रह-नक्षत्रों के दबाव वाली साइति से ठीक तीसरे दिन विवाह की साइति पड़ गयी थी।¹²⁸ 'मानर पूजा' जिसमें शिव तथा काली जी की पूजा की जाती है 'मानर यानि चमाइन की डुग्गी की पूजा की जाती है। अखरा, हल्दी की थाप दी जाती है, सिंदुर लगाया जाता है।¹²⁹ माटी कोड़ना, जिसमें औरतें माटी कोड़ने जाती हैं, वहाँ स्त्रियाँ सज-धजकर गाती हुई जाती हैं। 'माटी कोड़े गइलों से ओही माटी कोड़वा....'¹³⁰ माटी कोड़ने से जो मानर पूजा होती है, वह कक्कन छूटने के दिन खूँटे से गठिया जो दी गई होगी उसे खोला जाएगा। मानर पूजा से लाई गई मिट्टी से चूल्हा, मंडप बनाया जाएगा। चूल्हे पर भात पकेगी जो विवाह के दिन-दूल्हे-दूल्हिन को प्रसाद रूप में खिलाया जाएगा। बाँस गाड़ना, कन्या के हाथ के नाप से चूल्हा बनाना फिर पृथ्वी की पूजा करना। इसके पश्चात् ब्राह्मणियों माड़ो के मंगलगीत गाती हैं—

गाई का गोबरे महादेव आँगन लिपाइ,
गज मोती आहो महादेव चउक पुराई।³¹

शिव-गौरे के विवाह के गीत गाते हुए बाँस गाड़ने के लिए फट्टे तैयार किए जाते हैं। 'पाल्लव गुच्छ बँधे ऊँचे-ऊँचे आसमान छूते नौ बाँस, वे गाँव के बाहर से ही दिखाई पड़े, लोग समझे, घर में मंगल अवसर आया है।¹³² झाँझर माड़ो संबंधित गीत स्पष्ट करता है—

बेरिया की बेरी तोके बरजी ए बाबा,
झाँझर मंडउआ जनि छाव।³³

पूजन के पश्चात् हल्दी कन्या को लगाई जाती है। एक-एक करके सभी कन्या को हल्दी लगाएँगे तथा वधू को तेल लगाया जाता है, जिसे चुमावन की रीति कहते हैं—

साठी के चउरा लहालरि दूबि रे,
चूमहि चलेली लछिमीना देई रानी रे।³⁴

'डाँड फारना' तथा 'पीतर नेवतने' की रस्में चुमावन के बाद होती हैं। डाँड फारना अर्थात् कोहबर में जिधर दीवार की ओर कन्या मुँह करके बैठी है, उधर दीवार पर वह गेरु रंग से पाँच लकीरे खींच दें या कुछ बना देंगे।¹³⁵ पीतर नेवतने में पितरों को कुल की स्त्रियाँ आवाहित कर उनको नेवतेंगी। विवाह के दिन कन्यादान व गोत्रोच्चार के समय खुलेंगे। संज्ञाकली में गीत गाए जाते हैं, जो विवाह-शगुन के मंगलगीत होते हैं। बारात आने पर द्वार-पूजा की जाती है। बारात को तीन दिन ठहराया जाता है, उन्हें भोज व दावत देकर उनका स्वागत होता है। विवाह संपन्न होने के बाद गौना किया जाता है, जो कुछ दिन या महीने बाद होता है।

इसी प्रकार वरपक्ष के विवाह के समय जलुआ बनाकर गीतों को स्त्रियों द्वारा रात-भर गायन करना बहुत ही लोकप्रसिद्ध रिवाज है। इसमें जलुआ के जन्म से लेकर नामकरण, मुंडन, बड़े होने तथा विवाह-संबंधी अभिनय किया जाता है, जिसमें उसके माता-पिता, संबंधियों का अभिनय किया जाता है। हनुमानप्रसाद के पुत्र मगनचोला के विवाह के उपलक्ष्य में जलुआ बनाया जाता है 'भीतर हवेली में जलुआ हो रहा था। रामरूप ने उसके बारे बहुत कुछ सुना था, पर देखने का कभी मौका नहीं मिला था। जलुआ सिर्फ औरतों द्वारा संपन्न होता है।'³⁶ इसके साथ ही डाल-पूजा, जिसमें वर आँगन में नहीं जाता। वह गृहस्थ के बाद ही बुलाया जाता है। दूल्हे का बड़ा भाई ही डाल-पूजा तथा कन्यापूजा संपन्न करवाएगा। उपानह-त्याग में गणेशजी को पाँच हल्दी के ऊपर पाँच स्थान पर अक्षत रखकर स्पर्श करना होता है। इसमें दूल्हा तथा दाता द्वारा इसे संपन्न किया जाता है। दाता द्वारा वर को पीड़े पर बिठाया जाता है। 'लाजा होम' वर-वधू के फेरे लेते हुए कन्या का भाई कन्या के कंधे के ऊपर से लावा फेंकता है, जो नीचे गिरता लावा है, उससे हवन किया जाता है। वर-वधू के सात वचनों को निभाने का वायदा करता है, साथ ही वधू भी वर के वचनों की प्रतिज्ञा करती है। सिंदूर बुहारी रीति में वर-वधू की माँग में सिंदूर भरता है। इसके पश्चात् गठबंधन, कंकड़बंधन, चुमावन, मौरखोलाई, चटावन और गुड़ गुड़ावावन इत्यादि रस्में निभाई जाती हैं।

लोकप्रचलित परंपरा से चली आई मौखिक कथाएँ लोककथा कही जाती हैं। लोकभाषा के माध्यम से लोकजीवन में स्थित विश्वास, आस्था और परंपरा पर आधारित लोककथा के अंतर्गत आती हैं। आंचलिक उपन्यासों में लोककथाओं का बहुत ही महत्त्व होता है। 'सोना माटी' में बहुत-सी लोककथाओं का वर्णन उपन्यासकार द्वारा किया गया है। कोहरथ का भात लोककथा जो कि विवाह से संबंधित कथा है, जिसमें दूल्हा ठीक समय विवाह पर नहीं पहुँचता तो बारात में आए सामान्य युवक से शादी करवा दी जाती है, जब गौने के समय नकली वर दुल्हन लेने आता है, तो दुल्हन कोहरत का भात कैसे पका, दूल्हा चुप। तब बात फैल जाती है दुल्हन को असली वर की तलाश है, जो यह रहस्य जानता हो। गंगा मड़िया को चुनरी चढ़ाने से संबंधित पूर्वी उत्तर-प्रदेश में बहुत प्रचलित है, जो कि एक संक्रमण रोग के निवारण से जुड़ी है। 'गाँव की महिला को गंगाजी ने स्वप्न में आदेश किया है कि अपने भाई से चुनरी लेकर चढ़ाओ तो भाई का कल्याण होगा। उस औरत ने नैहर जाकर भाई से कहा है, तो उसने पाखंड कहकर उसे खाली हाथ वापिस कर दिया।'³⁷ भाई की अचानक मृत्यु से गंगाजी ने सपने में प्रकट होकर कफन को आधा खुद पर लपेटने को कहा तो वह जी पड़ेगा। बस इसी से लोककथा प्रचलित हो गई।

आंचलिक उपन्यास सामान्यतः नायक-नायिकाविहीन होते हैं। 'सोना माटी' उपन्यास में भी उपन्यासकार का ध्यान सामुदायिक चरित्र-चित्रण की ओर था। पात्रों के साथ-साथ संपूर्ण करईल अंचल ही नायक है। पात्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ-साथ अंचल का व्यक्तित्व या स्वभाव प्रस्तुत होता है। 'सोना माटी की चमक है। बेशक करईल की माटी नहीं, सोना है। नए अर्थवाला कालासोना, अद्भुत अद्वितीय।'³⁸ करईल के लोगों के स्वभाव के साथ-साथ यहाँ इस विशेष अंचल की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। इसके साथ प्रत्येक पात्र ने उपन्यास

में अपनी विशेषताओं के कारण महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। हनुमानप्रसाद इस उपन्यास में विशिष्ट पात्र है। उसे करईल अंचल के साथ जोड़कर करइलवा माना जाता है। जिस प्रकार करइल की मिट्टी उपजाऊ होने के साथ वर्षाऋतु में कीचड़ और दलदल का कारण बनती है, उसी भाँति हनुमानप्रसाद गाँव का धनी जमींदार है, परंतु स्वभाव तथा प्रकृति से अति धूर्त तथा शोषण करनेवाला व्यक्ति है। रामरूप इस उपन्यास का वह पात्र है, जो कृषक होने के साथ अध्यापक भी है। शिक्षित व बुद्धिजीवी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व भी करता है तथा शोषण सहता हुआ निर्धन कृषक की भाँति विभिन्न समस्याओं से घिरा रहता है। इस प्रकार दीनदयाल, गजेंद्र, दीवान जी, दयानाथ पांडेय, नवीन, सुग्रीव, भगुवा, महंत सभी हनुमानप्रसाद के जैसे ही पात्र हैं, जो पूँजीपति के दोस्त, चमचे तथा साथी हैं।

रामरूप वर्मा, सीरी भाई, खुबवा, सुखआ, सिंहलटा, दुबरी देवता, सभापति, सीता कहार इत्यादि सभी पात्र दीन-दुर्बल तथा शोषण के शिकार पात्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी भाँति मगनचोला, बनारसी युवा संग के प्रतिनिधि के रूप जो राजनीति के द्वारा समाज की सेवा तथा विकास हेतु सरकारी नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। नारी-पात्रों में कोईली, सुनहरी, रामकली, मिस कांता, विद्या जैसी सशक्त नारियों को प्रस्तुत किया गया, जिसमें कोई शोषित है, कोई गृहस्थ तथा कोई आधुनिक समय की शिक्षित नारी के रूप में प्रस्तुत होती है। नारी की निर्धनता के कारण उसकी अस्मिता को लूटना या बेचा जाना व अनमेल विवाह की समस्याओं को उजागर करता है।

उपन्यासकार के सभी पात्रों तथा अंचल-विशेष की विभिन्न सामाजिक समस्याओं को संपूर्ण देश की समस्याओं के साथ जोड़कर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। नवीन सामाजिक चेतना का दृष्टिकोण लेकर उपन्यास में उपन्यासकार द्वारा सामाजिक समस्याओं का यथार्थ चित्रांकन किया गया है। संघर्षशीलता के कारण व्यक्ति तथा लोकजीवन के नवीन चारित्रिक पहलुओं को उद्घाटित करने में ही आंचलिक उपन्यासों की सफलता होती है। दहेज-प्रथा भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी समस्या है, जिसने प्रत्येक भारतीय को विवाह के समय दहेज के लेन-देन को अनिवार्य बना दिया। रामरूप कमली के विवाह के समय तिलक पर अधिक माँग के कारण चिंतित है कि दहेज की व्यवस्था कैसे करेगा? गाँव के काका के कहे गए शब्दों द्वारा दहेज प्रथा के स्वरूप का ज्ञान होता है—

‘मर्द की जिंदगी में ऐसे ही मौके आते हैं कि करेजा पोढ़कर भिड़ा जाता है। क्या फिर कमली का विवाह होगा? एक ही बार ही न। नीति कहती है कि शादी कि बादी। तीसरी जगह कौन है खर्च करने की।’³⁹ मगनचोला विधायक है, जिस कारण उसकी तिलक की कीमत भी बढ़ जाती है। संपूर्ण अंचल में दहेज-प्रथा एक परंपरा बन गई है, प्रत्येक नवयुवक प्रायः इसलिए शिक्षित होता है कि उसके तिलक की कीमत बढ़ सके, जिसका सफल उदाहरण है—‘किसी का हाथ हाईस्कूल में पीला हो गया तो कोई इंटर में बिक गया। किस के कई-कई मेमने उछल आए।...बेचारे फादर चूक गए। आगे पढ़ना ही था तो शादी रोकनी चाहिए थी। हर साल चार दो चार हजार का भव बढ़ जाता है।’⁴⁰ अशिक्षा भी भारतीय समाज की एक भयंकर समस्या के रूप में उभरती है। ग्रामीण अंचलों में तो शिक्षा का विकास न के बराबर है। करईल

क्षेत्र में भी शिक्षा की बहुत ही शोचनीय अवस्था है। सरकारी स्कूल भी ग्राम-राजनीति तथा निजी स्वार्थों की भेंट चढ़ जाते हैं। राजनीतिक आंदोलनों में स्कूल की शिक्षा को बंद कर दिया जाता है। अध्यापकों के हितों से भी खिलवाड़ का वर्णन मिलता है, 'अमीर-सा दीखनेवाला अध्यापक गरीब की भाँति भी उस छोटी रकम से गुजारा करने में असमर्थ होता है।'⁴¹ ग्राम में राजनीतिक विधायक के चुनाव के बाद शिक्षा के विकास का प्रसार होने संबंधी योजनाओं को लागू किया गया। खोरा कवि के नाम पर रिसर्च इंस्टीच्यूट की घोषणा ग्रामीण पिछड़े अंचल में शिक्षा के विकास की ही शुरुआत है। वर्मा के शब्दों से स्पष्ट होता है—'एक खोरा रिसर्च इंस्टीच्यूट की विशाल योजना है, मुख्यमंत्री की मौखिक स्वीकृति मिल गई है।'⁴² जातिवाद की धारणा भारतीय समाज को बहुत बुरी तरह प्रभावित किए हुए है। संपूर्ण करईल क्षेत्र के गाँवों गठिया, मुहवारी, बराड़पुर, चटाईटोला सभी में इसका भयंकर रूप ही दिखाई पड़ता है। विभिन्न जातियों में बँटा करईल क्षेत्र इससे विमुख नहीं हो सका। इसका सफल उदाहरण है—'ठाकुर बिरादरी किसके साथ? ब्राह्मण किसके साथ? तुम अमुक पार्टी में अपना वर्चस्व और राष्ट्रीय विकल्प खोजो।' रामरूप ने लोकतंत्र की कमी में सबसे अधिक जातिवाद को माना है, उसके शब्द हैं— 'दो-ढाई दशक के भारतीय लोकतंत्र की यही उपलब्धि है, जातिवादी गंदगी'⁴³ क्षेत्रवाद भी जाँति-पाँति के भेद से निकलकर आया है। विभिन्न क्षेत्रों में स्वयं को विशेष समझने की प्रवृत्ति इसका मूल कारण है। 'करईल क्षेत्र के भुक्खड़ किसान कहाँ खरीदते हैं ये सब गहने।'⁴⁴ आर्थिक परिवेश आंचलिक उपन्यासों की मूल पृष्ठभूमि को उजागर करने की सामर्थ्य रखता है। गरीब-अमीर की विभेदक धारणा ने संपूर्ण अंचल को प्रभावित किया है। कृषकों का एकमात्र जीविकोपार्जन का साधन खेती है, ज़िमींदार तथा धनी व्यक्तियों द्वारा उनकी जमीन हड़पना, उनकी जमीन को ऋण देने पर भारी ब्याज के ऐवज में अपना बना लेना। उनकी खेती की कटाई कर फसल ले जाने के दृश्य प्रत्येक स्थल पर मिलते हैं। दीनदयाल द्वारा सीरीभाई के खेतों की कटाई कर उसके साथ शोषण की कथा का वर्णन इस प्रकार है—'सीरी भाई पर उनका ऋण तो बहुत थोड़ा था, महज दो साल पहले का ढाई सौ का हथफेरा।'⁴⁵

ग्रामीण कृषि के सहारे ही जीवन-यापन करते ऋण के अतिरिक्त कोई अन्य कोई साधन नहीं है, जिससे वह जीविकोपार्जन कर सकें। बेरोजगारी शहरों के साथ ग्रामीण क्षेत्रों को भी अपनी चपेट में लिए हुए है। ग्रामीण क्षेत्र इतने विकसित भी नहीं हैं, जिससे अन्य उद्योग-धंधे गाँवों में स्थापित किए जाएँ।⁴⁶ मगनचोला का करईल अंचल का विधायक बनने से नवीन आर्थिक विकास की योजनाएँ लागू हुईं, जिनसे वहाँ का आर्थिक परिवेश बेहतर हो सके। 'जो युवक खेत या राजनीति या बेकारी में जुते हैं तथा जो नौकरी खोजते-खोजते नाकाम हो शिक्षा, सरकार और भाग्य को दस हजार गाली देकर घर बैठ गए।'⁴⁷ राजनीति का प्रवेश संपूर्ण अंचल की दिशा बदल देता है। ज़िमींदारी प्रथा सरकार ने समाप्त कर दी है, क्योंकि संपूर्ण भारतवर्ष के प्रति विकास की योजनाएँ लागू हो सकें। इस उपन्यास के माध्यम से वर्तमान राजनीतिक प्रणाली के भ्रष्ट शासन व लोकतंत्र के गिरते स्तर को उजागर करने का प्रयास किया गया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जो भी आशाएँ सारे देश को थीं, उसका अंश-मात्र भी विकास नहीं हुआ। विकास मात्र कागजी कारवाइयों का ही माध्यम बना। विभिन्न राजनीतिक दलों के

माध्यम से मात्र स्वयं के हितों की पूर्ति करना ही है तथा विकास के नाम पर जनता को धोखा देना, सत्ता-प्राप्ति के लिए प्रत्येक हथकंडा अपनाना, रिश्वतखोरी, कानून की धज्जियाँ उड़ाना इत्यादि कई प्रसंग उपन्यास में मिलते हैं—‘कानून-व्यवस्था की स्थिति दिनों-दिन गंभीर होती जा रही है—ट्रेन की डकैतियाँ और हत्याएँ बढ़ी रही हैं। गरीबी बेहाली को देखते इधर के लोग चुनाव-बहिष्कार भी नहीं कर पाए। वे इतने प्रबुद्ध कहाँ—‘खाद की समस्या, चीनी डीजल की समस्या, दामों के उछाल की समस्या...समस्या।’¹⁴⁸

आधुनिकयुग में भ्रष्ट सरकार केवल अपने स्वार्थ हेतु ही सोचती है, सत्ता-प्राप्ति ही उनका मूल लक्ष्य होता है? विकास दूर-दूर तक नहीं होता। शहरी राजनीति का गाँवों में भी प्रवेश होता है, वोट खरीदे जाते हैं, वास्तविक विकास केवल चुनाव जीतने का झूठा हाथकंडा होता है। ‘देश के भविष्य के बहाने अपना भविष्य बनानेवालों को तो सिर्फ वोट लेना है। ऐसों के भविष्य से उनका सरोकार है? एक बदनसीब रूपिया नहीं, देश में करोड़ों भविष्यहीन जीविकाहीन और भाग्य के भरोसे बिल बिलाते जीवों की जमात है, जिसकी इस समूचे लोकतांत्रिक ढाँचे में कोई सुनवाई नहीं।’¹⁴⁹

प्रत्येक साहित्यिक कलाकृति के निर्माण का आधार भाषा होती है। आंचलिक उपन्यासों में भाषा-तत्त्व इतना मुखर होता है कि अन्य तत्त्वों से भी अधिक इसकी महत्ता होती है। इसमें प्रायः स्थानीय भाषा और बोली का पुट आवश्यक होता है। क्योंकि आंचलिक उपन्यास क्षेत्र-विशेष की भाषा तथा बोली के प्रयोग पर आधारित होते हैं। ‘सोना माटी’ उपन्यास में भोजपुरी शब्दों, उत्तर प्रदेश, विशेषतः करईल क्षेत्र विशेष से संबंधित लोकगीतों, कहावतों तथा मुहावरों से संपूर्ण भाषा का सौंदर्य बढ़ाया गया है। प्रमुख भोजपुरी शब्द जो प्रत्येक पात्र द्वारा बीच-बीच में बोले जाते हैं, इस प्रकार हैं—भुला गइल, बन्हुआ, तजिया, उपटल बाड़न, नावा देवता, मिलई, सेदेहूँ, ईन-बीन, काहे, कुल्हि, पंवारा, हेले मटखाँ, बतावा। विभिन्न स्थलों पर सांस्कृतिक रीति-रिवाज से जुड़े लोकगीतों का भंडार मिलता है। विवाह, तिलक, होली, मेलों, दीवाली, धार्मिक अनुष्ठानों संबंधी भोजपुरी लोकगीतों को उपन्यासकार ने अंचल-विशेष की विशेषताओं को प्रस्तुत करने की लिए किया है। झिरझिरी की रीति का उत्कृष्ट उदाहरण इस प्रकार है—‘आनन्दमयि आज गोकुल विराजति/ प्रभु अवतरेउ आज कोशलधनी रे।’¹⁵⁰

इसमें स्थानीय बोली को रंगत डालने के उद्देश्य से देहाती शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे वहाँ के भौतिक यथार्थ को मिट्टी, पशु, पक्षी, औजार, हथियार, पेड़-पौधो आदि के बिंबों का आधार बनाती है। विशेष आंचलिक शब्दों का भंडार इसको आंचलिक उपन्यास बनाने में सफल होते हैं। लुगरिया, टुनमुन, पंचकोसवा, गति-भगति, कड़फू, मोटरियाँ मतवा, गोयंडा, कऊड़ इत्यादि। भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने हेतु तथा क्षेत्र-विशेष की गरिमा को अभिव्यक्त करती कहावतें, लोकोक्तियों व मुहावरों का प्रयोग स्थान-स्थान पर हुआ है, जो कि अंचल-विशेष के स्थानीय रंगों को व्यक्त करने में सफल हुए हैं। हरिभजन को ओटन लगे कपास, जैसे नागनाथ वैसे सांपनाथ, अगहन बरसे, देखने में बउरहिया और आवे पाँचों पीर जैसी अनेक कहावतों के उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार लोकोक्तियाँ तथा मुहावरें हैं—पढ़े फारसी बेचे तेल, उड़ती चिड़िया को हल्दी लगाना, बहै न हाथ दहै रिह छाती, मन की भड़ास

निकालना, कलेजा फटना, कान में तेल डालना, गुल खिलाना, पैतरे भांजना, तू-तू, मैं मैं आदि। इसमें फोटोग्राफिक शैली का प्रयोग किया गया है। उपन्यास की प्रत्येक घटना, ग्रामीण संस्कृति, प्रत्येक परिस्थिति को आँखों के सामने प्रस्तुत करती है। उपन्यासकार ने प्रायः ऐसे शब्दों का चुनाव संपूर्ण कथावस्तु को ध्यान में रखते हुए किया है। इससे अंचल के जीवन को उसकी सहज जीवंतता या सहज संवेदना के साथ उपन्यासकार चित्रित करने में सफल हुआ है। संपूर्ण उपन्यास की भाषा यथार्थवादी तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर कथा का वर्णन करने में सक्षम है। जैसे-कृषि-जीवन के प्रत्येक पक्ष का वर्णन। नवीन सिंचाई, बुआई की तकनीकीकरण को चुनौती, गरीब-शोषित किसानों की लाचारी, शोषकों द्वारा जमीन हड़पना, कन्या के विवाह में दहेज रूपी भयानक दानव का मुँह खोलना, अनमेल विवाह, नारी को भोग की वस्तु समझते हुए उनका शोषण तथा उसका सौदा करना आदि।

इसप्रकार 'सोना माटी' उपन्यास कृषक-जीवन का यथार्थ दस्तावेज है। करईल नामक अंचल के माध्यम से उपन्यासकार ने प्रत्येक पक्ष उठाने का प्रयास किया है। आंचलिक उपन्यास की विशेषताओं का ताना-बाना प्रत्येक स्थान पर मिलता है।

संदर्भ

1. भीष्म साहनी, आधुनिक हिंदी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1990, पृ० 13
2. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), नगेन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1965, पृ० 183
3. रॉलफ फाक्स, दि नावल एंड दि पिपल, फोरन लैंग्वेजिस पब्लिशिंग हाउस, मोस्काऊ 1956, पृ० 74
4. बृहत हिंदी कोश, कालिका प्रसाद, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी 2014, पृ० 114
5. डॉ० नगीना जैन, आंचलिकता और हिंदी उपन्यास, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि० दिल्ली 1976, पृ० 5
6. वही, पृ० 2
7. डॉ० संध्या मेरिया, हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में पुरुष, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, 2011, पृ० 42
8. डॉ० देवेश ठाकुर, मैला आंचल की रचना-प्रक्रिया, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1987, पृ० 16
9. डॉ० दिलीप भस्मे, विवेकी राय के साहित्य में ग्रामांचलिक जन जीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर 2006, पृ० 16
10. डॉ० नगीना जैन, आंचलिकता और हिंदी उपन्यास, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि० दिल्ली 1976, पृ० 17
11. डॉ० सत्यकाम, माटी की महक, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली 1994, पृ० 35-36
12. नव निकष (मासिकी-पत्रिका, फरवरी, 2017), डॉ० लक्ष्मीकांत पांडेय (प्रधान संपादक), गाधीग्राम: त्रिमूर्ति मंदिर, कानपुर, पृ० 10
13. विवेकी राय, सोना माटी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ० 10
14. वही, पृ० भूमिका
15. वही, पृ० 40
16. वही
17. वही, पृ० 180-181
18. वही, पृ० 180
19. वही, पृ० 160
20. वही, पृ० 36

21. वही, पृ० 203
22. वही, पृ० 208
23. वही, पृ० 209
24. वही, पृ० 231
25. वही, पृ० 268-269
26. वही, पृ० 289
27. वही, पृ० 165
28. वही, पृ० 165
29. वही, पृ० 167
30. वही, पृ० 168
31. वही, पृ० 169
32. वही, पृ० 170
33. वही, पृ० 170
34. वही, पृ० 171
35. वही, पृ० 172
36. वही, पृ० 326
37. वही, पृ० 394
38. वही, पृ० 154
39. वही, पृ० 188
40. वही, पृ० 257
41. वही, पृ० 279
42. वही, पृ० 400
43. वही, पृ० 313
44. वही, पृ० 314
45. वही, पृ० 332
46. वही, पृ० 78
47. वही, पृ० 245
48. वही, पृ० 314
49. वही, पृ० 313
50. वही, पृ० 448

मो० 9878550034

नवजागरण के प्रहरी निबंधकार बालकृष्ण भट्ट

डॉ० रमेशकुमार

एसोशिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

ज०ने०रा० महाविद्यालय, पोर्ट ब्लेयर 744103

अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूह

बालकृष्ण भट्ट हिंदी नवजागरण के प्रसिद्ध लेखक, विचारक, आलोचक और निबंधकार के रूप में ख्यात रहे हैं। हिंदी प्रदेश में उनके समकालीन समकालीन लेखक भारतेंदु हरिश्चंद्र, 'पुनर्जागरण' के अग्रदूत तथा सूत्रधार रहे थे। बालकृष्ण भट्ट ने भारतेंदुयुग और द्विवेदीयुग की संधि-बेला पर लिखना प्रारंभ किया और दोनों युगों में उत्कर्ष लेखनी के बल पर प्रसिद्ध भी हुए। 'हिंदी प्रदीप' का संपादन, जागृति और लेखन की चेतना का दायित्व भट्ट जी पर ही था। उनकी कलम भारतीय स्वाधीनता, जातीय एकता, सामाजिक स्वावलंबन और आत्मगौरव का बोध कराती थी। उन्होंने लगभग एक हजार से अधिक आलेख और निबंध लिखे हैं, जो उनकी सृजनात्मक प्रतिभा, स्वाधीन चिंतन और बहुआयामी अध्ययन को व्यक्त करते हैं। उन्होंने साहित्य की कई विधाओं में लिखा है—कहानी, नाटक, प्रहसन और उपन्यास। स्वाभिमानी पत्रकार और विचारक होने के कारण उनकी प्रतिभा का विकास उनकी निबंध-कला में हुआ। उन्होंने अपने लंबे 33 वर्षों के अनुभवों से 'हिंदी प्रदीप' को ज्ञान, विज्ञान, खगोल, इतिहास, धर्म, साहित्य, दर्शन और भाषा जैसे मुद्दों से समृद्ध किया। हिंदी प्रदीप, सरस्वती, मर्यादा और नागरी प्रचारिणी आदि पत्रिकाओं में उनके आलेखों और निबंधों का निरंतर प्रकाशन होता था। उनके निबंधों को समय-समय पर अनेक संकलनों में प्रकाशित किया गया। 'साहित्य-सरोज' (सं० पं० लक्ष्मीकांत भट्ट) जो अभी अनुपलब्ध है। 'साहित्य सुमन' (सं० पं० लक्ष्मीकांत भट्ट), भट्ट निबंधावली भाग-1, 2 (सं० धनंजय भट्ट), भट्ट निबंधमाला, भाग-1, 2 (सं० धनंजय भट्ट) और बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि संकलन (सं० सत्यप्रकाश मिश्र /प्रधान सं० नामवर सिंह) प्रमुख हैं।

बालकृष्ण भट्ट के निबंधों के वैचारिक आधार में देशप्रेम, राष्ट्रीय भावना, भारतीय जातीय एकता का भाव और पराधीनता का विरोध तथा स्वाधीनता का प्रबल स्वर उभरा था। उत्तर भारत में 1857 के विद्रोह का व्यापक प्रभाव जनमानस में था। बालकृष्ण भट्ट नवजागरण की उस बेला में कर्मठ और सक्रिय होकर संघर्ष करते रहे। उन्होंने देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक समस्याओं पर स्वतंत्र चिंतन किया तथा समस्याओं के निवारण में अपनी स्वतंत्र बौद्धिक दृष्टि को जन्म दिया। उन्होंने शास्त्रों की जड़ताओं, अंधश्रद्धाओं,

नकली परंपराओं, सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं का कड़ा विरोध किया। सनातन धर्म के कर्मकांड, जातिप्रथा, बाल-विवाह, स्त्री-अशिक्षा, प्राचीन लीक पीटना, धार्मिक उन्माद या कट्टरता जैसी विसंगतियों पर प्रहार भी किया। अपने युग की सामूहिक समस्याओं के प्रति उनमें क्रांतिकारी सोच विद्यमान थी। आप सनातन धर्म या आर्यसमाज के पूर्णतः समर्थक न थे। हालाँकि गर्मदल के अवश्य समर्थक थे। देश और समाज में परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा और जागृति को महत्त्व देते थे। उनके निबंधों में देश की धड़कन, नवजागृति की चेतना और लोकसमाज के प्रति सहृदयता का भाव उभरता है। आपने विषय-प्रधान और व्यक्ति-प्रधान दोनों तरह के निबंध लिखे हैं। उनके राजनीतिक निबंधों में भारत की दुर्दशा तथा दलित-पतित होने के कारणों की चिंता, भावी राष्ट्र-निर्माण की नीति, अतीत की गौरवशाली परंपरा की प्रेरणा, वर्तमान व्यवस्था के कानून, शिक्षा, प्रेस एक्ट, पुलिस आदि मुद्दों पर उनकी वैचारिक दृष्टि का बोध होता है। उन्होंने सामाजिक सुधार और धार्मिक विषय को आधार बनाकर भी निबंध लिखे। मनुष्य के नैतिक गुणों, दार्शनिक चिंतन, धार्मिक पर्वों और मनोविज्ञान की परिपाटी पर भाव-प्रवहन निबंधों का सृजन भी किया। हिंदीभाषा, संस्कृत साहित्य, वर्तमान साहित्य की विधाओं के प्रश्नों, खड़ीबोली का गद्य-पद्य साहित्य और काव्यशास्त्रीय पक्षों पर स्वतंत्र साहित्यिक निबंधों का भी लेखन किया। उनके निबंध जीवन के अनुभवों से भरपूर, बौद्धिक तर्क-वितर्क से भरे हुए, स्वतंत्र चिंतन से ओत-प्रोत, प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप से मंडित और नवीन गद्य शैली के जीवंत उदाहरण भी हैं।

बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में देश की पराधीनता की कड़वी सच्चाइयाँ व्याप्त हैं। भारत की पराधीनता का मूल कारण जातीयता (राष्ट्रीयता) का अभाव था। जाति और धर्म की फूट ने पराधीनता को जन्म दिया। उनके राजनीतिक-सामाजिक निबंधों में राष्ट्र-भावना और देशप्रेम का भाव-समुद्र की तरह उमड़ता है। उनके निबंधों में 'दुर्भिक्ष दलित भारत', 'हमारी परिवर्तन विमुखता', 'समाज बंधन', 'मुल्क की तरक्की क्या चीज है', 'पुलिस', 'नए तरह का जुनून', 'चलन की गुलामी', 'आत्मनिर्भरता' और 'देश या जाति की तरक्की शिल्प वाणिज्य तथा विद्या वृद्धि सब साथ-साथ चलती है' आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'दुर्भिक्ष दलित भारत' (1896 ई०) निबंध में अन्नसंकट, भुखमरी, प्राकृतिक आपदा, खेती पर सरकारी लगान, करोड़ों रुपए का अनाज (गेहूँ) इंग्लैंड निर्यात तथा विदेशी वस्तुओं पर भारी टैक्स की चर्चा हुई है। निबंधकार ने हिंदुस्तान के करोड़ों भूखे-नंगे आदमियों की गहरी संवेदना के दृश्य व्यक्त किए हैं—'हिंदुस्तान की करोड़ों दीन प्रजा भूखों मरें और इंग्लैंड के पेट भरे लोग इन भुखड़ों की रोटी छीन गुलछरें उड़ावें।' उपनिवेशवादी सत्ता ने भारतीय कृषि और शिल्प की वस्तुओं को अधमरा बना दिया था। कोई भी देश ज्ञान, विज्ञान और तकनीक के बल पर विकास करता आया है। प्राचीन भारत जो शिक्षा, सभ्यता और भौतिक संपन्नता से समृद्ध था, संस्कृत और यूनानी भाषाएँ कभी ज्ञान के स्रोत थे। आर्यजाति के प्रसिद्ध दार्शनिक कपिल, कणाद, गौतम बुद्ध, जिन, शंकर प्रभृति आदि रहे हैं। निबंधकार ने अपने निबंध 'देश या जाति की तरक्की' में सिद्ध किया है कि भारत से ही समस्त विद्या, विज्ञान, शिल्प और सभ्यता के स्रोत पूर्व से पश्चिम गए। भारत के लोगों की अधोगति में सामाजिक कुरीतियाँ जैसे कि बाल-विवाह,

बहुविवाह प्रथा, जाति-प्रथा और धार्मिक अंधश्रद्धाएँ व्याप्त थीं—‘पर हमने वर्षों तक मनन कर यह दृढ़ निश्चय कर रखा है कि देश का उद्धार केवल इस कुरीति के उठा देने से होगा।’² आधुनिक शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के बल पर देश उन्नति कर सकता है। स्वाभिमान और आत्मगौरव का भाव नैतिक शक्ति प्रदान करता है—‘हमारे में पदाघात सहते-सहते स्वतंत्रता का अंकुर भी अब न रहा, जो सतेजकता स्फूर्ति, लोकोत्तर प्रतिभा का कारण है। अब भी हमारे इन्हीं अर्थ संतानों में न जानिए कितने विक्रम, भोज, कालिदास, भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन निकल सकते हैं।’³ जातीय गौरव का भाव निबंधकार में भरपूर रहा है।

‘मुल्क की तरक्की क्या चीज है’ (1880) नामक निबंध में सन् 1860 से लेकर 1880 तक के देश की प्रगति का मूल्यांकन किया गया है। अखबार, प्रेस, मोटरगाड़ी का आवागमन, अँग्रेजी शिक्षा, डाक-तार, सजावटी वस्तुएँ, उम्दा घड़ियाँ, मुद्रित पुस्तकें और दैनिक काम-काजी वस्तुओं का आगमन हुआ था। लेकिन इनका प्रयोगकर्ता अँग्रेज तथा भारत का संपन्न वर्ग था। निबंधकार ने नकली तरक्की पर तंज भी किया है—‘यह सब तरक्की अँग्रेजी हिकमत और तालीम के बदौलत हुई, इससे इसका सच्चा फायदा भी उन्हीं को है। हमारे हाथ तो वही खाक उड़वें चले।’⁴ इसी प्रकार उनके निबंध ‘हमारी परिवर्तन विमुखता’ (1880) में अँग्रेजी परिधानों, फैशन के महीन वस्त्र, नई-नई टमटम, बगियाँ फिटिन, घरेलू कौच पलंग, चेर-कुरसी, कालीन, वाद्य-यंत्रों में बिगुल फ्लूट, हारमोनियम, ग्रीशन-रोमन की भव्य इमारतें और यूरोप की बढ़ती वैज्ञानिकता का विवेचन है। वहीं भारत के लोग मोटी गजी की धोती, गाढ़े की मिरजई, मूँज की खटिया, धार्मिक कार्यों के लिए बिछौना, श्राद्ध में पितरों के लिए पत्ते, वाद्य-यंत्रों में शंख, ढोल और ताशा, घर के नाम पर कोठरी, विवाह में पहले आदमी गधे पर चढ़ता, फिर उसके बाद घोड़े पर सवार होता और स्त्री गहनों से लदी होने पर भी सिर पर कागज का झाबा जरूर होता आदि। भट्ट के निबंधों में प्राचीनता के प्रति असंतोष-भाव रहता है, किंतु नवीनता के प्रति व्यंग्य-विनोद की सरसता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा—‘नूतन-पुरातन का वह संघर्षकाल था, जिसमें भट्ट जी को चिढ़ाने की विशेष सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल पुराने बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति अनुकूल नए विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी।’⁵

बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में धर्म, दर्शन, साहित्य और भाषा के प्रश्नों को समसामायिक संदर्भों में विवेचित किया गया। भट्टजी प्रगतिशील दृष्टि के निबंधकार हैं। उन्होंने अपने निबंधों में मौलिक विचारों को व्यक्त किया। उनके निबंधों में ‘धर्म का महत्त्व’, ‘धर्म क्या है’, ‘वेद क्या है’, ‘त्रिदेव कल्पना’, ‘पैतृक धर्म’, ‘दर्शन और उनके संबंध में मतभेद’, ‘हमारे धर्म-संबंधी खर्च’ और ‘संसार सुख का सार है, हम इसे दुःख का आगार कर रहे हैं’ आदि प्रमुख हैं। निबंधकार ने वेदों की गरिमा, ऋषियों की उदात्त भावना, निराकार ईश्वर का चिंतन, उपनिषद्, स्मृति ग्रंथों, रामायण-महाभारत, बौद्धों का अहिंसा और दया का दर्शन आदि को आर्य संस्कृति का उज्वल मस्तिष्क कहा। उनके ‘दर्शन और उनके संबंध में मतभेद’ निबंध में शास्त्रों की उपयोगिता तथा दर्शनों के व्यावहारिक उपयोग को समझाया गया है। गणित को उन्होंने शुद्ध और तर्करहित विद्या माना। उन्होंने विज्ञान अर्थात् प्राकृतिक तत्त्वों के गुण आदि को ज्ञान का

शास्त्र कहा। उन्होंने तर्क पर आधारित धर्मशास्त्र और राजनीति विद्या को स्वीकारा। उन्होंने माना कि धर्म या मत विचार की सूक्ष्मता से प्रौढ़ होते हैं और भारतीय ग्रंथ इस दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। उनके 'धर्म का महत्त्व' (1894) निबंध में धर्म की दुर्बलता, संकीर्णता और पाखंडपन का विरोध हुआ है। उन्होंने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा—'पहली बार जिस पर मनुष्य की झुकावट किंचितमात्र ज्ञानोदय और समझ के आने पर होती है वह धर्म ही है।'⁶ उन्होंने धर्म के मूल में ईमानदारी, विश्वास, भाई-चारा, स्त्री-सम्मान, नैतिक शिक्षा, स्त्रीशिक्षा, परोपकार और आत्मशुद्धि पर बल दिया। वर्तमान संदर्भों में धर्म का प्रयोजन व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा—'जिनको धर्म और ईश्वर पर पूरा विश्वास है वे ही सच्चाई, ईमानदारी, दृढ़ता, परस्त्री को माँ-बहन के तुल्य समझना, भातृ-स्नेह इत्यादि सामाजिक नियमों के पालन में दृढ़ और अटल होंगे। सुतराम समाज में सर्वसम्मत और दूसरों के लिए उदाहरण भी वे ही होंगे।'⁷

बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में स्त्री-जागरण, स्त्री-शिक्षा, स्त्री-अधिकार और नारी-शक्ति को विशेष महत्त्व मिला। नारीविषयक निबंधों में 'हमारी ललनाओं की शोचनीय दशा', 'स्त्री-शिक्षा', 'स्त्रियाँ और उनकी शिक्षा', 'पत्नीस्तत्व' आदि प्रमुख हैं। स्त्री की शोचनीय दशा का मूल कारण स्त्री का अनपढ़ होना, बाल-विवाह, विधवा-विवाह का प्रतिरोध, सनातन धर्म की रूढ़ियों तथा अंधश्रद्धाओं के कारण अधिकारों से वंचित समाज के शिक्षित परिवारों में पुरुष को अँग्रेजी शिक्षा, विलायत गमन और ऊँचे पद मिलते हैं। वहीं स्त्री पद में बंद, परतंत्र, अशिक्षित और घरेलू कार्यों में लिप्त रही। बालकृष्ण भट्ट ने स्त्री की शोचनीय दशा का मार्मिक चित्रण किया। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और थियोसोफिकल जैसी समाजसेवी संस्थाओं के रहते हुए भी स्त्री के जीवन में सुधार न हो सका। भट्ट जी ने सामाजिक विषमता पर आधारित स्त्री-पुरुष की गैर-बराबरी पर व्यंग्य की बरसात कर दी—'बाबू साहब छंदान तोड़ विलायत की राह सुधारने के लिए कदम उठाए हुए हैं, बबुआइन घर बैठी गोबर ही पाथती रहीं। बाबू साहब, लाला साहब मिस्टर सो एंड सो कहे जाने की उमंग में फूले नहीं समाते, ललाइन कौआ हकनी ही रही आई।'⁸

भारतीय समाज की सामूहिक समस्याओं पर उनकी लेखनी प्रबल होकर चली। समाज की उन्नति में बाधक बाल-विवाह, बहुविवाह, दहेज-प्रथा, अशिक्षा, जाति-प्रथा और अंधविश्वासों के जाल हैं। एक ओर उन्होंने भारतीय समाज को जातीयता के सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया, वहीं दूसरी ओर समाज की असमानताओं और विषमताओं के प्रति प्रहार भी किया। उनके सामाजिक निबंधों में 'जातीयता', 'बाल्यविवाह', 'जात-पाँत', 'जातियों का अनूठापन', 'हमारी गुदड़ी के लाल', 'जातीयता के गुण', 'चली-सो चली', 'अँग्रेजी तालीम', 'जातीय शिक्षा' और 'परदा' आदि प्रमुख हैं। वर्तमान समाज-व्यवस्था में जातिप्रथा एक कोढ़ बन चुकी है। पहले वर्णाश्रम व्यवस्था तथा गोत्रों को महत्त्व मिला। तत्पश्चात् जातियाँ तथा उनकी उपजातियाँ व्यवसायपरक बनकर रूढ़ हो गईं। जातिभेद के शोषण और अन्याय से मुक्त हुए बिना राष्ट्र को एक सूत्रता में नहीं रख सकते। जात-पाँत निबंध में लेखक ने ऐसी विषमताओं पर चोट की है—'जैसा बेहूदा तरीका बिरादरी का इस समय प्रचलित है, उससे कभी आशा नहीं की जा सकती कि जाति-पाँत के सत्यानाश बिना हुए उन्नति की हजार-हजार चेष्टा करने पर भी हमारी या हमारे देश की कभी तरक्की होगी।'⁹ भट्ट जी ने माना कि भारत

में धर्म का विकास हुआ, किंतु राजनीतिक एकता का हमेशा अभाव रहा। जबकि पश्चिम में धर्म के स्थान पर राजनीतिक एकता ज्यादा प्रबल रही। विज्ञान, उद्योग और व्यवसाय के बल पर अँग्रेजों ने एशिया और अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित किए। भारत की आर्थिक लूट ने अँग्रेजों को समृद्धि दी। वे 'जातियों का अनूठापन' में लिखते हैं—'कभी अपनी दशा को सोचा तक नहीं, तब उससे निवृत्त होने की सामर्थ्य पाना तो बड़ी दूर रहा।'¹⁰ उनके 'परदा' निबंध में अज्ञानता, अशिक्षा, निर्धनता, भूख और परतंत्रता का प्रतिरोध हुआ है। 'हमारी गुदड़ी के लाल' (1891 ई०) निबंध में यूरोपीय युवाओं और भारतीय युवाओं की परस्पर तुलना की गई है। यूरोप में युवाओं के विकास में धर्म, जाति, समाज और परिवार के स्तर पर कोई बाधाएँ नहीं हैं, किंतु भारत में युवाओं को घरेलू परिवार के कुल-संस्कार, सामाजिक-धार्मिक बंधन और आर्थिक विषमताओं के चलते अवसर प्राप्त नहीं होते, उनका समुचित विकास नहीं हो पाता। आधुनिक शिक्षा ने युवाओं को प्रतिभावान बनाया। देश और समाज के प्रति उनके कर्तव्यों की निष्ठा बनी। अपनी योग्यता और कर्मठता से उसने यूरोपियन युवाओं को भी पीछे छोड़ दिया। देश का भार ऐसे युवा पर ही था—'कौम की तरक्की और देश का फिर से अभ्युत्थान सब इन्हीं पर निर्भर है। इसी से हम इन्हें गुदड़ी के लाल कहते हैं।'¹¹ उन्होंने अपने निबंध 'अँग्रेजी तालीम' और 'जातीय शिक्षा' में भारतीय शिक्षा, भारतीय भाषा, भारतीय साहित्य और जातीय विश्वविद्यालय की पक्षधरता व्यक्त की। वे जर्मनी के विज्ञान, जापान की तकनीक और अमरीका के शिल्प विज्ञान को अपनाने पर बल देते थे। दुनिया के देशों ने अपनी-अपनी भाषाओं में ही अपना विकास किया है। नई पीढ़ी में राष्ट्रीयता या जातीयता का स्वाभिमान जग सके, इसके लिए राष्ट्रीय या जातीय विश्वविद्यालय बनाए जाने पर बल दिया—'बालकों में जातीयता का भाव पैदा करने को और उन्हें अपनी जाति या समाज में उत्तम नागरिक बनाने को हमें चाहिए जातीय विश्वविद्यालय National University स्थापित कर जातीय शिक्षण का प्रचार करें।'¹²

बालकृष्ण भट्ट ने मनोवैज्ञानिक तथा नैतिकता-संबंधी अनेक निबंधों का लेखन किया। ऐसे निबंधों में प्रमुखतः 'आचरण', 'ईमानदारी', 'आत्मगौरव', 'प्रतिभा', 'आत्मनिर्भरता', 'ज्ञान और भक्ति', 'नीचपन क्या है', 'प्रकाश', 'मनोविज्ञान', 'जबान, बोध, मनोयोग और युक्ति', 'कौलीन्य और सद्वृत्त' आदि हैं। 'नीचपन क्या है' निबंध में बताया है कि मनुष्य के व्यवहार से ऊँच-नीच प्रकट होती है, नीचता वहाँ निवास करती है, जहाँ उच्चता हिमालय को तुच्छ सिद्ध कर दे, जो व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा और बात से उच्चता ग्रहण करे तथा रूप के लिए अपना सब-कुछ गँवा दे, वह नीचता है। लेखक ने उच्चता और नीचता को मनुष्य के गुण-अवगुण की प्रवृत्ति के आधार पर सिद्ध किया। 'आत्मनिर्भरता' निबंध में भट्ट जी ने भारत को आत्मनिर्भर बनाने, परतंत्रता का विरोध, जातीयता का गौरवगान, समाज के कुसंस्कार और कुप्रथाओं का विरोध, औरतों की अशिक्षा और जाति-प्रथा का विरोध आदि पर चिंतन किया है। प्राचीन देवता, संतों और समाज-सुधारकों के उज्ज्वल चरित्रों से देश में परिवर्तन की लहर आएगी। 'नवजागरण की बेला में' निबंध में महापुरुषों का स्मरण करते हुए भट्ट जी कहते हैं—'हमारे यहाँ भी शंकर, नानक, कबीर, कृष्ण, चैतन्य, बुद्धदेव तथा हाल में स्वामी दयानंद, जिनका बड़प्पन हम लोग मुक्तकंठ हो स्वीकार करते हैं और जिनका नाम लेते चित्त गद्गद् हो जाता है, सबके सब गृहस्थी के बोझ से

स्वच्छंद थे।¹³

बालकृष्ण भट्ट के अनेक निबंधों में हिंदी, संस्कृत भाषा के साहित्य का विवेचन हुआ है। प्रमुख निबंधों में 'हमारी मातृभाषा', 'खड़ीबोली का पद्य', 'समाचार-पत्र की आवश्यकता', 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है', 'भाषाओं का परिवर्तन', 'ग्रामीण भाषा', 'भाषा कैसी होनी चाहिए', 'सभ्यता और साहित्य', 'सच्ची कविता' और अन्य शास्त्रीय पक्षों पर आधारित निबंध हैं। उन्होंने 'हिंदी प्रदीप' में विज्ञान-संबंधी (प्रकाश, वायुमंडल, भूगर्भ विज्ञान, विद्युत और न्यूटन की आकर्षण-शक्ति) विषयों पर भी निबंध लिखे। उन्होंने संस्कृत साहित्य के वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, बौद्धग्रंथों तथा नाना दर्शनों का विवेचन किया। उन्होंने आर्य संस्कृति के जातीय भाव और मूल्यों को स्थापित किया। उन्होंने भाषाओं के परिवर्तन में संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश आदि का न केवल विवेचन किया, बल्कि हिंदीभाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति पर भी प्रकाश डाला। लेखक ने ग्रामीण भाषा के माध्यम से हिंदी की ठेठ शब्दावली, वाक्यों, मुहावरों को सहज अपनाने पर बल दिया। मातृभाषा की मिठास भी अपनी बोली या स्थानीय भाषा में आ पाती है। लेखक हिंदीभाषा के लिए बाहरी (आगत) भाषा के शब्दों को अपनाने पर बल देता है। इसीलिए लेखक ने अपने निबंधों में बहुभाषा की शब्दावली, वाक्यों, मुहावरों, कहावतों, लोककथाओं और लोककथनों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। भाषा के विकास के लिए जड़ता और एकांगीपन को दूर करना आवश्यक है।

बालकृष्ण भट्ट के निबंधों की भाषा स्थानीय पूर्वी बोली की शब्दावली, ब्रज की शैली और शब्दों के प्रयोग, लोकप्रचलित कहावतों और मुहावरों की धारदार अभिव्यक्ति, उर्दू, फारसी, अँग्रेजी और संस्कृत के भरमार वाक्यों और शब्दों के उन्मुक्त प्रयोग, कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दावली की काव्यात्मकता और भावात्मक भाषा की मधुरता से भरी हुई है। भट्ट जी की भाषा में विचारगांभीर्यता, विवेचनात्मकता, भावनात्मकता और अनुभवशीलता का सशक्त रूप उभरा है। उनके निबंधों की संवेदना में जातीयता का ओजस्वी गुण, लोकभाषा की कांति और युगीन समस्याओं के प्रति विद्रोह का स्वर उभरता है। हास्य-विनोद का मिश्रण तथा व्यंग्य की तीखी भाषा ने उनके निबंधों को ज्यादा प्राणवान बना दिया।

बालकृष्ण भट्ट की काव्यात्मक भाषा में प्राकृतिक सौंदर्य, हृदय की निश्छल भावुकता और सजीवता के दर्शन होते हैं—'प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिभा देख उनके सीधे-सादे चित्त ने बिना कुछ विशेष छानबीन किए इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। इसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित विहंग-कूजन समान कल कलरव से प्रकृति की प्रभात वंदना का साम गाने लगे।'¹⁴ भट्ट जी की भाषा प्रकृति के सौंदर्य से संपन्न होकर उन्मुक्त हो उठती है। तब अनायास उनकी शब्द-रचना अलंकृत बन जाती है, उनके हृदय के उद्गार नदी के प्रवाह की तरह बहने लगते हैं। उपमा और मानवीकरण, अलंकृत भाषा का बोध देखिए—'उस समय मुख विकसित कमल-सा प्रफुल्लित, नेत्र मानो हँसता-सा, और अंग-अंग चुस्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कंठध्वनि भी तब बसंत-मदमस्त कोकिला के कंठरव से भी अधिक मीठी और सोहावनी मन को भाती है।'¹⁵

दैनिक जीवन के व्यवहृत में प्रयोग होनेवाले मुहावरों और कहावतों की लड़ी उनके

निबंधों में देखी जा सकती है—‘गाँठ का एक पैसा बिना गँवाए मीठी जबान लाखों का फायदा सहन में कर सकती है—कागा का क्रोधन हरै कोयल का को देय। मीठो वचन सुनाय के यश अपनो कर लेय।’¹⁶ भट्ट जी भाषा में न केवल उर्दू, फारसी और अँग्रेजी के अनेक शब्दों और वाक्यों को प्रयोग में लाते हैं, बल्कि इसका प्रभाव भी रहता है—‘कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमियों के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह कौम की तनजुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है।’¹⁷

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य को नया संस्कार दिया। उनके निबंधों में उनका व्यक्तित्व उभरकर आता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व के बल पर उनके निबंध उच्च श्रेणी के हैं। उनके निबंधों में कहीं व्यंग्यात्मक शैली का प्रहार उभरता है, कहीं हास्य-विनोद के मार्मिक प्रसंग होते हैं, कहीं सरल शब्दों और वाक्यों के लिए प्रसाद शैली के दर्शन होते हैं, कहीं विचारात्मक विषय के प्रतिपादन में तर्क, युक्ति और विवेक के प्रयोग में विवेचनात्मक शैली प्रयुक्त होती है और कहीं भाव और विचारों के प्रवाह में उन्मुक्त आवेग शैली का महत्त्व उभरता है। कुल मिलाकर भट्ट जी के निबंध संवेदना, कथ्य और शिल्प की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। नवजागरण की भावना से उन्होंने हिंदी प्रदेश को नया वैचारिक आयाम दिया। उनका गद्य साहित्य नवीनता की दृष्टि से ओत-प्रोत है।

संदर्भ

1. बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, सं० सत्यप्रकाश मिश्र, नामवर सिंह
2. वही, पृ० 118
3. वही, पृ० 117
4. वही, पृ० 14
5. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० 306
6. बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, सं० सत्यप्रकाश मिश्र प्र०सं० नामवर सिंह, पृ० 93
7. वही, पृ० 94
8. वही, पृ० 101
9. वही, पृ० 37
10. वही, पृ० 51
11. वही, पृ० 69
12. वही, पृ० 154
13. वही, पृ० 88
14. वही, पृ० 16
15. वही, पृ० 15
16. वही, पृ० 104
17. वही, पृ० 84

मो० 09476030843

rk1966s@rediffmail.com

राष्ट्रीय आंदोलन और सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं के प्रति पत्रकारिता का रवैया

अरुण रंजन
शोधार्थी (हिंदी विभाग)
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

खींचों न कमानों को, न तलवार निकालो
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

राष्ट्रीय आंदोलन और पत्रकारिता की जब हम बात करते हैं, तो यह देखने को मिलता है कि भारतीय पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की कहानी है। दोनों की विकास-यात्रा एक-दूसरे की सहायक रही हैं। यदि पत्रकारिता को राष्ट्रीयता ने प्रतिष्ठित किया तो पत्रकारिता ने भी राष्ट्रीयता के विकास की अनुकूल भूमि तैयार की। इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास के साथ ही पत्रकारिता का भी अपेक्षित विकास हुआ।

यदि हम भारतीय पत्रकारिता के इतिहास पर एक नजर डालें तो इससे प्रतीत होता है कि भारतीय पत्रकारिता का उद्भव व विकास सामाजिक चेतना व राष्ट्रभक्ति को लेकर हुआ, जो बाद में स्वाधीनता को लेकर इसने जनचेतना जगाने के साथ-साथ हमें अपने अधिकार पाने का भी रास्ता दिखाया। धीरे-धीरे इसने अंग्रेजी सरकार के खिलाफ भारतीय समाज में क्रांति लाने का भी काम किया। तत्कालीन पत्रकार इस क्रांतिकारी कार्य को आगे बढ़ा रहे थे और अपने कर्तव्यों को बहुत मजबूती के साथ धीरे-धीरे ही सही, निरंतर जनजागरण के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन पर बल दे रहे थे। इसी बीच भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के आगमन से हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलता है। इन्होंने न केवल सामाजिक, सांस्कृतिक अपितु उस समय भारतीय समाज में व्याप्त प्रत्येक कुसंस्कार को दूर करने के साथ-साथ भारतीय नवजागरण और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को भी अपनी पत्रकारिता के माध्यम से सशक्त किया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा और स्त्री-पुरुष समानता की ओर अपनी लेखनी को दृढ़ किया। भारतीय अस्मिता के गौरव और महिमा की ओर भारतीयों की चेतना को प्रोत्साहित करने का काम उनकी पत्रकारिता का मूल उद्देश्य रहा है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपनी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' के मुखपृष्ठ पर छपनेवाले सिद्धांत वाक्य के माध्यम से अपनी पत्रकारिता का स्वरूप देना चाहा और इसके माध्यम से सांस्कृतिक परिवर्तन की झलक देने की कोशिश की—

खलगनन सों सज्जन दुखी मति होइं, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै, सत्त्व निज भारत गहै, कर दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता, सुकविजन की अमृतबानी सब कहै।

इसी प्रकार पंडित बालकृष्ण भट्ट ने अपनी पत्रिका 'हिंदी प्रदीप' के सिद्धांत वाक्य के माध्यम से ही यह सूचना दे दी कि इस पत्रिका में भी सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की तरफ ज्यादा ध्यान दिया गया है—

शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट हवै आनंद भरै।
बचि दुसह दुरजन वायुसों मणिदीप सम थिर नहीं टरै।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामैं जरै।
हिंदी प्रदीप प्रकाशि मुखतादि भारत तम हरै।

भारतेंदुयुग में लगभग सभी पत्रकार साहित्यकार थे या कहें तो प्रत्येक साहित्यकार पत्रकार थे। इस युग के सभी पत्रकारों को पत्र-प्रकाशन में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा था, फिर भी तमाम समस्याओं से जूझते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर निरंतर संघर्षशीलता के साथ इन्होंने अपने क्रांतिकारी चिंतन को भारतीय जनता तक पहुँचाने का काम किया। तत्कालीन पत्रकारिता सामाजिक परिवर्तन के प्रति दृढ़ समपत थी। पूरा साहित्य-समाज इस परिवर्तन के उद्देश्य को पूरा करने में अपना योगदान तन्मयता से दे रहा था।

पत्र-प्रकाशन को लेकर डॉक्टर मीरारानी बल का मत है 'यद्यपि तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता में आधुनिक पत्रिकाओं के समान भव्य साज-सज्जा, नयनाभिराम चित्रांकन, इंद्रधनुषी विज्ञापनों की भरमार, हजारों-लाखों में प्रसार संख्या, व्यावसायिक अर्थनिष्ठा एवं विषय-विशेषज्ञता आदि विशिष्टताओं के दर्शन ढूँढने पर भी नहीं मिलते, तथापि इसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है—इसकी प्रखर राजनीतिक चेतना, निरंतर संघर्ष-शीलता और प्रौढ़ क्रांतिकारी चिंतन में। इसकी उत्कृष्टता के प्रमाण मिलते हैं—इसके सशक्त संपादकीय तथा जातीय भाषा और जातीय (राष्ट्रीय) हित के लिए पूर्ण समर्पण एवं अपनत्व-भाव में। इसके वैचारिक प्रभाव से ही आगामी पत्रकारिता के आदर्श मानदंड ढले, उसे सही दिशा मिली।'

भारतीय पत्रकारिता का उदय राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत करने के लिए ही हुआ। व्यावसायिक उद्देश्यों से दूर त्याग, तपस्या और बलिदान की भावना इसमें मुख्य थी। हमारी संस्कृति पर छाए हुए कुहासे को दूर कर भारतीय पत्रकारिता ने दिशाहीन समाज को दिशानिर्देशित किया तथा अतीत के गौरव से परिचित कराया। देश की चेतना को झंकृत करके भारतीयों के निराश, हताश हृदयों में आशा का संचार करने तथा हमारी जड़ और मृतप्राय भावनाओं में क्रांति अंकुरित करने में पत्रकारिता का विशिष्ट योगदान रहा है।

सांस्कृतिक शब्द संस्कृति से जुड़ा हुआ है और संस्कृति मनुष्य की संस्कारशील अवस्था का नाम है। संस्कृति वह प्रक्रिया है, जो हमारी आंतरिक रुचियों को प्रकट करती है तथा हमारे मन और मस्तिष्क को परिष्कृतियों की ओर ले जाती है। सभ्यता बाहरी उपकरण है और

संस्कृति आंतरिक गुण एवं शक्ति है। सांस्कृतिक विकास का तात्पर्य बाह्य की अपेक्षा आंतरिक गुणों के विकास से है। भारतीय पत्रकारिता ने प्रारंभ से ही समाज में व्याप्त रूढ़िवादी परंपराओं का विरोध करते हुए सांस्कृतिक धरोहर की सभी तरह के बाह्य आक्रमणों से रक्षा की और उसे सदैव सजाया-सँवारा तथा उसे निखारकर राष्ट्रीय जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग बनने में योग दिया और विश्व-स्तर पर भारतीय संस्कृति को शिल्प, कला, साहित्य, नृत्य, संगीत, योग और आत्मिक उत्कर्ष के प्रमुख माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया।

पत्र-पत्रिकाओं ने हमारी सांस्कृतिक अभिरुचियों को विकसित किया है। सांस्कृतिक अभिरुचि के अंतर्गत धर्म, नीति, दर्शन, समाज-साहित्य, खेलकूद अथवा मनोरंजन के साधनों को सम्मिलित किया जाता है। सांस्कृतिक अभिरुचि के साथ-साथ ये पत्र-पत्रिकाएँ हमें नैतिक आदर्शों और धार्मिक मूल्यों के बारे में भी प्रेरित करती हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं ने बौद्धिक, भौतिक और वैज्ञानिक चेतना को सांस्कृतिक आवरण में लपेट दिया है।

संस्कृति को लेकर प्रोफेसर आरिफ नजीर का कहना है कि 'संस्कृति राष्ट्रीयता के निर्माण में अत्यंत महत्वपूर्ण योग देती है। संस्कृति से जीवन के ढंग का बोध होता है और इसकी व्यापकता में मानव-जीवन के अनेक पहलू आ जाते हैं।'

पत्र-प्रकाशन की मूल दृष्टि को स्पष्ट करते हुए राजा राममोहन राय ने लिखा था—'मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि जनता के सामने ऐसे बौद्धिक निबंध उपस्थित करूँ, जो उनके अनुभव को बढ़ाएँ और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों। मैं अपनी शक्ति-भर शासकों को उनकी प्रजा की परिस्थितियों का सही परिचय देना चाहता हूँ और प्रजा को उनके शासकों द्वारा स्थापित विधि-व्यवस्था से परिचित कराना चाहता हूँ ताकि शासक जनता को अधिक-से-अधिक सुविधा देने का अवसर पा सकें और जनता उन उपायों से अवगत हो सके जिनके द्वारा शासकों से सुरक्षा पाई जा सकें और अपनी उचित माँगें पूरी कराई जा सकें।'

'उचित वक्ता' के संपादक पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र 12 मई 1883 ई० को 'उचित वक्ता' में देशी पत्रकारों को दायित्व-सजग करते हुए लिखा था—'देशी संपादको सावधान!! कहीं जेल का नाम सुनकर कर्तव्यविमूढ़ मत हो जाना, धर्म की रक्षा करते हुए यदि गवर्नमेंट को सत्परामर्श देते हुए जेल जाना पड़े तो क्या चिंता है, इससे मानहानि नहीं होती है। हकीमों के जिन अन्याय आचरणों से गवर्नमेंट पर सर्वसाधारण की अश्रद्धा हो सकती है, उनका यथार्थ प्रतिवाद करने में जेल तो क्या दीपांतरित भी होना पड़े तो क्या बड़ी बात है।'

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन भारतीय इतिहास में लंबे समय तक चलने वाला एक प्रमुख राष्ट्रीय आंदोलन था। इस आंदोलन की औपचारिक शुरुआत 1885 ई० में काँग्रेस की स्थापना के साथ हुई थी, जो कुछ उतार-चढ़ावों के साथ 15 अगस्त 1947 ई० तक अनवरत रूप से जारी रहा। वर्ष 1857 से भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का प्रारंभ माना जाता है। राष्ट्रीय साहित्य और देश के आर्थिक शोषण ने भी राष्ट्रवाद को जगाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

प्रथम चरण (1885 से 1905 ई० तक) इस काल में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई, किंतु इस समय तक इसका लक्ष्य पूरी तरह से स्पष्ट नहीं था। उस समय इस

आंदोलन का प्रतिनिधित्व मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी लोग कर रहे थे। यह वर्ग पश्चिम की उदारवादी एवं अतिवादी विचारधारा से प्रभावित था।

द्वितीय चरण (1905 से 1919 ई० तक) इस समय तक भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस काफी परिपक्व हो गई थी तथा उसके लक्ष्य एवं उद्देश्य स्पष्ट हो चुके थे। राष्ट्रीय काँग्रेस के इस मंच से भारतीय जनता के सामाजिक, आर्थिक, राजनीति एवं सांस्कृतिक विकास के लिए प्रयास शुरू किए गए। इस दौरान कुछ उग्रवादी विचारधारा वाले संगठनों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए पश्चिम के ही क्रांतिकारी ढंग का प्रयोग भी किया।

तृतीय एवं अंतिम चरण (1919 से 1947 ई० तक) इस काल में महात्मा गांधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने पूर्ण स्वराज की प्राप्ति के लिए आंदोलन प्रारंभ किया।

19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय नवजागरण सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित भारतीय जनमत के अंकुरण का समय कहा जा सकता है। इस दौरान खासकर 1850 ई० के बाद या कहे तो भारतेंदुयुग में बहुत ज्यादा क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलता है। इस समय संपूर्ण देश पश्चिमीकरण, वैज्ञानिक संचार-साधनों के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों से लगातार स्पर्दित हो रहा था। इसी परिवेश में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं हिंदी-पत्रकारिता का जन्म हुआ।

इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन के तीव्र संघर्ष और अँग्रेजी हुकूमत के खिलाफ जनमत एकत्र कर विद्रोह के भाव से लबालब तत्कालीन पत्रकारिता के दबंग व्यक्तित्व और प्रयासों की सराहना होनी ही चाहिए, क्योंकि राष्ट्रहित के लिए उन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की भी चिंता नहीं की थी। उस समय के संपादकों ने टूटना पसंद किया, लेकिन किसी के सामने झुकना नहीं।

जैसा कि स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आंदोलन के समय पत्र-पत्रिकाओं का प्रधान प्रयोजन धनार्जन न होकर राष्ट्रीय हित था। 'हिंदी प्रदीप' ने अपने प्रथम अंक में ही स्पष्ट किया था— 'मेरा मुख्य उद्देश्य देश की भलाई है, पत्र को प्रकाशित करने में कदापि यह प्रयोजन नहीं है कि मुझे चलाकर रूपए एकत्र करें बल्कि देश की बुराइयों का शोधन, भलाई का संचार और उन्नति महापुरुषों का मुख्य तात्पर्य है।'

19वीं शताब्दी का राष्ट्रीय आंदोलन सिर्फ भौतिक तथा राजनीति क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था, अपितु इसमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक चेतना का जुड़ाव भी था। भारत के सामाजिक जीवन के पुरातन आदर्श, जो कभी काफी मूल्यवान थे, 19वीं शताब्दी तक आते-आते जड़ होकर अपनी वास्तविक और मौलिक शक्ति खो चुके थे। उच्च शिक्षितवर्ग यूरोपीय संस्कृति और नवीन यूरोपीय सभ्यता को अपनाकर भारतीय परंपरा के बोझ से मुक्ति पाने और अपने को आधुनिक दिखाने के लिए व्याकुल थे। भारतीय समाज के इस बदले तेवर और मिजाज को देखकर यह कहा जा सकता है कि समाज अपने विस्फोटक बिंदु पर पहुँच चुका था। इस विकट समय में संवेदनशील रचनाकारों ने अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से टूटते-मूल्यहीन होते समाज की मनोदशा, सामाजिक अंतर्विरोधों का सजीव-चित्रण कर उसे आत्म-विश्लेषण और शोधन के लिए प्रेरित किया था। तत्कालीन पत्रकारिता ने उस प्रत्येक

दुखती राग को दिखाया था, जिसे पत्रकार ने स्वयं जिया, भोगा और अनुभव किया था। तत्कालीन पत्रकारिता की जीवंतता और प्रासंगिकता उनकी गहरी जीवन-दशा में ही मानी जा सकती है।

राष्ट्रीय आंदोलन के समय की पत्रकारिता का मूल उद्देश्य उस समय की आवश्यकताओं के अनुकूल समाज का यथोचित शोधन, परिष्कार, जागरण और भारतीयों में आधुनिक मानसिकता का बीजारोपण करना था। समाज के जागरण के लिए उसने गहराई से सामाजिक कुसंस्कारों और रूढ़िवादी परंपराओं के निष्कासन के लिए आंदोलन चलाया था। उस काल में व्याप्त जाति-व्यवस्था, उनके वैवाहिक कुसंस्थाओं, पर्दा-प्रथा आदि सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध व्यापक अभियान छेड़कर उसने सामाजिक जन-जागरण का प्रवर्तन किया था। अतः सामाजिक चेतना के उद्बोधन में जितनी भूमिका तत्कालीन समाज-उन्नायकों राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, दयानंद सरस्वती, रानाडे, विद्यासागर आदि की रही, उनसे अधिक नहीं तो उनके समकक्ष जरूर उस युग के पत्रकारों की भी रही। इसको हम भारतेंदु जी की पत्रिका 'बालाबोधिनी' के जो मुख्य रूप से स्त्रियों के लिए निकाला था, सिद्धांत वाक्य से समझ सकते हैं—

जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
जोई नारी-सोई पुरुष, जामैं कुछ न विभक्ति।
सीता अनुसूया सती अरुधंती-अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण-लहौ सकल जगहरि।
पितु पति सुत करतल कमल ललित ललना लोग
पढ़ै, गुनै, सीखैं, सुनैं, नासैं भव जग सोग—
वीरप्रसविनी बुध बधू, होइ हीनता खोय।
नारी नर अरधंग का-साँचेही स्वामिनी होय।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में जो सांस्कृतिक सामाजिक नवचेतना प्रतिबिंबित हुई, वह सार रूप में इस प्रकार है—

उस समय के पत्रकारों ने व्यक्ति के जीवन को समग्रता से देखने का प्रयास किया, साथ ही रूढ़िवादी परंपराओं को त्यागकर पुरातन मूल्यों को आधुनिक नवीन संदर्भों के साथ संयुक्त करके जीवन को गतिशील बनाना, समाज को परिवर्तन-विमुखता, और व्यक्ति को हीन भावना से मुक्त करके तत्कालीन जनचेतना में आत्मविश्वास और आत्म गौरव की भावना भरना और साथ ही साथ उस समय व्यक्ति के मन में पारलौकिक दर्शन घर कर गया था, उससे भिन्न इहलौकिक विचारधारा की प्रतिष्ठा एवं मानवता को महत्त्व देना उस समय के पत्रकारों ने जरूरी समझा। उस समय के पत्रकारों ने लीक से हटकर सांस्कृतिक समस्याओं से जूझने का साहस दिखाया।

पत्रकारिता देश व समाज की जनता की चित्तवृत्तियों, अनुभूतियों और आत्मा से साक्षात्कार करती हुई मानव-मात्र को 'जीने की कला' सिखाती है। सत्य की खोज में रहते हुए समाज में उदास मूल्यों की स्थापना की दिशा में पत्रकारिता की भूमिका विशेष उल्लेखनीय है।

इसका मूल लक्ष्य ही अन्याय को समाज के सामने रखना, असहाय और पीड़ितों की रक्षा एवं सहयोग तथा जनता का पथ-प्रदर्शन करना है। पत्रकारिता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चेतना के अग्रदूत बनकर जनकल्याण और विश्वबंधुत्व एवं भ्रातृत्व की भावना को विकसित करने का सशक्त माध्यम है। पत्रकारिता का यह स्वरूप प्रारंभिक दौर अर्थात् नवजागरणकालीन पत्रकारिता का रहा है, परंतु वर्तमान दौर की पत्रकारिता का स्वरूप अपने प्रारंभिक मूल्यों के पथ से विचलित दिखाई पड़ता है। भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता ने जिन मूल्यों का सृजन सामाजिक समरसता, सामाजिक परिवर्तन और विचारों में आधुनिकता उत्पन्न करने के लिए किया था, आज की पत्रकारिता उन मूल्यों को धराशायी कर समाज में तमाम विभेद पैदा कर रही है। वर्तमान पत्रकारिता सत्ता की शरण और व्यावसायिक लाभ के लिए अपने मानक मूल्यों को नकार दिया है। सत्ता और समाज के मध्य न्यायपूर्ण दृष्टि विकसित करनेवाली पत्रकारिता के समक्ष अस्तित्व का संकट पैदा हो गया है। यह हमारे समाज की नैतिक जिम्मेदारी है कि हम अपने पूर्वजों द्वारा विकसित किए गए मूल्यों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध रहें।

संदर्भ

1. कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, आठवाँ संस्करण 2011
2. डॉ॰ आरिफ नजीर, राष्ट्रीयता और भारतेंदु हरिश्चंद्र, साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1993
3. एन॰सी॰ पंत, हिंदी पत्रकारिता का विकास, राधा पब्लिकेशंस, 1994
4. कृष्णबिहारी मिश्र, पत्रकारिता इतिहास और प्रश्न, वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2013
5. डॉ॰ मीररानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2012
6. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण, 2017
7. आनंद शुक्ल, नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता, आशीष प्रकाशन, कानपुर, संस्करण, 2017

मो॰ 9565708701

स्वच्छ भारत अभियान का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (स्मार्ट सिटी जयपुर के विशेष संदर्भ में)

डॉ० भूरसिंह जाटव
प्राचार्य

सागर महाविद्यालय, पावटा (जयपुर)

प्रस्तावना और शोध समस्या का चयन

‘स्वच्छ भारत’ अभियान का उद्देश्य सिर्फ भारत को साफ-सुथरा और यहाँ के लोगों को प्रसन्न रखना ही नहीं, बल्कि इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रशंसनीय तथ्य यह है कि इसमें कई सभ्यताओं से चला आ रहा एक ऐसा प्रश्न, एक ऐसी समस्या, जिसकी जड़ें मानवीय इतिहास में गहराई तक समाई हुई हैं, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसे परिभाषित किया जाता रहा है, ‘वह है—अस्पृश्यता और स्केर्वेजिंग की समाप्ति एवं इस पेशे से जुड़े लोगों को उनका सम्मान उन्हें वापस देना।’

एक अमेरिकी संप्रत्यय के अनुसार—‘किसी राष्ट्र की उन्नति, प्रगति, विकास उस देश की स्वच्छ एवं सुदृढ़ सामाजिक एवं शैक्षिक व्यवस्था पर निर्भर करता है।’

शहर प्रत्येक राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के विकास के इंजन होते हैं। स्मार्ट सिटी का मकसद शहरी सामाजिक जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाना, स्वच्छ सामाजिक पर्यावरण उपलब्ध कराना, परिवहन-व्यवस्था को बेहतरीन बनाना, शहरों की छवि खराब करती झुग्गी-झोपड़ियों एवं मलिन बस्तियों (slums) को हटाना, झुग्गी-झोंपड़ियों में रहनेवाले लोगों को वैकल्पिक सुविधा मुहैया कराना, शहरी संसाधनों, स्रोतों और बुनियादी संरचनाओं को सक्षम ढंग से विकसित कर 2022 तक सभी को आवास उपलब्ध कराना है।

राजस्थान की लगभग 24.9 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती है। जनगणना-2011 के अनुसार भारत देश की वर्तमान जनसंख्या का लगभग 31 प्रतिशत भाग शहरों में निवास करता है, और इनका सकल घरेलू उत्पाद में 63 प्रतिशत योगदान है। ऐसी उम्मीद है कि वर्ष 2030 तक भारत की आबादी का 40 प्रतिशत हिस्सा शहरों में निवास करेगा और सकल घरेलू उत्पाद में इसका 75 प्रतिशत योगदान होगा। इसके लिए भौतिक, संस्थागत, सामाजिक व आर्थिक बुनियादी ढाँचे का व्यापक विकास करने की आवश्यकता है। ये सभी जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने एवं लोगों में निवेश को आकर्षित करने, विकास तथा प्रगति के एक बेहतर चक्र की स्थापना करने में अहम भूमिका रखते हैं। स्मार्ट सिटी मिशन में अभी तक देश के सौ शहरों को शामिल किया गया है। इसकी अवधि पाँच वर्ष (2015-16 से 2019-20) निर्धारित की गई है।

वैदिककाल में सभी वर्गों के कल्याण और उत्थान के साथ उनके लिए पानी पीने का स्थान एक होने की बात की जाती थी। मध्यकाल के बाद मानवाधिकार अधिकार-पत्र मैग्नाकार्टा (सन् 1215), अमेरिका की आजादी की घोषणा (सन् 1776) और फ्रांस की क्रांति (सन् 1789) से आरंभ हुआ। सभी देशों ने अपने संविधान में मानवाधिकार का उल्लेख किया है। किंतु सर्वत्र इसके उल्लंघन का उल्लेख किया जा रहा है, विशेषकर भारत में सबसे ज्यादा। भारत का संविधान बनानेवाली सभा की प्रारूप-समिति के अध्यक्ष डॉ॰ भीमराव अंबेडकर ने सन् 1950 में संविधान-सभा की बैठक के समापन-सत्र में कहा था—‘इस संविधान का सबसे बड़ा विरोधाभाषा यह है कि हमने इसमें जीवन की सभी अच्छी बातों और अच्छे व्यवहारों को शामिल किया है, पर कल से हम ही इसका उल्लंघन करेंगे, जैसा कि पहले से करते आ रहे हैं।’

मानवाधिकार की अवहेलना का सबसे ज्यादा शिकार सिर पर मैला ढोनेवाले बने, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी से मानव-मल को साफ करने और उसे अपने सर पर ढोने का कार्य बिना किसी विरोध के करते आ रहे हैं। छोटे शहरों में ये रहस्यमय लोग मुँह बंदकर अँधेरे में सँकरी गलियों से जल्दबाजी में शुष्क शौचालयों को साफ करते हैं।

भारत में सर्वप्रथम गांधीजी ने इस समस्या को समझा और उनके प्रति गहरी संवेदना रखते हुए उनके सर्वांगीण विकास के लिए पहल की। तत्पश्चात् सुलभ-संस्थापक डॉक्टर बिदेश्वर पाठक ने एक बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाया, जिसमें उन्होंने मैला ढोने की प्रथा से मुक्ति के लिए दो गड्ढेवाली शौचालय-तकनीक को विकसित किया। उन्होंने मैला ढोनेवाले परिवारों के बच्चों के लिए अँग्रेजी-माध्यम का स्कूल खोला और राजस्थान के अलवर एवं टोंक में व्यावसायिक प्रशिक्षण-केंद्रों का निर्माण कराया। इसके अलावा उन्होंने ऐसे सामाजिक अंगीकरण की योजना अपनाई, जहाँ संभ्रांत लोग मैला ढोनेवाले परिवारों को गोद लेकर उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ते हैं और उन्हें मंदिर एवं अन्य स्थानों पर ले जाने जैसे कई अन्य उपाय करते हैं, ताकि उन्हें सवर्ण के समान दर्जा मिल सके। हालाँकि ये सभी प्रयास सुलभ-स्वच्छता एवं सामाजिक सुधार के शौचालय-निर्माण जैसे मुख्य कार्य से अलग हैं।

इन दिनों देश में ‘स्वच्छ भारत’ अभियान जोरों पर है। इसकी सफलता तभी संभव है, जब हर घर में शौचालय बनाया जाए, ताकि खुले में शौच करने की परंपरा समाप्त हो। इस दृष्टि से भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी का योगदान अहम है। प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी द्वारा 2 अक्टूबर, 2014 को प्रारंभ किया गया ‘स्वच्छ भारत’ अभियान का उद्देश्य है देश को स्वच्छ बनाना तथा 2 अक्टूबर, 2019 तक देश के शत-प्रतिशत परिवारों को स्वच्छता की सुविधा उपलब्ध कराना, जो महात्मा गांधी के 150वें जन्म वर्ष पर उनके लिए एक उपयुक्त श्रद्धांजलि होगी।

शहरों की बढ़ती आबादी, समस्या की गंभीरता तथा कचरे के सही निपटान के लिए जागरूकता और रुचि के अभाव से बढ़ती गंदगी के अंबार शहरों में जगह-जगह दिखते रहे हैं। ‘निर्मल भारत अभियान’ योजना के अंतर्गत पेयजल तथा स्वच्छता-मंत्रालय के आँकड़ों

के अनुसार, 72 घरों में (9.04 करोड़) शौचालय हैं, जबकि 2011 ई० की जनगणना के आँकड़े 30.7 प्रतिशत हैं। मंत्रालय ने इसके लिए एक उच्चस्तरीय समिति गठित की, जिसके 2012 वर्ष के सर्वेक्षण के अनुसार, शौचालय वाले घर 40.6 प्रतिशत तथा शौचालय-रहित घर 59.4 प्रतिशत हैं।

देश की 2.4 लाख ग्राम-पंचायतों में से 1.95 लाख पंचायतों का सर्वेक्षण मंत्रालय-द्वारा कराया गया, उनमें 1.72 लाख अस्वास्थ्यकर शौचालयवाले घरों में से 1.01 लाख घरों में साफ-सुथरे शौचालय बनाए गए।

वर्ष 2011-2012, 2012-13 तथा 2013-2014 में ग्रामीण क्षेत्रों 1,83,320 घरेलू शौचालय, 2,36,563 स्कूलों में शौचालय तथा 87,404 आँगनबाड़ियों में शौचालय बनाए गए। मंत्रालय की योजना के अनुसार, घरेलू शौचालय-निर्माण के लिए 12,000 रुपए के इन्सेंटिव की व्यवस्था है, जिसमें से 9,000 रुपए केंद्रीय हिस्सा (10,800 रुपए विशेष वर्ग के राज्यों का हिस्सा निहित है।) और राज्य का हिस्सा 3,000 रुपए 90 रु० 10, गरीबी-रेखा के नीचे तथा ऊपर के वर्गों के लिए। सामुदायिक शौचालयों के निर्माण के लिए प्रति इकाई लागत 2 लाख रुपए का प्रावधान है।

‘स्वच्छ भारत’ अभियान के शहरी भाग के लिए अनुमानित लागत 62,009 करोड़ रुपए आँकी गई है, जिसमें केंद्र-सरकार का अंश 14,623 करोड़ रुपए बताई जाती है, इसकी 25 प्रतिशत राशि (4874 करोड़) राज्यों द्वारा दिया जानेवाला न्यूनतम अंश आँका गया है। शेष भाग निजी उद्योगों की हिस्सेदारी, लाभान्वितों द्वारा अंशदान, कॉर्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी, मार्केट वौराइंग अथवा विदेशी सहायता के माध्यम से संभव होने की आशा रखी गई है।

स्वच्छ भारत अभियान के महत्त्वपूर्ण पक्ष निम्नानुसार हैं—

1. देश के ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में जीवन की सामान्य गुणवत्ता में सुधार लाना।
2. खुले में शौच को पूरी तरह समाप्त करना।
3. अस्वास्थ्यकर शौचालयों को पोर-फ्लश शौचालयों में बदलना।
4. हाथों से मानव-मल की सफाई को पूरी तरह समाप्त करना।
5. नगरीय कचरे को पूरी तरह इकट्ठा करना तथा वैज्ञानिक ढंग से उसका निष्पादन, जिसमें पुनःप्रयोग की भी गुंजाइश हो।
6. स्वच्छता-हेतु स्वास्थ्यकर आदतों के प्रति लोगों में जागरूकता लाना, जिससे इस दिशा में उनके व्यवहार में परिवर्तन आए।
7. स्वच्छता की सुविधाओं को प्रोत्साहित करने हेतु स्वास्थ्य से संबद्ध शिक्षा एवं जन-स्वास्थ्य से जुड़ी जानकारी के जरिए समुदायों को जागरूक तथा प्रोत्साहित करना।
8. पर्यावरणीय दृष्टि से सुरक्षित तथा स्थायी स्वच्छता के लिए लागत प्रभावी तथा उपयुक्त तकनीक को प्रोत्साहित करना।
9. पूँजीगत तथा संचालन-साधारण-निवेश के लिए निजी क्षेत्र की भागीदारी के लिए उपयुक्त माहौल बनाना।

10. व्यापक रूप से स्वच्छता की दिशा में ठोस तथा तरल कचरा-प्रबंधन-हेतु सामुदायिक प्रबंधन के साथ पर्यावरणीय स्वच्छता व्यवस्था विकसित करना।

शोध समस्या का चयन

किसी भी शोधकार्य के लिए अध्ययन-क्षेत्र का चयन उसकी स्थिति व अवस्थिति को ध्यान में रखते हुए किया जाता है। प्रस्तावित शोधकार्य हेतु जयपुर शहर का चयन भी इसी बात को ध्यान में रखते हुए किया गया है। 19वीं सदी के प्रारंभ में राजस्थान की जनसंख्या 1.029 करोड़ थी, जो जनगणना 2011 के अनुसार 6.862 करोड़ हो गयी। इस प्रकार 110 वर्षों में राजस्थान की जनसंख्या में 6.67 गुणा वृद्धि हुई। इसी प्रकार प्रारंभ में जयपुर शहर चारदीवारी के मध्य 6 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत था। समय के साथ-साथ शहर की सीमाओं में वृद्धि हुई और इसका क्षेत्रफल 1941 में 7.79 वर्ग किलोमीटर तथा 2011 में लगभग 760 वर्ग किलोमीटर हो गया। जयपुर शहर की 1901 में जनसंख्या 1.60 लाख थी, जो 2011 में 30,73,750 हो गई। जयपुर शहर में तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुसार आम सुख-सुविधाएँ नहीं बढ़ रही हैं और शहर की नगरीय भूमि पर जनसंख्या दबाव निरंतर बढ़ रहा है, जिसके परिणामस्वरूप शहर का भूमि-उपयोग प्रारूप निरंतर बदल रहा है और शहर में पर्यावरणीय और सामाजिक समस्याएँ निरंतर बढ़ रही हैं। जयपुर शहर राजधानी क्षेत्र होने के बावजूद वर्तमान प्रासंगिकता में इतना विकसित नहीं हो पाया है, जितना यहाँ के जनसंख्या दबाव को देखते हुए होना चाहिए।

अध्ययन क्षेत्र का परिचय

जयपुर शहर का विस्तार 26°55' उत्तरी आक्षांश से 75°49' पूर्वी देशांतर तक है। भौगोलिक दृष्टि से जयपुर शहर थार मरुस्थल की पूर्वी सीमा पर स्थित है। जयपुर शहर औसत समुद्र तल से 1417 फीट की ऊँचाई पर स्थित है। यह शहर तीन तरफ से अरावली पर्वतमाला से घिरा हुआ है। जयपुर शहर की सीमाएँ उत्तर में हरियाणा के महेंद्रगढ़, दक्षिण में टोंक, पूर्व में अलवर, दौसा, सर्वाईमाधोपुर तथा पश्चिम में नागौर व अजमेर जिले से स्पर्श होती हैं। शहर का पूर्व से पश्चिमी विस्तार 180 किलोमीटर तथा उत्तर से दक्षिणी विस्तार 110 किलोमीटर है। बाणगंगा और साबी दो मुख्य नदियाँ जयपुर शहर से प्रवाहित होती हैं। शहर के आसपास एकमात्र प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर साँभर झील है। जनगणना, 2011 के अनुसार शहर की कुल जनसंख्या 30,46,163 है, जिनमें 16,03,125 पुरुष तथा 14,43,038 स्त्रियाँ हैं। शहर में औसत साक्षरता दर 83.33 प्रतिशत है, जिनमें 76.65 प्रतिशत पुरुष तथा 89.33 प्रतिशत महिला साक्षरता दर है। शहर का औसत लिंगानुपात 900 प्रति एक हजार पुरुष है।

शोधकार्य के उद्देश्य

1. अध्ययन क्षेत्र के भौगोलिक स्वरूप का अध्ययन करना।
2. अध्ययन क्षेत्र के जनांकिकीय एवं सांस्कृतिक स्वरूप का अध्ययन करना।
3. अध्ययन क्षेत्र में उपलब्ध आधारभूत सुविधाओं का विश्लेषण करना।
4. अध्ययन क्षेत्र में स्वच्छ भारत अभियान का समग्र अध्ययन करना।

5. स्वच्छ भारत अभियान व शहर के समाजशास्त्रीय प्रारूप का अध्ययन करना।
6. अध्ययन क्षेत्र में बढ़ते हुए सामाजिक व पर्यावरणीय प्रदूषण का अध्ययन करना।
7. अध्ययन क्षेत्र में उत्पन्न समस्याओं व उसके भावी विकास हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

संकल्पनात्मक रूपरेखा

इसमें शोधकार्य को भौतिक व तथ्यपरक बनाने हेतु प्राथमिक व द्वितीयक आँकड़ों का सहारा लिया जाएगा। अध्ययन क्षेत्र में शोधकार्य का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए प्रतिचयन विधि द्वारा प्राथमिक आँकड़ों का संकलन प्रश्नावली के माध्यम से किया जाएगा। जो शहर के प्रत्येक वार्ड से लिये जाएँगे। जिनसे शहर के लोगों के जीवनस्तर का आकलन किया जाएगा। द्वितीयक आँकड़ों का संकलन भारत सरकार व राजस्थान द्वारा प्रकाशित व अप्रकाशित सूचनाओं व पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से किया जाएगा। विभिन्न सांख्यिकीय नमूनों व तकनीकी से प्राप्त परिणामों का आनुभाषिक अध्ययन कर मानचित्र व आरेखों से प्रदर्शित किया जाएगा। शोधकार्य में आवश्यकतानुसार सारणीयन व विभिन्न सांख्यिकीय सूत्रों का उपयोग कर उनका विश्लेषण किया जाएगा। ताकि शोध कार्य में प्रमाणिकता आ सके। यह शोधकार्य नगर नियोजन, नगर विकास न्यास, नगर के मास्टर प्लान व शहर के भावी सामाजिक विकास एवं स्वच्छता अभियान हेतु मजबूत आधारशिला सिद्ध होगा, जो कि पूर्णतः नवीन व तथ्यपरक एवं आगामी कार्यों के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

शोध परिकल्पनाएँ

किसी भी प्रकार का शोधकार्य करने से पहले हम कुछ परिकल्पनाएँ निश्चित करते हैं। ये परिकल्पनाएँ सकारात्मक या नकारात्मक भी हो सकती हैं। प्रस्तावित शोधकार्य में भी कुछ परिकल्पनाएँ निश्चित की गई हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. जयपुर शहर में जनसंख्या दबाव तीव्र गति से बढ़ रहा है।
2. जयपुर शहर में बढ़ते हुए जनसंख्या दबाव के साथ-साथ सामाजिक परिदृश्य निरंतर बदल रहा है।
3. जयपुर शहर में बदलते हुए सामाजिक परिदृश्य के परिणामस्वरूप सामाजिक समस्याएँ निरंतर बढ़ रही हैं।

शोध साहित्य का पुनरावलोकन

सुरेंद्र सिंह ने 1991 में 'Ecological Profile of slums of Jaipur City' नामक विषय पर अपना शोधप्रबंध कार्य प्रस्तुत किया, जिसमें जयपुर शहर की मलिन बस्तियों के सामाजिक, आर्थिक विषय का अध्ययन किया एवं मलिन बस्तियों में शहर में उत्पन्न समस्याओं एवं भावी विकास हेतु सुझाव प्रस्तुत किए।

अनिता सक्सेना ने 1992 में 'Impact of Urbanization on Environment. A Case study of Jaipur city' पर शोधकार्य प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने नगरीयकरण के द्वारा शहर के पर्यावरण पर पड़नेवाले प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों का विस्तृत विवेचन किया।

अमिताभ कुंडु ने 2006 में 'TrenosQ and Patterns of Urbanizations & their Economic Implications' नामक शीर्षक पर Indian Infrastructure Report में लेख प्रस्तुत किया जिसमें भारत की नगरीयकरण की विभिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख किया।

शहरी विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने जून, 2015 में 'स्मार्ट सिटी मिशन विवरण और दिशा निर्देश' विषय पर अपना विवरण प्रस्तुत किया, जिसमें स्मार्ट सिटी क्या है? स्मार्ट सिटी की विशेषताएँ, अवधि, कार्यनीति, स्मार्ट सिटी चयन-प्रक्रिया तथा स्मार्ट सिटी की चुनौतियों का उल्लेख किया।

मनोजकुमार ने जुलाई, 2015 में 'स्मार्ट सिटी : योजना और उसके तकनीकी पहलू' विषय पर अपना लेख साइंटिफिक वर्ल्ड नामक विज्ञान पत्रिका में प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने सूचना व संचार तकनीकी को स्मार्ट सिटी मिशन का मुख्य आधार माना।

डॉ० बिंदेश्वर पाठक ने जून, 2015 में सुलभ इंडिया पत्रिका में 'स्वच्छ भारत' अभियान में सुलभ की भूमिका-नामक विषय पर अपना लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने स्वच्छ भारत अभियान के पक्ष, विपक्ष तथा वर्तमान प्रासंगिकता में इसकी भूमिका का विस्तृत उल्लेख किया।

सुरेशकुमार तिवारी ने अगस्त, 2015 में वन इंडिया डेस्क में 'क्या है भारत में स्मार्ट सिटी प्लान' पर अपना लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने बताया कि शहर के विकास के लिए किन-किन आधारभूत सुविधाओं को विकसित कर शहर का विकास किया जाए तथा शहरी लोगों के जीवन स्तर को सुधारा जाए।

संजय श्रीवास्तव ने अक्टूबर 2015 में ग्रामीण विकास मंत्रालय की मासिक पत्रिका कुरुक्षेत्र में 'गांधीजी का सपना साकार करेगा स्वच्छ भारत मिशन' पर अपना लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने बताया कि स्वच्छता अभियान की इस देश को सही मायनों में सबसे ज्यादा जरूरत है। अगर हम खुद में स्वच्छता की आदत डाल सकें तो यह देश की बड़ी सामाजिक क्रांतियों में से एक होगी।

डॉ० नरेशकुमार रावत ने 2016 में अलवर शहर की बदलती हुई नगरीय आकारिकी पर पर्यावरण का प्रभाव नामक विषय पर महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर में अपना शोधप्रबंध कार्य पूरा किया, जिसमें बताया कि नगर के विकास के साथ-साथ किस प्रकार स्थानीय लोगों की सामाजिक व आर्थिक जीवन-शैली बदलती है तथा समाज और पर्यावरण, नगर के विकास के साथ-साथ कैसे बदलते हैं।

शौकत अली देशवाली ने 2016 में आधुनिक अधिवास प्रवृत्ति स्मार्ट सिटी-पर्यावरणीय चुनौतियाँ और सुस्थिर विकास विषय पर Geographical Aspects बजे नामक पत्रिका में अपना लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने अजमेर शहर को स्मार्ट सिटी बनाने के लिए नागरिकों की विश्वस्तरीय सेवाओं का प्रारूप तथा शहर को स्मार्ट सिटी बनाने के उपायों का उल्लेख किया।

मेरा उद्देश्य यह रहेगा कि मैं आनुभाविक दृष्टिकोण अपनाते हुए शोधपरक अध्ययन

द्वारा चुने गए विषय के प्रति गंभीरता से कार्य करने तथा मेरे द्वारा 'स्वच्छ भारत' अभियान पर शोधकार्य को आगे बढ़ाने का प्रयास रहेगा। शोध सर्वेक्षण एवं साक्षात्कार अनुसूची के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों से शोध सामग्री का संकलन कर शोध विषय के नवीन तथ्य प्रस्तुत करूँगा।

विधि तंत्र एवं आँकड़ों का संकलन

किसी भी शोधकार्य के लिए शोधकर्ता को तथ्यों का संकलन, संकलन की विधियों व आँकड़ों का वर्गीकरण, विश्लेषण व शोध प्रतिवेदन हेतु एक निश्चित प्रारूप का अध्ययन करना होता है। अध्ययन को विभिन्न क्षेत्रों में तुलनात्मक व विश्लेषणात्मक बनाने के लिए दो प्रकार की विधियाँ स्वीकृत की गई हैं, आनुभाविक विधि व सांख्यिकीय विधि।

प्रस्तावित शोधकार्य आनुभाविक एवं मानचित्रण, दो प्रकार के विश्लेषणों द्वारा किया जाएगा। अध्ययन क्षेत्र का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए प्रतिचयन विधि द्वारा प्राथमिक समक एकत्रित किए जाएँगे, जो शहर के प्रत्येक वार्ड अनुसार लिए जाएँगे, जिनसे लोगों के जीवनस्तर का आकलन किया जाएगा। यह संपूर्ण कार्य प्रश्नावली व आनुभाविक विधि द्वारा किया जाएगा। क्षेत्रीय सर्वेक्षण से प्राप्त प्राथमिक आँकड़े सरकारी आँकड़ों की तुलना में अधिक उपयोगी व विश्वसनीय होते हैं। शहर के सभी प्रकार के द्वितीयक आँकड़ों का संकलन राजस्थान सरकार व भारत सरकार द्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित, पत्र-पत्रिकाओं एवं संबंधित विभागों से लिए जाएँगे। विभिन्न सांख्यिकीय नमूनों एवं तकनीकी से प्राप्त परिणामों को आनुभाविक अध्ययन में मानचित्रों व आरेखों के साथ संयोजित कर प्रदर्शित किया जाएगा। शोधकार्य में आवश्यकतानुसार सारणीयन तथा विभिन्न सांख्यिकीय सूत्रों का उपयोग कर उनका विश्लेषण किया जाएगा।

प्राथमिक आँकड़ों के प्राप्ति-स्रोत

- प्रश्नावली तैयार करके।
- अनुसूची के माध्यम से।
- प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा।

द्वितीयक आँकड़ों के प्राप्ति स्रोत

- भारतीय जनगणना विभाग, जयपुर।
- पुलिस (अपराध शाखा), जयपुर।
- नगर नियोजन विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर।
- प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, राजस्थान सरकार, जयपुर।
- सूचना केंद्र, जयपुर।
- जयपुर विकास प्राधिकरण, जयपुर।
- आर्थिक एवं सांख्यिकी निदेशालय, राजस्थान सरकार, जयपुर।
- राजस्व विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर।
- मौसम विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर।
- नगरीय विकास, भारत सरकार, नई दिल्ली।

—संबंधित क्षेत्रों के विषय विशेषज्ञों से परामर्श।

शोध अध्ययन का महत्त्व

प्रस्तावित विषय पर मेरी जानकारी के अनुसार अब तक कोई भी शोधकार्य नहीं हुआ है तथा कुछ कार्य जो हुए हैं, वे इस विषय से संबंधित तो हैं, किंतु अन्य शहरों पर हुए हैं। वैसे स्वच्छ भारत अभियान वर्ष 2014 में केंद्र सरकार द्वारा चलाई गई नई योजना है, जो वर्तमान प्रासंगिकता में अपने आपमें एक नया विषय है। अब तक इस विषय से संबंधित कार्यों में नगरीय विकास, नगरीय भूमि उपयोग, नगर का सामाजिक व आर्थिक विकास, नगरीय समस्याओं व मलिन बस्तियों आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उपर्युक्त सभी कार्य नगरीय विषय से संबंधित तो हैं, परंतु इनमें किसी भी शोधकार्य में 'स्वच्छ भारत अभियान' स्मार्ट सिटी जयपुर के संदर्भ में, विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया है, जिसकी पूर्ति मैं अपने शोधकार्य से करूँगा।

बढ़ते हुए जनसंख्या दबाव, औद्योगिकरण और नगरीकरण के साथ-साथ नगर का विकास जरूर हुआ है, परंतु सामाजिक व प्राकृतिक समस्याएँ भी निरंतर बढ़ी हैं। इन सभी तथ्यों को प्रस्तावित शोधकार्य के माध्यम से पूरा करने का प्रयास किया जाएगा। भविष्य में यह शोधकार्य नगर नियोजन, नगर विकास न्यास, नगरीय आकारिकी, नगर के मास्टर प्लान व शहर के भावी सामाजिक विकास एवं स्वच्छ अभियान हेतु शहर की मजबूत आधारशिला सिद्ध होगा, जो कि पूर्णतः नवीन, तथ्यपरक एवं आगामी कार्यों के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. Ram Ahuja, 2006, Research MethoosQ, Rawat Publication, Jaipur.
2. T. A. Bilkinson, 1984 Methodology and Techniques of Social Research, Bombay Human Publishing House
3. Brijraj Chouhan, 1967 A Rajasthan Village, New Delhi Publishing House.
4. A. R. Desai, 2001, Social Background of Indian Nationalism, Macmillon.
5. S.A. Deshwali, 2016, Adhunik adhivas pravrti smart city, Pryavarniya chunotiya aur susthir vikas, Geographical Aspects (RGA).
6. Amitabh Kundu, 2006, Triand and Patterns of Urbanization & Their Economic Implications, Indian Infrastructure Report.
7. Manoj Kumar, 2015, Smart City Yojana aur takniki Pahl, Scientific World Patrika.
8. Bindeshwar Pathak, 2015, Sulabh India Patrika, Sulabh International Social Service Organisation.
9. N.K. Rawat, 2016, Impact of Environment on Changing Urban Morphology of Alwar City. (Ph.D. Thesis) MOSQ University Ajmer.
10. Surendra Singh, 1991. Ecological Profile of slums of Jaipur City, (An unpublished Ph.D. Thesis), University of Rajasthan, Jaipur.
11. Sanjay Shrivastav, 2015, Gandhiji ka Sapna Sakar Karega Swachhh Bharat Mission, Gramin Vikas Mantralaya Ki Patrika, Kurukshetra.
12. Anita Saxena, 1992, Impact of Urbanization on Environment, a case study of Jaipur City, (An unpublished Ph.D. Thesis), University of Rajasthan, Jaipur.
13. R.Y. Singh, 2005, Settlement Geography' Rawat Publication, Jaipur.

14. Yogendra Singh, 1969, Cultural Integration and Changing Values, Sociological Bulletin 19.
15. Yogendra Singh, 1999, Bharat me Samajik Parivartan, Jawahar Publications and Distributers, New Delhi.
16. R.C. Tiwari, 2014, Settlement Geography, Pravalika Prakashan, Allahbad (U.P.).
17. S.K. Tiwari, 2015, Kya hai Bharat me Smart City Plan, One India Desk Patrika.
18. L.N. Verma, 2008, Settlement Geography, Rajasthan Hindi Granth Academy, Jaipur.
19. P. V. Young, 1968, Scientific Social Survey and Research, Prints Hall, New Delhi.

Reports and RecorosQ

1. District, Census Hand Book of Jaipur (2011)
2. Environmental Status Report, Jaipur
3. Master Plan of Jaipur City
4. Ministry of Urban Development Report, June, 2015, Govt of India.
5. Ministry of Rural Development, Kurukshetra Patrika, 2015, Govt of India.
6. Sulabh India Patrika, New Delhi
7. Rajasthan Patrika, Jaipur
8. Dainik Bhaskar, Jaipur
9. Hindustan Times, Jaipur
10. <http://swachchbharat.gov.in>
11. <http://www.planning.rajasthan.gov.in>
12. <http://planningcommission.nic.in>

भारतवर्ष में शिक्षित श्रमिक

डॉ० शुभलक्ष्मी गुप्ता

(समाजशास्त्र)

पूर्व रिसर्च एसोसिएट

बी०आर०डी० मेडिकल कालेज, गोरखपुर

लगभग डेढ़ दशक पहले भारत सरकार देश की बेरोजगारी की समस्या से निपटने और सभी रोजगार चाहनेवालों को रोजगार देने के लिए युद्धस्तर पर तैयारी कर रही थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक व्यापक रोजगार नीति तैयार की जा रही थी, देश में सभी को काम करनेवालों की इच्छा रखनेवालों के लिए सरकार आगामी दस वर्षों में विभिन्न चरणों में रोजगार दे देगी।

देश में सभी काम कर सकने वाले लोगों के लिए रोजगार देना लगभग असंभव-सा लगता है, तत्कालीन प्रधानमंत्री ने इस संबंध में कहा है कि यदि उद्देश्य के प्रति पूर्ण ईमानदारी के साथ काम किया जाय तो इस समस्या का व्यावहारिक समाधान ढूँढना होगा, जिससे इस संबंध में तैयार की जानेवाली योजनाएँ सिर्फ कागजी कार्यवाही बनकर फाइलों में सिमटकर न रह जाएँ। कागजी या सैद्धांतिक योजनाओं से सभी काम करनेवाले लोगों को रोजगार नहीं दिया जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि बेरोजगारी की समस्या और उसमें भी शिक्षित बेरोजगारी की समस्या उत्तरोत्तर अधिक बृहद् होती जा रही है, क्योंकि शिक्षित बेरोजगार व्यक्ति समाज के लिए अनपढ़, अशिक्षित बेरोजगारों की तुलना में अधिक हानिकारक होता है।

एकमुश्त नीतियों की आवश्यकता

लगभग सभी कम विकसित तथा विकासशील देशों में बेरोजगारी की समस्या तथा विशेष रूप से शिक्षित बेरोजगार की समस्या की समान प्रकृति है। यह समस्या बड़े निकट से वृद्धि, निर्धनता और असमानता से जुड़ी हुई है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम किसी एक या दो को अपनी नीति योजना के अंतर्गत न रखकर पूरक और सहायक नीतियों को तैयार करें। अर्थशास्त्रियों के विचार से आर्थिक प्रक्रियाओं में संशोधन के द्वारा बेरोजगारी की समस्या को कम किया जा सकता है।

अर्थशास्त्रीय प्रस्ताव

अर्थशास्त्रीय एकमुश्त नीति इस प्रकार है। अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यदि वस्तुओं की कीमत को सही दिशा दी जाय, जो सामाजिक रूप से उचित हो। यह उत्पादक और स्रोत दोनों के लिए प्रेरणादायक होते हैं। अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यदि उत्पादक को अपने उत्पादन का सही दाम मिले तो उससे उत्पादक कुशलता में वृद्धि होगी, परिणामस्वरूप और रोजगार बढ़ेगा और निर्धनता कम होगी। इसका मतलब है कि निर्धनता और बेरोजगारी को एक

साथ में समझा जाना चाहिए।

दूसरे, नीतियों का एक ऐसा सेट तैयार किया जाना चाहिए, जो परिसंपत्ति के वितरण में, सत्ता और शिक्षा के अवसर में और आय या दूसरे शब्दों में रोजगार के अवसर में, संरचनात्मक परिवर्तन कर सके। ऐसी नीतियाँ अर्थशास्त्रीय संकुचित क्षेत्र से आगे भी हैं, जो सामाजिक, संस्थागत, सांस्कृतिक और राजनीतिक इत्यादि पहलुओं को समग्रता में एक साथ विवेचन किए जाने और लागू किए जाने से संबंधित होती हैं। जबतक संपत्ति-वितरण के ढाँचे, चाहे वह तात्कालिक हो या दूरगामी हो, आमूल संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होगा, तब तक ग्रामीण और नगरीय बेरोजगार निर्धनों के रहन-सहन के स्तर में कोई महत्वपूर्ण सुधार होने की संभावना नहीं है।

‘एकमुश्त नीतियों के निर्माण के द्वारा समाज के उच्चस्तर के लोगों में, आय के वितरण के आधार में संशोधन किए जाने की आवश्यकता है। चाहे वह आयकर के द्वारा हो, चाहे वह निम्नस्तर में संपत्ति के वितरण के द्वारा हो, चाहे वह सीधे हस्तांतरण के द्वारा हो, आय वितरण के आकार को संशोधित करना होगा, यदि हम निर्धनता को, जो अत्यंत सन्निकट से बेरोजगारी से संबंधित हो, समाप्त करना चाहते हैं।’¹

श्रम की माँग और आपूर्ति का सिद्धांत

वास्तव में, श्रम की माँग और आपूर्ति को प्रभावित करनेवाले कारक पूर्ण रूप से श्रम-बाजार के कार्यान्वयन को प्रभावित करनेवाले कारकों से बिलकुल अलग नहीं हैं। श्रम-बाजार के कार्यान्वयन में जो कारक प्रभावी होते हैं, वही कारक कोई आवश्यक नहीं है कि श्रम की माँग और आपूर्ति को भी प्रभावित करते हों। श्रम-बाजार की कमियाँ भी बेरोजगारी के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। जैसे-अर्थ-बेरोजगारी की समस्या को तभी सुधारा जा सकता है, जब श्रमबाजार की कुशलता में वृद्धि की जाय। जब श्रमबाजार की कुशलता में वृद्धि होती तो श्रम की माँग बढ़ेगी और श्रम की आपूर्ति कम होगी। इसलिए श्रम-बाजार से संबंधित नीतियों की चर्चा उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि श्रम और माँग की आपूर्ति को प्रभावित करने वाली नीतियों की चर्चा।

‘सामान्यतः, श्रमबाजार में जो सर्वाधिक तत्त्व प्रयोग किया जाता है और सबसे सरल है, वह है, न्यूनतम वेतन कानून। यह बड़ा लाभप्रद हो सकता है।’

विशेष रूप से ऐसे श्रम-बाजार में, जहाँ नियोजित असंगठित कर्मचारियों का शोषण करना चाहता है। इसी प्रकार से सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा एक मानदंड के रूप में वेतन ढाँचे को बनाया जाना उसे अपनाया जाना एक मानक वेतन को निश्चित करने में राज्य का एक दूसरा महत्वपूर्ण उपकरण है। सार्वजनिक क्षेत्र आम तौर पर शैक्षिक श्रमिक का प्रमुख नियोजक है। अतः बेरोजगारी के अनेक प्रकार, जिनका सर्वेक्षण/अध्ययन उनके देशों में किया गया है, उससे यह संकेत मिलता है कि श्रम-बाजार में सामंजस्य का पर्याप्त अभाव है।²

आंशिक रूप से ऐसा इसलिए भी हो सकता है कि जो तुरंत के शिक्षा प्राप्त करके निकलते हैं, उनको श्रमबाजार की स्थिति में परिवर्तन की पहचान करने में तथा उसे स्वीकार करने में असफलता हो सकती है, आंशिक रूप से यह भी हो सकता है कि श्रम-आपूर्ति की

बदली हुई परिस्थितियों के दौरान ढाँचे का सामंजस्य होने में विलंब हो।

अतः श्रमबाजार में परिवर्तन की सूचना देने के संबंध में सुधार होना चाहिए। जैसे-सेवा-सूचना, एक्सचेंज से और रोजगार स्थापन अभिकरणों में सुधार की आवश्यकता का संकेत किया जा सकता है, और सार्वजनिक क्षेत्र में वेतन ढाँचे में लचीलेपन की वृद्धि करने की आवश्यकता है।

श्रमबाजार की माँग और आपूर्ति के संबंध में हम आगे कहना चाहेंगे कि श्रमबाजार के स्वस्थ कार्यान्वयन के लिए श्रम की गतिशीलता आवश्यक है, लेकिन हम यह भी कहेंगे कि श्रम की गतिशीलता, माँग और आपूर्ति की स्थिति को ध्यान में रखते हुए होनी चाहिए, जबकि हम जानते हैं कि ग्रामीण-नगर स्थानांतरण वर्तमान में वैसे की बहुत अधिक है। यहाँ श्रम गतिशीलता से मतलब है कि ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध रोजगार के स्रोत की आपूर्ति होनी चाहिए, और ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार के नए स्रोत का सृजन कर, ग्रामीण क्षेत्र से नगर क्षेत्र की ओर जाने वालों को रोकने का आकर्षण बनाया जाना चाहिए, साथ ही साथ विभिन्न सेवाओं में विशिष्टता प्राप्त बेरोजगारी की जो भीड़ में बढ़ती ही जा रही है, उनको इधर-आकर्षित किया जाना चाहिए। श्रम-गतिशीलता से हमारा मतलब यह भी है कि श्रमिकों को और विशेष रूप से शैक्षिक श्रमिकों को दूरी की बाँधा या और कोई दूसरी बाधा उनकी गतिशीलता में रूकावट न डाले।

श्रम-गतिशीलता की इस समस्या का मूल कारण श्रम-बाजार में नहीं है, बल्कि उन नीतियों में निहित है, जो औद्योगिक श्रम को अधिकाधिक संरक्षण देने के द्वारा कृषि-श्रम की माँग को दबा देती हैं, क्योंकि कृषि की तुलना कृषीतर उद्योगों में पूँजी-निवेश अधिक होता है, साथ ही साथ उन नीतियों में निहित है, जो सार्वजनिक सेवाओं को मुफ्त करने की व्यवस्था के द्वारा उन सेवाओं परिदानों के द्वारा उपलब्ध कर नगरीकरण की वृद्धि करती हैं। ये नीतियाँ ग्रामीण क्षेत्र से, नगरीय क्षेत्र की ओर श्रम-गतिशीलता की वृद्धि करती हैं।

अतः इन समस्याओं की जड़ में प्रहार करने की आवश्यकता है। इसके बाहरी शीर्ष पर इस समस्या का समाधान ग्रामीण नगर स्थानांतरण पर परिणामात्मक प्रतिबंध आरोपित करने में दिखलाई पड़ता है, बल्कि मूल्यनिर्धारण और निवेश नीतियों के पुनः सृजन करने में दिखलाई देता है। यह मान लिया जाय कि श्रमबाजार ठीक से कार्यान्वित हो रहा है, तो एक दिए हुए क्षेत्र में श्रम को बढ़ाने के लिए दूसरे क्षेत्र में वेतन बढ़ाने पर दबाव डालने के द्वारा सफलता प्राप्त की जा सकती है।

संदर्भ

1. Todaro, P.Mioheal, Economic Development In the Third World, Long Man, New York, 1985, p. 117
2. Squire, Lyn, Employment Policy In Developing Contries Oxford University Press, Oxford, London, 1946. P.N. 6

पुत्री श्री शंकरप्रसाद गुप्त (सीनियर एडवोकेट)
असुरन पोखरा विष्णु मंदिर, गंगाजली कुंज
बशारतपुर, गोरखपुर (उ०प्र०) 273004
मो० 9889550291

शेखर जोशी की कहानियों में संघर्ष एवं द्वंद्व

डॉ० मृदुल जोशी

हिंदी विभाग

कन्या गुरुकुल परिसर, गु०का०वि०वि० (हरिद्वार)

‘दाज्यू’ कहानी के माध्यम से सर्वाधिक चर्चा में आए शेखर जोशी समकालीन हिंदी साहित्य में एक ऐसे समर्थ, सशक्त एवं सार्थक हस्ताक्षर हैं, जो अपने अनूठे कथ्य एवं शिल्प के लिए जाने जाते हैं। उत्तराखंड के एक मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे लेखक ने पर्वतीय समाज, उस क्षेत्र के कठिन जीवन और सतत संघर्ष को केवल नजदीक से देखा ही नहीं, स्वयं भोगा भी है। पर्वतीय समाज के लोगों की सरलता, निश्छलता, सादगी के अलावा गहरे तक पैटे कुसंस्कारों जैसे जातिगत वर्जनाओं, सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों के कारण उत्पन्न विसंगतियों से भी ये भली-भाँति परिचित रहे हैं। इनका संवेदनशील मन सतत संघर्षरत आम लोगों की पीड़ा, यातना, प्रतिरोध और तज्जनित विवशताओं से आहत रहा है। यही विषय इनकी लेखनी के मूल कथ्य भी रहा है। कथा की उर्वरा भूमि के रूप में कुमाऊँ का जीवन हो या प्रयागराज के मध्यवर्गीय व्यक्ति का जीवन-संघर्ष, लेखक की सहानुभूति वंचितों के प्रति ही दिखाई पड़ती है।

शेखर जोशी अपनी ‘ताजगी भरी रचना-दृष्टि’ के लिए जाने जाते हैं। उनकी कहानियाँ सामाजिक सरोकारों से सीधे-सीधे जुड़ी हैं। संजीव के अनुसार ‘पहाड़ी इलाकों की गरीबी और कठिन संघर्ष, उत्पीड़न, यातना, प्रतिरोध, उम्मीद और नाउम्मीदी से भरे औद्योगिक वर्ग के हालात, शहरी-कस्बाई निम्न और मध्यवर्ग के आर्थिक-सामाजिक-नैतिक संकट, धर्म और जाति से जुड़ी घातक रूढ़ियाँ, दैनंदिन स्थितियों का वर्गीय चरित्र—ये सभी उनकी कहानियों का विषय रहे हैं।’¹

शेखर जोशी की अधिकांश कहानियाँ पहाड़ के जनजीवन और अंतर्विरोधों पर आधारित हैं। ईश्वर ने पर्वतीय प्रदेशों में प्राकृतिक सौंदर्य मुक्तहस्त से लुटाया है, लेकिन इनकी नैसर्गिक सुषमा जितनी लुभावनी और मनमोहक प्रतीत होती है, उतना ही कठोर व अनाकर्षक यहाँ का जीवन-संघर्ष है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति हेतु पहाड़ के लोग प्रतिपग संघर्ष करते देखे जा सकते हैं। शिक्षा प्राप्त करने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को भी मीलों दूर पैदल चलकर नदी-नालों तथा घने जंगलों को पार करना होता है। छोटे बच्चे के मन में दिपदिपाता डर और असहाय विवशता ‘आदमी का डर’ कहानी में अभिव्यक्ति पाते हैं। जो शिक्षा शहरों में सहज सुलभ है, पर्वतीय अंचल के लोगों को इसे प्राप्त करने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। छोटे बच्चे के रूप में कथा-नायक की विवशता इन शब्दों में अभिव्यक्ति

पा रही है—

‘स्कूली संगी-साथी मुझे हाँक लगाकर और थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद चल दिए थे। घर से प्राइमरी स्कूल तक का प्रायः मील-भर का रास्ता देवदारु के घने जंगल के बीच होकर मुझे अकेले ही पार करना था।’²

पहाड़ी क्षेत्र हो या मैदान, गरीब किसान को अनवरत संघर्ष ही करना है। ‘समर्पण’ कहानी मालिकों के खेतों में काम करनेवाले शिल्पकारों की व्यथा को इंगित करती है। ‘विभाजित जमींदारीवाले घरों से मिली हुई दो-तीन नाली जमीन तथा मालिकों के खेतों में हल चलाने, गोड़ने, काटने की नित्य-प्रति मजदूरी के अतिरिक्त जीविका का अन्य कोई साधन बिरले ही शिल्पकार के पास था। मालिकों की एक ही आवाज पर हाथ का कौर हाथ में लेकर जो न दौड़ पड़ता हो, ऐसा कोई नहीं था।’³

यह विडंबना ही है कि हाड़-तोड़ मेहनत कर अन्न उगानेवाले किसानों को ही ‘भूख-भर अन्न’ के लिए तरसना पड़ता है। पहाड़ों में खेत को जोतनेवाले हलवाहे कहलाते हैं, जो दिन-भर अनवरत परिश्रम कर खेत जोतकर भोजन प्राप्त करने के लिए मालिकों के घर आते हैं। वहाँ उन्हें रूखा-सूखा अन्न ही प्राप्य है। लेखक की संवेदना शिल्पकार हलवाहों के पक्ष में इन शब्दों में खड़ी दिखाई देती है—

‘जेठ-बैसाख की तपती दोपहरी में हल चलाकर दिन के भोजन के लिए रोटियाँ लेनेवाले हलवाहे लोग मालिक टोले में आते, तो घरों के बरामदों में बच्चों की थाली में जाई फूल के ढेर से सफेद, मह-मह महकते हुए भात और पिघले सोने-सी मसूर की दाल को वे लोग देखते और एकटक देखते ही रह जाते।’⁴

इसी प्रकार ‘आखिरी टुकड़ा’ कहानी में अनेक समस्याओं से जूझ रहे कृषक को कृषि-कर्म छोड़कर मजदूर बन जाने की बाध्यता को दिखाया गया है। ‘सूरजा’ की कहानी अनायास ही प्रेमचंद की कहानी ‘पूस की रात’ के ‘हल्कू’ का स्मरण करा देती है। संकट व समस्याग्रस्त जीवन सदा ही भारतीय कृषक की नियति रही है। यह अलग विषय है कि बदलते समय के साथ इनका स्वरूप बदल गया है। प्रत्येक आती-जाती सरकार इनकी समस्याओं से जुड़े मुद्दे उठाकर, इन्हें भाँति-भाँति के प्रलोभन व आश्वासन देकर अपने वोट बैंक में वृद्धि करती है, लेकिन निदान के रूप में इनके उत्थान व परिवर्तन हेतु किए गए प्रयत्न अपर्याप्त ही सिद्ध होते हैं। अनवरत संघर्षों से जूझते इस वर्ग की विवशताजन्य वेदना की अनदेखी संवेदनशील लेखक से नहीं हो पाई है—‘जिस दिन अपने बैलों के कंधे पर जुआ रखने के बजाय उसने दिन-भर ईंट ढोने के लिए गाड़ी में जोता था, उस दिन सूरजा की माई रोने लगी थी। सूरजा की माई फिर नहीं रोई तब भी नहीं, जब धान की बालियों की जगह सिर में ईंटें उठाकर वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने लगी थी, और तब भी नहीं जब पाँच सात वर्ष के लक्ष्मी-राजा बिलखते हुए, खाद की जगह गारे सीमेंट के तसले धरती पर उलटने लगे थे।’⁵

आर्थिक विपन्नता झेलते निम्नवर्ग का संघर्ष कभी न समाप्त होनेवाले दुष्चक्र में बदलता है। कभी गाँव के समर्थ वर्ग से शोषित होते तो कभी समर्थ सरकार के हाथों विकास के नाम पर खेती से जबरदस्ती बेदखल किए जाने वाले असहायवर्ग की पीड़ा पूरी शिद्दत से ‘आखिरी

टुकड़ा' में संजीवित हो उठी है।

पूँजीपति और अधिकारीवर्ग अपने अधीन कर्मचारियों को गुलाम से अधिक महत्त्व नहीं देता। उनके द्वारा निर्मित नियम-कानून केवल मजदूरों-कामगारों के निमित्त ही होते हैं। इन नियमों के तहत केवल कामगार वर्ग की ही उत्पीड़ित व शोषित दिखाई पड़ता है। 'बदबू' कहानी के माध्यम से निम्नवर्ग का अनसुना प्रतिरोध और तज्जन्य प्रताड़ना का स्वर मुखरित हो उठा है—'बुद्धन को कड़ी चेतावनी के साथ एक रुपए का दंड देने की साहब ने घोषणा कर दी, तभी भीड़ में से किसी ने ऊँचे स्वर में कहा, 'साहब आग तो सभी की बीड़ी-सिगरेट से लग सकती है!...अफसर साहबान तो सारे कारखाने में मुँह में सिगरेट दाबे घूमते रहते हैं।'⁶

'नौरंगी बीमार है,' 'मेंटल' जैसी कहानियाँ गरीब की निष्ठा, ईमानदारी को अनसुना करने के कारण उपजे मानसिक उद्वेगन और द्वंद्व की कहानी है। मजदूर वर्ग के जीवन में इतना संघर्ष है कि आखिरी साँस तक वह लड़ता रहता है। जिंदगी भर मेहनत करके जो पूँजी वह एकत्रित करता है, मृत्यु के बाद भी उसे प्राप्त करने के लिए परिवार संघर्षरत रहता है। मजदूर वर्ग की विवशता व संघर्ष 'मेंटल' कहानी में स्वर पा रहा है— 'हमारी कंपनी में जहाँ किसी विधवा को अपने आदमी का बकाया पैसा तक नहीं मिलता, जब तक आदमी खुद अपनी मौत की तस्कीद न कर दे।'⁷

'गलता लोहा' कहानी वर्ग-भेद से ग्रस्त मोहन की विवशता भरे रूपांतरण की व्यथा-कथा है। उच्चतर शिक्षा व ऊँचे स्वप्न की तलाश में मेधावी मोहन पहाड़ से शहर में रह रहे सजातीय धनी रमेश के घर पठन-पाठन के उद्देश्य से आता है, पर वह घर का एक नौकर मात्र बनकर रह जाता है। न उसे अध्ययन के बेहतर अवसर मिलते हैं न सुविधा। उसके समस्त स्वप्न चूर-चूर हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसके आगे पढ़ने की इच्छा ही समाप्त हो जाती है। मोहन की कथा न जाने कितने ऐसे मेधावियों की वेदना है, जो निरंतर संघर्षरत रहते हुए भी अपने ही लोगों की वर्ग-भेद की प्रताड़ना का शिकार बन स्वार्थ की प्रतिपूर्ति हेतु उनके हाथों का खिलौना बनकर रह जाते हैं। अब उनके पास न तो स्वर्णिम भविष्य के सपने ही बचे रहते हैं, न उन्हें प्राप्त करने की दुर्दम्य अभिलाषा ही। आज का मानव-समाज इस मानसिकता से कहीं न कहीं प्रभावित हो रहा है। अर्थ की दृष्टि से रमेश पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तो मोहन निम्नवर्ग का। इसीलिए रमेश मोहन को अपना बिरादर बताते हुए शर्म महसूस करता है। लेखक के शब्दों में—'औसत दफ्तरी में बड़े बाबू की हैशियतवाले रमेश के लिए मोहन को अपना भाई बिरादर बतलाना अपने सम्मान के विरुद्ध जान पड़ता था और उसे घरेलू नौकर से अधिक हैसियत नहीं देता था।'⁸

इसी प्रकार जातिगत भेद-भाव की विषमता 'कथा-व्यथा' कहानी स्वर प्रदान करती है। आज भी समाज के एक वर्ग को अस्पृश्य समझने की मानसिकता पहाड़ के सुदूर क्षेत्रों में विद्यमान है। छोटी जाति की जीवन्ती के कथा सुनने बड़े घर आने पर ऊँची जाति की रामदत्त की दुल्हन का शरीर छू जाने पर यह प्रतिक्रिया स्वरित होती है, छिः 'चिहूँकर रामदत्त की दुल्हन एक ओर सरक गई। शायद जीवन्ती का घुटना अनजाने में उसके शरीर से छू गया था।'⁹

सुदूर पर्वतीय क्षेत्र में आर्थिक विपन्नता केवल दलित वर्ग के हिस्से ही नहीं आई है, यहाँ तो सवर्ण भी समान अनुभव को साँझा कर रहा है। जातिगत दंभ और मिथ्याभिमान उनकी स्थितियों को और भी विषम बनाकर रख देता है। तथाकथित श्रेष्ठ व उच्च होने का अभिमान उन्हें अपने ही खेतों में हल चलाने से रोकता है। ये लोग भले ही भूखे मर जाए, खेतों में हल नहीं चला सकते। हल चलाना इनके लिए निम्नवर्ग का काम है, जो इन्होंने असवर्ण शिल्पकारों के लिए रख छोड़ा है। भले ही खेतों को जोतने-बोने के लिए इन्हें मजदूर रखने के लिए अतिरिक्त ऋण की व्यवस्था क्यों न पड़े, ये विवश हैं। गलित परंपराओं को ढोते हुए इनकी पीड़ा यही है कि—‘भैया, कोई दूसरी जात का आदमी होता तो खुद ही जोत-बो लेता, लेकिन हम लोगों के लिए तो इसका भी निषेध है। बिरादर लोग जात बाहर कर देंगे।’¹⁰

समय ने करवट बदली है और हलवाहे भी बेहतर मजदूरी मिलने के कारण ठेकेदार के साथ काम करना पसंद करते हैं। कथानायक जीवानंद ने इस परिवर्तन को अनुभव करते हुए अपनी खेती को बचाने के लिए जब स्वयं हल चलाने का निर्णय लिया तो उसे बिरादरी की प्रतिक्रिया-स्वरूप घृणा, क्रोध और जुगुप्सा का ही सामना करना पड़ा—‘जो कुछ उन्होंने देखा उसे देखकर उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ और क्रोध, घृणा तथा ग्लानि के कारण उनका सारा शरीर काँपने लगा, कुल घातक जिबुआ स्वयं हल चला रहा था।’¹¹

दुर्गम क्षेत्रों की विकट भौगोलिक परिस्थियाँ व मूलभूत सुविधाओं का अभाव पर्वतीय लोगों को रोजगार की तलाश में मैदानी क्षेत्रों में पलायन हेतु विवश कर देता है। कहावत है कि पहाड़ का जल, जंगल, जवानी कभी इस प्रदेश के काम नहीं आती। ‘विसर्जन’ कहानी इसी विसंगति और पलायन के दर्द का दस्तावेज है। स्वास्थ्य व जीवन बचाए रखने का संकट यहाँ के निवासियों को अपनी जमीन-जायदाद बेचकर विस्थापित बनने को मजबूर करता है। माटी के मोह में बँधे जो लोग यहाँ रह जाते हैं, उनकी दयनीय स्थिति द्रष्टव्य है—‘मकान कहने भर को ही मकान था।...ऊपर की मंजिल में छत से टपकते बरसाती पानी के कारण गड्ढे पड़ गए थे।...केवल रसोई वाला गोठ कुछ सही-सलामत बचा था, जहाँ एक ओर मिट्टी का मेंड़ खीचकर भाभी का चूल्हा-चौका था, और दूसरी ओर ठाकुर जी का सिंहासन रखा हुआ था। उसी गोठ के एक कोने में जमीन पर पराल की चटाई के ऊपर भाभी का बिछावन रखा रहता था।’¹²

बतर्ज संजीव ‘कम बोलने और अहिस्ता बोलनेवाली कहानियों’ के सर्जक शेखर ‘अंतर्वस्तु की गुणवत्ता’ के लिए जाने जाते हैं। ‘बच्चे का सपना’, ‘वाचक की मुद्रा में एक सादगी और साधारणता को बाजिद बनाए रखते हुए’ पाठक को सोच का विस्तृत फलक दे जाती है। मध्यवर्ग की सामान्य-सी इच्छा भी असामान्य अभिलाषा की प्रतिपूर्ति-सी लगती है। एक पिता की सामान्य-सी इच्छा की सामर्थ्य-सीमा के अंदर अपनी छोटी-सी बच्ची को साधारण-सा ‘टॉफी के डिब्बे’ का उपहार न दे पाने की विवशता बहुत कुछ सोचने को विवश करती है। कथानायक की आर्थिक स्थिति इतनी जर्जर है कि उसका झोला भी पुरानी पेंट को काटकर बनाया गया है। उसी झोले में कथानायक ने अपनी बच्ची के लिए यह बहुमूल्य उपहार

रखा है, जो उसकी लापरवाही वश लोकल ट्रेन में छूट गया है। तमाम-तमाम मलालों के अतिरिक्त बच्चों की भोली-भाली निराशा-विनोद मिश्रित प्रतिक्रिया के बीच पुलिस का लापरवाही-भरा रूप भी आकृति पाता है। पुलिस प्रशासन का प्रमुख कार्य है कि रिपोर्ट लिखनेवाले व्यक्ति की भरपूर सहायता की जाए। वह सहायता की आशा से आए आम आदमी की सहायता करनी तो दूर उसे अधिक परेशान करने लगती है। यह एक क्रूर यथार्थ है कि पुलिस सरल-सीधे आम आदमी को बेवजह परेशान करती है। इसीलिए आम आदमी उसके पास जाने से बचता है। कथानायक भी पुलिस के भय से अपनी मूल समस्या को भूल नई समस्या से बचने का प्रयत्न करता है।

देश की पुलिस का यह उपेक्षापूर्ण, धूर्त रूप भी इस युग का सत्य है। बिना पहुँच वाले लोगों के प्रति उसकी ठंडी प्रतिक्रिया इस प्रकार रहती है, 'बाबू साहब यह स्टेशन है, हजार तरह के लोग आते जाते हैं, सामान में आपका नाम तो लिखा नहीं है। साधारण सामान है। कोई भी अपने थैले में डालकर ले गया होगा।'¹³

लेखक ने अपनी कहानियों में मानव के सतत संघर्षों एवं यातनाओं का सजीव चित्रण कर शोषकवर्ग पर प्रहार किया है। स्पष्टतः ये पीड़ितवर्ग का पक्ष लेते हुए उनकी आवाज बने हैं। शेखर जोशी अपने समकालीन कथाकारों से इसी क्षेत्र में भिन्न दिखाई पड़ते हैं। जहाँ वे प्रेम-संबंधों पर आधारित कहानियाँ लिखने में व्यस्त थे, वहीं इन्होंने मानव की छोटी-से-छोटी समस्या, तज्जनित संघर्ष और मनोव्यथा को अपनी लेखनी का विषय बनाया है।

संदर्भ

1. उद्धृतांश, शेखर जोशी, संकलित कहानियाँ, भूमिका, पृ० 8
2. मेरा पहाड़, आदमी का डर, शेखर जोशी, पृ० 114
3. संकलित कहानियाँ, शेखर जोशी (तृतीय आवृत्ति 2014), शेखर जोशी समर्पण, पृ० 50
4. प्रतिनिधि कहानियाँ, शेखर जोशी, समर्पण, पृ० 42
5. डाँगरी वाले, आखिरी टुकड़ा, शेखर जोशी, पृ० 61
6. डाँगरी वाले, बदबू, शेखर जोशी, पृ० 48
7. संकलित कहानियाँ, मेंटल, शेखर जोशी, पृ० 128
8. डाँगरी वाले, गलता लोहा, शेखर जोशी, पृ० 77
9. मेरा पहाड़, कथा-व्यथा, शेखर जोशी, पृ० 105
10. संकलित कहानियाँ, हलवाहा, शेखर जोशी, पृ० 89
11. वही, पृ० 92
12. मेरा पहाड़, विसर्जन, पृ० 149-150
13. संकलित कहानियाँ, बच्चे का सपना, शेखर जोशी, पृ० 3

अनामिका के काव्य में स्त्री-विमर्श

डॉ० शिंदे नवनाथ सर्जेराव
हिंदी विभाग प्रमुख
सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
सोलापुर

नारी सृष्टि की नींव है, आधार है। वह सृष्टि की सृजन-प्रक्रिया का केंद्र बिंदु है। वह करुणा की प्रतिमूर्ति और मातृत्व की साकार प्रतिमा है। भारतीय समाज-व्यवस्था पुरुषसत्तात्मक रही है। उसमें नारी की स्थिति हमेशा उपेक्षित रही है। पुरुषसत्तात्मक समाज व्यवस्था में पुरुषों को स्त्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया और समस्त स्त्रियों को शूद्रों की तरह तुच्छ समझकर उन्हें सत्ता, संपत्ति एवं अपने अधिकारों से बेदखल किया गया। परिणामतः समाज-व्यवस्था की लगभग पचास प्रतिशत आबादी पर पुरुषों की एकाधिकारशाही निर्मित हुई और स्त्रियों का जीवन शूद्रों से बदतर बन गया। जब तक नारी के प्रति सामाजिक सोच में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक उसकी पारिवारिक और सामाजिक स्थिति में बदलाव नहीं होगा। जब तक स्त्रियों की शैक्षिक, सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं होता, तब तक समाज के संतुलित विकास पर प्रश्नचिह्न लगा रहेगा। वर्तमान सदी विज्ञान-तंत्रज्ञान एवं तकनीक की है, जिसने हर क्षेत्र में बदलाव उपस्थित किया है। नई शिक्षा के कारण समाज में जागरूकता बढ़ गई है। कई सहस्राब्दियों से नारी को कुचला, रौंदा जाता रहा है। सन् 1960 के पश्चात् नारी-शोषण के खिलाफ पढ़ी-लिखी महिलाओं ने आवाज उठानी आरंभ की। वास्तव में जब समाज-व्यवस्था किसी वर्ग को दबाने की कोशिश करती है, तब व्यवस्था के प्रति विद्रोह होता है और व्यवस्था-परिवर्तन की शुरुआत होने लगती है। वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श इसी व्यवस्था-विरोध एवं व्यवस्था-परिवर्तन में संघर्षरत चेतना का नाम है।

वैदिक समय से वर्तमान समय तक यह बात दिखाई देती है कि पुरुषों की नारी के प्रति हमेशा दुराग्रह की मानसिकता रही है। वैदिक समय से वर्तमान समय तक समाज में अनेक चीजों में बदलाव हुए, लेकिन एक चीज में आवश्यक बदलाव नहीं हुआ, वह है स्त्री को सिर्फ एक देहमात्र मानने की पुरुषवर्ग की मानसिकता। स्त्री को मात्र भोग की वस्तु मानने की मानसिकता के विरोध में नारी-विमर्श का जन्म हुआ। स्त्री-विमर्श और कुछ नहीं, वह है नारी के प्रति आत्मचेतना, आत्मसम्मान, आत्मगौरव, समता और समानाधिकार के प्रति जागरूक दृष्टिकोण। नई शिक्षा, पश्चिम से साहचर्य और समाज-प्रबोधन के कारण नई पीढ़ी की पढ़ी-लिखी स्त्रियों को अपने अस्तित्व के बोध ने विमर्श की प्रेरणा दी। इस संबंध में मंजु रुस्तगी लिखती है—‘पुरुष की एकाधिकारशाही के वातारण से स्त्री को बाहर लाने का प्रयास ही

स्त्री-विमर्श है। स्त्री-विमर्श और कुछ नहीं, अपने अस्तित्व की पहचान, स्व की चिंता, अस्तित्वबोध और अधिकार को जतलाने और बतलाने का विचार-चिंतन है। यह सदियों से स्थापित पुरुष मानसिकता का तर्पण है, भावुक स्त्री का समर्पण नहीं।¹ स्पष्ट है कि स्त्री-विमर्श पुरुषवर्ग के एकाधिकारशाही के खिलाफ महिलाओं के समुचित हक की लड़ाई है। स्त्री-विमर्श पुरुषी मानसिकता एवं उसकी एकाधिकारशाही का विरोध करता है। वह स्त्री को एक मनुष्य के रूप में देखते हुए उसे उचित सम्मान देने के लिए संघर्षरत है। यह स्त्रीवर्ग को आत्मसम्मान के प्रति जागरूक और संघर्षरत करनेवाली चेतना है, जो पुरुषों से हर बात में बराबरी की माँग करती है। स्त्री-विमर्श नारी के विकास में बाधक तमाम मूल्यों को नकारते हुए उसकी स्वतंत्रता एवं अधिकारों की लड़ाई लड़ता है। वह समाज में बराबरी के लिए संघर्ष की चेतना है, जो स्त्री को गौण मानने की मानसिकता का विरोध करती है। पुरुषों के समान हर बात में समानता एवं शोषणविरहित समाज-व्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से पहल करता है। स्त्री-विमर्श स्त्री को मात्र देह मानकर पुरुष के भोग की वस्तु मानने की मानसिकता का विरोध करता है और स्त्री का मूल्यांकन उसके गुणात्मक कार्यशक्ति पर करने पर जोर देता है। स्त्री-विमर्श उपेक्षित नारी-जीवन और उस जीवन से जुड़ी समस्याएँ तथा उसके दमन-दलन के अनुभवों को अभिव्यक्ति देता है और इस दिशा में स्त्री-मुक्ति की संघर्ष गाथा को विकसित करता है।

सन् 1960 के पश्चात् भारतीय साहित्य में विकसित स्त्री-विमर्श वस्तुतः अँग्रेजी संकल्पना फेमिनिज्म (Feminism) का विकसित रूप है, जिसकी शुरुआत योरोप में सिमोन द बोव्हुआर की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' से मानी जाती है। पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था में स्त्री बरसों से शोषण, उत्पीड़न और भेदभाव से पीड़ित है। स्त्री-विमर्श इस शोषण एवं विषमता के खिलाफ विद्रोह करता है। भारत को स्वतंत्रता मिलने पर यहाँ की शिक्षा और सामाजिक सुधारों के कारण समाज के सभी अंगों में बदलाव होने आरंभ हुए। भारत में सन् 60 के दशक में पढ़ी-लिखी महिलाओं की पीढ़ी ने स्त्रीवर्ग की समस्याओं को साहित्यिक मोर्चे पर अभिव्यक्ति देना आरंभ किया। यही से भारत में स्त्री-विमर्श का आरंभ माना जा सकता है। हिंदी साहित्य में मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, ममता कालिया, उषा प्रियंवदा, नासिरा शर्मा, अलगा सरावगी, मेहरुन्सिा परवेज आदि लेखिकाओं ने गद्य के माध्यम से महिलाओं की समस्याओं को प्रस्तुत किया तो तेजी ग्रोवर, मोना गुलाटी, कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, सविता सिंह, निर्मला गर्ग, इंदु जैन और अनामिका आदि कवयित्रियों ने प्रमुखतः कविताओं के माध्यम से स्त्री-शोषण के खिलाफ मोर्चा खोल दिया।

समकालीन हिंदीकाव्य-जगत् में अनामिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका लगाव भारतीय समाज-व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर जी रही महिलाओं के प्रति रहा है। यही कारण है कि भारतीय गाँवों में उपेक्षित जीवन-यापन कर रही महिलाएँ उनकी कविता के विषय रहे हैं। वह उन रचनाकारों में हैं, जो प्रचलित ढर्रे पर न चलकर लीक से हटकर नए काव्य-विषय चुनती रही हैं। काव्यभाषा के स्तर पर उनकी खासियत है कि उनमें रघुवीर सहाय जैसी सहजता एवं सरलता दिखाई देती है। बोलचाल की भाषा में वह अपनी संवेदना मुखर करती हैं। यही कारण है कि वह अन्य कवि एवं कवयित्रियों से विशेष प्रतीत होती हैं। उत्तर-

आधुनिक समय में भारतीय नारियों की समस्याओं एवं संघर्षों को उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से उठाया है। अब तक उनके आठ कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—1. शीतल स्पर्श एक धूप को (सन् 1975), 2. गलत पते की चिट्ठी (सन् 1979), 3. समय के शहर में (सन् 1970), 4. बीजाक्षर (सन् 1993), 5. अनुष्टुप (सन् 1998), 6. कविता में औरत (सन् 2004), 7. खुरदरी हथेलियाँ (सन् 2005), 8. दूब-धान (सन् 2007)। इन काव्य-संग्रहों में अनामिका ने भारतीय समाज में स्थित स्त्री-शोषण को अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी कविता की एक विशेषता उसकी बिंबधर्मिता भी रही है।

अनामिका की कविताओं में पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था में एक स्त्री के अकेलेपन की समस्या का चित्रण दिखाई देता है। इन कविताओं में लड़कियों और स्त्री-वर्ग का बेबस जीवन चित्रित हुआ है। इस दृष्टि से उनकी 'बेजगह' कविता काफी चर्चित रहीं है। प्रस्तुत कविता अध्यापक और छात्राओं के रिश्तों में आ रहे बदलावों को स्पष्ट करती है। कवयित्री प्रतिपादित करती है कि कक्षा में संस्कृत के अध्यापक की बातें सुनकर लड़कियाँ डर के मारे अपनी जगह जम जाती हैं। यथा—

अहा नया घर है!

राम, देख, यह तेरा कमरा है!

और मेरा?

ओ पगली, लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती है

उनका कोई घर नहीं होता!²

अर्थात् कविता में चित्रित लड़कियाँ वे हैं, जिन्हें घर, परिवार, समाज में कोई स्थान, सम्मान प्राप्त नहीं है। लड़कों को पढ़ने, लिखने, रहने की अच्छी व्यवस्था की जाती है, लेकिन लड़कियों के लिए वे चीजें नहीं दी जाती, जो लड़कों को आसनी से मिलती हैं। उसे हवा, धूप और मिट्टी में ही लिप्त रहने के लिए अभिशप्त होना पड़ता है। कहीं पर भी लड़कों के समान मान-सम्मान नहीं होता। उसका किसी पर अधिकार नहीं समझा जाता। इस संबंध में रविरंजन लिखते हैं—'कहना न होगा कि परंपरा द्वारा पोषित व स्थापित व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए बँधी हुई मुट्ठी के प्रति अत्यधिक आकर्षण कई बार आवेश और आवेग की मुद्रा के प्रति भावुक लगाव का आकर्षण होता है और यह अतिरिक्त भावुक लगाव वैचारिकता के बजाय प्रायः ऐसे वैचारिक छद्म एवं बागाडंबर को जन्म देता है, जिसमें आदमियत की पहचान धूमिल होती है। अनामिका की कविताओं में परंपरा को लेकर एक संवेदनशील आलोचनात्मक रवैया दिखाई देता है।'³ स्पष्ट है कि अनामिका की कविताओं में स्त्री-वर्ग की समस्याओं एवं शोषण के प्रति मात्र भावात्मक लगाव न होकर एक संतुलित एवं वैचारिक दृष्टिकोण दिखाई देता है। उनकी कविता भावुकता की अपेक्षा शोषण को समाप्त कर समाज-परिवर्तन की कामना पर जोर देती है।

समाज-व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह करने की ललक स्त्रियों में होती है, परंतु वे उसे प्रकट नहीं कर पातीं, क्योंकि उन पर सामाजिक दबाव अधिक होता है। उसे पारिवारिक एवं सामाजिक मूल्यों के तले दबे रहने के लिए मजबूर किया जाता है। भारत में लड़कों को

अधिक आजादी दी जाती है तो लड़कियों को परंपरा एवं घर की आन, लाज के रूप में देखा जाता है। परिणामतः लड़कियाँ अपने आपको कभी भी मुक्त अनुभव नहीं कर पातीं। कभी-कभी उनको मुक्त रहने का अवसर मिलता है तो वह उसे जी भरकर जीने की कोशिश करती है। 'जादू' कविता में अनामिका लिखती हैं—

एक दिन जादू हुआ
मुझे मिला थोड़ा-सा एकांत।
पहले तो मैंने सीटी बजाई
फिर खेली खुद से अंताक्षरी
सब पुराने गानों की।
...और जाना पहली बार
चित भी मेरी, पट भी मेरी का
हर उल्लास।⁴

स्पष्ट है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में लड़कियों के लिए रहने, खेलने, बोलने आदि में लड़कों से अलग अलिखित नियम हैं। यहीं कारण है कि उन्हें हमेशा परिवार की निगरानी में रहना पड़ता है। वह लड़कों जैसा मुक्त जीवन नहीं जी सकतीं। हर बेटी पर उसकी माँ की सूक्ष्म नजर रहती है, इसलिए लड़कियाँ हमेशा तनाव में रहती हैं। भारतीय समाज में लड़की को पराया धन मानकर उनकी परवरिश की जाती है, इसलिए हर स्तर पर उसकी उपेक्षा होती है। परंतु जब कभी आकस्मात खुशी का एकाध पल उसके जीवन में आ जाता है, तो वह उसे त्योहार की तरह मनाती है। वह अपने पर कोई बंधन स्वीकार नहीं करती। एक तरह का सीमातीत आनंद वह अनुभव करती है। अनामिका चाहती हैं कि भारतवर्ष की लड़कियाँ इस प्रकार के तनाव एवं भय से दूर रहें।

अनामिका ने तीसरी दुनिया की स्त्रियों की समस्याओं को उत्तर-आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की है। वह यह अनुभव करती हैं कि भारतीय स्त्रियों पर समाज का काफी दबाव होता है। पुरुषसत्तात्मक परिवार में नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का पालन करने की जिम्मेदारी उन पर डाली गई है। यही कारण है कि वह अनगिणत समाज-मान्यताओं से दबी हुई हैं। शोषण युक्त समाज-व्यवस्था में स्त्री के प्रति पुरुष की दृष्टि हमेशा दोयम दर्जे की रही है। अनामिका 'स्त्रियाँ' कविता में इसी प्रवृत्ति पर प्रहार करती हैं—

सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने
सस्ते कैसेटों पर
ठसा ठस्स ठुँसी हुई बस में।⁵

स्पष्ट है कि भारत में स्त्रियों को कभी गंभीरता से नहीं लिया जाता। उनकी किसी बात पर ध्यान नहीं दिया जाता। पुरुष उसे टालता रहता है, परंतु यह स्त्री अब अपने अधिकारों के

प्रति जागरूक हो चुकी है। वह अपना हक चाहती है। अब उसे पता चल गया है कि उसका शोषण हो रहा है। वह इस व्यवस्था को चुनौती देती है। अनामिका इसी कविता में लिखती है—

एक दिन हमने कहा
हम भी इंसान हैं—
हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसा पढ़ा हो बीए के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन।⁶

स्पष्ट है कि अब नारी अपने को गंभीरता से लेने के लिए समाज को मजबूर कर रही है। वह चाहती है कि उसे पुरुष की तरह समान अधिकार मिले। उसके साथ पीढ़ियों से हो रहा अन्याय, अत्याचार और दोगला व्यवहार बंद हो। उसे मात्र भोग की वस्तु मानने की बजाय उसका मूल्यांकन उसके गुणों एवं कर्मों के आधार पर हो। अब स्त्री अपने पर पुरुष के आधिपत्य का विरोध करती दिखाई देती है। इस दृष्टि से 'खुरदरी हथेलियाँ' काव्य-संग्रह मील का पत्थर साबित हुआ है। इसमें निजता और समाज को नए प्रसंग में टटोलने की कोशिश की गई है और दोनों के द्वंद्वों एवं तनावों की अभिव्यक्ति हुई है। इस संबंध में प्रो० अजय तिवारी ने लिखा है—'निजता और सामाजिकता के संबंधों को अंतर्जगत और बहिर्जगत के द्वंद्व और तनाव को अभिव्यक्त करने के लिए अनामिका ने खुरदरी हथेलियाँ संग्रह को एक सुगठित तार्किक योजनाओं में बाँधा है।' स्पष्ट है कि प्रस्तुत काव्य-संग्रह में स्त्रियों के व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों के द्वंद्व को विश्लेषित किया गया है। वह स्त्री के जीवन में निहित तनावों एवं समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए उसके अंतर्मन एवं बहिर्जगत को नए सिरे से व्याख्यायित करती हैं।

भारतीय समाज में पति-पत्नी का रिश्ता विश्वास एवं प्रेम की बुनियाद पर टिका होता है, परंतु भारतीय समाज में पति को परमेश्वर मानने की व्यवस्था ने पत्नी को पति की गुलामी करने पर विवश कर दिया। हम यह अनुभव करते हैं कि अनेक पत्नियाँ पति-उत्पीड़न की शिकार होती हैं। 'अभ्यागत' कविता में अनामिका लिखती हैं—

रोज निकाला जाता है मुझको
रोज केंचुए की तरह गुड़ी-मुड़ी हो
फैल जाती हूँ फिर से।
वे कहते हैं ठीक/ अपनी औकात जाननी चाहिए,
पैर उतने पसारिए/ जितनी लंबी सौर हो।⁸

भारतीय समाज में हम अक्सर देखते हैं कि पत्नी की हर छोटी-बड़ी गलती पर पति द्वारा पत्नी की पिटाई होती है। साथ-साथ उसे घर से निकाल भी दिया जाता है। मायकेवाले पति द्वारा घर से निकाली अपनी बेटी को घर में लेना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में उसके पास पति की गुलामी करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता। पति द्वारा उसके साथ किसी पालतू जानवर-सा सुलूक किया जाता है। इसमें गलती सिर्फ पुरुषों की नहीं है। स्त्री इस प्रकार के अनेक अत्याचारों को सहती है, इसलिए पुरुषवर्ग की हिम्मत बढ़ती है। इसलिए औरतों को

पहले विरोध करना आवश्यक है ताकि अगली बार पुरुष इस तरह की हरकत करने से पहले सोचेगा। अनामिका इस शोषण के खिलाफ जंग छेड़ती है। पति द्वारा होनेवाले अत्याचारों को व्यक्त करते हुए वह लिखती है—

पीठ नीली/ चेहरा पीला
लाल आँखें और/ जख्म हरे।
कुदरत से सब रंगों की बोटल
उलट-पुलट जाती है मुझ पर/ उनके आते ही।⁹

प्रस्तुत कविता में अनामिका ने पति के घर आते ही एक पत्नी को पीटने के प्रसंग का चित्रण किया है, जिसमें उस पत्नी का तन-बदन पति की मार की वजह से सूजन से भर गया है। यह हमारे देश की सर्वमान्य तस्वीर है। इसके खिलाफ जागरूक रहकर ही पीछा छोड़ा जा सकता है। इतना होते हुए भी यह बात उल्लेखनीय है कि अनामिका आशावादी कवयित्री हैं। वह यह विश्वास जताती हैं कि एक-न-एक दिन इस देश का समस्त स्त्री-वर्ग इस शोषण की चक्की से मुक्त होगा। यथा—

वो चारमीनार है
मैं चूड़ी बाजार हूँ हैदराबाद का
काँव-काँव, किच-किच के बीच भी कहीं कोई
बची हुई झनकर है
क्या ये ही दुनिया का नहीं आठवाँ अचरज?
इतनी सारी मारी-मारी है, फिर भी
उम्मीद है और भरोसा है, रस्ते हैं, इंतजार है।¹⁰

स्पष्ट है कि अनामिका स्त्रीवर्ग के भविष्य के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखती हैं। देश में इतनी सारी समस्याएँ चल रही हैं फिर भी उन्हें उम्मीद है कि भारतवर्ष की स्त्रियों का भविष्य निश्चित ही शोषण-रहित और उज्ज्वल रहेगा।

संदर्भ

1. अनामिका का काव्य, आधुनिक स्त्री-विमर्श, मंजु रुस्तगी, पृ० 11
2. खुरदरी हथेलियाँ, अनामिका, पृ० 12
3. www.Anyatha.com
4. खुरदरी हथेलियाँ, अनामिका, पृ० 20
5. वही, पृ० 13
6. वही, पृ० 20
7. www.Anyatha.com
8. कवि ने कहा, अनामिका, पृ० 68
9. खुरदरी हथेलियाँ, अनामिका, पृ० 46
10. दूब-धान, अनामिका, पृ० 87

मो० 9763602304
navnathshinde442@gmail.com

मधु काँकरिया की कहानियों में नारी-अस्मिता

रंभा रत्नाकर, शोधार्थी

पं० रविशंकर शुक्ल, विश्वविद्यालय, रायपुर (छ०ग०)

डॉ० रेणु सक्सेना, निर्देशक

शासकीय स्नातकोत्तर नागार्जुन विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर (छ०ग०)

शासकीय कला एवं वाणिज्य कन्या महाविद्यालय, देवेंद्रनगर, रायपुर (छ०ग०)

वर्तमान हिंदी कथा लेखन में मधु काँकरिया का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने अपनी रचनाओं में हमेशा नए विषयों का ही चयन किया है। इनकी कहानियाँ अपने समय के यथार्थ को उजागर करती हैं। इन्होंने नारी-जीवन को केंद्र में रखकर अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें नारी-अस्मिता, स्त्री-विमर्श, पारिवारिक संबंध, सामाजिक रूढ़ियाँ, दांपत्य जीवन तथा आधुनिकता से लिपटे हुए विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। उनकी कहानियों के पात्र उनके अपने जीवन के अनुभवों का निचोड़ हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं भोगा एवं महसूस किया है।

अज्ञेय ने पहली बार 'आइडेंटिटी' के पर्याय-स्वरूप 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग किया, इसका अभिप्राय नारी की 'स्व' की पहचान, अपने होने का भाव तथा अस्तित्व से है। नारी-अस्मिता के संदर्भ में दर्शन पांडेय लिखते हैं—'अस्मिता जहाँ व्यक्ति के अस्तित्व-बोध, आत्मसत्ता का बोध तथा निजता की अवधारणा से संबद्ध है, वहीं नारी-अस्मिता से तात्पर्य एक नारी की अपनी विशिष्टता अथवा पहचान किन मूलभूत तत्त्वों से निर्मित होती है, यह मुख्य तथ्य सामने आता है। नारी को पुरुष के सामान ही सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि अधिकार प्राप्त हों। नारी के इन अधिकारों का हनन नारी-अस्मिता का हनन है और इन अधिकारों की प्राप्ति नारी-अस्मिता की प्रतिष्ठा का द्योतक माना जा सकता है।'¹

सामान्य शब्दों में अस्मिता का अर्थ 'पहचान' होता है। इस सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी पहचान होती है, जो उसके व्यक्तित्व का परिचायक होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत है। संसार में नारी-पुरुष एक सिक्के के दो पहलू की तरह होते हैं और दोनों में से किसी एक के अभाव में यह मानव-जीवन ठीक से नहीं चल सकता, अतः नारी के बिना पुरुष और पुरुष के बिना नारी का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। फिर भी कहीं-न-कहीं हमारे पुरुष-प्रधान समाज में नारी-अस्मिता सुरक्षित नहीं है। पुरुष नारी के जीवन, उसकी कार्य-शैली एवं उसकी सत्ता को अपने तरीके से निर्धारित करना चाहता है। मधु काँकरिया की कहानियाँ कुल्ला, चूहे को चूहे ही रहने दो, फैलाव, एक रुकी हुई स्त्री, लेडी बॉस नारी-जीवन की इन्हीं समस्याओं को रेखांकित करती हैं।

'कुल्ला' कहानी में लेखिका ने नायिका प्रमिला के माध्यम से एक जागरूक स्त्री का चित्रण किया है। अपनी युवावस्था के दौरान पहली बार प्रमिला ने प्रेम और पुरुष को किताबों

से जाना। उन्हें हीर-राँझा जैसी कहानियों से समझा था। इसलिए पुरुषों के प्रति उसकी विचारधारा संवेदनशील थी। नायिका के विवाह के प्रारंभिक दौर में पति की तरफ से भरपूर प्रेम मिला, जिससे प्रसन्न होकर वह मीराबाई की तरह खुशी से झूम उठती थी, लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गए, दोनों के बीच प्रेम की मिठास फीकी पड़ती गई। लेकिन प्रमिला के मन में प्रेम का जो अंकुर फूटा था, उसे वह हर हाल में पाना चाहती थी। इसलिए उसे पति के पसीने की दुर्गंध भी सुगंधित लगती। उनके घर में पति-पत्नी के प्रेम की एक अदृश्य सीमा-रेखा थी, जिससे बाहर जाना घर की परंपरा व संस्कृति के प्रतिकूल समझा जाता था। एक दिन प्रमिला पति के प्रेम को पहले की तरह रूमानी करने के लिए बहुत प्यार से रसोई में कुछ बना रही थी, तभी पति ने मजाक से टूथपेस्ट के झाग का कुल्ला प्रमिला की पीठ पर थूक दिया, जिसे प्रमिला बर्दाश्त नहीं कर पाती और स्वयं को अपमानित अनुभव करती है। वह क्रोध में पति से प्रतिशोध लेना चाहती है, जिसे देखकर सास का मन विचलित हो उठता है और वर्षों से भुलाया हुआ दुःख स्मरण हो आता है। वह अपनी बहू को सांत्वना देती हुई कहती है—‘यह घर का नहीं, गाँव-भर का दस्तूर है बेटी। धीरे-धीरे तू भी इसकी आदी हो जाएगी। यहाँ ज़िंदगी के चारों ओर बाकी सभी सुख-सुविधाओं के साथ जूटा कुल्ला भी मिलता है। इसने अपने बाप को इसी तरह कुल्ला फेंकते देखा था, इसका बाप तो इससे भी आगे था...तब नवाबी के दिन थे। हर शाम इसका बाप वेश्याओं की बस्ती में चला जाता था। वहाँ इतनी चढ़ा लेता था कि धुत पड़ा रहता था। शराब की गंध से बजबजाती उसकी गीली देह को मैं पोंछती, नए कपड़े पहनाती...हर रात का यह दस्तूर था।’² लेकिन प्रमिला आधुनिकयुग की नारी है। वह पति के किए हुए दुर्व्यवहार को सहन नहीं कर पाती और वहाँ से चली जाती है। क्योंकि प्रमिला एक स्वाभिमानिनी स्त्री है और यह जानती भी है कि ‘जैसे ज़िंदगी का जवाब ज़िंदगी है, वैसे कुल्ले का जवाब कुल्ला है।’³ इससे स्पष्ट होता है कि कहानी में एक ओर सास पारंपरिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है, तो दूसरी ओर लेखिका ने प्रमिला के माध्यम से परंपरा और रूढ़ियों को तोड़कर अपनी अस्मिता, अपनी पहचान बनाने व स्वयं को स्थापित करने के लिए तत्पर नारी का चित्रण किया है।

‘चूहे को चूहे ही रहने दो’ कहानी में लेखिका ने एक ऐसी स्त्री का निरूपण किया है, जिसका पति नारी के प्रभुत्व, प्रतिष्ठा, उसकी पहचान एवं अधिकार को स्वीकृत नहीं करता और उसके साथ अमानवीय व्यवहार करता है, जिसमें स्पष्ट रूप से नारी अस्मिता पर चोट परिलिखित होती है। इसीलिए स्त्री पति से प्रतिशोध लेने हेतु अन्य युवक के साथ संबंध स्थापित करना चाहती है। वह अपने 9 वर्षीय पुत्र के साथ गंगटोक की यात्रा पर जाती है, जहाँ उसकी मुलाकात एक युवक के साथ होती है और दोनों एक-दूसरे के इतने करीब आ जाते हैं कि एक रात युवक स्त्री के कमरे तक पहुँच जाता है और अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए स्त्री की ओर बढ़ता है। तभी स्त्री स्वयं को उसकी गिरफ्त से मुक्त कर लेती है और कहती है—‘इससे बढ़ना मेरे एजेंडा में नहीं था। यह मेरी वासना नहीं, प्रतिशोध की अग्नि थी, जिसकी ज्वाला में मैं धधक रही थी।’⁴ इसे सुनकर युवक निस्तब्ध हो जाता है। इस संदर्भ में स्त्री से

पूछने पर वह कहती है—‘मेरे पति ने मेरी देह की जमीन पर ऐसी हदबंदी कर दी थी, ऐसे कैंटीले बाड़े डाल रखे थे कि मैं किसी हमउम्र इंसान से बात करने तक तरस जाती थी। इंसान! ओह...कितना जानदार और शानदार शब्द है। मेरा वश चले तो मैं संसार के सारे सुंदर इंसानों से घुलूँ-मिलूँ, उनके विचार जानूँ, पर मेरी जिंदगी में इस शब्द की कोई अहमियत नहीं थी। मैं हर मौसम में बंदिनी थी। रोम के गुलामों से भी बदतर। एक बार मैंने अपने छोटे भाई के मित्र से पति के सामने हिम्मत करके हाथ मिला लिया, तो पति ने उसके जाने के बाद दीवार पर मेरे हाँथों को रगड़ दिया, जिससे उसका स्पर्श मिट जाए...।’⁵ एक नारी सब-कुछ सहन कर सकती है, किंतु जहाँ कोई उसकी अस्मिता पर कलंक लगाता है, वहाँ वह खामोश नहीं रहती है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान में बदलते हुए परिवेश एवं समय के साथ लोगों की विचारधारा में परिवर्तन आया है। जैसे कि इस कहानी में लेखिका ने प्रतिशोध की एक नई दृष्टि को रेखांकित किया है—‘पवित्रता जैसे संदिग्ध पदार्थ के लिए क्या प्रतिशोध जैसी शक्तिशाली भावना की आहुति दी जा सकती है? इस प्रतिशोध में भी जीवन के कुछ मूल्य और नारी-बोध जुड़ा था...।’⁶

‘फैलाव’ कहानी भी नारी-अस्मिता को व्यक्त करती है। इसमें नायिका श्रुति पढ़ी-लिखी आधुनिक युग की युवती है, जो गृहणी के जीवन से तंग आकर अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को फैलाना चाहती है। वह पति से अनुरोध करके उनके ऑफिस में लेखा-जोखा का कार्य सँभालती है। श्रुति के कार्य का दायरा बढ़ जाता है, फिर भी वह घर और ऑफिस की समान रूप से देख-रेख करती है। प्रारंभिक दिनों में सब ठीक रहा, किंतु दिन-भर की भाग-दौड़ में श्रुति के चेहरे का रंग ही उड़ गया। घर और ऑफिस के कार्य में वह इतना व्यस्त हो जाती कि उसे साँस लेने की फुरसत नहीं मिलती। ऐसी ही थकावट भरी रात थी, जब पति की इच्छा को पूर्ण करने में वह असमर्थ रही। नींद के कारण वह चाहकर भी साथ नहीं दे पा रही थी, इसलिए पति को लगा कि स्त्री बाहर का काम करती है तो अभिमान बढ़ जाता है और इसी बात को लेकर दोनों में अनबन हो गई। श्रुति क्रोध में आकर अपने पति से कहती है—‘बनिए हो न, इस कारण हर जगह भाव-ही-भाव नजर आता है। आदमी का जात होते तो समझ पाते आदमी का दर्द, सोच पाते कि मन के साथ जुड़ता है तन का सरगम, पर हो तो वही दोपाया न, इस कारण सेक्स और चॉकलेट में कोई अंतर नहीं दिखता।’⁷ स्पष्ट है कि पुरुष प्रधान समाज में नारी को मना करने का भी अधिकार नहीं है। श्रुति का पति इसका बदला ऑफिस में सभी के समक्ष उसे अपमानित करके लेता है। इस तरह बिस्तर की लड़ाई ऑफिस तक फैल जाती है। वह अपने पक्ष में स्टॉफ के समक्ष कुछ बोल नहीं पाती और अपराधियों की तरह सब-कुछ सहन करती है। स्पष्ट होता है कि श्रुति स्वयं को बहुत निर्बल और असहाय अनुभव करती है, किंतु उसकी आत्मशक्ति कमजोर नहीं होती और वह अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेती है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा जी का कथन है—‘नारी में परिस्थितियों के अनुसार अपने बाह्य जीवन को ढाल लेने की जितनी सहज प्रवृत्ति है, अपने स्वभावगत गुण न छोड़ने की आंतरिक प्रेरणा से कम नहीं, इसी से भारतीय नारी भारतीय पुरुष से अधिक सतर्कता के साथ अपनी विशेषताओं की रक्षा कर सकती है, पुरुष के समान अपनी व्यथा भूलने के लिए वह कादंबनी नहीं माँगी,

उल्लास के स्पंदन के लिए लालसा का तांडव नहीं चाहती, क्योंकि दुःख को वह जीवन की शक्ति-परीक्षा के रूप में ग्रहण कर सकती है और सुख को कर्तव्य में प्राप्त कर लेने की क्षमता रखती है।⁸ इस प्रकार आधुनिक युग की नारी अपनी अस्मिता को पाने के लिए संघर्षशील है। समाज में यदि नारी-अस्मिता को जगाना है, तो हमें सबसे पहले लड़कियों की शिक्षा के प्रति जागरूक होना होगा और उन्हें स्वावलंबी बनाना होगा, क्योंकि यदि वह दूसरों पर निर्भर रहें तो निश्चित रूप से कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी से उसकी अस्मिता प्रतिबंधित होती रहेगी।

‘एक रुकी हुई स्त्री’ कहानी एक ऐसी स्त्री के जीवन को चित्रित करती है, जो प्रेम में पड़कर अपना जीवन बर्बाद कर देती है, अपना अस्तित्व ही भूल जाती है और एक रुकी हुई स्त्री की तरह जीवन-भर अपने धोखेबाज प्रेमी के इंतजार में बैठी रहती है। यह कहानी कलकत्ता के एक मेडिकल कॉलेज के युवक सरबजीत और युवती मानसी के प्रेम-प्रसंग पर आधारित है, जिसमें मानसी के साथ अन्याय होता है। मानसी के लिए सरबजीत का प्रेम ही सर्वोपरि होता है, क्योंकि युवक बड़ी चतुराई से अपने प्रेम का इजहार करने के साथ ही पढ़ाई खत्म होने के बाद शादी करने और जीवन-भर साथ निभाने का झूठा वादा करता है, जिसे मानसी सच समझ बैठती है। वह उसके प्रेम में इस कदर डूब जाती है कि उसे अपने प्रेमी के अतिरिक्त और कोई नजर नहीं आता है। दिन-रात प्रेम में लीन रहती है, उसके प्रत्येक शब्द का स्मरण करती रहती है। इस तरह कहानी में मानसी के चरित्र द्वारा एक पारंपरिक स्त्री के स्वरूप को चित्रित किया गया है, जो पुरुषों द्वारा भोग्या समझी जाती है। स्त्री पुरुष के मूल चरित्र को समझ नहीं पाती और भोग्या रूप में शोषित होती रहती है। इस तरह अपने जीवन का नया मार्ग नहीं तलाश कर पाती और स्वयं के अस्तित्व को समाप्त कर लेती है। इसलिए कहा गया है—‘प्रेम यदि ईश्वर के प्रति हुआ तो प्रथम कोटि की प्रतिभा जंगल में चली जाएगी और यदि पुरुष के प्रति हुआ, तो प्रथम कोटि की प्रतिभा अश्रुयुग में।’⁹ सरबजीत के लिए मानसी मनोरंजन का साधन-मात्र होती है तथा प्रेम का उसके जीवन में कोई महत्व नहीं रहता। वह अपने ही बारे में सोचता है। प्रेम के संदर्भ में उसकी विचारधारा इस प्रकार है—‘जिंदगी के किसी मुहाने पर जिंदगी के स्पेस को भरना न कि जिंदगी को शेयर होल्डर बनाना।’¹⁰ इससे स्पष्ट है कि सरबजीत मानसी के विश्वास, सपने एवं उम्मीद को तोड़ देता है, जिससे मानसी पूरी तरह टूट जाती है। जिस युवक ने उसे 15 मिनट में भुला दिया, उसे वह 15 वर्षों तक अपने हृदय में बसाए रहती है और उसकी याद में तड़पती रहती है—

कैसे खबर कि मेरी रूह के दरिया में,
गमे-हयात के कितने चिराग जलते हैं।¹¹

नारी-अस्मिता पर आधारित ‘लेडी बॉस’ कहानी में किसी प्रतिभाशाली स्त्री का निरूपण किया गया है, किंतु कुछ लोग स्त्री का फायदा उठाकर उसकी प्रतिभा का शोषण करते हैं। लेडी बॉस ने बैंगलोर से कंप्यूटर विज्ञान में एम॰टेक॰ एवं अमेरिका से मास्टर डिग्री प्राप्त की है। अब वह न्यू जनरेशन ऑफ सॉफ्टवेयर की मालकिन है, जिसे लोग लेडी बॉस कहते हैं। वह अपनी कंपनी के विकास तथा कंप्यूटर क्षेत्र में भारत के योगदान को स्थापित करने के

लिए रात-दिन संघर्ष करती है, साथ ही अपने कर्मचारियों के प्रति सख्त रहती है, क्योंकि वह जानती है कि—‘महिला बॉस को लोग एक्सेप्ट नहीं कर पाते हैं, इस कारण स्टॉफ को कंट्रोल करने में अतिरिक्त एनर्जी खपानी पड़ती है।’¹²

लेडी बॉस के लिए उसकी कंपनी ही सब-कुछ थी। एक माँ जिस प्रकार अपने बढ़ते बच्चों को देखकर खुश होती है, उसी प्रकार अपनी कंपनी को देखकर खुश होती थी। वह अपने जीवन की 10-12 वर्षों की ऊर्जा कंपनी की उन्नति एवं विकास में ही लगा देती है, उनको जापान, जर्मनी और मॉस्को की प्रतिष्ठित कंपनियों से सॉफ्टवेयर के लिए ऑर्डर मिलने लगते हैं। उसने ‘इंटेलिजेंट कार्ड तकनीक’ पर कार्य किया, जो किसी भी उच्च प्रोग्रामर से पोस्ट ऑफिस के एकाउंट सिस्टम को नियंत्रित करने में सक्षम होता है। मैडम ने इस तकनीक को गवर्नर के समक्ष प्रस्तुत किया और उन्हें स्वीकृति भी मिल जाती है। तमाम अखबारों में इस तकनीक की प्रशंसा होती है एवं विवरण भी दिया जाता है, किंतु लेडी बॉस की तस्वीर और उनका नाम अखबार के किसी कोने में सिमटकर रह जाता है और पूरा श्रेय रिजर्व बैंक के गवर्नर एवं संचार विभाग के मंत्री को मिल जाता है, क्योंकि मीडिया के कैमरे का फोकस भी इन्हीं लोगों पर होता है। मीडिया के इस दुर्व्यवहार से मैडम बहुत दुःखी होती हैं, क्योंकि उसने अखबारों में छाने एवं उस वर्ष की सर्वाधिक प्रतिभाशाली महिला बनने और यशस्वी होने का जो सपना देखा था, वह उनकी आँखों के सामने से ओझिल हो गया। ऐसे समय में उन्हें अपने पति की सहानुभूति की आवश्यकता महसूस होती है। जब वह उनके पास जाना चाहती है तो ज्ञात होता है कि उसके पति ने किसी रशियन महिला से विवाह कर लिया है। इस तरह 45 वर्ष की उम्र में ही उनके हाथ से सब निकल जाता है और वह जीवन के सफर में अकेली रह जाती है। ऐसे क्षणों में लेडी बॉस यह सोचती है कि—‘जीवन का जो अंश प्रतिअंश स्वाहा किए...क्या रही उसकी उपलब्धि? उपलब्धियाँ किसलिए? किसी भिखारिन को सड़क पर अपनी गृहस्थी के साथ देखती तो ठिठककर वहीं खड़ी हो जाती...मुझसे ज्यादा तो यह सुखी..।’¹³ स्पष्ट होता है कि लेडी बॉस के जीवन में खुशी नहीं रहती तथा जीवन जीने की चेतना भी नहीं रहती। वह रात-दिन काम में इतना व्यस्त रहती थी कि उसे ज्ञात ही नहीं हो पाता कि सुख क्या है और खुशियाँ किसमें होती हैं। अब वह छोटी-से-छोटी खुशियों के लिए तरस जाती है। इस प्रकार इस कहानी में एक प्रतिभाशाली स्त्री की जीवन-व्यथा को चित्रित किया गया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विशिष्ट लेखिका मधु काँकरिया ने कहानी में सर्वदा नारी-पात्रों को मुक्त एवं अपराध-बोध से रहित तथा बौद्धिक रूप से सतर्क रखा है। उन्होंने अपनी कहानियों में नारी की परंपरागत रूढ़ियों में दबी हुई छवि को तोड़कर मानसिक रूप से परिवर्तित हुई स्वाभिमानी नारी को चित्रित किया है।

संदर्भ

1. हिंदी कहानी और स्त्री-विमर्श, डॉ० उषा झा, साक्षी प्रकाशन जयपुर, प्रथम संस्करण, पृ० 162
2. और अंत में ईशु, मधु काँकरिया, किताबघर प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ० 99-100
3. वही, पृ० 100

4. बीतते हुए, मधु काँकरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 190
5. वही, पृ० 191
6. और अंत में ईशु, मधु काँकरिया, पृ० 78
7. वही, पृ० 83
8. शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 26
9. बीतते हुए, मधु काँकरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 171
10. वही, पृ० 175
11. वही, पृ० 173
12. वही, पृ० 46

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय
बिलासपुर (छ.ग.) 495009
मो० 8966930133
rambha1030@gmail.com

अवसरवादी पत्रकारिता के दौर में गणेशशंकर विद्यार्थी की सैद्धांतिक पत्रकारिता की प्रासंगिकता

योगेंद्र सिंह, शोधार्थी

हिंदी विभाग

चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

हिंदी-पत्रकारिता में गणेशशंकर विद्यार्थी की पहचान आदर्शों एवं मूल्यों को स्थापित करनेवाले पत्रकार के रूप में की जाती है। आपने अपनी निर्भीक एवं ओजस्वी पत्रकारिता के द्वारा न केवल अँग्रेज सरकार के विरुद्ध प्रबल राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया अपितु हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में त्याग, बलिदान एवं समर्पण के नए प्रतिमान भी स्थापित किए हैं। स्वतंत्रतापूर्व 'प्रताप' कर्मवीर, जैसे पत्रों के माध्यम से जनता में नया जोश व उत्साह भरकर स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रियता का मार्ग दिखाने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी एक सच्चे राष्ट्रभक्त एवं स्वाधीनता-सेनानी थे। वे एक ऐसे पत्रकार थे, जिन्होंने हिंदी-पत्रकारिता का परम लक्ष्य राष्ट्रहित एवं मानव-कल्याण को स्वीकार करके अपना सर्वोच्च बलिदान कर दिया। समय के साथ-साथ हिंदी-पत्रकारिता का स्वरूप एवं उद्देश्य दोनों में ही व्यापक परिवर्तन हुआ है। आज की पत्रकारिता अवसरवादी एवं स्वार्थपरक होकर सत्ता के हाथों की कठपुतली बनती जा रही है। संक्रमण के ऐसे दौर में गणेशशंकर विद्यार्थी की सैद्धांतिक पत्रकारिता का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

हिंदी-पत्रकारिता का उदय अँग्रेजी सत्ता के कोप की शिकार भारतभूमि पर जिस समय हुआ, वह काल आंग्ल दमनचक्र की भयंकरता से परिपूर्ण था। ऐसे विपरीत समय में भी हिंदी-पत्रकारिता के निडर एवं साहसी पत्रकारों ने इसे पुष्पित एवं पल्लवित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। आज हिंदी-पत्रकारिता समाचारपत्रों, पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन एवं इंटरनेट आदि शाखाओं-उपशाखाओं वाले वटवृक्ष के रूप में स्थापित हो चुकी है। हिंदी-पत्रकारिता के आरंभिक दौर के हिंदीप्रेमी पत्रकारों ने अनेक कष्टों को सहकर एवं अपने प्राणों की आहुति देकर हिंदी-पत्रकारिता को यह नव स्वरूप प्रदान किया है। अतः कहा जा सकता है कि वर्तमान हिंदी-पत्रकारिता के इस भव्य भवन की नींव को सैकड़ों पत्रकारों ने अपना सर्वस्व न्योछावर करके निर्मित किया है।

भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के पक्ष में जनमत बनाने में हिंदी-पत्रकारिता का बहुत बड़ा योगदान रहा है। भारतीय जनमानस में राष्ट्रचेतना का प्रचार-प्रसार करने वाली हिंदी-पत्रकारिता को अँग्रेजों की दमनकारी नीतियों का शिकार भी होना पड़ा और अनेक कष्ट एवं यातनाएँ भी

सहनी पड़ीं। तत्कालीन समय के पत्रकारों ने पत्रकारिता को एक मिशन के रूप में अपनाकर अपना सर्वस्व स्वाधीनता की वेदी पर अर्पित कर दिया। निश्चय ही आरंभिक दौर की हिंदी-पत्रकारिता उच्च आदर्शों एवं मूल्यों का पालन करने वाला वह मार्ग था, जिस पर अपना सर्वस्व बलिदान करके ही चला जा सकता था। पत्रकारिता के आदि पत्रकारों ने त्याग एवं बलिदान की इस परंपरा पर अपना सर्वस्व अर्पित करके हिंदी-पत्रकारिता में नए आयाम स्थापित किए हैं।

हिंदी-पत्रकारिता के इसी त्याग, बलिदान एवं संघर्ष का स्मरण करते हुए कृष्णबिहारी मिश्र लिखते हैं—‘विरासत की उज्ज्वल साधना याद आती है कि साम्राज्यशाही तोप के प्रतिपक्ष में क्रियाशील और जयी भारतीय पत्रकारिता ने अपने समय की चुनौती को पूरी शक्तिमत्ता से मुकाबला किया था। अनेकमुखी प्रत्यूह के बीच खड़े होकर आदि पत्रकारों ने अपने चरित्र एवं पुष्ट मनोबल से अंग्रेजी राज के कुकृत्यों और नृशंसताओं का प्रतिरोध किया। उनकी साधना का एकांत लक्ष्य था साम्राज्यशाही अभिशाप से मुक्ति। इसके लिए बड़ी से बड़ी यातना झेलने को वे प्रस्तुत रहते थे और जब-तब विकट आंतक रचने वाली परिस्थिति तथा बड़े-से-बड़े प्रलोभन उन्हें आदर्शच्युत करने में विफल रहे।’ कृष्णबिहारी मिश्र का उपर्युक्त कथन प्रारंभिक हिंदी-पत्रकारिता के स्वरूप एवं उद्देश्यों की ओर भली-भाँति इशारा करता प्रतीत होता है। हिंदी-पत्रकारिता के आरंभिक दौर में हमारे पत्रकारों की जो प्रतिष्ठा थी, वह अब क्षीण होती जा रही है। पचास-साठ वर्ष पूर्व किसी समाचारपत्र के संपादक अथवा पत्रकार को जो सम्मान प्राप्त था, वह अब नहीं है। पत्रकारिता के क्षेत्र में आ रही इस गिरावट एवं अप्रतिष्ठा पर नजर डाली जाए तो इसके पीछे सबसे बड़ा कारण पत्रकारिता का अपने आदर्शों, उद्देश्यों एवं मूल्यों से विमुख हो जाना ही माना जा सकता है। आज हिंदी-पत्रकारिता संक्रमण के दौर से गुजर रही है। इसमें आधुनिक एवं परंपरागत शैलियों का द्वंद्व स्पष्ट तौर पर झलक रहा है। महिपाल सिंह अपने लेख ‘राष्ट्रीय विकास में योगदान’ में हिंदी पत्रकारिता के इसी बदलते स्वरूप को इस प्रकार से रेखांकित करते हैं—‘बदलते राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में पत्रकारिता के मूल्यों एवं प्रतिबद्धताओं में बदलाव आया है, जो कि लाजमी भी है, परंतु हिंदी-पत्रकारिता में यह बदलाव कुछ ज्यादा ही तीखा है, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती है, क्योंकि यह बदलाव हिंदी-पत्रकारिता के विकास में एक और मुकाम बनकर नहीं उभरा है, वरन् कहीं-न-कहीं से यह बदलाव पत्रकारिता के मूल उद्देश्यों में भटकाव का आभास दे रहा है। यहाँ तक कि पत्रकारिता के स्थापित मापदंड इस दौड़ में गौण होते जा रहे हैं, जो कि एक स्वस्थ विकास की तरफ इशारा नहीं करते।’²

नई सदी की पत्रकारिता के समक्ष नई संभावना, नई आस्था एवं नई चुनौतियाँ खड़ी हैं। एक ओर जहाँ इक्कीसवीं सदी की हिंदी-पत्रकारिता नए तेवर एवं नई अस्मिता के साथ नव स्वरूप धारण कर चुकी है, वहीं दूसरी ओर आज की हिंदी-पत्रकारिता अपने मूल स्वरूप एवं उद्देश्यों से भटककर व्यावसायिकता की ओर झुकती जा रही है, परिणामस्वरूप वह अपने आदर्शों एवं मूल्यों से विमुख होती जा रही हैं। स्वतंत्रतापूर्व की हिंदी-पत्रकारिता का उद्देश्य राष्ट्रहित, समाजहित एवं मानव-कल्याण था। बाल गंगाधर तिलक, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, पं० सुंदरलाल आदि अनेक पत्रकारों ने इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु

स्वतंत्रता-आंदोलन की अग्नि में स्वयं की आहुति देकर, हिंदी-पत्रकारिता में उच्च आदर्शों एवं नए प्रतिमानों की स्थापना की थी, किंतु दुर्भाग्य की बात है कि आज के दौर में आनेवाली पत्रकारों की नई पीढ़ी ने अपने स्वार्थहितों के लिए आदर्श एवं मूल्यों को तिलाजलि दे दी है। आधुनिक समय की पत्रकारिता के स्वरूप एवं उद्देश्यों को बाजार, उपभोक्ता एवं सत्ता द्वारा निर्धारित कर रहे हैं, जिसके कारण पत्रकारिता का वास्तविक उद्देश्य पीछे छूटा जा रहा है एवं एक-दूसरे के हितों की रक्षा एवं स्वार्थसिद्धि ही इन सभी का परम उद्देश्य बन चुका है। पत्रकारों एवं समाचारपत्रों पर बार-बार लगने वाले भ्रष्टाचार एवं पक्षपात के आरोप इसका जीवंत उदाहरण हैं। हिंदी-पत्रकारिता के इसी गिरते स्तर के विषय में आलोक मेहता कहते हैं, 'हिंदी-पत्रकारिता में आज बाजार का खतरा बढ़ रहा है। विज्ञापन की चुनौतियाँ आ रही हैं। आज जहाँ प्रबंधकों का वर्चस्व बढ़ा है, उसमें सबसे बड़ी भूमिका संपादक की भी रही है। ऐसे राष्ट्रीय अखबारों का पतन हुआ है, उन पर बाजार हावी हुआ है। जब लगा कि उसे संपादक अपनी राज्यसभा की सदस्यता के लिए, अपने को साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए उसका उपयोग करते हैं।'³

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि संचार-क्रांति के बदलते युग में हिंदी-पत्रकारिता की शर्तें एवं उद्देश्य भी बदल रहे हैं। तकनीकी के बढ़ते साधनों ने हिंदी-पत्रकारिता को समय के साथ चलने के लिए बाध्य कर दिया है, परिणामस्वरूप आज की हिंदी-पत्रकारिता बाजार की माँग, कारपोरेट एवं राजनीतिक सत्ता के गठजोड़ के द्वारा निर्देशित हो रही है। इन प्रभावकारी शक्तियों ने पत्रकारिता को उसके वास्तविक उद्देश्यों से भटकाकर व्यावसायिकता के आवरण में ढक लिया है। इससे अधिक विडंबना और क्या हो सकती है कि जो पत्रकारिता स्वतंत्रतापूर्व राष्ट्रीय भावना का उद्घोष करनेवाला प्रमुख अस्त्र समझी जाती थी, वह अब सत्ता एवं कारपोरेट घरानों के लिए धनोपार्जन का माध्यम बनती जा रही है। मूल्यहीनता एवं अवसरवाद के इस दौर में स्वतंत्रतापूर्व की हिंदी-पत्रकारिता के आचरण से सीख लेने की बहुत अधिक आवश्यकता है। आरंभिक पत्रकारिता के उन्नायकों ने बिना किसी प्रलोभन एवं दबाव में आए हिंदी-पत्रकारिता में मूल्य एवं आदर्शों की स्थापना की थी। गणेशशंकर विद्यार्थी उस समय के ऐसे ही आदर्श पत्रकार थे, जिन्होंने हिंदी-पत्रकारिता में त्याग एवं बलिदान के द्वारा नए प्रतिमान स्थापित किए हैं, जोकि हिंदी पत्रकारों की आनेवाली पीढ़ियों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म 25 अक्टूबर 1890 ई० में प्रयाग में हुआ था। अँग्रेजी शासन के खिलाफ अपनी कलम से क्रांति का उद्घोष करनेवाले गणेशशंकर विद्यार्थी से तत्कालीन समय की जनता को राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा मिली थी। गणेशशंकर विद्यार्थी एक निडर और निष्पक्ष पत्रकार होने के साथ-साथ समाजसेवी, स्वाधीनता-सेनानी और कुशल राजनीतिज्ञ थे। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अपनी बेबाकी और अलग अंदाज के लिए जाने जानेवाले गणेशशंकर विद्यार्थी ने हिंदी-पत्रकारिता में अपनी लेखनी के माध्यम से त्याग एवं बलिदान के उच्च आदर्श स्थापित किए हैं। कलम की ताकत हमेशा से ही

तलवार की ताकत से अधिक रही है और कई ऐसे पत्रकार हुए हैं, जिन्होंने अपनी कलम से सत्ता की राह बदल दी है। गणेशशंकर विद्यार्थी भी ऐसे ही पत्रकार थे, जिन्होंने अपनी कलम की ताकत से अँग्रेजी शासन की नींव हिला दी थी।

भारत में पत्रकारिता का उद्भव परतंत्रता के समय में हुआ था। अँग्रेजों द्वारा किए जा रहे अन्याय और शोषण के दौर में भारतीय पत्रकारिता को बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ी। बाल गंगाधर तिलक से शुरू होने वाली साहसी एवं जुझारू पत्रकारिता को गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने समाचार-पत्र 'प्रताप' के जरिए एक नई ऊँचाई प्रदान की थी। बाल गंगाधर तिलक को अपना राजनीतिक गुरु माननेवाले गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपनी पत्रकारिता की शुरुआत 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सहायक के रूप में की थी किंतु राजनीतिक पत्रकारिता में रुचि होने के कारण गणेशशंकर विद्यार्थी ने सरस्वती छोड़कर 'अभ्युदय' के सहायक संपादक के रूप में भी कार्य किया। गणेशशंकर विद्यार्थी महाराणा प्रताप के स्वतंत्रता संघर्ष से बहुत अधिक प्रभावित थे। इसी से प्रेरणा प्राप्त करके आपने कानपुर से अपना पत्र 'प्रताप' निकाला। गणेशशंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' ने स्वाधीनता-आंदोलन में एक नई ऊर्जा व शक्ति का संचार किया था। माखनलाल चतुर्वेदी, कृष्णदत्त पालीवाल, बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', प्रेमचंद तथा भगतसिंह आदि ने गणेशशंकर विद्यार्थी से ही प्रेरणा लेकर पत्रकारिता को अपनाया था। अतः कहा जा सकता है कि पराधीन भारत की करुण पुकार, स्वदेशाभिमान, अत्याचार के प्रति रोष एवं राष्ट्रसेवा के प्रति निष्ठा से प्रेरित होकर गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने समाचार-पत्र 'प्रताप' के द्वारा स्वाधीनता-आंदोलन में महत्वपूर्ण योग दिया था। यही नहीं क्रांतिकारियों एवं साहित्यकारों की एक पूरी पीढ़ी का सहयोग एवं प्रशिक्षण में गणेशशंकर विद्यार्थी एवं उनके पत्र 'प्रताप' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिस प्रकार बाल गंगाधर तिलक ने अपने पत्र 'केसरी' के माध्यम से महाराष्ट्र व दक्षिण भारत में राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत किया, ठीक उसी प्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी को 'प्रताप' के माध्यम से संपूर्ण उत्तर भारत में राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार-प्रसार करने का श्रेय प्राप्त है। स्वाधीनता-संघर्ष में अविस्मरणीय योगदान करने के कारण ही गणेशशंकर विद्यार्थी एवं उनके पत्र 'प्रताप' को अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध स्वाधीनता-आंदोलन का बिगुल बजानेवाले पत्रों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

'प्रताप' राजनीतिक पत्र होने के साथ-साथ किसानों एवं मजदूरों की आवाज को उठानेवाला भी प्रमुख पत्र था। वह देशी राज्यों एवं जनता के कष्टों के प्रति विशेष रूप से सतर्क था। गणेशशंकर विद्यार्थी अँग्रेज सरकार के अत्याचारों एवं दमनकारी नीतियों पर खुलकर लिखने वाले पत्रकार थे। उन्होंने ब्रिटिश हुकुमत के अत्याचारों की परवाह किए बिना स्वतंत्रता-आंदोलन में न केवल अपनी कलम से अपितु अपना सर्वस्व अर्पण करके आनेवाली भावी पीढ़ियों के लिए नए प्रतिमान स्थापित किए। स्वाधीनता-आंदोलन में गणेशशंकर विद्यार्थी एवं उनके पत्र 'प्रताप' के योगदान को रेखांकित करते हुए जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी कहते हैं, 'इस प्रकार के आदर्शों को लेकर निकलनेवाला हिंदी का यह अपने ढंग का पहला पत्र था और

इसने इन आदर्शों की रक्षा पूरी तरह की। इन आदर्शों की रक्षा के लिए ही श्री गणेशशंकर विद्यार्थी को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। उससे पूर्व उन्हें पाँच बार जेल जाना पड़ा, साथ ही शासन द्वारा लगाए गए अनेक बंधनों का मुकाबला करना पड़ा, परंतु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। 'प्रताप' को उन्होंने एक महान उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाया था और उसके द्वारा न केवल कानपुर में बल्कि पूरे उत्तर भारत में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी। संभवतः उस समय तक देश का कोई संपादक ऐसा नहीं था, जिसने इतनी स्पष्टता के साथ अपने उद्देश्यों को अपने और पाठकों के सामने रखा और उस पर अमल करने में कभी भी किसी से भी किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। साथ ही उन्होंने पत्रकारिता, साहित्य और देश की राजनीति में एक नई तथा शक्तिशाली धारा प्रवाहित की।⁴

वस्तुतः गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने त्याग एवं बलिदान के द्वारा भारतीय पत्रकारिता ही नहीं, अपितु विश्वपत्रकारिता में एक नया अध्याय लिखा है। वह हिंदी-पत्रकारिता के आदि पितामह एवं दृढ़ स्तंभ हैं। उनकी इसी विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए कृष्णबिहारी मिश्र लिखते हैं, 'प्रताप संपादक ने आदर्शभित्तिक जीवन और स्पृहणीय मृत्यु द्वारा मानव-जाति के लिए उसी अमूल्य संपत्ति की रचना की है। गणेशशंकर विद्यार्थी की आदर्श की राह गांधी की राह थी, अहिंसा और सत्य की राह थी। अपने पत्र के माध्यम से इसी राह का विविध रूपों में वे परिचय देते रहे, अपने पाठकों को अपने आदर्श का मर्म समझाते रहे, स्वत्व सचेत करते रहे।⁵ यही कारण है कि हिंदी-पत्रकारिता के इतिहास में गणेशशंकर विद्यार्थी एवं उनके पत्र 'प्रताप' को मील का पत्थर स्वीकार किया जाता है। पंडित श्रीराम शर्मा ने विद्यार्थी जी के नेतृत्व में 'प्रताप' की सेवाओं के विषय में लिखा था, 'प्रताप का आगमन पत्रकार-कला में युगांतरसूचक था। उसके विचारपूर्ण गंभीर संपादकीय लेख, हृदयग्राही कविताएँ और विद्वत्तापूर्ण लेख, अत्याचार एवं अन्याय पर कुठाराघात, इन सब बातों ने 'प्रताप' को देशशक्ति बना दिया था।⁶

गणेशशंकर विद्यार्थी केवल एक पत्रकार ही नहीं, अपितु स्वयं में एक संस्थान थे। उनके सान्निध्य में कई बड़े लेखकों, साहित्यकारों एवं क्रांतिकारियों ने विदेशी शासकों के विरुद्ध आवाज उठाई। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' से हिंदी-पत्रकारिता में नया युग प्रारंभ हुआ। चतुर्वेदी जी ने 'नवनीत' के संपादक नारायणदत्त को लिखा था, 'हिंदी-पत्रकारिता का आधुनिकयुग विद्यार्थी जी के साथ शुरू हुआ और उन्हीं में उसने अपने सर्वोच्च छुआ।'⁷ इस प्रकार कहा जा सकता है कि गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपनी पत्रकारिता से जातीय अस्मिता को साम्राज्यवादी शासन के शिकंजे से मुक्त करके राष्ट्र स्वाभिमान को उन्नत करने का कार्य किया। गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक पत्रकार के रूप में लोकनायक की भूमिका का निर्वहन किया है। उन्होंने अपने समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने प्राणों की आहुति देकर एक सच्चे पत्रकार एवं समाजसेवी के रूप में हिंदी-पत्रकारों की आने वाली पीढ़ियों को त्याग व आदर्श का नया मार्ग दिखलाया है। निःसंदेह, गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक पत्रकार के रूप में भारतीय पत्रकारिता-जगत् में उच्च आदर्शों, त्याग व बलिदान की सर्वोच्च परंपरा की नींव डाली, जिसका आगे चलकर अनेक लोगों ने अनुसरण किया और

भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को नई दशा एवं दिशा प्रदान की। भारतीय पत्रकारिता में आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना के कारण ही गणेशशंकर विद्यार्थी की पहचान हिंदी-पत्रकारिता के युगपुरुष के रूप में की जाती है।

स्वाधीनतापूर्व हिंदी-पत्रकारिता के मूल में व्यावसायिकता की भावना नहीं थी, बल्कि त्याग, तपस्या और बलिदान की निष्ठा थी। प्रारंभिक दौर में इसके उन्नायकों को अँग्रेज सरकार की दमन-नीति का शिकार होना पड़ा, अनेक समाचार-पत्रों की जमानतें जब्त हुईं। पत्रकार एवं संपादकों को कारावास एवं कठोर यातनाएँ भी झेलनी पड़ीं। हिंदी-पत्रकारिता के आदि-उन्नायक जातीय चेतना, युगबोध एवं अपने दायित्वों के प्रति सजग थे। यही कारण है कि उन्होंने पत्रकारिता को राष्ट्र एवं समाजसेवा के लिए समर्पित करके हमारे राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में राष्ट्रीय चेतना का संचार करना अपना परम लक्ष्य बना लिया था। वस्तुतः हिंदी-पत्रकारिता के स्वतंत्रता-आंदोलन में योगदान की कहानी, पत्रकारिता में उच्च आदर्शों, मूल्यों, कर्तव्यों एवं त्यागनिष्ठा की वह कहानी है, जिसके मूल में राष्ट्रहित, समाजहित एवं मानवकल्याण की भावना समाहित थी।

हिंदी-पत्रकारिता में स्वतंत्रता के पश्चात् बहुत अधिक उतार-चढ़ाव आए हैं। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने जहाँ राष्ट्र के नवनिर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वहीं समय के साथ-साथ उसके स्वरूप एवं उद्देश्यों में भी बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। इक्कीसवीं सदी में बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद की संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति एवं वस्तु को प्रभावित किया है। हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ भी इससे अछूती नहीं रही हैं। वर्तमान समय में पत्रकारिता मिशन न होकर व्यवसाय बनती जा रही है। स्वतंत्रता के पश्चात् पत्रकारिता के बदलते स्वरूप एवं गिरते स्तर को आशा गुप्ता अपनी पुस्तक 'हिंदी-पत्रकारिता की विकास-यात्रा, तबसे अब तक' में इस प्रकार से उद्घाटित करती हैं, 'समाचार-पत्र के मालिक भी अब संपादक बन बैठे हैं, जो उन्हें लिमिटेड कंपनियों की तरह चला रहे हैं। समाचार-पत्र व विशेषकर हिंदी के पत्र कुछ अधिक ही पार्टीबद्ध नजर आने लगे हैं। विभिन्न राजनीतिक पार्टियों से संबद्ध हो इन पत्रों के मालिक तमाम तरह के लाभ उठाने के लिए प्रयासरत हैं। आज प्रेस का मालिक होना संसद में स्थान पाने का टिकट बन चुका है। यह सारी स्थिति समाचार-पत्रों व व्यापक संदर्भों में पूरी पत्रकारिता पर प्रश्नचिह्न लगाती है।⁸ आज नई पीढ़ी के हिंदी पत्र, पत्रिकाएँ एवं पत्रकार सभी के समक्ष नई चुनौतियाँ एवं प्रश्न खड़े हुए हैं। इनके समाधान के लिए पत्रकारिता के ध्वजवाहकों को अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा एवं ईमानदारी से करने की आवश्यकता है, किंतु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो रहा है।

आज के दौर की अवसरवादी पत्रकारिता में आदर्श एवं मूल्य पीछे छूटते जा रहे हैं। मूल्यों के सजग पहरी गणेशशंकर विद्यार्थी ने अर्द्धशती पूर्व यह कामना की थी, 'पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष के किसी भी नए पत्रकार को ऊँचे-आचरण के पवित्र आदर्श से न बहकने दे।'⁹ दुर्भाग्यवश गणेशशंकर विद्यार्थी जी की मनोकामना पूरी न हुई और भारतीय पत्रकारिता आदर्श के ऊँचे धरातल को छोड़कर व्यावसायिकता के चटक प्रलोभनों की गिरफ्त

में आ गई। इस प्रकार अपने मूल धर्म एवं मुख्य भूमिका लोकसेवा संस्कार की भूमिका से विच्छिन हो गई है।

भविष्यद्रष्टा मनीषी गणेशशंकर विद्यार्थी ने सन् 1930 में भावी पत्रकारिता के प्रति आशंका प्रकट की थी, 'व्यक्तित्व को भुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल खींची हुई लकीरों पर चलना, दुर्भाग्यवश विद्यार्थी जी की आशंका सही साबित हुई। पत्रकारिता का रूप विन्यास समृद्ध हुआ है, आज का पत्रकार आर्थिक दृष्टि से समाज का सुखी और विशिष्ट स्तर का व्यक्ति माना जाता है और बहुत सारे लोग आर्थिक प्रलोभनों से पत्रकारिता से जुड़े हैं। किंतु इतने बड़े देश में इतनी साधन-समृद्धि के बावजूद आज एक भी ऐसा पत्रकार नजर नहीं आता, जिसे तिलक, विपिनचंद्र पाल, रुद्रदत्त शर्मा, अरविंद घोष, बालमुकुंद गुप्त महात्मा गांधी, गणेशशंकर विद्यार्थी की जाति का पत्रकार कहा जा सके।'¹⁰

मूल्यहीनता के ऐसे दौर में गणेशशंकर विद्यार्थी की सैद्धांतिक पत्रकारिता एक दर्पण के समान है, जिससे तुलना करने पर आज के पत्र एवं पत्रकार अपनी छवि के स्याह एवं उज्वल पक्षों को देख सकते हैं। नैतिक मूल्यों से आलोकित आदर्श की राह दिखानेवाले गणेशशंकर विद्यार्थी का जीवन राष्ट्रहित व समाज-कल्याण के निमित्त प्राणाहुति करने की प्रेरणा और शक्ति देता है। वर्तमान समय में मजहबी दायरे में सिमट रहे एवं हिंसा के प्रहार से टूट रहे समाज के समक्ष उच्च अदर्शों की स्थापना करने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता सदैव आदर्श की स्थापना करती है। अतः समय की आहट को पहचानते हुए आधुनिक हिंदी-पत्रकार एवं संपादकों को गणेशशंकर विद्यार्थी की मूल्यपरक एवं सैद्धांतिक पत्रकारिता से सीखने की आवश्यकता है ताकि वह जनता व शासकवर्ग के बीच बढ़ती जा रही खाई को पाटकर लोकतंत्र के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सकें।

मूल्य-संक्रमण के इस दौर में पत्रकारों में उच्च आदर्शों एवं मूल्यों का संचार करना बहुत अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। अवसरवादिता के इस दौर में गणेशशंकर विद्यार्थी की मूल्यपरक एवं सैद्धांतिक पत्रकारिता का अनुशरण किए जाने की बहुत अधिक आवश्यकता है ताकि आधुनिक पत्रकारिता में विखंडित होते जा रहे आदर्शों एवं मूल्यों को पुनः स्थापित किया जा सके। समय की जरूरतों के हिसाब से नई दृष्टि एवं नए स्वरूप में ढल जाना आधुनिकता की माँग माना जा सकता है, किंतु इसके लिए अपने मूल्यों एवं सिद्धांतों से समझौता नहीं किया जा सकता है। समकालीन समय के संपादकों एवं पत्रकारों को यह तथ्य भली-भाँति समझ लेना चाहिए। तभी वे समाजहित में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करके हिंदी-पत्रकारिता के उच्च आदर्शों एवं मूल्यों के सजग पहरी बन सकेंगे।

संदर्भ

1. कृष्णाबिहारी मिश्र, पत्रकारिता, इतिहास और प्रश्न, वाणी प्रकाशन, पृ० 13
2. अमरेंद्रकुमार निशांतसिंह, इक्कीसवीं सदी और हिंदी-पत्रकारिता, सामायिक प्रकाशन, पृ० 116
3. आलोक मेहता, भारत में पत्रकारिता, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पृ० 144, 145
4. जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, हिंदी-पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन दिल्ली, पृ० 125, 126
5. कृष्णाबिहारी मिश्र, पत्रकारिता, इतिहास और प्रश्न, वाणी प्रकाशन, पृ० 62

6. नर्मदा-अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी समृति अंक (अक्टूबर 1969) सं० बनारसीदास चतुर्वेदी, झावरमल शर्मा, प्रो० ओमकार शंकर विद्यार्थी, शंभूनाथ सक्सेना, नूतन प्रकाशन, ग्वालियर, पृ० 22
7. जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, हिंदी-पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, पृ० 166
8. आशा गुप्ता, हिंदी-पत्रकारिता की विकास यात्रा, तब से अब तक, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृ० 163
9. कृष्णाबिहारी मिश्र, पत्रकारिता, इतिहास और प्रश्न, वाणी प्रकाशन, पृ० 58
10. कृष्णाबिहारी मिश्र, पत्रकारिता, इतिहास और प्रश्न, वाणी प्रकाशन, पृ० 63

मो० 9837127252
yogendrasin77@gmail.com

तीसरी दुनिया का यथार्थ

डॉ० महेश दवंगे

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, पुणे (महा०)

अधूरी देह क्यों मुझको बनाया
बता ईश्वर तुझे ये क्या सुहाया
किसी का प्यार हूँ न वास्ता हूँ
न तो मंजिल हूँ मैं न रास्ता हूँ
कि अनुभव पूर्णता का हो न पाया
अजब यह खेल रह-रह धूप छाया!

सुप्रसिद्ध गीतकार गीतिका वेदिक के गीत की ये पंक्तियाँ तृतीय लिंगी समाज की आंतरिक वेदना को मुखर करती हैं। स्त्री और पुरुष के बीच झूलता यह समाज आज भी अपनी पहचान के लिए संघर्षरत है। अधूरी देह की तरह मनुष्य रूप में पहचान पाने की उनकी इच्छा भी अधूरी ही है। बचपन से लेकर मृत्यु तक बहिष्कार का दंश इस समाज को झेलना पड़ता है। इस नारकीय पीड़ा की शुरुआत परिवार से ही होती है। प्रतिष्ठा के झूठे मानदंडों से ग्रस्त परिवार के सदस्य बचपन में ही हिजड़ा बच्चे का त्याग करते हैं। आजीवन विकलांग या दिव्यांग बच्चों को पालनेवाला समाज भी पुरुषार्थ के नाम पर निष्पाप बच्चे का बहिष्कार करता है। फिर इनकी नारकीय यात्रा शुरू होती है। भारत जैसे देश में कितनी विभिन्नताएँ हैं। हर तरह के लोग यहाँ रहते हैं, क्या एक और भेद मानकर समाज में इन्हें स्थान नहीं दिया जा सकता? हिजड़ा रूप में जन्म मिला, इसमें इनका क्या कसूर? कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से हिजड़ा नहीं बनता। लेकिन जीवनपर्यंत वह इसी गुनाह की सजा भुगतता है। समाज में इनके आशीष का महत्त्व है, लेकिन इनका कोई सम्मान नहीं है। इनसे अछूत की तरह व्यवहार किया जाता है। इनके साथ उठने-बैठने या बोलने पर समाज घृणा का अनुभव करता है। क्योंकि हमारा समाज स्त्री और पुरुष रूपी दो खंबों पर खड़ा है। तीसरी दुनिया का यहाँ स्थान नहीं है।

अप्रैल 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए थर्ड जेंडर के रूप में हिजड़ा समाज को मान्यता दी और एकाएक यह पीड़ित समाज मुख्य प्रवाह में चर्चित हुआ। पहली बार उनके अस्तित्व को स्वीकारा गया। उन्हें मनुष्य रूप में पहचान मिली। मानवाधिकारों से उनका भी व्यक्तित्व सुरक्षित हुआ। इस अधूरी देह को अधूरी जीत हासिल हुई, क्योंकि समाज- मान्यता की लड़ाई आज भी जारी है। सर्वोच्च न्याय-व्यवस्था के फैसले के बाद भी हिजड़ा समाज के जीवन में परिवर्तन नहीं आया है। गुमनाम रास्तों पर उनकी भटकन शुरू है,

लेकिन सर्वोच्च न्याय-व्यवस्था के इस फैसले ने इस समाज के प्रति सोचने के लिए अवश्य विवश किया है। साहित्य में यह पहल कब की शुरू हो चुकी है। उनके हक, अधिकार एवं अस्तित्व की लड़ाई साहित्य द्वारा भी लड़ी जा रही है।

भारतीय समाज में इन्हें हिजड़ा, किन्नर, जोगप्पा, जोगता आदि कई नामों से जाना जाता है। सामान्य जनता में 'हिजड़ा' शब्द का प्रयोग ही अधिक मात्रा में प्रचलित है, तो सभ्य समाज एवं साहित्य में इनके लिए 'किन्नर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वैसे, किन्नर शब्द पर भी विवाद है। हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिले में रहनेवाली जनजाति 'किन्नर या किन्नौर' कहलाती है, इस आधार पर हिजड़ा समुदाय को किन्नर कहना वहाँ के लोग अपना अपमान समझते हैं। बावजूद साहित्य में किन्नर शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। 'हिजड़ा' शब्द भी समाज में प्रचलित है, जो गाली के अर्थ में ही ज्यादा प्रयोग किया जाता है। किसी पुरुष को हिजड़ा कहना उसके पुरुषार्थ को तार-तार करता है। यही 'हिजड़ा' शब्द इस समाज के लिए रूढ़ हुआ है। इनका असली नाम यौनिक पहचान के साथ ही मिट जाता है। समाज में लैंगिक पहचान स्त्री या पुरुष के रूप में ही होती है। प्रजनन या पुनर्निर्माण की शक्ति ही उसके पुरुषार्थ की नींव है किंतु क्या मनुष्य के भीतर जन्मी भावनाओं की कोई कीमत नहीं होती? जैसे किसी के हाथ, पैर, आँख नहीं होते, वैसे ही किसी अविकसित लिंग के व्यक्ति के जन्म को हम सामान्य घटना क्यों नहीं मानते? आज गर्भावस्था में लिंग-परीक्षण कर किसी स्त्री की हत्या करना स्त्री भ्रूणहत्या कहलाता है तो किसी अविकसित लिंग के बच्चे का परिवार और समाज द्वारा बहिष्कार करना यह सामाजिक 'भ्रूणहत्या' नहीं है? क्या इसके लिए परिवार या समाज को दंडित नहीं करना चाहिए? किसी निरपराध को नरकयातना भुगतने के लिए मजबूर करना दंडनीय अपराध नहीं है?

वर्तमान दौर विभिन्न विमर्शों का है। हर कोई अपनी अस्मिता की सुरक्षा के लिए संघर्षरत है। स्त्री, दलित, आदिवासी एवं अल्पसंख्यक समाज ने विमर्श के दौर से गुजरते हुए अपने स्वतंत्र अस्तित्व का निर्माण किया है। परंपरा से ही मुख्य समाज से प्रताड़ित इस समाज ने विभिन्न क्षेत्रों में सफलता हासिल कर अपनी उपस्थिति को दर्शाया है। किन्नर-विमर्श भी किन्नर समाज के हित में एक लड़ाई है, जिसका उद्देश्य मनुष्य-रूप में पहचान हासिल करना है। वैसे, विश्व में एलजीबीटीआय (LGBTI) आंदोलन जोरों पर है। इसमें ऐसा समाज संघटित है, जो लैंगिक पहचान हासिल करने के लिए संघर्षरत है। इसमें लेस्बियन (समलैंगिक स्त्री), गे (समलैंगिक पुरुष), बाइसेक्सुअल (उभयलिंग कामी), ट्रांसजेंडर (हिजड़ा), इंटरसेक्स (उभयलिंगी) आदि शामिल हैं, लेकिन इसमें से अपने-आपको लेस्बियन और गे माननेवालों को समाज में पहले से ही मान्यता मिली है। कई देशों में इन्हें नागरिकता भी प्रदान की है, तुलना में ट्रांसजेंडर समाज उपेक्षित है। गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा का अभाव, अकेलापन एवं समाज की भेदाभेद की नीति से प्रताड़ित यह समाज आज भी दो वक्त की रोटी के लिए तड़प रहा है। आखिर इस समाज की ऐसी स्थिति क्यों है? स्त्री, पुरुष और ट्रांसजेंडर व्यक्ति में क्या अंतर है? दरअसल, 'एक ट्रांसजेंडर वह व्यक्ति है, जिसे जन्म के समय पर गुप्तांग के रूप में एक लिंग प्राप्त होता है, परंतु वह लिंग उसका झूठा प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् वह यदि पुरुष लिंग के साथ भी है तो उसके अंदर भावनाएँ स्त्री की होती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि शरीर तो स्त्री का होता है, परंतु हाव-भाव पुरुषोंवाले होते हैं। इस तरह के व्यक्ति की पहचान पारंपरिक पुरुष या महिला

के बीच असांदिग्ध रूप से झूलती रहती है। ऐसे व्यक्तियों को ही तृतीय लिंग या ट्रांसजेडर के रूप में जाना जाता है।¹² अर्थात् ट्रांसजेडर वह व्यक्ति होता है, जिसका शरीर तो पुरुष का होता है, किंतु उनकी आत्मा स्त्री होती है। स्त्रियोचित सारी विशेषताएँ उनके व्यक्तित्व में समाहित रहती हैं। मानो उनके पुरुष शरीर में स्त्री छटपटाती हो। वे चाहकर भी पुरुषों की तरह व्यवहार नहीं कर पाते, क्योंकि जैविक दृष्टि से वे पुरुष नहीं, स्त्री होते हैं। यही स्थिति किसी स्त्री की भी हो सकती है। यदि किसी स्त्री-शरीर में पुरुष वाले गुण होते हैं तो वह भी ट्रांसजेडर कहलाती है। हालाँकि सर्वोच्च न्यायपालिका के निर्णय के बाद संवैधानिक सभी अधिकार किन्नर समाज को प्राप्त हुए हैं, किंतु उनमें सामाजिक सुधार की आवश्यकता है।

सर्वोच्च न्यायपालिका ने सभी राज्य सरकारों को आदेश दिया है कि वे इस समाज के विकास के लिए विभिन्न योजनाएँ शुरू करें। इनके आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए उन्हें आरक्षण प्रदान करें। अतः भारत में इनके विकास की दृष्टि से प्रयत्न शुरू हुए हैं। कोर्ट के इस ऐतिहासिक फैसले के बाद यह प्रश्न उठा कि ट्रांसजेडर की श्रेणी में किसे रखा जाए, यही अनुरोध केंद्र ने सर्वोच्च न्यायपालिका से किया तो इसके स्पष्टीकरण में कहा गया कि 'गे, लेस्बियन और बायसेक्सुअल तीसरे जेंडर में नहीं आते हैं। ...कोर्ट ने थर्ड जेंडर को ओबीसी मानने और उन्हें नौकरी और अन्य कामों में रिजर्वेशन दिए जाने की बात की है।'¹³ कोर्ट के इस फैसले ने ट्रांसजेडरों को राहत मिली है, जिससे वे समाज की मुख्यधारा में शामिल हो सकते हैं।

स्त्री और पुरुष के गुणसूत्रों की मिलावट से ही लड़का या लड़की का जन्म होता है। गर्भावस्था में गलत दवाइयों के सेवन से भी कभी-कभी बच्चों में विकृति पैदा होती है। ट्रांसजेडर बच्चे का जन्म भी गुणसूत्रों के दोषपूर्ण मिलावट से होने की आशंका रहती है। जैसे, वैदेही कोठारी कहती हैं, 'महिला में एक्स क्रोमोसोम होते हैं, पीरियड्स के कुछ दिनों पहले जो डिंबी जननांगों के रास्ते बाहर आता है, वह यदि पुरुष शुक्राणुओं के एक्स क्रोमोसोम के संपर्क में आता है तो गर्भ में बालिका, अगर वाई के संपर्क में आता है तो बालक की रचना होती है। अगर दोनों क्रोमोसोम की बराबर मात्रा में डिंब के मिलने की स्थिति में प्राकृतिक विकार आने की आशंका होती है।'¹⁴ अर्थात् ट्रांसजेडर या किन्नर बच्चे का जन्म गुणसूत्रों के गड़बड़ाने से होने की आशंका अधिक है। इसका संबंध पुरुषार्थ से नहीं होता है, लेकिन किन्नर बच्चे के जन्म को हमेशा ही परिवारवाले अपने पुरुषार्थ या प्रतिष्ठा से जोड़ते हैं। यदि इन्हें पारिवारिक सहयोग मिले तो विश्व में लगभग तीस प्रतिशत किन्नर ऐसे हैं, जो छोटे से ऑपरेशन के बाद पूर्ण स्त्री या पूर्ण पुरुष में परिवर्तित हो सकते हैं। आज विज्ञान ने असीमित प्रगति की है, अतः कुछ भी असंभव नहीं रहा है। जैसे, 'जब एक व्यक्ति अपनी वर्तमान पहचान के साथ बेचैनी की भावना महसूस करता है, तब अपने पसंदीदा रूप को पाने के लिए यथासंभव हार्मोनल और शल्य-चिकित्सा द्वारा वह जिस यौनांग के साथ पैदा हुआ था, उनको हटवाता है तो वह 'ट्रांसजेडर' से एक ट्रांससेक्सुअल के रूप में परिवर्तित हो जाता है। सरल शब्दों में कहें तो 'ट्रांससेक्सुअलिज्म' पुरुषों या महिलाओं को चिकित्सा माध्यम से इच्छित लिंग में किए जाने की प्रक्रिया है, जिसमें वह आगामी भविष्य में स्वयं को स्थापित कर सकता है।'¹⁵ विज्ञान ट्रांसजेडर व्यक्ति के लिए वरदान है, यदि माता-पिता और परिवार के सभी सदस्य चाहें तो वे अपने किन्नर बच्चे को परिपूर्ण जीवन दे सकते हैं। किन्नर समाज को नरक यातना से बाहर निकालने की शुरुआत

परिवार से ही होनी चाहिए। वैसे, कभी-कभी किन्नर बच्चा अपने-आपको किशोर अवस्था तक समझ नहीं पाता है कि वह कौन है? स्त्री या पुरुष? क्योंकि उसका शरीर तो पुरुष का होता है, लेकिन उसे लड़कियों के संग रहना, खेलना, बातें करना अच्छा लगता है, जिससे बाकी मित्र उसका मजाक शुरू करते हैं। परिवार वाले भी बार-बार लड़कों संग खेलने की हिदायते देते हैं, जिससे किन्नर बच्चा कुंठाग्रस्त होने लगता है। अपनों के बीच भी वह अकेलापन महसूस करता है। ऐसे व्यक्ति अपने को न पुरुष मानते हैं, न स्त्री। ऐसे लोगों को इंटर सेक्स (उभयलिंगी) भी कहा जाता है। जैसे, 'इंटरसेक्स' यानि मध्यलिंगी वह व्यक्ति होते हैं, जिन्हें जेनेटिक विकृति के कारण प्रजनन या यौन शरीर रचना विज्ञान के हिसाब से महिला या पुरुष की विशिष्ट परिभाषाओं में फिट नहीं कर सकते। अर्थात् यह ऐसा वर्ग होता है, जो स्त्री और पुरुष के मध्य तड़पता रहता है। 'इंटरसेक्स' व्यक्ति कभी पुरुष की तरह तो कभी स्त्री की तरह व्यवहार करता है।

वर्तमान समय में भारत में किन्नरों की संख्या 20 लाख से अधिक है। भारत में इनके कई अखाड़े हैं, जिनमें गुरु का विशेष स्थान होता है। गुरु ही इन्हें नाचने और गाने की शिक्षा देता है, बदले में ये अपनी कमाई का कुछ हिस्सा गुरु को समर्पित करते हैं। इनका आशीष या आशीर्वाद बड़ा ही शुभ माना जाता है। इसीलिए शादी, बच्चे का जन्म आदि शुभअवसर पर इन्हें बुलाकर बदले में इन्हें पैसा या वस्तुएँ दी जाती हैं। किन्नर समाज भी अपने आपको संत मानता है, क्योंकि इनमें संत की सारी विशेषताएँ होती हैं। समाज की भलाई के लिए ही ईश्वर ने हमारा चुनाव किया है, ऐसी मान्यता भी इनमें प्रचलित है, किंतु वर्तमान में शादी-ब्याह के अवसर पर भी इन्हें नहीं बुलाया जाता। अतः आर्थिक अभाव के चलते अपना गुजारा करना भी इनके लिए मुश्किल है। ऊपर से नकली किन्नरों ने इनके हक मारने और इन्हें बदनाम करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। दरअसल, असली किन्नर न तो किसी से भीख माँगता है और न ही पैसे न मिलने पर किसी से झगड़ता है। देह-व्यापार करने की भी गुरु द्वारा इन्हें अनुमति नहीं मिलती। किंतु रोजगार के अवसर न मिलने से किन्नर समाज यह सब करने के लिए मजबूर हो रहा है। उसमें भी नकली किन्नरों ने उनकी हालत और भी बदतर कर दी है। जैसे, 'इस समस्या को लेकर राष्ट्रीय स्तर पर हिजड़ा समुदाय का परस्पर जमावड़ा हो चुका है। भारतवर्ष में कुल चार सौ पचास धाम और इतने ही गुरुधाम हैं। संपूर्ण देश में कुल चौदह से पंद्रह लाख हिजड़े हैं, जिसमें आधे से अधिक नकली हिजड़ों की संख्या है। जन्मजात हिजड़े तो कुल चार-सौ के आसपास हैं, शेष स्त्रैण स्वभाव के कारण बने हुए हिजड़े हैं, जो नामर्दी का शिकार भी हैं। भारतवर्ष में 'मनसा' और 'हंसा' हिजड़े अधिक हैं, जबकि 'बुचरा' यानी पैदाइशी सबसे कम। लिंगोच्छेदन कर बनाए गए हिजड़ों को 'छिबरा' और नकली हिजड़ा बने मर्दों को 'अबुआ' कहते हैं। वैसे, हिजड़ों की चार शाखाएँ हैं—बुचरा, नीलिमा, मनसा और हंसा। 'बुचरा' पैदाइशी हिजड़े हैं, 'नीलिमा' स्वयं बने, 'मनसा' स्वेच्छा से शामिल तथा 'हंसा' शारीरिक कमी के कारण बने हिजड़े हैं।⁶ दरअसल, किन्नरों में भी कई प्रकार हैं, जिसमें जन्मजात किन्नरों की संख्या बहुत कम है। सबसे अधिक संख्या तो नकली किन्नरों की है, जिसके कारण ही समाज में किन्नर के प्रति घृणा या भय की भावना निर्मित हुई है।

आज किन्नर समाज विमर्श के केंद्र में है। अतः हमारा दायित्व है कि हम भी उनके जीवन-परिवर्तन में सहयोग दें। उनके प्रति घृणा नहीं, अपनापन जताएँ। उन्हें गाली नहीं, स्नेह एवं

प्यार दें। सरकार को भी इनके उत्थान के लिए योजनाएँ बनानी चाहिए। इनके लिए रोजगार जुटाएँ, खासकर जहाँ महिलाएँ काम करती हैं, महिला कॉलेज, हॉस्टल, अस्पताल में सुरक्षाकर्मी के रूप में इन्हें नियुक्त करें। इनकी शिक्षा के लिए ठोस निर्णय लिए जाए। अशिक्षित होने के कारण ही समाज द्वारा उनका शोषण और प्रताड़ना हुई है। इस शोषण से समाज को मुक्ति देने के लिए राजनीति में भी इनकी सक्रियता बढ़ानी होगी। लाखों की संख्या में मौजूद किन्नर समाज को संसद में भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए, ताकि इनके बीच से आनेवाले लोग अपने समाज के उत्थान के लिए स्वयं लड़ेंगे। हालाँकि आज भी किन्नर समाज की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। निचले तबके के किन्नरों में आज भी उनके मानवाधिकारों के प्रति जागृति नहीं है। कई सामाजिक संगठन भी इस कार्य में जुटे हैं, किंतु मंजिल अभी भी दूर है। इसीलिए रंजीता सिन्हा कहती हैं, 'सर्वोच्च न्यायालय के इस ऐतिहासिक फैसले से समाज में हमारी दशा पर कोई खास फर्क नहीं पड़ा। उनका हमारे साथ व्यवहार नहीं बदला है, क्योंकि सोच एक दिन या एक साल में नहीं बदलती। जरूरत है लोगों के नजरिए को बदलने की।' दरअसल, किन्नर समाज के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव आवश्यक है। यदि इन्हें अवसर मिले तो हर क्षेत्र में ये अपनी योग्यता सिद्ध कर सकते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय में स्त्री-पुरुष के अलावा एक तीसरी दुनिया भी है, जो आज तक चारदीवारी में कैद जीवन जीने के लिए मजबूर है। सामाजिक प्रतिष्ठा की इन दीवारों को किन्नर समाज आजतक नहीं तोड़ पाया है, हालाँकि कुछ किन्नरों ने ऊँचे ओहदों को हासिल कर इन बेड़ियों को तोड़ा है, किंतु लैंगिक अस्मिता का प्रश्न आज भी इनके लिए चुनौती बना है। हमें उनकी लैंगिक अवधारणा को स्वीकारना चाहिए। वे जिस रूप में जीना चाहते हैं (स्त्री या पुरुष) उन्हें स्वतंत्रता देनी चाहिए। उनसे उनकी लैंगिक पहचान नहीं छीननी चाहिए। 'द्वि-लिंगी' मान्यता को तोड़कर कुदरत की इस करिश्माई तीसरी दुनिया को मुख्य प्रवाह से जोड़ना चाहिए।

संदर्भ

1. भारतीय साहित्य एवं समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, पृ० 4
2. हिंदी उपन्यासों के आईने में थर्ड जेंडर, डॉ० विजेंद्रप्रतापसिंह, पृ० 33
3. <http://www.india.com/hindi-news/india-hindi/supreme-court-calrifies>
4. हिंदी उपन्यासों के आईने में थर्ड जेंडर का विजेंद्रप्रताप सिंह, पृ० 34
5. वही, पृ० 33
6. किन्नर कथा, महेंद्र भीष्म, पृ० 60
7. <http://www.india.com/hindi-news/india-hindi/enuch-community-still>.

ई मेल: mdawange200@gmail.com

मो० 09822880790

कला और सौंदर्यशास्त्र : एक अभिव्यक्ति

ज्योति रानी (शोधार्थी)

दृश्य कला विभाग

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

सौंदर्यशास्त्र और चित्रकला का अभिन्न संबंध है। चित्रकला का उद्देश्य सौंदर्यपूर्ण रचना करना है। सौंदर्य रस के स्थायी भाव की तरह कला और साहित्य में अंत तक विद्यमान रहता है। वस्तुतः सौंदर्ययुक्त कला और काव्य की कल्पना अनुभूति व अभिव्यक्ति के माध्यम से की जा सकती है। सौंदर्य का मतलब सिर्फ सुंदरता नहीं है, बल्कि आंतरिक गुणों से भरपूर होना है। संसार में सुंदर और कुरूप दो चीजें हैं। सुंदरता के पीछे सब भागते हैं। अगर सब चीजें एक समान सुंदर होतीं तो सौंदर्यबोध नाम की कोई वस्तु नहीं होती। एक अच्छा रचनाकार वही है, जो कुरूपता में भी सौंदर्य ढूँढ लेता है।

सौंदर्य का संबंध मानव के आंतरिक जगत से है। यह मानव को आलौकिक सात्त्विक एवं शुद्ध आनंद प्रदान करता है। मानव-सौंदर्य, प्राकृतिक सौंदर्य, वस्तुगत सौंदर्य के दर्शन-चिंतन एवं ग्रहण के बाद मानव-हृदय से जो अनुभूति होती है, उसे ही वह अभिव्यक्त करके सभी सहृदयों तक पहुँचाना चाहता है। इस सौंदर्य के अधिष्ठान के लिए वह बाह्यजगत से विभिन्न सामग्री लेता है। बाह्यजगत से उत्पन्न मानसिक अनुभूतियों को जब एक कलाकार और साहित्यकार भावना, बुद्धि और कल्पना के माध्यम से एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा व्यक्त करता है, तब कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि होती है। जो वस्तु हमें अच्छी लगती है, वही हमारे लिए सुंदर है, परंतु हम उसकी सुंदरता की घोषणा तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उसमें दूसरों को भी अच्छा लगने के तत्त्व न हों। सृष्टि के कण-कण में सौंदर्य व्याप्त है। इसलिए इसका अर्थ भी बहुत व्यापक है। हिंदी, संस्कृत, कला आदि कोशों में सौंदर्य पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकला कि सुंदर का सम्मिलित रूप ही सौंदर्य का वास्तविक रूप स्पष्ट करता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि दुनिया में सबसे ज्यादा रचनाएँ, चाहे कला हो या काव्य, सौंदर्य को लेकर ही हुई हैं और सौंदर्य के मामले में सबसे अग्रणी देश भारत है। क्योंकि भारत एक सौंदर्य-प्रधान देश है और प्रकृति की रंगशाला। सबसे ज्यादा वेदों, पुराणों, महाकाव्यों की रचना यहीं पर हुई है।

सौंदर्यबोध का जो दृष्टिकोण पश्चिम के विचारकों का रहा है, यदि हम उसकी तुलना भारतीय विचारकों से करते हैं तो पश्चिम की अपेक्षा भारत की सौंदर्य-जिज्ञासा अधिक व्यापक एवं अनुभूतिपूर्ण है।

कला के संदर्भ में सौंदर्यशास्त्र

‘कला जिस किसी वस्तु का सृजन करती है, वह वस्तु हमारे अनुभव की चीज है। उसे हम सुंदर कहते हैं। सुंदर वस्तु के प्रभाव से हमें आनंद तथा रस का अनुभव होता है। एक कलाकार का लक्ष्य वस्तु का सृजन करना होता है और प्रेक्षक उसी वस्तु के रस का लाभ करता है, क्योंकि इस दुनिया में शायद ही ऐसा कोई आदमी हो, जो सौंदर्य को देखकर उसकी ओर आकृष्ट न हुआ हो। मुस्कराता हुआ फूल, मँडराती तितली, रंग-बिरंगी चिड़िया, नारी-सौंदर्य हर किसी को अपनी ओर आकृष्ट करती है। सौंदर्य है ही ऐसा कि हमारी आँखें सौंदर्य का रसपान करने के लिए सदा प्यासी रहती हैं। सौंदर्य का विस्तृत वर्णन एस्थैटिक के अंतर्गत आता है, जिसे हिंदी में सौंदर्यशास्त्र कहते हैं। वैसे तो यह ग्रीक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ ऐंद्रिय अनुभूति से है। सौंदर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र का एक अंग है। इसे सौंदर्य-मीमांसा तथा आनंद-मीमांसा भी कहते हैं। सौंदर्य मनुष्यों को पशुओं से अलग करता है।

आदिकाल से लेकर समकालीन चित्रकला और साहित्य में कवियों, चित्रकारों ने सौंदर्यशास्त्र के माध्यम से अपनी रचनाओं का अद्भुत वर्णन किया है। सौंदर्यशास्त्र को लेकर विद्वानों ने अनेक ग्रंथों की रचना है।

सर्वप्रथम रस का विचार भरतमुनि कृत ‘नाट्यशास्त्र’ में हुआ था। नाट्यशास्त्र को 5वाँ वेद माना जाता है। इसमें लिखा है—भावों के माध्यम से रस की उत्पत्ति की जाती है। रस को आनंद माना गया है। सभी कलाएँ काव्यरस पर आधारित हैं, जैसे सारहीन पदार्थ बेकार होता है, वैसे ही रसहीन कलाकृति को निरर्थक माना जाता है। रस को भारतीय कलाकृतियों के मूल्यांकन के आधार पर कलात्मकता का आंतरिक स्रोत कहा जाता है।

प्राचीनकाल से ही साहित्यकार और कलाकार की रचनाओं में सौंदर्यशास्त्र के गुण मिलते हैं। पहले कलाकार पौराणिक कथाओं के आधार पर केवल देवी-देवता, राजा, राजदरबार और युद्ध का चित्रण करते थे। साहित्य समकालीन कलाकारों और साहित्यकारों ने कला, साहित्य को एक नया गुण, नई सोच, नई कल्पना-शक्ति दी है। परंतु समय के साथ-साथ हालात और होनेवाली हलचल के अनुसार कला और साहित्य की रचना ही समकालीन कला या आधुनिक साहित्य का स्वरूप माना जाता है। आज कलाकारों ने गुलामी, धार्मिकता एवं युद्ध की जगह यथार्थ और कल्पना को अपनी कलाओं में उकेरा है। उन्होंने अपने मन की इच्छाओं को लेखन और कला के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

आदिकाल में जब भाषा का विकास नहीं हुआ था, तब भी मानव रेखाओं के द्वारा स्वयं के विचारों को अभिव्यक्त करता था। समय के साथ और सभ्यता के विषय में भारत धर्म और अध्यात्म की ओर आकृष्ट हुआ। उसे सौंदर्य का ज्ञान हुआ। चाहे कलाकार हो या साहित्यकार, दोनों ने सौंदर्यशास्त्र को दर्शाया। अंजता, एलोरा, एलीफेंटा के चित्रों को देखकर हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। हमारे विद्वानों ने किसी भी कला में शिल्प के षडंगों का पालन किया है। इनके बिना कला अधूरी है।

सौंदर्य को देखने के लिए रूप तथा नेत्र दोनों का होना आवश्यक है। ये सभी अंग

पृथक्-पृथक् होकर भी प्रकार एक-दूसरे से अभिन्न हैं तथा एक-दूसरे को सहयोग करते हैं। जिस प्रकार मानव-देह के विभिन्न अंग कार्य करते हैं। चित्र की विषयवस्तु के पीछे रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व छिपा रहता है, वह उसकी अपनी अनुभूति होती है। वह किस तरह अपनी अभिव्यक्ति दूसरों तक संप्रेषित कर पाता है, यह उसकी विशेषता होती है।

साहित्यकार भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति करता है। जिस प्रकार साहित्य की भाषा शब्द है, संगीत की भाषा नाद है, इसी प्रकार चित्र की भाषा रूपाकृति है। कोई भी कला तब तक सौंदर्यपूर्ण नहीं हो सकती, जब तक कला के तत्त्वों और सिद्धांतों का उचित प्रयोग न किया जाए। कला को तत्त्वों में रेखा, रंग, आकार, पोत, रूप का उतना ही महत्त्व है, जितना कि साहित्य में शब्दों का। इसी प्रकार दोनों में सहयोग, सामंजस्य, लय, प्रभाव, प्रमाण, परिप्रेक्ष्य का होना आवश्यक है। क्योंकि सौंदर्य दृष्टि का अनुभव्य है। कला की विवेचना काव्य-कला को ही आधार मानकर की गई है। एक कलाकार की उपमा मधुमक्खी से की गई है। जिस प्रकार मधुमक्खी नाना प्रकार के पुष्पों से मधु लेकर जनसामान्य के उपयोग के लिए उसे एक स्थान पर संचित करती है, उसी प्रकार एक कलाकार अपनी रचना से दर्शकों को रस की अनुभूति करवाता है।

आज बदलते समय के साथ कला भी बदलती नजर आ रही है। 18वीं शताब्दी में जब कला का अंत होनेवाला था, तब बहुत से नए कलाकार उभरकर आए, जिन्होंने आर्ट ग्रुप बनाए। अपनी सृजन-शक्ति से उन्होंने कला को फिर से जीवित कर कला को प्राचीन तरीके से हटकर नए आयाम दिए। इनमें से भारतीय संस्कृति को साहित्य और कला के माध्यम से परिचय करवाने में रवींद्रनाथ टैगोर की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वे 19वीं सदी के महान कवि, साहित्यकार और चित्रकार थे। आधुनिक भारत के सृजनशील सांस्कृतिक रुझान से वे भली-भाँति परिचित थे। उनकी कविताओं और कहानियों का अतीव सौंदर्य उनके चित्रण को सर्वश्रेष्ठ बना देता है, जिसे पढ़कर द्रवित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। वैसे तो उनकी प्रतिभा साहित्य, संगीत और नाटक के माध्यम से प्रवाहित होती है, परंतु 1893 में उन्होंने चित्रांकन शुरू कर दिया। एक साहित्यकार की कल्पना, लेखक की कुशलता व लय का प्रशिक्षण होने के कारण उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति रेखाओं व रंगों के माध्यम से की। उनकी रचनाएँ सौंदर्यशास्त्र से परिपूर्ण हैं। उनकी चित्रकला में थके हुए यात्री, माँ व बच्चा, सफेद धागे, लाफिंग फेस, नाइट आफ ड्रीम, प्रेत, प्राचीन कानाफूसी उल्लेखनीय हैं। नारी-चित्रण उन्होंने बड़े ही प्रतीकात्मक ढंग से किया है। उनकी काली स्याही से बनी प्रबल रेखाएँ रंग-क्षेत्रों को विभाजित करती हैं, जो आश्चर्यजनक हैं। कभी ये काल्पनिक पक्षी की तरह, कभी निजधारी पशु की तरह हैं, जिनका अंलकरण बहुत जटिल है। उनकी रंग-योजना में गूढ़ रहस्य छिपा रहता है।

लाल, पीली, भूरी रंगों में अभिव्यंजक ऊर्जा से ओत-प्रोत हैं, जो अकसर काली पृष्ठभूमि के विरोध में उभरती दिखाई देती हैं, जिसका उदाहरण है-मेल हैड और मैन राइडिंग ए डंकी।

रवींद्रनाथजी की कला और उनकी रचनाएँ सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से पूर्ण हैं। उनका जीवन भी स्वतंत्रतापूर्ण विचारों से भरा था। उनके जीवन में किसी तरह की बनावट और कृत्रिमता नहीं थी। उनकी कला को बच्चों की कला भी कहा गया है। उनकी रचनाएँ और

कलाकृतियाँ उनका अपना अनुभव है, जो कला के माध्यम से बाहर आया है।

भारतीय चित्रकार राजा रविवर्मा का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने बड़ी संख्या में पेंटिंग्स, ड्राइंग, जलरंग चित्र और ओलिओग्राफ बनाए थे। सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से उनकी शैली को परिभाषित कर पाना सरल नहीं है। सीता-हरण में रावण द्वारा सीता के अपहरण के चित्रांकन में उन्होंने महाकाव्यों के वर्णन को थोड़ा बदल दिया है। अपने चित्र में रावण को अहंकारी व्यक्ति दिखाया है, परंतु उड़ता हुआ रथ और कटा हुआ सिर नहीं दिखाया। उनकी हर पेंटिंग सौंदर्य की दृष्टि से दार्शनिक व काव्यात्मक है। उनकी पेंटिंग्स लेडी इन मूनलाइट, एक वुमन होल्डिंग ए फ्रूट, शकुंतला के प्रेम-पत्र, विश्वामित्र और मेनका, माता व पुत्र में कला के सिद्धांतों का और रस का बखूबी प्रयोग किया गया है। नारी के शृंगार से लेकर माता-पुत्र का सुंदरता से चित्रण किया है। प्रकृति-चित्रण भी बहुत सुंदर है। उनकी लगभग सभी पेंटिंग्स साहित्य पर बनाई गई हैं, जिससे उनके चित्रों में साहित्य का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार नंदलाल बोस, यामिनी राय, अमृता शेरगिल, बिरने दे, एम० एफ० हुसैन, सतीश, गुलजार इत्यादि समकालीन चित्रकारों की पेंटिंग्स सौंदर्य व गुणों से भरपूर हैं।

भारतीय काव्य और साहित्य में सौंदर्य के सभी उपमान प्रकृति से लिए गए हैं। जैसे चंद्रमुख, चरणकमल, मीननेत्र इत्यादि। इसी प्रकार कला में सौंदर्य के तीन पक्षों का प्रयोग होता है—भावसौंदर्य, रूपसौंदर्य तथा अलंकार का सौंदर्य। उनका उचित और अनुचित प्रयोग ही यह निर्धारण करता है कि कलाकृति की रचना कितनी श्रेष्ठ है। सौंदर्यशास्त्र के लिए 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का होना आवश्यक है, क्योंकि कलाकार जिस सत्य को प्रस्तुत करता है, उसे अपनी कल्पना से सुंदर रूप देता है।

वस्तुतः इन सभी कलाओं, काव्यों, रचनाओं का संबंध सौंदर्यशास्त्र से है, क्योंकि जहाँ काव्य है, वहाँ सौंदर्य है और जहाँ सौंदर्य है, वहीं कला है।

संदर्भ

1. आधुनिक कला कोश, विनोद भारद्वाज, सचिन प्रकाशन
2. आधुनिक हिंदी साहित्य विश्लेषण और प्रकर्ष, सुरेंद्र माधु, रंग ऐशिया पब्लिकेशन, दिल्ली
3. आधुनिक चित्रकला का इतिहास, २० वि० साखलकर, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
4. कला सौंदर्य और समीक्षाशास्त्र, अशोक, संजय पब्लिकेशन
5. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, श्री जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार प्रकाशन, प्रयाग
6. गीतांजलि, रवींद्रनाथ टैगोर, प्रभात प्रकाशन दिल्ली
7. चित्रकला के मूलाधार, डॉ० शुकदेव श्रोत्रिय, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर
8. बंगाल चित्रशैली और उसके प्रमुख चित्रकार, डॉ० शुकदेव श्रोत्रिय, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर
9. भारतीय आधुनिक कला, डॉ० किरण प्रदीप, कृष्णा प्रकाशन
10. भारतीय चित्रकला का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० जे०एस० वालिया पाल पब्लिशर्स
11. भारतीय कला, डॉ० शिवस्वरूप सहाय, स्टेडेंहस फ्रेंडस्, इलाहाबाद
12. भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य, प्राणनाथ मागो, एन०बी०टी०
13. रससिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, डॉ० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

14. रस-मीमांसा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 1941
15. समीक्षा और आलोचना, डॉ० ओमप्रकाश, हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली 1952
16. समकालीन कला, ललित कला अकादमी की पत्रिका
17. सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व, डॉ० कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

पत्नी श्री आशीष मेहता
मं०नं० 17, आठमरला कॉलोनी
पटेलनगर, हिसार (हरियाणा) 125001
मो० 9253394292
mjyoti1984@gmaol.com

‘यमदीप’ उपन्यास और तृतीय लिंगी समाज जीवन

डॉ० नानासाहेब जावळे

सुभाष बाबुराव कुल महविद्यालय
केडगाँव, तालुका दौंड (पुणे)

वर्तमान समय में तृतीय लिंगी समाज साहित्य का केंद्रबिंदु बना हुआ है। यह प्रशंसनीय है कि जो सामाजिक जीवन में कभी हाशिए पर था, जिनकी उपेक्षा होती थी, आज साहित्य में उनका वेदनामय जीवन उजागर हो रहा है। अल्पसंख्यक होने के कारण तृतीय लिंगी समाज प्रत्येक सरकार अनदेखा करती आ रही है। लेकिन कुछ साहित्यकार एवं समाजसेवी संस्थाएँ उनकी वेदना को वाणी देकर उन्हें राहत दिलाने का प्रयास कर रहे हैं। हिंदी साहित्यकारों में नीरजा माधव, डॉ० अनुसूया त्यागी, महेंद्र भीष्म, प्रदीप सौरभ, निर्मला भुराडिया, चित्रा मुद्गल आदि ने अपने उपन्यासों में तृतीय लिंगी समाज का हृदयविदारक चित्रण किया है। तृतीय लिंगियों के कष्टप्रद जीवन पर टिप्पणी करते हुए सन् 2014 में उच्च न्यायालय ने कहा था, ‘सार्वजनिक स्थानों पर हिजड़ों को जिस तरह अछूत माना जाता है, उन्हें गालियाँ दी जाती हैं, वह गलत है। अब इस मानसिकता को बदलने की जरूरत है।...‘तृतीय लिंगी’ लोगों की संख्या देखते हुए उन्हें उनके प्रत्येक मानवीय अधिकारों का प्रयोग करने की आजादी है। समाज में उनके प्रति मानवीय दृष्टिकोण का विकसित होना जरूरी है।’ साथ ही उच्च न्यायालय ने कहा था कि तृतीय लिंगियों को उनकी स्वतंत्रता एवं आत्मसम्मान की दृष्टि से यह स्वतंत्रता दी जाए कि वे स्त्री और पुरुषों के रूप में अपनी इच्छा के अनुसार जाने जा सके। इस निर्णय से तृतीय लिंगियों को जीने का अधिकार तो मिला, लेकिन आज भी उनका जीवन उपेक्षित है। संवेदनशील हिंदी उपन्यासकारों ने उनके अंधकारमय जीवन को प्रकाशित करने का प्रयास किया है।

सन् 2009 में प्रकाशित ‘यमदीप’ उपन्यास तृतीय लिंगियों के वंचित एवं उपेक्षित जीवन से परिचित कराता है। ‘यमदीप’ उपेक्षित जीवन का प्रतीक है, जिसकी पुष्टि लेखिका नीरजा माधव के इस कथन से हो जाती है, ‘प्रकाश पर्व की पूर्व संध्या में दरवाजे के बाहर रात-भर टिमटिमाते उस यमदीपक की भाँति, जो उपेक्षित होते हुए भी याद दिलाता है आलोकित कल का। नहीं छूटती उसके प्रदीप्त होने पर फुलझड़ियाँ और पटाखे, नहीं होती पूजा-अर्चना या चढ़ते थाल पर भोग, पर काली रात के विरोध में वह टिमटिमाता रहता है चुपचाप, निशब्द।’² ठीक ऐसा ही उपेक्षित-सा जीवन होता है हिजड़ों का। उनके जन्म पर किसी प्रकार का स्वागत नहीं होता। परिवारजनों को उनके कारण दुख ही होता है, बाद में उन्हें परिवार से बहिष्कृत भी किया जाता है। लेखिका नीरजा माधव ने उपन्यास के आरंभ में तृतीय लिंगियों के मानवतावादी

जीवन-व्यवहार पर प्रकाश डाला है। गर्मी के दिनों में रेलवे लाइन के किनारे की कच्ची गली में एक पागल स्त्री प्रसव-पीड़ा में तड़प रही थी। उसे देखकर गली के मनचले लड़के और समाज के प्रतिष्ठित लोग मात्र तमाशा देख रहे थे। कोई उसकी सहायता के लिए आगे नहीं बढ़ रहा था। नाजबीबी अपने साथियों के साथ वहाँ से जा रही थी। वह लोगों को उस पागल स्त्री की सहायता का आवाहन करती है, लेकिन उस असंवेदनशील समाज से कोई आगे नहीं बढ़ता। तब नाजबीबी और उसके साथी उस पागल स्त्री का प्रसव कराते हैं। उस वक्त नाजबीबी हिजड़ों की मानवता पर प्रकाश डालती हुई कहती है, 'अब कोई पूछनहार नहीं इसका तो क्या हम भी छोड़ जाएँगे? अरे हम हिजड़े हैं, हिजड़े...इंसान हैं क्या, जो मुँह फेर लें।'³ दुर्भाग्य से प्रसूती में ही उस पागल स्त्री की मृत्यु होती है। नाजबीबी मृत पगली की बच्ची को वहाँ उपस्थितों के हवाले करना चाहती है, लेकिन कोई उसको स्वीकार नहीं करता। अपने साथियों के विरोध के बावजूद नाजबीबी उस बच्ची की परवरिश खुद करने का निश्चय करती है। उस बच्ची का नाम सोना रखा जाता है। नाजबीबी बड़े लाड़-प्यार से सोना की परवरिश करती है, उसका स्कूल में दाखिला कराती है। सौ-किस्म की समस्याओं के बावजूद सोना की पढ़ाई में बाधा नहीं पड़ने देती, लेकिन गली के डॉक्टर द्वारा पुलिस में खबर पहुँचाने पर पुलिस हिजड़ों की बस्ती से सोना को नारी उद्धारगृह छोड़ने का आदेश देती है। नाजबीबी पत्रकार मानवी की सहायता से सोना को नारी उद्धारगृह से बाहर निकालने का प्रयास करती है।

सोना के पालनपोषण के लिए नाजबीबी को अन्य हिजड़ा साथियों से आर्थिक सहायता लेनी पड़ती है। यहाँ तक कि वह रामसरण नामक पुलिस अफसर की रखैल (गिरिया) बनकर रहती है। हिजड़ों को कोई नौकरी पर नहीं रखता। परिणामतः शुभ अवसरों पर नाच-गाकर या भीख माँगकर उन्हें अपना उदरभरण करना पड़ता है। कई बार यजमान कंजूस होते हैं, वे दस पचास का नोट थमाकर हिजड़ों को विदा करते हैं। लेकिन आज की महँगाई के जमाने में दस पचास में क्या होता है? मजबूरन अनेक हिजड़े किसी की रखैल बनकर रहते हैं अथवा वेश्या व्यवसाय करने लगते हैं। लेकिन उसमें यौन बीमारी का शिकार बनने का धोखा होता है। जिस पर प्रकाश डालते हुए महताब गुरु कहते हैं, 'देखो, नाज, चोरी-छिपे यहाँ जो धंधा चल रहा है, उसका फल तो तुम देख रही हो। जुबैदा चल बसी और अब सोबराती की बारी है—अब चला जाए कि तब। इसलिए बस्ती में हम सबको मना करते रहे कि जिस करम को करने लायक अल्ला ने ही हमें नहीं बनाया तो उसके साथ कोई जोर जबरदस्ती मत करो।...दस बीस रुपयों के लिए इतना गंदा काम करने की क्या जरूरत?'⁴ स्पष्ट है ऐसा काम करने से अनेक हिजड़े यौन-रोग का शिकार बनकर अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं। बावजूद इसके आर्थिक अभाव के कारण अनेक हिजड़े किसी की रखैल बनना स्वीकार करते हैं।

सोना की परवरिश करते-करते नाजबीबी को अपना अतीत याद आता है। नियति ने उसे कहाँ से कहाँ ला पटक दिया था। उसकी मम्मी ने उसके हिजड़ेपन को लाख छिपाने का प्रयास किया, लेकिन सफल नहीं रही। कितनी छिपाकर रखती मम्मी उसे लोगों की निगाह से। पहले तो स्कूल भेजने को तैयार न थी, परंतु पड़ोसियों के टोकने पर मम्मी ने उसका नाम राधारमण बालिका विद्यालय में लिखवा दिया था। पापा सेना में मेजर थे। नाजबीबी (नंदरानी) के जन्म

पर पापा फूट-फूटकर रोए थे। दादी ने सबका मुँह बंद कर दिया था। बाद में मम्मी द्वारा नाजबीबी को पता चला था कि उसके जन्म पर दादी ने मम्मी को जन्म के दूसरे दिन ही नानी के यहाँ भेज दिया था, ताकि किसी को पता न चले। इन बातों से अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि हिजड़ों का जीवन कितना उपेक्षित एवं घृणित है। नाजबीबी के भाई-बहन नंदन और नंदिनी उससे क्रमशः पाँच और सात वर्ष बड़े थे। प्राइमरी स्कूल में दाखिला कराते ही माँ ने हिदायत दी थी कि लघुशंका और शौच के लिए किसी के साथ मत जाना। लेकिन कक्षा आठ तक आते-आते उसमें अनेक शारीरिक बदलाव हुए। स्त्रियोचित अंगों के उभार के साथ ही चेहरे पर श्यामवर्ण रोए भी उभरने लगे। नंदरानी (नाजबीबी) पढ़-लिखकर डॉक्टर बनना चाहती थी, लेकिन अब सब-कुछ छिपाकर आगे की पढ़ाई जारी रखना कठिन हो गया था। परिणामतः उसकी पढ़ाई वहीं पर बंद की गई थी। फिर भी नंदरानी के हिजड़ा होने की बात लोगों से छिपी न रही। उसी कारण उसकी बहन नंदिनी की तय हुई शादी अनेक बार टूटी थी। घरवालों की परेशानियाँ दूर करने हेतु 15 वर्ष की नंदरानी कानपुर का अपना घर छोड़ बनारस हिजड़ों की बस्ती में आकर रहती है।

नंदरानी (नाजबीबी) कभी-कभी अपने माता-पिता को फोन किया करती थी। वे भी उसे कभी-कभी आकर मिल जाते थे, लेकिन यह बात नंदन और उसकी पत्नी को बिल्कुल पसंद न थी। घर और रिश्तेदारों में अपनी बदनामी के डर से नंदन ने उसे फोन पर साफ मना कर दिया था—‘देखो, तुम्हारा बार-बार टेलीफोन करना या इस परिवार से संबंध रखना, हमारी इज्जत तो बढ़ाता नहीं, उल्टे तुम्हें भी दुःख होता है और मम्मी-पापा को भी। तुम परिवार में रह नहीं सकतीं, हम रख भी नहीं सकते। इसलिए यह समझ लो कि तुम अनाथ हो। कोई नहीं तुम्हारा दुनिया में।’⁵ नाजबीबी के लिए माता-पिता से संबंध रखने का फोन एकमात्र सहारा था, परंतु वह आसरा भी भाई नंदन ने एक झटके में तोड़ दिया था। माता को कैंसर की बीमारी है, यह खबर सुनकर नाजबीबी उनसे मिलने कानपुर जाती है। लेकिन वहाँ जाकर उसे पता चलता है कि माँ की मौत हो गई है। जब वह पापा के सीने से लिपटकर रोने लगी थी, तब नंदन मन ही मन नंदरानी को कोस रहा था—‘पता नहीं, कहाँ से इसी समय यह भी आ गई? क्या सोच रहे होंगे नाते-रिश्तेदार कि जिसे वे मरी हुई घोषित कर चुके थे, वह तो हिजड़े के रूप में आज तक जीवित है। उसे पापा के उपर भी क्रोध आया। उसे लगा, उन्होंने ही सारी इज्जत-मर्यादा ताक पर रखकर संपर्क साधा होगा, तभी तो इसकी यहाँ आने की हिम्मत हुई। नंदरानी की उपस्थिति के कारण नंदन को मम्मी के मरने के दुःख से अधिक भारी यह शर्मिंदगी लग रही थी। नंदन ने सांत्वना देने की जगह नंदरानी को झिड़कारा था—‘अब तो तुम जितना भद्क कर सकती थीं हम लोगों का कर ही लिया। अब कृपा करके चली जाओ, यहाँ से।’⁶ पापा के नंदन को समझाने का प्रयास करने पर उसने आत्महत्या की धमकी दी थी।

आम लोगों की तरह हिजड़ों को किराएदार बनाने में मकान मालिक हिचकिचाते हैं। और क्यों न हिचकिचाए? जहाँ बहन-भाई जैसे खून के रिश्तेदार ही संबंध नकारते हैं, वहाँ पर भला अन्यों से क्या अपेक्षा? इंसान किसी लूली-लैंगडी, कानी कोतर संतान का पालन-पोषण करने में इतना दुःखी या अपमानित महसूस नहीं करता, जितना किसी हिजड़ा संतान को

सँभालने में महसूस करता है। ऐसा करने में उनपर हमेशा दुनिया में बदनामी और हँसी-हँसारत का डर छाया रहता है। इसीकरण नाजबीबी के माता-पिता जब उसे मिलने आए थे, तब महताब गुरु ने उन्हें पुनः कभी न मिलने की हिदायत दी थी। इसके बावजूद नाजबीबी की माता उसे अपने साथ ले जाना चाहती है, उसे पढ़ा-लिखाकर बड़ा करना चाहती है, तब उनके विरोध में महताब गुरु कहते हैं—‘यह आप नहीं, आपका प्रेम बोल रहा है, माताजी। किसी स्कूल में आज तक किसी हिजड़ा को पढ़ते-लिखते देखा है? किसी कुरसी पर हिजड़ा बैठा है? पुलिस में, मास्ट्री में, कलेक्टरी में...किसी में भी?...अरे इसकी दुनिया यही है, माताजी...कोई आगे नहीं आएगा कि हिजड़ों को पढ़ाओ, लिखाओ, नौकरी दो, जैसे कुछ जातियों के लिए सरकार कह रही है। हमारे लिए तो वो भी नहीं। माता-पिता, घर-परिवार सबसे छुड़ाकर इस बस्ती में नाचने-गाने के लिए फेंक जाती है हमारी किस्मत।’ महताब गुरु का यह संवाद हिजड़ों के वास्तविक जीवन पर प्रकाश डालता है।

एक जमाना था, जब हिजड़ों के साथ राजा-महाराजा सम्मान से पेश आते। कुछ राजा महाराजा अपनी रानियों की रखवाली के लिए अपने हरम में हिजड़ों को रखते थे। मुगलकाल में बेगमों की सेवा के लिए ‘खोजा’ के नाम से इनकी सेवाएँ ली जाती थीं। विश्व के प्राचीनतम कोश ‘अमरकोश’ में इनके लिए ‘क्लीव’ शब्द का प्रयोग हुआ। आज उनके लिए हिजड़ा शब्द का प्रयोग होता है, जो बोलने में बहुत अटपटा-सा लगता है। किसी के सामने बातचीत में सामान्य रूप से भी कहने में एक दुविधा, एक रुकावट-सी महसूस होती है। हिजड़ों के सम्मानजनक अतीत को उजागर करता हुआ कलेक्टर आनंद अपनी प्रेमिका मानवी से कहता है, ‘महाभारत काल में शिखंडी और बृहन्नला के रूप में अर्जुन का विराट के राजमहल में रहना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में ये थे और ससम्मान राजदरबार में प्रवेश पाते थे। मिस्र, बेबीलोन और मोहनजोदड़ो की सभ्यता में भी इनका प्रमाण मिलता है। संस्कृत नाटकों में इनका जिक्र है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि राजा को हिजड़ों पर हाथ नहीं उठाना चाहिए।’⁸ लेकिन आज तृतीय लिंगियों का जीवन उपेक्षित एवं शापित-सा बनकर रह गया है। यदि भरपूर प्रयास किया जाए तो उनका समाज के लिए, राष्ट्र के लिए सदुपयोग हो सकता है। एक प्राकृतिक अभिशाप के अलावा शारीरिक क्षमता या शिक्षित होने पर मानसिक क्षमता में ये किसी से कम नहीं होते। पत्रकार मानवी जाति-धर्म की व्यवस्था पर तृतीय लिंगियों के विचार जानने हेतु उनकी बस्ती में जाती है। जो लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, दंगे कराते हैं और फूट डालते हैं, उन लोगों को महताब गुरु संदेश देते हैं कि ‘राम भी वही, रहीम भी वही। जाना भी एक बात है, आना भी एक। कोई जनेऊ पहनकर हिंदू बच्चा पैदा नहीं होता। न कोई मुसलमान बच्चा खतना करवाकर। ये तो हम लोगों की भावना है कि यह मेरा अल्ला है, यह मेरा गॉड है। सभी धर्मों के लोगों का खून थोड़ा-थोड़ा इकट्ठा करिए उसे देखकर कोई डॉक्टर या साइंस बता दे कि यह हिंदू का खून है, यह मुसलमान का, तो हम अपना नाम बदल दें।’⁹ जब हम किन्नरों के समुदाय को देखते हैं, उनमें एक-दूसरे के प्रति आदर और स्नेहभाव दिखाई देता है। वे मनुष्य की तरह जाति-धर्म के नाम पर आपस में लड़ाई-झगड़ा नहीं करते।

किन्नर भले ही किसी भी धर्म में जन्मे हों, लेकिन जब वह अपने समुदाय में आकर

रहने लगता है तो बेसरा माता का भक्त हो जाता है। सभी किन्नर बेसरा माता को ही मानते हैं। किन्नर अपने जीवन में कभी बेईमानी नहीं करते, इसी कारण हम अपने आस-पास देखते हैं कि कोई हिजड़ा चोरी-बेईमानी में जेल में बंद नहीं होता। प्रत्येक किन्नर समुदाय का हर जिले में एक गुरु होता है। किन्नर रोज जो कमाई करते हैं, उसका एक बड़ा हिस्सा बेसरा माता के नाम पर गुरुजी के पास जमा करते हैं। उन्हीं रुपयों से किन्नर समुदाय द्वारा आयोजित भंडारे का खर्च उठाया जाता है। साल भर में एक बार आयोजित इस त्योहार पर प्रकाश डालते हुए नाजबीबी पत्रकार मानवी से कहती है, 'हम लोगों की एक बेसरा माता हैं यानी हिजड़ों की देवी। उनका मंदिर अहमदाबाद में है। वहीं गुजरात में। तो वर्ष में एक बार हम सब लोग वहाँ जुटते हैं। भंडारा करते हैं, नाचते-गाते हैं। याने एक साथ दो-चार दिन रहते हैं।'¹⁰ हिजड़ों की यह परंपरा आज भी बरकरार है।

अधिकांश भारतीयों का मानना है कि जीवनभर अपमान और दुख सहन करनेवाले किन्नरों की दुआ सच साबित होती है। इसीकारण किसी परिवार में बच्चे का जन्म होने पर अथवा शुभ अवसरों पर किन्नरों को बुलाया जाता है। कहीं पर इसके विपरीत स्थिति दिखाई देती है। लोग किन्नरों से मन-ही-मन डरे रहते हैं। उन्हें लगता है, जिसने अपना जीवन दुःख में तड़पते गुजारा है, उसकी बहुआ न लगे। परिणामतः अनेक लोग किन्नरों की माँगे पूरी कर उनसे छुटकारा पाते हैं। किन्नरों के पास रोजगार-प्राप्ति का कोई साधन नहीं होता। जहाँ माता-पिता, भाई-बहन तक रिश्ता तोड़ते हैं, वहाँ भला उन्हें कौन नौकरी पर रखेगा? अधिकांश किन्नर निरक्षर होते हैं। आरोग्य विषयक अज्ञान एवं परंपरा की बेड़ियों में जकड़ा अधिकांश किन्नर समाज यौन-बीमारियाँ एवं नशापान का आदि होता है। तृतीय लिंगियों के बदतर जीवन का एहसास तब और गहरा होता है, जब किसी किन्नर की मौत होती है। किन्नर किसी भी धर्म में जन्मा हो अंत में उसे दफनाया जाता है। मरने के बाद उसका चेहरा सफेद कपड़े से ढका जाता है। किसी को उसका चेहरा नहीं दिखाते। उसकी अंत्ययात्रा में किन्नर के अलावा अन्य किसी को सहभागी नहीं होने देते। उनकी अंत्ययात्रा रात को ही निकाली जाती है। नाजबीबी जब अपनी माँ की अंत्ययात्रा में सहभागी हुई थी, तब लोग उसे देखकर आश्चर्यचकित होते हैं। क्योंकि न तो ये कभी किसी की अंतिम यात्रा में सहभागी होने हेतु श्मशान घाट जाते हैं और न ही उनकी शवयात्रा किसी को दिखाई देती है। वहाँ पर कोई हिजड़ों के मृत्युसंस्कारों पर प्रकाश डालते हुए कहता है, 'सुना है, रात में कब्र में गाड़ देते हैं, वह भी अपनी ही बस्ती में। और उस पर...जूते-चप्पल से पीटते हैं, थूकते हैं और इस योनि में जन्म न लेने की बात कहते हैं।'¹¹ दफन करने से पहले उपस्थित सभी किन्नरों द्वारा चप्पल-जूतों से लाश को मारना मानो यह सूचित करता है कि 'तेरा जन्म इसी लायक था और मृत्यु भी इससे भिन्न नहीं। तुमने जीवनभर अपमान और उपेक्षा झेली, अब यह अंतिम अपमान की घड़ी है, इतना तो तुझे सहन करना होगा।' इन रीति-रिवाजों के पीछे शायद यह मान्यता हो कि उस अभागे जीव को दूसरी बार ऐसा जन्म प्राप्त न हो। इस दयनीय जीवन से उसे सदा के लिए मुक्ति मिले।

तृतीय लिंगियों के इस प्रकार के दयनीय, उपेक्षित जीवन के बावजूद उन्हें अपने हिजड़ा होने पर भी ईश्वर की कृपा महसूस होती है, जब-जब वे स्त्रियों पर होता अत्याचार देखते हैं।

जब पत्रकार मानवी पर कुछ गुंडे हमला करते हैं, तब नाजबीबी का यह संवाद सोचनीय लगता है 'सोच रही हूँ मेमसाहेब कि भगवान ने मुझे हिजड़ा बनाकर ठीक ही किया। अगर यह न बनाता तो जरूर मुझे औरत बनाता और तब ये सारे अत्याचार मुझे भी झेलने पड़ते।'¹² देश के भ्रष्ट लोगों के प्रति हिजड़ों के मन में खूब क्रोध है। जाति-धर्म के नाम पर होनेवाले दंगे उन्हें कतई पसंद नहीं। अनेक हिजड़े देश की सेवा करने के लिए उत्सुक हैं, सीमा पर लड़ने के लिए तैयार हैं। देशप्रेम को अभिव्यक्ति देते हुए नाजबीबी कहती है 'अपने देश के लिए तो देखिए, हम लोग मर मिटेंगे। जिस तरह फौज में एक सिपाही भर्ती होता है, पुलिस होती है...सरकार हमें हथियार दे दे। मैं तो लड़ूँगी। लड़ते-लड़ते हिंदुस्तान के पीछे अपना जान दे दूँगी।'¹³ यहाँ लेखिका ने हिजड़ों की देशप्रेमी भावना पर प्रकाश डाला है।

'यमदीप' उपन्यास की तरह प्रदीप सौरभ के 'तीसरी ताली', निर्मला भुराडिया के 'गुलाम मंडी', चित्रा मुदगल के 'पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा', महेंद्र भीष्म के 'मैं पायल...' आदि उपन्यासों में तृतीय लिंगियों के वेदनादाय जीवन का चित्रण हुआ है। किन्नरों के जीवन पर आधारित उपन्यासों को पढ़ने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सचमुच उनका जीवन शापित-सा है। क्योंकि उनके जन्म के साथ ही परिवार में मातम छा जाता है। कई जगहों पर उन्हें मार डालने का प्रयास होता है, या फिर ऐसे बच्चों से लोग घृणा एवं द्वेष करते हैं। हिंदी उपन्यासों में चित्रित तृतीय लिंगियों के नारकीय जीवन का मार्मिक चित्रण पाठकों के मन में उनके प्रति सहानुभूति निर्मित करता है।

संदर्भ

1. पहल 107, अप्रैल 2017, संपादक ज्ञानरंजन, पृ० 224
2. यमदीप, नीरजा माधव, पृ० 6
3. वहीं, पृ० 12
4. वहीं, पृ० 28
5. वहीं, पृ० 82
6. वहीं, पृ० 113
7. वहीं, पृ० 94
8. वहीं, पृ० 211
9. वहीं, पृ० 166
10. वहीं, पृ० 164
11. वहीं, पृ० 111
12. वहीं, पृ० 287
13. वहीं, पृ० 163

सुभाष बाबुराव कुल महविद्यालय
केडगाँव, ता दोंड (पुणे) महाराष्ट्र 412203
मो० 9420640244

आदिवासी विमर्श और हिंदी कविता

सुनील कुमार

सहायक प्रोफेसर (अस्थायी), हिंदी विभाग

डी०ए०वी० महाविद्यालय, चीका (कैथल)

आमतौर पर 'आदिवासी' शब्द उन जनसमूहों के लिए प्रयोग किया जाता है, जो आमतौर पर पहाड़ों, जंगलों और दुर्गम घाटियों में निवास करते हैं, जिनकी सामाजिक, शारीरिक व सांस्कृतिक विशेषताएँ उन द्रविड़ जातियों से मेल खाती हैं, जिन्हें इस भारत भू-भाग का मूल निवासी माना जाता है। एकाधिक विद्वानों का यह मानना है कि आर्यों के भारत आगमन के पश्चात् यहाँ पर जो संघर्ष हुआ, उसमें अधिकतर द्रविड़ समूहों को पराजित होकर आर्यों की दासता को स्वीकार करना पड़ा किंतु कुछ ऐसे भी द्रविड़ थे, जिन्होंने इनकी दासता स्वीकार नहीं की। वे युद्धकला में निपुण आर्यों से अपनी रक्षा कर सके।'

'आदिवासी' का शाब्दिक अर्थ है—आदिम युग में रहनेवाली जातियाँ। आदिवासी शब्द दो शब्दों आदि और वासी से मिलाकर बना है और इसका अर्थ मूल निवासी होता है। मूलतः यह वे जातियाँ हैं, जो 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता को सँजोए हुए हैं। भारत की जनसंख्या का बड़ा हिस्सा आदिवासियों का है। पुरातन लेखों में आदिवासियों को अत्त्विका और वनवासी भी कहा गया है। यह भी प्रमाण मिलता है कि औपनिवेशिक युग के पूर्व आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल, जंगल, जमीन और प्रकृति के संसाधनों पर उनका अधिकार था, परंतु जैसे-जैसे साम्राज्यवादी ताकतें बढ़ती गईं, औपनिवेशिक सत्ताएँ मजबूत होती गईं, वैसे-वैसे आदिवासियों का शोषण और उन पर अत्याचार बढ़ता गया। संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित जनजाति पद का उपयोग किया गया है। भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में संथाल, गौड़, मुंडा, हो, बोड़ो, भील, खासी, संहरिया, गरासिया, मीना, उरांव, बिरहोर आदि हैं।¹

आदिवासी सहज और सरल जीवन जीनेवाली, प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में, जंगल झाड़ में बने हुए मिट्टी के मकानों में रहनेवाली जनजाति है। ये जनजाति अपनी मातृभूमि से बेहद लगाव व प्यार करती है। यह जनजाति प्रदर्शन की प्रवृत्ति से कोसों दूर है तथा यह संतोष में ही सुख का पाठ पढ़ाती है। ईमानदारी इनके जीवन का मूल-मंत्र है। पहले तो ये जंगलों में रहकर तीर-धनुष से जंगली जानवरों का शिकार कर तथा जंगलों से लकड़ियाँ काटकर आस-पास के इलाकों में बेचकर अपना जीवन निर्वाह करते थे, परंतु अब ये खेती-बाड़ी भी करने लगे हैं। इस जनजाति के लोग अब जंगलों से निकलकर नजदीकी शहर के खदानों, कारखानों,

ईट के भट्टों आदि में काम करके अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने में लगे हैं। वैसे इन्हें जिस कार्य में लगाया जाए, ये उसे ईमानदारी और परिश्रम से करते हैं। ये लोग न किसी से कुछ लेना और न किसी को कुछ देना वाले सिद्धांत पर चलते हैं, परंतु जब इस जनजाति की भावना पर ठेस लगती है, तो ये बड़े हिंसक बन जाते हैं तब इन्हें दबाना या इनसे लोहा लेना बड़ा कठिन हो जाता है। ये लोग अपनी रोजी-रोटी के प्रबंध के लिए खून-पसीना एक कर देते हैं फिर भी इनकी स्थिति में सुधार नहीं हुआ है। अब भी ये लोग धातु के बर्तन में पानी पीते हैं, पत्तों पर भोजन करते हैं तथा ताड़ और खजूर के पत्तों पर सोते हैं। 'आदिवासी बस्तियों से गुजरते हुए दो मुख्य चीजें राहगीरों का ध्यान अपनी और खींचती हैं। वह है साफ-सुथरे, रंग-पुते, चिकने-सुडौल घर और उन पर अंकित विभिन्न आकृतियों वाले रंग-बिरंगे भित्तिचित्र। जहाँ एक और इनके घरों की बाहरी-भीतरी दीवारें इनकी स्वच्छता, सुरुचि-संपन्नता और मेहनत की कथा कहती हैं, वहीं दूसरी और उन पर अंकित विभिन्न आकृतियों वाले रंग-बिरंगे चित्र उनकी कल्पनाशीलता और शहरी कलात्मक अभिरुचियों का प्रमाण देते हैं।²

आज भी आदिवासी समाज इतिहास की सबसे बड़ी लड़ाई अकेला ही लड़ रहा है। उनके जंगल कट रहे हैं, उनके पैरों के नीचे की जमीन को लेकर दूसरे लोग दौलतमंद व समृद्ध हो रहे हैं तथा उनको जमीन से बेदखल किया जा रहा है। अगर हम इतिहास पर नजर डालें तो हर मजहब के लोग अपनी किसी-न-किसी बड़ी लड़ाई का सहारा लेकर अपने को गौरवान्वित करते रहे हैं, पर आदिवासी इकलौती ऐसी कौम है, जिसने इन चीजों के लिए कभी लालच नहीं किया और जमीन को जमीन की तरह ही रखने के लिए सब दिन अकेले जद्दोजहद की। यह तो नहीं पता कि इनकी लड़ाई में किनकी जीत होगी, पर ये जरूर है कि अब ये लड़ते हुए शहीद नहीं होंगे, क्योंकि अब इनमें चेतना आ चुकी है। उनकी लड़ाई में और लोग भी शामिल हैं। अब धीरे-धीरे आदिवासी समाज का संघर्ष, अस्तित्व के लिए जद्दोजहद साहित्य में प्रवेश कर रहा है और व्यापक समाज तक पहुँच रहा है।

आदिवासी विमर्श

हाल ही के वर्षों में आदिवासी विमर्श एक महत्त्वपूर्ण विमर्श के रूप में उभरा है। यह विमर्श बौद्धिक जगत में गंभीर विचार-मंथन का विषय बना हुआ है। आदिवासी विमर्श आदिवासियों के वास्तविक जीवन के संघर्ष, उल्लास और आक्रामकता का साहित्य है, यह विमर्श छल-कपट, भेद-भाव, ऊँच-नीच से रहित है तथा सामाजिक न्याय का पक्षधर है। इस विमर्श का उद्देश्य आदिवासियों की संस्कृति, संघर्ष, भाषा, इतिहास, भूगोल तथा उनके जीवन की अनेक समस्याओं और प्रकृति के प्रति उनका आत्मिक लगाव है। आदिवासी विमर्श की दृष्टि से हिंदी में प्रचुर मात्रा में लेखनकार्य हो रहा है। आदिवासी संस्कृति से न केवल हिंदी समृद्ध हुई है, बल्कि आदिवासी जीवन-शैली, समानता, भाईचारा और आजादी के सूत्रों को हिंदी पट्टी और हिंदीभाषी मानस ने भी कुछ हद तक ग्रहण भी किया है। यह हिंदीभाषी मानस में दृष्टिकोणात्मक बदलाव लाने में काफी सहायक सिद्ध हो रहा है।

आदिवासी विमर्श के विषय में महादेव टोप्पो ने ये शब्द कहे हैं—

इस देश में पैदा होने का/ मतलब क्या है
जानते हो मेरे भाई?
नहीं?
इस देश में पैदा होने का/ मतलब है—
आदमी का जातियों में बँट जाना
और गलती से तुम हो गए पैदा/ जंगल में
तो तुम कहलाओगे/ आदिवासी-वनवासी-गिरीजन
बगैरह-बगैरह
आदमी तो कम से कम/ कहलाओगे नहीं ही!³

महादेव टोप्पो ने 'त्रासदी' शीर्षक की पंक्तियों के माध्यम से आदिवासी मानव की व्यथा पर प्रकाश डाला है। जब कोई भी विमर्श एक आंदोलन बनने लगता है, तो उसमें एक मुख्यधारा बनने लग जाती है। यह मुख्य धारा शेष गौण धाराओं को अपने में समाहित करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति में गौण धाराओं की पृथकता को नकारने भी लगती है। जहाँ तक आदिवासियों का प्रश्न है तो वे दलित-समाज के ही अंग हैं, किंतु उनकी अस्मिता मुख्यधारा के दलितों की अस्मिता से कई बिंदुओं पर टकराती है। संविधान के द्वारा आदिवासियों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा दिया गया है। 'यह उन समुदायों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिन्हें भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 362 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के तौर पर निर्दिष्ट किया है। दरअसल, यह एक प्रशासनिक शब्द है, जिससे किसी विशेष क्षेत्रीयता का संकेत मिलता है। इसका उद्देश्य किसी जनसमुदाय की विशिष्ट आनुवंशिक स्थिति से ज्यादा उसके सामाजिक-आर्थिक स्थिति का परिचय देना है।'⁴

अब उन बिंदुओं पर नजर डालते हैं, जो आदिवासी विमर्श को दलित विमर्श के समकक्ष खड़ा करते हैं। उन आयामों का विश्लेषण अपेक्षित है, जहाँ एक आदिवासी एक दलित से अपने आपको पृथक् पाता है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण पहलू 'धर्म' का है। दलित मूलतः हिंदू है, पर इसके विपरीत आदिवासी लोगों का हिंदूधर्म से कोई संबंध नहीं है। अपने एक साक्षात्कार में प्रो० वीरभारत तलवार आदिवासियों की हिंदुओं से पृथकता पर बल देते हुए कहते हैं कि 'गैर-आदिवासी खेतिहर समाजों से इनकी यह बुनियादी भिन्नता नोट करने लायक है कि सामूहिकता और समानता की सुदृढ़ परंपराओं और परिस्थितियों के कारण इन खेतिहर आदिवासी समाजों के अंदर हिंदुओं जैसी जाति-प्रथा का कभी विकास नहीं हुआ, क्योंकि इनके अंदर से सामंतवादी प्रणाली का विकास नहीं हुआ। ठीक इसी कारण से इनके अंदर धर्म का भी वह स्वरूप नहीं दिखता जो गैर-आदिवासियों के सामंती समाजों में विकसित हुआ।'⁵

आदिवासियों के देवता भी अपने हैं, जिनकी हिंदूधर्म ग्रंथों में कोई आस्था नहीं है। इनका धर्म भी अपना है, किंतु दक्षिणपंथी ताकतों के आक्रामक हिंदुत्ववादी दुष्प्रचार के चलते कई आदिवासी जातियों का हिंदूकरण होने लगा है। 'हाल तक वे हिंदू देवी-देवताओं को नहीं जानते थे। आज देवी-देवताओं के रंगीन चित्र व कैलेंडर तथा सचित्र पुस्तकें उनको बहुत अच्छी लगती हैं। कुछ तो इन देवी-देवताओं से संबंधित धार्मिक कथाओं को भी जानते हैं।'⁶

‘आदिवासी’ संज्ञा में भारत के मूल निवासी होने का अर्थ निहित है। कुछ लोग इनके लिए ‘वनवासी’ संज्ञा का उपयोग करते हैं।

आदिवासी साहित्य कहीं नहीं मिलता, जबकि ये भारत के मूल निवासी रहे हैं। बड़े दुख की बात है कि इनका अपना कोई इतिहास नहीं है। ‘आदिवासी जंगल में रहता है, और उसको कुछ दिन के बाद वहाँ से बेदखल कर दिया जाता है। क्योंकि उसके पास कोई सबूत या पट्टा ही नहीं है।’

‘हिंदी साहित्य में आदिवासी समाज का चिंतन एवं लेखन बीसवीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभ हुआ और यहीं से जो आदिवासी समाज हाशिए पर था, उसे मुख्य धारा में लाने का प्रयास आरंभ हुआ। सन् 1952 में देवेंद्र सत्यार्थी ने ‘रथ के पहिए’ उपन्यास लिखा और इसके पश्चात् आदिवासियों के जीवन के विविध आयामों को लेकर उपन्यासों का सृजन होने लगा। गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास, वैचारिक जड़ता, मादक द्रव्यों का अत्यधिक उपयोग, संगठन के अभाव के कारण ही साहुकार, जमींदार, भूस्वामी, पुलिस, डाकू, वनकर्मचारी और शासन के द्वारा उनका शोषण होता आ रहा है। इनके शोषण का एक कारण यह भी है कि ये सरल, सहज और निश्चल स्वभाव के धनी हैं।’¹⁸

आदिवासियों ने बहुत से संघर्ष किए हैं। इतिहास में भी हमें इनकी वीरता की कहानियाँ देखने को मिलती हैं। आदिवासी लोग हाथी की तरह मस्त रहते हैं, लेकिन जब इनके साथ कोई बुरा करता है, तो ये हाथी की तरह ही खूँखार हो जाते हैं। इतिहास गवाह है कि समय-समय पर इन्होंने बड़ी-बड़ी ताकतों से लोहा लिया है। एक सर्वेक्षण के अनुसार आदिवासी समुदाय की जनसंख्या पूरे देश की जनसंख्या की आठ प्रतिशत है। धीरे-धीरे इनकी अनेक जातियाँ भी लुप्त हो रही हैं आदिवासी विमर्श का प्रमुख उद्देश्य यही है कि सरकारों को इनकी और भी ध्यान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके इनके जीवन को सुधारने का कार्य करना चाहिए।

आज के समय में बहुत से लेखक और आलोचकों ने इस ओर अपना रुख किया है और आदिवासियों को अपने साहित्य में स्थान दिया है। हाल ही के वर्षों में जिन रचनाकारों, आलोचकों ने आदिवासी जीवन-शैली और प्रतिरोध की संस्कृति को अपनी कृतियों व रचनाओं का आधार बनाया है, उनमें संजीव, मैत्रेयी पुष्पा, प्रकाश मिश्र, तेजिंदर, हबीब कैफी, पुन्नी सिंह, मनमोहन पाठक, राकेशकुमार सिंह, रणेंद्र, महुआ माजी, वी०पी० केसरी, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, विनोदकुमार, मधु काँकरिया, वीरभारत तलवार, रमणिका गुप्ता, हरिराम मीणा, अश्विनीकुमार पंकज, पीटर पॉल आदि प्रमुख हैं। इन्होंने आदिवासियों पर कहानी, उपन्यास तथा कविताएँ लिखी हैं।

हिंदी कविता और आदिवासी

आदिवासी कविता या साहित्य किसे कहना चाहिए? इस पर सबके अलग-अलग मत हैं। कुछ का कहना है इन्हीं के द्वारा लिखी हुई कविताओं को ही आदिवासी कविता माना जा सकता है, पर हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि आदिवासी अब भी पढ़ाई से कोसों दूर हैं। ये अपनी भावनाओं को नृत्य या गीतों के माध्यम से ही व्यक्त करते हैं। आदिवासी एवं

आदिवासियों की संस्कृति, नृत्य, भाषा, संवेदना आदि समग्र जीवन से अपना सहसंबंध रखनेवालों द्वारा ऐसी ही भावना से ओत-प्रोत कविता को हम आदिवासी कविता कह सकते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि आदिवासी कविता वह कविता है, जिसमें आदिवासियों का जन-जीवन, उनका त्रासद-दुख, उनकी संस्कृति एवं मान्यताओं को उनके वास्तविक रूप में अभिव्यक्ति मिलती है। आज समय बदल रहा है और समय के साथ-साथ आदिवासी समाज में भी जागृति आई है। आदिवासी साहित्यकार भी हिंदी कविता में अपना योगदान दे रहे हैं। पिछले दो दशकों से आदिवासी साहित्य की धार पैनी हो गई है। जगह-जगह आदिवासी विमर्श की चर्चाएँ हो रही हैं, इनको भी मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है। आदिवासी साहित्य को समृद्ध बनाने में कई आदिवासी कवियों का योगदान रहा है। अपनी पूर्व की स्थिति को दर्शाते हुए महाराष्ट्र के डॉ० वाहरू सोनवणे अपनी कविता 'स्टेज' में कहते हैं—

हम स्टेज पर गए ही नहीं
 और हमें बुलाया भी नहीं
 उंगली के इशारे से
 हमारी जगह/ हमें दिखाई गई
 हम वहीं बैठे
 हमें शाबाशी मिली
 और 'वे स्टेज पर खड़े हो
 हमारा दुःख/ हमें ही बताते रहे
 हमारा दुख अपना ही रहा
 कभी उनका हुआ ही नहीं...
 हमारी 'शंकाएँ'
 हम बड़बड़ाए/ कान देकर वे सुनते रहे
 और निःश्वास छोड़ा
 और हमारे कान पकड़कर/ हमें भी धमकाया
 माफ़ी माँगो नहीं तो'....⁹

सोनवणे जी की यह कविता आदिवासी समाज की कसमसाहट को व्यक्त करती है। इसके साथ-साथ समृद्ध समाज के दिखावे का वर्णन भी कर रही है कि वे किस प्रकार हमारे सुख-दुख हमें ही बता रहे हैं।

आदिवासी कवयित्रियों में ग्रेस कुजुर की कविताएँ विद्रोह की ज्वालाग्नि उगलती हैं। हजार वर्षों के अपने प्राकृतिक आवास जंगल को उजड़ते देख उनकी वाणी कह उठती है—

हे संगी
 क्यों घूमते हो/ झुलाते हुए खाली गुलेल
 क्या तुम्हें अपनी धरती की/ संधमारी सुनाई नहीं दे रही
 क्या अब भी निहारते हो/ अपने को
 दामोदर और स्वर्णरेख के/ काले जल में

किसने की है चोरी/ भिन्सरिया में ठेकी के संगीत की
और उजाड़ी है किसने/ आजी के जाने की कील
'पुटुस' तक को/ उखाड़कर ले जाएँगे लोग
और धन
तुम खोजोगे उसकी बची हुई जड़ों में/ अपना झारखंड
हड़िया और दारू से सींचकर
क्या किसी ने उगाया है/ कोई जंगल।¹⁰

इन पंक्तियों के माध्यम से कवयित्री ने बताया है कि किस प्रकार जंगल कट रहे हैं। आदिवासियों का जीवन खतरे में पड़ रहा है, क्योंकि जंगल की रक्षा से ही आदिवासियों का अस्तित्व बचा रह सकता है। उनके पूर्वजों ने हजारों सालों से अपने साथ जंगल को और जंगल के साथ अपने को सुरक्षित रख किंतु अब दोनों का ही अस्तित्व खतरे में है। धीरे-धीरे ये अपने घर से बेघर हो रहे हैं। यह चिंता का विषय है तथा इस और ध्यान देने की भी आवश्यकता है। आदिवासी समाज जल, जंगल और जमीन के विस्थापन की मार झेल रहा है। सरकार की कुटिल नीति और मानव की सोच आदिवासी समाज का शोषण कर रही है।

आदिवासी समाज में स्त्रियों की हालत तो और भी बुरी है। आज भी आदिवासी स्त्रियाँ अपने अस्मत् और अस्मिता के प्रति संघर्षरत हैं। वे आज भी अपने वजूद को तलाश रही हैं और उन्हें स्त्री होना ही अपमानजनक लग रहा है। इतना ही नहीं, स्त्री का आज भी आए-दिन शोषण हो रहा है। निर्मला पुतुल ने अपनी कविता 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

धरती के इस छोर से उस छोर तक
मुट्ठी-भर सवाल लिए मैं
दौड़ती-हाँकती-भागती
तलाश रहा हूँ निरंतर
अपनी जमीन, अपना घर
अपने होने का अर्थ।¹¹

आदिवासी संस्कृत प्राचीन संस्कृति है और पुरातन का भी प्रतीक है, परंतु मानव-समाज उनकी सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने पर तुला हुआ है। ये अपनी ही जमीन से बेघर किए जा रहे हैं। इनके भोलेपन का फायदा उठाया जा रहा है। उनके पूरे परिवार, स्त्री, बच्चों आदि को गुलाम बनाया जा रहा है। स्वतंत्र भारत में यह परतंत्रता का दृश्य हृदय को विदीर्ण कर देता है। आखिर ये कैसा न्याय है लोगों का आदिवासियों के प्रति समझ में नहीं आ रहा। डॉ० भीम अपनी कविता 'हम आदिवासी हैं' में लिखते हैं—

इस देश के मूल निवासी हैं
हम आदिवासी हैं/ हम आदिवासी हैं।
हमारा जीवन सहज
सरल एवं न्यायपूर्ण है फिर भी

सदियों से शोषण का चक्र चला
 सदा उसने हमें दबोचने का यत्न किया
 सताधारी, पूँजीपति
 सेठ साहूकार, ठेकेदार
 मुलिज, सरकारी कर्मचारी
 सबने हमारा शोषण किया, दमन किया
 जल, जंगल, जमीन से
 हमें बेदखल करने का भरपूर प्रयास किया
 हमारी रोजी-रोटी हड़पने का जोरदार यत्न किया
 हम आदिवासी हैं!¹²

पर्यावरण की चिंता समाज के हर तबके की चिंता है। यदि हम साहित्य को भी लें तो हम पाएँगे कि चाहे कविता हो, कहानी, नाटक या उपन्यास या गद्य की अन्य विधाएँ हों सभी में एक ही नाद सुनाई देता है और वह है पर्यावरण। पर्यावरण के नष्ट होने से आदिवासियों पर सबसे बुरा असर पड़ रहा है। ये सारी बातें युवा झारखंडी कवि अनुज लुगुन की यह कविता बयान कर रही है—

लड़ रहे हैं
 नक्सों में घटते अपने घनत्व के खिलाफ
 जनगणना में घटती संख्या के खिलाफ गुफाओं की तरह टूटती
 अपनी ही जिजीविषा के खिलाफ
 इनमें भी वही आक्रोशित हैं
 जो या तो अभावग्रस्त हैं
 या तनावग्रस्त हैं/ बाकी तटस्थ हैं
 कोई नहीं बोलता इनके हालात पर
 कोई नहीं बोलता जंगलों के कटने पर
 पहाड़ों के टूटने पर/ नदियों के सूखने पर!¹³

आज आदिवासी समाज लुप्त होने की कगार पर खड़ा है। धीरे-धीरे जंगल कट रहे हैं और उनकी आवाज उनसे छिना जा रही है। पृथ्वी के संसाधनों पर व्यक्तिगत मिल्कियत जमाने और उसके अपार दोहन का विचार प्रकृति के विनाश के लिए निकला। सभ्य समाज यह बात भूल गया है कि ये भी मानव हैं और इनको भी जीने का पूरा अधिकार है। सभ्य समाज इतना स्वार्थी हो गया है कि उसे अपने लाभ के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा है। इस विषय को हरिराम मीणा ने अपनी कविता 'खत्म होती हुए एक नस्ल' में बखूबी उठाया है—

हमें पता नहीं
 हम बंदर की औलाद हैं/ या भगवान की मंसा
 मगर पैदा आदमजात ही में हुए

नहीं छोड़ी हमने हिफाजती मुहिम
 मौसमों के खिलाफ/ घर नहीं बनाए
 मगर बेघर महसूस नहीं किया
 रहे अपरिग्रही फिर भी धनी
 हमने युगों-युगों से/ खतरनाक सुअरों से लोहा लिया
 उन्हें खूब छकाया
 मगर खरोंचों के अलावा/ कोई हादसा नहीं हुआ
 हमने नारियल के ऊँचे दरख्तों को/ खिलवाड़ माना
 उनके फलों के स्वाद को जाना
 मगर उन्हें बर्बाद नहीं किया
 ना ही उन्होंने हमें सताया
 जहरीले साँपों से हम खेलते रहे
 समुद्रीजीवों से रही हमारी दोस्ती
 तूफानों ने हमारा कुछ नहीं बिगड़ा
 यहाँ तक कि—
 भूकंप और ज्वालामुखियों ने भी/ हमें नहीं उजाड़ा
 मगर—
 जिन्होंने हमें गोलियों से भूना/ वे इंसान थे
 जिन्हें हमें टापुओं के इधर-उधर खदेड़ा
 वे इंसान हैं
 और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेंगे
 वो इंसान होंगे।¹⁴

भारत एक विशाल देश है। इसने विभिन्न धर्मों, भाषाओं के साथ-साथ अनेक प्रकार की जनजातियाँ भी रहती हैं। इन्हीं विविधताओं के कारण विश्व में भारत आकर्षक का केंद्र रहा है। आदिवासी भी भारत में बहुत बड़ी संख्या में थे, पर अब धीरे-धीरे जंगल के विनाश के साथ-साथ वे भी नष्ट हो रहे हैं। जंगल नहीं रहेगा तो पानी नहीं बरसेगा। इसलिए पेड़ हमारे जीवन में बेहद जरूरी हैं। इसकी सार्थकता को व्यक्त करते हुए ग्रेस कुजुर लिखती हैं कि—

एक बूँद पानी के लिए
 तड़प-तड़प जाएँगी/ हमारी पीढ़ियाँ
 इसलिए/ मैं सच कहती हूँ
 हे समय के पहरदारो
 तुमने अवश्य सुना होगा
 एक वृक्ष की जगह/ लगाओ दूसरा वृक्ष।¹⁵

आदिवासी समाज में भी अब बहुत से अंधविश्वास गए हैं। जैसे महिलाओं को हल छूने

का अधिकार नहीं है। इसके अलावा महिलाओं का शोषण भी बहुत होता है। आज के समय में बहुत से लोग ऐसे हैं, जो आदिवासी स्त्री की नंगी-अधनंगी तस्वीरें खींचकर उन्हें नंगा कर देते हैं और उन्हें केवल भोग की वस्तु ही समझते हैं। कवयित्री ने अपनी पंक्तियों के माध्यम से आदिवासी स्त्री की अभिलाषा को मार्मिक ढंग से व्यक्त करते हुए उन लोगों पर तीव्र प्रहार किया है, जो आदिवासी स्त्री को देखते ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं। ऐसे पुरुष-समाज का पर्दाफाश करते हुए वे लिखती हैं—

ये वे लोग हैं जो दिन के उजाले में
मिलने से कतराते हैं
और रात अँधेरे में
मिलने का माँगते हैं आमंत्रण
ये वे लोग हैं जो
हमारे ही नाम पर लेकर
गटक जाते हैं हमारे हिस्से का समुद्र।¹⁶

हमारे समाज में छूआछूत की समस्या एक अभिशाप है, इस सामाजिक संकीर्णता का अंत होना ही चाहिए। आज के समाज को यह समझना चाहिए कि सभी उस एक ही ईश्वर की संतान हैं, सबके खून का रंग भी लाल ही है, फिर ये भेदभाव कैसा। मनुष्य का मनुष्य के साथ कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। इस पर कवि निषादराज कहते हैं—

ईश्वर की संतान सभी हैं, कोई भेद नहीं है,
पर समाज की विकृत व्यवस्था का अपवाद यही है।
ज्ञान, चरित, आदर्श पराक्रम, सभी गुणों में न्यारा
अगर आदिवासी घर जन्मा, तो सबने दुत्कारा।
यह कुप्रथा कुचोट रही है कहे न्याय क्या इसको?
गुण गरिमा हो सदा गुरुतर ज्ञान मिला हो सबको।

(निषादराज की पंक्तियाँ)

कवि ने इन पंक्तियों के माध्यम से ये बताया है कि ये भेदभाव की समस्या आज की नहीं है, बल्कि बहुत प्राचीनकाल की है। महाभारत में भी हम देखते हैं कि किस प्रकार गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अँगूठा माँग लिया था, क्योंकि वह राजपरिवार से नहीं था। आचार्य द्रोण का समूचा चित्र एकलव्य वृत्त के बिना अधूरा है तथा एकलव्य का वृत्त द्रोण के बिना अपूर्ण है, पर आज हमें बदलने की जरूरत है और यह समझने की जरूरत है कि ये भी मनुष्य हैं और इन्हें भी सम्मान से जीने का पूरा हक है। शुरुआत किसी एक से ही होती है, हम बदलेंगे तभी ये समाज बदलेगा।

संदर्भ

1. कुमार विरेंद्र, आदिवासी विमर्श और हिंदी साहित्य, पैसिफिक पब्लिकेशन (दिल्ली), संस्करण 2013, पृ० 70
2. उपर्युक्त

3. महादेव टोप्यो, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, संपादक रमणिका गुप्ता, पृ० 49
4. आदिवासी कौन, संपादक रमणिका गुप्त, पृ० 29
5. कथाक्रम, संपादक शैलेंद्र सागर, अक्टूबर-दिसंबर 2011, पृ० 6
6. आदिवासी समाज और शिक्षा, रामशरण जोशी, पृ० 21
7. वामन मेश्राम, मुलनिवासी बहुजन सिद्धांत संकल्पना स्वरूप एवं व्यवहार, मूल निवासी पब्लिकेशन ट्रस्ट, पृ० 5
8. डॉ० विनोद विश्वकर्मा, हिंदी उपन्यास और आदिवासी चिंतन, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015, पृ० 54
9. डॉ० वाहरू सोनवणे, की कविता 'स्टेज' की पंक्तियाँ
10. आदिवासी कवयित्री 'ग्रेस कुजूर'
11. संकल्प (त्रैमासिक पत्रिका) सं० प्रो० टी० मोहन सिंह, आलेख आदिवासी विमर्श और समकालीन हिंदी साहित्य, डॉ० रसाल सिंह, वर्ष 38, अंक 4, वर्ष 39, अंक 1, संयुक्तांक पृ० 267
12. डॉ० भीम, की कविता 'हम आदिवासी हैं', पृ० 227
13. www.kavitakosh.comeanujlugun
14. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 28 में 'हरि राम मीणा' द्वारा रचित 'खत्म होती हुई एक नस्ल' कविता की पंक्तियों की है।
15. 'ग्रेस कुजूर' की पंक्तियाँ
16. 'निर्मला पुतुल' की पंक्तियाँ

पुत्र श्री फकीरचंद्र
गाँव रिवाड़ जागिड़
पोस्ट बलबेहरा, तहसील गुहला (कैथल)
हरियाणा 136034
मो० 9468010722
sunilkajal722@gmail.com

जयप्रकाश कर्दम की कविताओं में दलित-चेतना

सीमादेवी, शोधार्थी

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

हिंदी दलित-विमर्श में जयप्रकाश कर्दम का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा रचित 'छप्पर' उपन्यास को हिंदी में पहला दलित-चेतना संपन्न उपन्यास होने का गौरव प्राप्त है। वास्वत में, उन्होंने अपना लेखन एक कथाकार के रूप में प्रारंभ किया, किंतु मित्रों के आग्रह पर उन्होंने कविता लिखना प्रारंभ किया और देखते-ही-देखते उनके तीन काव्य-संग्रह 'गूँगा नहीं था मैं', 'तिनका तिनका आग' और 'बस्तियों से बाहर' प्रकाशित हुए, जिनके माध्यम से उन्होंने सदियों से दबे-कुचले व वर्ण-व्यवस्था के नाम पर सताए दलितों की पीड़ा व वेदना को व्यक्त कर उनमें स्वाभिमान एवं आत्मगौरव जगाने का प्रयास किया। उनकी कविताओं में दलित-जीवन की विडंबना एवं विसंगति का यथार्थ चित्रण है, वहीं दलित-जीवन में बदलाव के लिए छटपटाहट भी उनकी कविताओं में साफ तौर पर देखी जा सकती है। वे दलित-जीवन के चित्रण को दलित-साहित्य नहीं मानते, बल्कि दलित-चेतना-संपन्न साहित्य को ही दलित साहित्य मानते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं, 'दलित-साहित्य यथार्थ में दलित-चेतना का साहित्य है। दलितों द्वारा भोगी गई उपेक्षा, अपमान और पीड़ा की अभिव्यक्ति भी इस रूप में हो कि उससे व्यक्ति में हीनता-बोध के बजाय जातीय स्वाभिमान और गौरव की भावना का विकास हो। इसके अभाव में अन्याय और उत्पीड़न को लेकर लिखा गया सारा का सारा साहित्य दलित-चेतना का साहित्य न होकर दलित-जीवन का साहित्य होकर रह जाएगा।'¹

यहाँ दलित-चेतना के अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। डॉ॰ हरदेव बाहरी के शब्दकोश के अनुसार, 'चेतना का अर्थ है—होश में आना, सावधान होना, सोच-समझकर ध्यान देना।'²

इस प्रकार दलित-चेतना का अर्थ हुआ दलितों को उनकी नारकीय स्थिति से अवगत करवाकर उन्हें उससे मुक्त होने के लिए प्रेरित करना। दलित-चेतना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं—'दलित-चेतना का सरोकार इस प्रश्न से बहुत गहरे तक जुड़ा है कि मैं कौन हूँ? मेरी पहचान क्या है? इसी सवाल से दलित लेखक की रचनाशीलता को ऊर्जा मिलती है। दलित की व्यथा, दुःख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित-चेतना नहीं है या दलित-पीड़ा का भावुक और अश्रु-विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो। चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है, जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमि की छवि के तिलस्म को तोड़ती है, वह है दलित-चेतना। दलित

मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो, उसकी चेतना, यानि दलित-चेतना।³

जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविताओं के माध्यम से दलित-समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी स्थितियों का आकलन किया है और उन्होंने पाया है कि दलित सभी जगह से शोषित हैं। इसलिए अपनी कविताओं के माध्यम से वे दलित-समाज की नारकीय स्थिति के कारणों की पहचान कर उनका विरोध करते हैं। दलितों की दुर्दशा का प्रमुख कारण वे समाज की जाति-व्यवस्था को मानते हैं, क्योंकि जाति के कारण ही उनका सबसे ज्यादा शोषण व अपमान हुआ है। इसलिए वे बार-बार जाति-व्यवस्था का विरोध करते हैं। उनका पोषण करनेवाले ब्राह्मणवाद का विरोध करते हैं। अब दलितों में चेतना आने लगी है, जिस कारण अब वे इस शोषणकारी व्यवस्था के पाखंड को पहचानने लगे हैं, जिसे उन्होंने सदियों तक धर्म के नाम पर आँख मूँदकर स्वीकार किया था। दलितों की देखी ही वेदना को उभारती है जयप्रकाश कर्दम की कविता 'किले', जिसमें वे लिखते हैं—

कोटी और हवेली
मेरे श्रम और शोषण से/ फले-फूले हैं
मेरी हिंसा और अपमान पर/ खड़े हैं
असमानता और अन्याय के/ ये सारे किले
मेरी आँखों में गड़े हैं
इन किलों में बंद हैं/ मेरी चीखें
इनके मेहराबों में सजे हैं
मेरी यातनाओं के फानूस
मेरे रक्त में रंगे हैं/ इनके ध्वज
इनकी दहलीजों में दफन है/ मेरा वजूद
इनकी भित्तियों पर खुदी है
मेरे दमन और दारुण की कथाएँ।⁴

उनके पहले काव्य-संग्रह 'गूँगा नहीं था मैं' में उन्होंने समाज की शोषणकारी व्यवस्था के प्रति जहाँ आक्रोश व्यक्त किया है, वहीं अपने दूसरे काव्य-संग्रह 'तिनका-तिनका आग में' उन्होंने इस व्यवस्था का प्रतिकार किया है। इसकी पहली ही कविता में वे दलितों को अपने अधिकारों के लिए स्वयं संगठित होकर संघर्ष करने का आह्वान करते हैं और उन्हें 'अप्प दीपो भव' अर्थात् 'अपना दीपक स्वयं बनो' का संदेश देकर उनके स्वाभिमान को जगाने का प्रयास करते हैं। वे लिखते हैं—

तुम भूखे सही/ स्वाभिमान मत छोड़ो
दरिद्र सही/ लाचार मत बनो
बेशक अंधकार में घिरो हो
निराश और निष्क्रिय मत बनो

कंठकाकीर्ण सही, कोई मार्ग/ अगम्य नहीं है
 कोई लक्ष्य अप्राप्य नहीं है
 अंतहीन नहीं है कोई दुःख
 हर समस्या का हल संभव है
 पैदा करो अपने अंदर
 न्यूटन-सा आत्मविश्वास
 जो कहता था
 मुझे लोहे की छड़ और
 पृथ्वी पर खड़े होने की
 जगह दे दो। मैं पृथ्वी को हिला दूँगा।⁵

जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य को एक वैचारिक आंदोलन के रूप में स्वीकार करते हैं, जो दलितों के लिए समानता, स्वतंत्रता व बंधुता की माँग करता है। दलितों के जीवन में जो भी परिवर्तन हो पाए हैं, उनके लिए डॉ॰ अंबेडकर के जीवन-संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जिन्होंने दलितों को शिक्षित बनने, संगठित रहने व संघर्ष करने का आह्वान किया। उन्होंने दलितों की स्थिति के लिए जिम्मेदार मूल कारणों की खोजकर उनका विरोध किया। उन्होंने ही दलितों को अपने जीवनानुभव लिखने के लिए प्रेरित किया, जिसके परिणामस्वरूप दलित-साहित्य का विकास हुआ। और दलितों में चेतना पैदा हुई। इसलिए दलित-चेतना डॉ॰ अंबेडकर के जीवन-दर्शन से ऊर्जा ग्रहण करती है। जयप्रकाश कर्दम पर डॉ॰ अंबेडकर के विचारों का गहरा प्रभाव है। इसलिए उनकी कविताओं पर डॉ॰ अंबेडकर के विचारों का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है। क्योंकि इन्हीं के कारण दलित पशु तुल्य नारकीय व शोषित जीवन जीते आए हैं। डॉ॰ अंबेडकर की प्रेरणा से ही दलितों में चेतना पैदा हुई, जिस कारण अब दलित शोषण व अन्याय को चुपचाप सहन नहीं करते, बल्कि उसके विरुद्ध प्रतिकार करने लगे हैं और सदियों से चली आ रही भेदभावपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के षड्यंत्र को समझने लगे हैं। 'बौने' नामक कविता में जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं—

सदियों से/तुम्हारी यह साजिश
 फलती-फूलती रही/ तुम शोषक मैं शोषित
 तुम श्रेष्ठ मैं हीन/ तुम स्वामी मैं सेवक बना रहा हूँ
 लेकिन आज/ अंबेडकर के आह्वान से
 जाग्रत कर दी है/ मेरी चेतना
 पढ़ा दिया है/ स्वावलंबन और स्वाभिमान का पाठ
 बौने-से लगने लगे हैं अब/ मुझे बौना बनाने वाले।⁶

दलितों में चेतना पैदा करने के लिए वे शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हैं, क्योंकि शिक्षा में ही वह ताकत है, जो दलितों को पतन के गर्त से निकाल सकती है। दलित-चेतना दलितों में आत्मसम्मान का बोध विकसित करती है। दलित-चेतना के निर्माण के संदर्भ में डॉ॰

ए०आर० किदवई लिखते हैं—‘दलित-चेतना की पहली शर्त है आत्मसम्मान का बोध। यह बोध शिक्षा से ही जगता है, दूसरी शर्त है उसके लिए संघर्ष यानि सामूहिक जनशक्ति में आस्था और सहजन शक्ति।’ जयप्रकाश कर्दम भी दलितों में चेतना के लिए शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष को आवश्यक मानते हैं। ‘कलम’ को वे दलितों के लिए एक हथियार के रूप में देखते हैं, जिसके माध्यम से वे अपने जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं। इसीलिए वे कलम के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—

सीखना होगा दलितों को भी
कलम का महत्त्व
हथियारों के रूप में उसका प्रयोग
क्योंकि कलम से
लिखे जा सकते हैं/ परिवर्तन के गीत
ध्वस्त किए जा सकते हैं
अन्याय के किले।⁸

संक्षेप में, जयप्रकाश कर्दम की कविताएँ दलित-चेतना की कविताएँ बनकर उभरती हैं जो दलितों को उसकी वस्तुस्थिति से तो अवगत कराती हैं, साथ ही उनमें आत्मसम्मान एवं स्वाभिमान की भावना पैदा कर शोषणकारी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिकार भी व्यक्त करती हैं।

संदर्भ

1. जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श, साहित्य के आइने में, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, संस्करण 2009, पृ० 134
2. हरदेव बाहरी, राजपाल शब्दकोश, पृ० 267
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली 2001, पृ० 29
4. जयप्रकाश कर्दम, गूँगा नहीं था मैं, सागर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013, पृ० 14
5. जयप्रकाशन कर्दम, तिनका-तिनका आग, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ० 9
6. वही, पृ० 29
7. उमाकांत बिरादर व विजय रोडे, दिव्य डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, संस्करण 2015, पृ० 240
8. जयप्रकाश कर्दम, तिनका-तिनका आग, पृ० 30

भारती भवन

होस्टल नं० 4, कक्ष सं० 96

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

मो० 9212443097

चंद्रकांत देवताले की कविताओं में स्त्री-विमर्श

उमेशकुमार चरपे, शोधार्थी

डॉ० खेमराज मगरदे, हिंदी विभाग

ज०हा०शास०स्ना०महाविद्यालय, बैतूल (म०प्र०)

बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल, (म०प्र०)

बचपन से ही स्त्री-विषयक एक वाक्य कानों में गूँज रहे हैं, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता' (मनुस्मृति) अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं, परंतु इतने गर्वीले वाक्य पर जब हम पीछे मुड़कर देखते हैं, तो पता चलता है कि जितना अत्याचार स्त्री पर हुआ है, शायद किसी पर नहीं। 'पिछली दो-तीन शताब्दियों से आधुनिकता के आने के साथ ही पारस्परिक समाज की अवधारणा बदली है। इसे बदलने में मार्क्सवाद की वर्गीय अवधारणा की बड़ी भूमिका रही है। भारत और जापान इसके गवाह रहे हैं, लेकिन हाल के दशकों में साहित्य में मनुष्य की अस्मिता या यों कहें कि सामाजिक अस्मिता का मुद्दा एक केंद्रीय स्तर बनकर उभरा है, चाहे इसका कारण द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-1945) हो या भारत-पाक का विभाजन। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह हुई कि मनुष्य अथवा समाज की अस्मिता से जुड़ी इन सारी प्रक्रियाओं में ऐसे समाज और समूह सामाजिक अस्मिता के सवाल को लेकर उठ खड़े हुए हैं, जिन्हें सदियों से समाज की मुख्यधारा के अंदर और बाहर हाशिए पर रखा गया।' घर की चार दीवारी में चूल्हा-चौका, बर्तन और बच्चे पैदा करना, घर सम्हालना जैसी धारणाओं को लादा गया। स्त्री तमाम दुखों को सहती है, परंतु उसे दिखाती नहीं। हिंदी के वरिष्ठतम कवि चंद्रकांत देवताले अपनी एक कविता में जिक्र करते हैं—

दुख हथेली पर रखकर दिखानेवाली नहीं है यह औरत
रो रही है बेआवाज पत्थर और पत्तियों की तरह
वह जानती है पानी बहा ले जाएगा
आँसुओं और सिसकियों को चुपचाप
शिनाख्त नहीं कर पाएगा कोई भी।²

वक्त के साथ समाज में बहुत-सा बदलाव आया है। समाज का प्रत्येक वर्ग जागरूक हुआ है, युवापीढ़ी में सजगता और जागरूकता देखने को मिल रही हैं। वहीं प्रत्येक वर्ग की लड़कियाँ पढ़-लिखकर लड़कों के बराबर कंधे से कंधा मिला रही हैं, परंतु वहीं बहुत सारी चुनौतियों का भी सामना करना पड़ रहा है। वक्त की बदलती तस्वीर से जहाँ स्त्री आत्मनिर्भर हुई है, वहीं उसे चुनौतियों का सामना भी करना पड़ रहा है। वह स्त्री माँ के रूप में घर की सारी

जिम्मेदारियाँ बखूबी निभा रही है और बाहरी कार्यों में भी सामंजस्य स्थापित कर रही है। फास्ट फूड के इस दौर में माँ के हाथ का खाना दूर होता जा रहा है—

वे दिन बहुत दूर हो गए हैं
जब माँ के बिना परोसे
पेट भरता ही नहीं था
वे दिन अथाह कुएँ में छूटकर गिरी
पीतल की चमकदान बाल्टी की तरह
अभी भी दबे हैं शायद कहीं दूर।³

समाज की तस्वीर बहुत तेजी से बदल रही है। आज भी भारत के कुछ गाँव ऐसे हैं, जहाँ स्त्री घर की चारदीवारी से मुक्त नहीं हो पाई है। धर्म, आडंबर ने पुरुष की मानसिकता को गुलाम बना रखा है और अपनी वही मानसिकता स्त्री पर लादना चाहता है। 'अकेली स्त्री एक असंभव स्थिति रही है। हमारे मनुवादी संस्कारों में स्त्री के लिए सदैव से यदि कहीं कोई गुंजाइश बनी है तो रक्षिता रहकर ही। स्त्री न तो घर में अकेली देखी जा सकती है, न घर के बाहर। घर के बाहर अकेली स्त्री की असम्मानजनक स्थिति है। इसलिए 'सम्माननीय स्त्री' पुरुष के संरक्षण में पुरुष से सुरक्षा चाहती स्त्री है, जिसके हाथ में न अपनी देह है, न अपना पैसा और न ही अपने रिश्ते।⁴ समाज का एक वर्ग तो ऐसा भी है, जो स्त्री को परदे में कैद करके रखना चाहता है और धर्म का मुलम्मा चढ़ाकर ढाँकना चाहता है। परंतु वह पुरुष भूल जाता है कि स्त्री अनंत पृथ्वी को समेटे हुए है, वही अपने स्तनों से दूध पिला रही है आज नहीं, शताब्दियों से। कवि निम्न पंक्तियों के माध्यम से कहते हैं—

एक औरत अनंत पृथ्वी को
अपने स्तनों में समेटे
दूध के झरने बहा रही है,
एक औरत अपने सिर पर
घास का गट्ठर रखे
कबसे धरती को
नापती ही जा रही है।⁵

तरक्की के साथ ही स्त्री पर हिंसा, बलात्कार, एसिड अटैक बढ़ते जा रहे हैं और हम छाती ठोकते नहीं थकते। ऊपर टाई, नीचे जनेऊ जैसे हम जी रहे हैं। कपड़े बदलने से सोच में परिवर्तन नहीं आता। आज भी लड़के लड़कियों को कमजोर समझते हैं और मजाक उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। उन्हें घर-गृहस्थी तक ही सीमित रखना चाहते हैं। पुरुष कमाकर लाता है और स्त्री को घर सम्हालना होता है, उसे घर की सर्वसर्वा कहकर समझा दिया जाता है, ताकि घर में कैद होकर रहे। वहीं जब हम दूसरी ओर देखते हैं, तो स्त्री दुहरी जिम्मेदारियों के बोझ से लदी नजर आती है। बड़े-बड़े महानगरों मुंबई, दिल्ली, कलकत्ता, चेन्नई आदि में पूरे परिवार का खर्च अपने कंधों पर उठा रही है। कुछ ग्लैमर की चकाचौध में स्त्री होने की हदों को लाँघ

रही हैं, तो कहीं परंपरा के बोझ से उभर नहीं पाई हैं। समाज के अंदर बड़ी विडंबना है। और समय विकास की सीढ़ियों पर चढ़ता जा रहा है।

समाज में स्त्री का आत्मनिर्भर होना जरूरी है। पति और पत्नी मिलकर घर की आर्थिक स्थिति को मजबूत बना सकते हैं। अगर हम थोड़ा पीछे जाते हैं और देखते हैं तो स्थिति कुछ और ही नजर आती है, परंतु अब 'देश की स्थितियाँ बदलती रहीं, स्त्री की स्थिति जस की तस बनी रही, लुटने की पीड़ा को निरंतर सहती हुई स्त्री। रानी लक्ष्मीबाई ने स्त्रियों की छोटी-सी सेना अँग्रेजों के विरुद्ध बनाई थी, अब उस सेना का स्वरूप बदल चुका है। उसके हथियार बदल गए हैं, वह जिस अश्व पर सवार है, वह अश्व तीव्र अस्तित्व-बोध का अश्व है।⁶

कुछ वर्षों में स्त्री-विमर्श पर चर्चाएँ काफी हुई हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्त्री-विमर्श पर विश्वव्यापी चिंतन और चर्चाओं की बाढ़-सी आ चुकी है। बिना स्त्री के सृष्टि संभव नहीं है। मनु के लिए श्रद्धा के सहयोग के बिना संसार के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज का हर हिस्सा जागरूक हो रहा है, सरकार के नियम-कानूनों से परिचित हो रहा है। महिलाएँ अपने हक के लिए, अपने आत्मसम्मान के लिए लड़ने लगी हैं। सरकार ने भी ऐसे कानूनों का निर्माण किया है, जिससे वह अपने ऊपर हुए अत्याचारों पर लगाम लगा सके। 'स्त्री विमर्श के वैश्विक वातावरण में जहाँ महिलाओं के प्रति शिक्षा एवं रोजगार की दिशा में दृष्टि-परिवर्तन हुआ है, वहीं आर्थिक एवं काम-संबंधी दृष्टि से महिलाओं के प्रति व्यवहार में कुछ नए संदर्भ भी जुड़ गए हैं। स्त्री-शिक्षा के विकास के साथ विभिन्न क्षेत्रों में स्त्री ने कार्यक्षमता से अपने महत्त्व का प्रतिपादन किया है।⁷

आज विश्वस्तर पर स्त्री-विषयक अधिकारों की वैचारिक बहस चल रही है और उन्हें अधिकार भी मिल रहे हैं। फिर भी क्या समाज के हर हिस्से में स्त्री सुरक्षित है? यह प्रश्न अपने आपसे पूछने की जरूरत है। आए-दिन यौन-शोषण, बलात्कार, छेड़छाड़, आग में जलाना जैसी घटनाएँ हृदय को झकझोर देती हैं। चंद्रकांत देवताले बड़े ही संवेदनात्मक ढंग से स्त्री के दुख को अभिव्यक्त करते हुए कहे हैं कि एक औरत किस प्रकार अपने दुख को छिपा रही है, इतना कुछ होने के बाद भी—

दुख हथेली पर रखकर दिखानेवाली नहीं है यह औरत
रो रही है बेआवाज पत्थर और पत्तियों की तरह
वह जानती है पानी बहा ले जाएगा
आँसुओं और सिसकियों को चुपचाप
शिनाख्त नहीं कर पाएगा कोई भी
वह तक नहीं, जो कल्पना में देख सकता होगा
बारिश में टपकती ओस की भी बूँद।⁸

चंद्रकांत देवताले समाज में स्त्री की स्थिति पर सजग दृष्टि रखते हैं। उन्होंने समाज में होनेवाले अत्याचार, बलात्कार जैसी घटनाओं के प्रति संवेदना को कविताओं में चित्रित किया है। 'पारिवारिक और मानवीय संबंधों की दुनिया में आत्मसजग संस्कारी व्यक्ति की तरह जीते

हुए ही उन्होंने लड़ती-मरती स्त्रियों के अनेक रूप देखे हैं। आजी, माँ, पत्नी, बेटी जैसे रूपों में उनके अंतर्जीवन में शामिल स्त्रियों से ही उसे वह दिशा मिली है कि वह जानलेवा संघर्षों के बीच पुरुष-केंद्रित अहंकारी संसार की क्रूरता को झेलती स्त्रियों की पीड़ा और यातना को लिख सके।⁹ देवताले समाज में औरत के शताब्दियों से चले आ रहे जीवन के यथार्थ रूप को उद्घाटित करते हैं—

एक औरत अँधेरे में
खर्राटे भरते हुए आदमी के पास
निवर्सन जागती
शताब्दियों से सोई है
एक औरत का धड़
भीड़ में भटक रहा है
उसके हाथ
अपना चेहरा ढूँढ़ रहे हैं
उसके पाँव
जाने कबसे
सबसे अपना पता पूछा रहे हैं।¹⁰

कवि चंद्रकांत देवताले ने एक जगह लिखा है कि 'यदि जीवन में घर चलाने और प्यार करनेवाली पत्नी न होती तो यह दुनिया एक रेगिस्तान के अलावा क्या होती!' कवि की बात वाजिब है स्त्री की संरचना पुरुष से कहीं ज्यादा कोमल और संवेदनशील है। स्त्री इस दुनिया को बदल सकती है विनाश और क्रूरता से बचाकर प्रेम और संवेदना की ओर ले जा सकती है।'

संदर्भ

1. कमलाप्रसाद, राजेंद्र शर्मा, संपादक स्त्री : मुक्ति का सपना, देवेंद्र चौबे, नई सामाजिक अस्मिताएँ और साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 465
2. प्रभात त्रिपाठी, संपादक, चंद्रकांत देवताले, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, पृ० 54
3. वही, पृ० 38
4. कमला प्रसाद, राजेंद्र शर्मा, संपादक, स्त्री: मुक्ति का सपना, रेखा कस्तवार, अकेली स्त्री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 107
5. प्रभात त्रिपाठी, संपादक, चंद्रकांत देवताले, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, पृ० 43
6. डॉ० चंद्रशेखर त्रिपाठी, स्त्री विमर्श, साहित्य और समाज की संरचना में, ग्रंथलोक, दिल्ली, पृ० 9-10
7. चंद्रशेखर त्रिपाठी, स्त्री विमर्श, साहित्य और समाज की संरचना में, ग्रंथलोक प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 12
8. आलोक श्रीवास्तव, संपादक जहाँ थोड़ा-सा सूर्योदय होगा, (चंद्रकांत देवताले की चयनित कविताएँ), संवाद प्रकाशन मेरठ, पृ० 152
9. प्रभात त्रिपाठी, संपादक, चंद्रकांत देवताले, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 10
10. वही, पृ० 43

मो० 8966943998, 8962805866
charpe.umesh@gmail.com

संत कबीर की सामाजिक चेतना

नीरू रानी, शोधार्थी

हिंदी विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

संत कबीर न केवल महान संत और कवि थे, बल्कि वे तो एक बहुत बड़े समाज-सुधारक थे। इसके साथ-साथ भविष्य-निर्माता भी थे। फिर भी सामाजिक विषमता और गिरावट को दूर करना कबीर का सर्वोच्च इष्ट नहीं था। इन्होंने आध्यात्म के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियों को उजागर किया या यूँ कहें कि जो सामाजिक परिस्थितियाँ धर्म के आड़े आईं, उनका वर्णन कबीर ने ज्यादा-से-ज्यादा किया। कबीर जाति-पाँति में विश्वास न करके केवल मनुष्यता में ही विश्वास रखते थे। वे एक ऐसे समाज को देखना चाहते थे, जिसमें कोई छोटा-बड़ा न हो, ऊँच-नीच न हो तथा सभी एक होकर रहें। सभी प्रेम से एक-दूसरे के साथ रहें। उनका कहना था कि—

सोहं हंसा एक समान काया के गुण जानहिं आना।

माटी एक सकल संसारा बहु विध भाँड़े घड़ै कुम्हारा।

दस दुहिए गाइ एक दूध देखौ पति आई।

कहै कबीर संसा करि दूरि त्रिभुवननाथ रहया भरि पूरि।¹

वे यहाँ स्पष्ट करते हैं कि जब सारा संसार एक ही मिट्टी से बना है और बनाने वाला कुम्हार भी एक ही है तो लोग अलग-अलग कैसे हो सकते हैं। इस सबके बावजूद समाज में यह कैसी समस्या है कि समाज में लोग धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर बँटे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि लोग हिंदू और मुसलमान बनकर आपस में लड़ रहे हैं, परंतु इनमें से सच्चाई कोई नहीं जानता—

कह हिंदू मोहि राम पियारा तुरुक कहै रहिमाना।

आपस में दोउ लरि लरि मूये, मरम न काहू जाना।²

कबीर यहाँ स्पष्ट करते हैं कि लोग धर्म के नाम पर किस तरह लड़ रहे हैं तथा समाज को टुकड़ों में बाँट रहे हैं। कबीर ने इस बात पर जोर दिया है कि हिंदू-मुसलमान क्या जो हिंदू हैं, उनमें भी कोई शूद्र नहीं है। इस बात की घोषणा कबीर ने हिंदुत्व के गढ़ काशी में रहते हुए बार-बार की—

एक बूँद एक मल मूतर, एक चाम एक गूदा।

एक जात थैं सब उतपन्ना, कौन ब्राह्मण कौन सूदा।³

कबीर यहाँ कहते हैं कि सब लोग एक ही जाति से उत्पन्न हुए हैं, तो इनमें कोई ब्राह्मण और कोई शूद्र कैसे हो सकता है।

कबीर समाज को लेकर इतने चिंतित थे तथा वे समाज में सुधार भी चाहते थे। इसके रहते कबीर ने काव्य की रचना की। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु समाज के चिंतक थे, वे कहते हैं कि—

मसि कागज छूवो नहीं कलम गहौं नहिं हाथ।

चारों युग के महातम कबिरा मुखहिं जनाई बात।⁴

वे यहाँ भी स्पष्ट करते हैं कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन समाज में फैली कुरीतियों से वह समाज को बचाना चाहते थे। अपने विचारों के द्वारा इन्होंने इस कार्य को किया भी। कबीर ने समाज के लोगों को एक करने के लिए निर्गुण भगवान का वर्णन किया है। सगुण के माध्यम से निर्गुण का वर्णन किया है—

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।

राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।

किया स्यगार मिलन के ताई।

काहै न मिलौ राजा राम गुसाई।⁵

कबीर ने निर्गुण का वर्णन इसलिए किया है, ताकि जो लोग धर्म के नाम पर बँटे हुए हैं, उनमें एकता की भावना आए तथा एक आदर्श समाज की स्थापना हो। कबीर के समय में समाज में बहुत सारी कुरीतियाँ फैली हुई थीं तथा पंडों, ठगों तथा धर्म के ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर लोगों में इतना अंधविश्वास तथा रूढ़िवादिता का समावेश कर दिया था कि जिससे समाज जाति, धर्म, भाषा तथा रंग के आधार पर अनेक हिस्सों में बँट गया था। समाज में इसके साथ-साथ व्यभिचार और शोषण फैल गया था।

कबीर ने सबसे ज्यादा प्रकाश समाज में फैली जाँत-पाँत के ऊपर डाला है, क्योंकि उन्होंने अपने समय में यह महसूस किया था कि समाज में जाति के नाम पर बहुत शोषण हो रहा है। जाति के नाम पर लोग बँटे हुए हैं तथा एक-दूसरे का शोषण करते हैं। वे कहते हैं कि—

एक बूँद से सब जग कीआ, कौन भले कौन मंदे।⁶

अर्थात् वे कहते हैं कि जब परमात्मा ने सबको एक जैसा बनाया है तो सभी एक जैसे ही हो सकते हैं उनमें से कोई हिंदू, कोई मुसलमान कैसे हो सकता है। इसी कड़ी में वे आगे यह भी कहते हैं कि—

जो तू वाहन बभनी जाया, तौ आन बाट होई कहे न आया।

जौ तू तुरक तुरुकिनी जाया, तौ भीतर खतना क्युँ न कराया।⁷

वे स्पष्ट करते हैं कि लोग व्यर्थ में ही जाति, धर्म के नाम पर लड़ते हैं, क्योंकि मनुष्य-मनुष्य में तो कोई भेद ही नहीं है। अगर भेद होता तो माँ के गर्भ में ही दोनों का अलग-अलग विकास होता तथा उनमें स्पष्ट भेद लक्षित होता।

कबीर माया व नारी को भक्ति के पथ में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। उनके अनुसार

जीव माया तथा नारी के मोहजाल में फँसकर रह जाता है तथा वह भवसागर पार नहीं कर पाता। अनके स्थानों पर कबीर ने माया तथा नारी को डगिनी, महाठगिनी, नागिन, विलैया तथा वेश्या तक कहा है। कबीर के समय में नारी मात्र भोग-विलास की वस्तु बनकर रह गई थी तथा नारी को केवल सुंदरी, कामिनी या उसका व्यभिचारी रूप ही प्रचलित था। कबीर ने यहाँ पर व्यभिचारी पुरुषों पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि—

नारी की झाँई परत, अंधा होत भुजंग।

कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी की संग।⁸

कबीर ने इन पंक्तियों में तो नारी की परछाई तक को कार्य में रुकावट माना है तथा जहाँ एक ओर कबीर ने नारी के कामिनी रूप का विरोध किया है, वहीं उन्होंने नारी के पतिव्रता रूप की सराहना भी बहुत की है। इनके अनुसार पतिव्रता नारी कुरूप होने पर भी रूपवान करोड़ों सुंदरियों से भी कहीं अधिक सुंदर होती है, क्योंकि वह अपने धर्म का पालन पूरी निष्ठा से करती है। वे आगे कहते भी हैं कि—

पतिबरता मैली भली, काली कुचित कुरूप।

पतिबरता के रूप पर वारों कोटि सरूप।⁹

इसी तरह कबीर ने माया को भी व्यक्ति के लिए एक रुकावट ही माना है, क्योंकि आज समाज पैसों के पीछे इस तरह दौड़ पड़ा है कि वह अपनों को छोड़कर मात्र पैसे का पुजारी बनकर रह गया है। कबीर कहते हैं कि—

माया तो ठगनी भई ठगत फिरै सब देस।

जा ठग या ठगनी ठगी ता ठग को आदेस।¹⁰

कबीर ने स्पष्ट किया है कि माया के पीछे दौड़कर मनुष्य अपने सभी रिश्ते-नातों को पीछे छोड़ जाता है तथा एक दिन ऐसा आता है कि वह एकदम अकेला रह जाता है। उसे यह भी पता नहीं चलता कि माया उसे ठग रही थी या वह माया को ठग रहा था।

कबीर ने मनुष्य को सतसंगति की सलाह दी है। वह सच्चे संतों की संगति में रहने को कहते हैं। कपटी तथा ठगी साधुओं से दूर रहने के लिए कहते हैं। आज हमारे सामने भी हर रोज ढोंगी साधु हमारे समाज को गुमराह कर रहे हैं। इस पर कबीर के विचार इस प्रकार हैं—

जानता बूझा नहीं बूझि किया नहीं गौन।

अंधे को अंधा मिला राह बतावे कौन।¹¹

ऐसा नहीं है कि समाज में सारे संत या साधु ढोंगी या बुरे हैं। बहुत से अच्छे भी हैं, जो मनुष्य को सही रास्ता दिखाते हैं। कबीर ने अपने दोहों में ऐसे साधु-महात्माओं का यशोगान भी किया है। वे कहते हैं कि गुरु तो एक कुम्हार है तथा वह मनुष्य की सारी कुरीतियों को निकालकर उसे सद्मार्ग पर चलाता है तथा आज ऐसे ही गुरुओं तथा संतों की जरूरत है—

गुरु कुम्हार शिश कुंभ है गढ़ गढ़ काढ़ै खोट।

अंतर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट।¹²

कबीर ने स्पष्टतः कहा है कि इन बाह्य आडंबरों जैसे—मूर्ति-पूजा, रोजा, तीर्थव्रत आदि को छोड़कर मेहनत पर ध्यान दें तथा अपना काम पूरी निष्ठा तथा श्रद्धा से करें, तभी समाज

तथा मनुष्य की उन्नति हो सकती है। पर वे कहते हैं कि—

पाहन पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजूं पहार।
घर की चाकी काहे न पूजे, जासे पीस खाये संसार।¹³

कबीर ने इन पंक्तियों के माध्यम से यही बताया है कि हमें बाह्य आडंबर को छोड़कर मेहनत करनी चाहिए। कबीर का साहित्य आज भी पूरी तरह से प्रासंगिक है तथा इन्होंने अपने साहित्य में समाज में फैली बुराइयों पर सबसे अधिक विचार किया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीर न केवल आध्यात्मिक थे, बल्कि उसके बजाय वे सामाजिक थे तथा बुराइयों से मुक्त एक अच्छा समाज देखना चाहते थे। कबीर इस संसार को एक बाजार मानते थे तथा कहते थे कि 'कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ, जो घर फूँके अपना चले हमारे साथ।' ये पंक्तियाँ पूर्णतः स्पष्ट करती हैं कि अपना सबसे बड़ा उद्देश्य समाज-सुधार था तथा कबीर का समाज में उतना ही महत्त्व है, जितना पहले था।

संदर्भ

1. कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, सं० बलदेव वंशी, आधार प्रकाशन (पंचकूला), संस्करण 2011, पृ० 118
2. वही, पृ० 119
3. वही
4. आधी साखी कबीर की, कमलापति पांडेय, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ० 46
5. दि स्टेटमेंट, कंफ्लिट वर्क्स, वॉल्यूम फर्स्ट, पृ० 704.8
6. कबीर और भारतीय संतसाहित्य, डॉ० रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2001, पृ० 33
7. वही
8. कबीर वचनावली, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृ० 109, दोहा 554
9. वही, पृ० 90, दोहा 278
10. वही, पृ० 108, दोहा 541
11. वही, पृ० 93, दोहा 320
12. वही, पृ० 92, दोहा 306
13. नई सदी में कबीर, डॉ० एम० फिरोज खान, आकाश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2009, पृ० 27

भारती भवन

होस्टल नं० 4, कक्ष सं० 96

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

आदिवासी जीवन और प्रवृत्ति

डॉ० राजेंद्र सोमा घोडे

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे 411007

भारत का आदिवासी समाज अनेक जनजातियों में विभाजित है। इनमें से बहुत सारी जनजातियाँ अधिकांशतः पहाड़ी जंगल तथा दूर-दराज क्षेत्रों में रहती हैं। जंगलों में रहना कोई साधारण बात नहीं है, किंतु ये लोग सदियों से ऐसे ही इलाकों में बस्तियाँ बनाकर रहते आ रहे हैं। आज भी ये लोग विकास के लिए तरस रहे हैं, किंतु फिर भी विकास अभी तक उनको आगे नहीं ले पा रहा है। इनमें से कुछ लोग पढ़-लिखकर अपना जीवन-यापन कर रहे हैं, किंतु यह केवल कुछ अंशतः प्रमाण हैं। कोरकू, वारली, गोंड, भील, ठाकर तथा अन्य ऐसी कई जनजातियाँ हैं, जो आज भी बगैर बिजली के अँधेरे में ही अपना जीवन-यापन कर रही हैं। मध्यप्रदेश का पाताल कोट आज भी शेष भारत से अलग है, जो चारों तरफ से पर्वत-मालाओं से घिरा है। वह दो-ढाई किलोमीटर नीचे गड्ढे में बसा है। जहाँ तक सभ्यता क्या, जो अपने आपको सभ्य कहनेवाला समाज भी अभी तक नहीं पहुँचा है। जहाँ अँधेरी गुफाएँ इनके घर हैं तो बड़े वृक्षों की जड़ें बाहर आने के रास्ते हैं। यह प्रदेश गोंड जनजाति का गढ़ माना जाता है। उन्हें आधुनिक जीवन पसंद नहीं है। इसलिए ज्ञानचंद गुप्त लिखते हैं—‘बस्तर की गोंड जनजाति आज भी आधुनिक जीवन सभ्यता से अलग अपने वनों-घाटियों, नदी-नालों, पशु-पक्षियों, देवी-देवताओं तथा रूढ़ियों और संस्कारों से जुड़ी हुई आदिम, संस्कृति में जी रही है। मानव और प्रकृति का निश्चल संबंध इस संस्कृति का मूल आधार है।’ इस तरह की स्थिति हर एक राज्य में जहाँ आदिवासी लोग रहते हैं वहाँ दिखाई देती है।

आजादी के साठ साल बाद भी आदिवासी जनजाति गुमनामी का जीवन जी रही है। कभी घुमंतू, कभी अपराधी तो कभी असभ्य बनकर। इन्हीं के नामों पर करोड़ों-अरबों रुपए आवंटित हुए हैं और हो रहे हैं, लेकिन इनकी दशा में अभी भी गुणात्मक विकास दिखाई नहीं देता। इतिहास में आदिवासियों को बंदर, भालू बनाकर उनकी अस्मिता के साथ खिलवाड़ किया गया। उन्हें राक्षस और असुर कहकर उनका संहार किया गया और आज भी अन्याय और अत्याचार की यह परंपरा निरंतर जारी है। विकास के नाम पर उन्हें उनके ही घर-जमीन से बेदखल किया जा रहा है। आदिवासी समाज अनपढ़, अज्ञानी दरिद्र और अरण्यमुखी संस्कृति से व्याप्त होने के कारण सरकारी अधिकारी, राजनेता और वन-अधिकारी मिल-जुलकर आदिवासियों का शोषण करते हैं। उनके विकास की योजना जीवनावश्यक वस्तुएँ, अनाज यहाँ

तक आदिवासी के जीवन जीने के साधन जल, जमीन, जंगल पर अपना अधिकार जमाते हैं। उनपर तरह-तरह के अन्याय-अत्याचार करते हैं। इसके कारण भारत में आज अनेक आदिवासी जनजातियाँ विस्थापित होकर रोजी-रोटी की तलाश में शहर में आकर अपना लहू-पसीना एक कर मेहनत और ईमानदारी से काम करती हैं, फिर भी उनको दो वक्त की रोटी भी कायदे से नसीब नहीं हो रही है।

आदिवासी लोकसंस्कृति

लोकसंस्कृति सदैव स्थानीय होती है। यह किसी-न-किसी सीमित क्षेत्र की संस्कृति की द्योतक होती है। आदिवासी संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है, जो अन्य सभी संस्कृतियों से आदिवासी संस्कृति को अलग करती है। इसलिए ई०वी० टेलर लिखते हैं—‘संस्कृति वह जाटिल इकाई है, जिसके अंतर्गत आचार-विचार, विश्वास रीति-रिवाज, विधि-विधान एवं परंपराएँ आती है। इसके अंतर्गत सभी समस्याएँ एवं आदत शामिल हैं।’² आदिवासी समाज अपने बचाव के लिए अपनी लोकसंस्कृति का बचाव करते हैं। शिकार करना, शहद इकट्ठा करना—बेचना, दवाई गोला करना, रस्सियों पर खेल दिखाना ऐसे कितने ही काम हैं, जो उनकी संस्कृति की पहचान कराते हैं। जड़ी-बूटियाँ खोजना, बीमार व्यक्तियों का इलाज करना यह सब करके धन कमाते थे और अपनी लोकसंस्कृति को जीवन से जोड़ते थे। आदिवासी समाज में लोकसंस्कृति के विविध उत्पादन अत्यंत विकसित अवस्था में पाए जाते हैं। यह लोकगीत, लोकनृत्य, लोककथाएँ, लोकोक्तियाँ समृद्ध भारत के कलाकारों को प्रेरणा देते हैं।

वेश-भूषा

आदिवासी लोगों की रहन-सहन, वेश-भूषा बिल्कुल साधारण है। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वह अन्य विकसित समाज की तरह वेश-भूषा नहीं धारण कर सकते। वे कमर पर कपड़ा पहनते हैं और शरीर में सदरा पहनते हैं। महिला की वेश-भूषा हर एक आदिम जनजाति में अलग-अलग है। भिल्ल जनजाति की महिलाएँ साड़ी के दो टुकड़े करके एक टुकड़ा कमर में पहनती हैं और दूसरा शरीर के ऊपर रखती हैं। ठाकर और महादेव कोली की महिलाएँ शिर पर लाल रंग का कपड़ा रखते हैं। माड़िया जनजातियों की महिलाएँ ब्लाउज और कमर में एक कपड़ा पहनती हैं। जिस आदिवासी जनजाति के लोग नगरों, महानगरों के संपर्क में आए हैं, उनमें धीरे-धीरे बदलाव दिखाई दे रहा है। लेकिन इनका प्रमाण कम प्रतिशत है।

अतिथियों का सम्मान

पुराने जमाने में हर एक समाज में अतिथियों को ‘अतिथि देव’ कहा जाता था। उनका सम्मान किया जाता था, लेकिन आज इस वैश्वकरण के युग में ‘अतिथि तुम कब जाओगे’ कहना पड़ रहा है। क्योंकि अतिथि हर एक के लिए मुसीबत पैदा हो गई है। लेकिन आदिवासी समाज में अतिथियों का आज भी स्वागत किया जाता है। अतिथियों के आगमन में गीत गाया जाता है। इस स्थिति का चित्रण ‘जंगल के फूल’ उपन्यास में अँग्रेज अफसर के आगमन में गोंड आदिवासियों के स्वागत गीत में दिखाई देता है—

तेना नामुर ना रे ना मुरे ना ना
तुभी नाका जोड़ा डोंगा हामी ना कुन्दे खड़क सरकार चो।
रैयत के दंड पडली दरभा ठाना चो सड़का हो तै ना ना मुरेडा³

विवाह-प्रथा

आदिवासी जनजातियों में पहले पाँच-छह दिन तक शादी होती थी, लेकिन अब इसमें परिवर्तन हो गया है। दिन कम हो गए हैं, लेकिन शादी की परंपरा में बदलाव नहीं आया है। जिस आदिवासी जनजाति के लोग नगर, महानगरों के सान्निध्य में आए हैं, उनमें बदलाव हो गया है, लेकिन इसका प्रमाण कम प्रतिशत है। बाकी जो जनजातियाँ हैं, जो आज भी जंगलों में, पहाड़ी इलाखों में रहती हैं, उसमें आज भी पहले-जैसी पुरानी परंपरा है और वह उसी तरह से विवाह करते हैं। अलग-अलग जनजाति की अलग-अलग परंपरा है। आदिवासियों के विवाह में सामूहिक नृत्य होता है। इसमें महिला और पुरुष एक-साथ नाचते हैं। वारली जनजाति में विवाह के समय तारपा नृत्य, ठाकर जनजाति में ताशा और ढोल नृत्य होते हैं। कोकणा जनजातियों में झाँगली और गोंड जनजाति में मादरी आदि वाद्य परंपरा वारा विवाह संपन्न होता है। इनका विवाह किसी मंगल कार्यालय में नहीं खुद अपने गाँव में होता है। इस जनजातियों में शादी के समय शादी करनेवाले परिवार के लोगों को पूरा गाँव हर काम में खुद का काम छोड़कर सहायता करता है और आनंद लेते हैं।

अंध विश्वास/अंधश्रद्धा

आदिवासियों के पिछड़ेपन उनके शोषण तथा मुख्य धारा में न आने का एक महत्वपूर्ण कारण उनका धार्मिक अंधविश्वास है। उनके अंधविश्वास को देखकर सभ्य समझा जानेवाला समाज उनकी हँसी उड़ाता है। मंत्र और जादू-टोना में वे अधिक विश्वास रखते हैं। अंधश्रद्धा आदिवासियों को पीछे खींच रही है। विशेषतया उनकी महिलाएँ इसका अधिक शिकार हैं। आदिवासी महिलाओं में शरीर पर गोदना या गुदवाना भी एक धार्मिक अंधविश्वास है। इस प्रकार गुदवाने से महिला यह मान लेती हैं कि मरने के बाद उन्हें नरक मिलेगा। मरने के बाद भगवान के घर यही लेखा साथ जाता है, जिसके शरीर पर गोदना नहीं, वह नरक भोगता है, यही देह का चिह्न तो साथ जाता है। इस तरह आदिवासी समाज की दुनिया अंधविश्वासों के कारण काफी अंधकारमय है। इसका अच्छा उदाहरण 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में दिखाई देता है। नायक सुखराम अपनी पत्नी प्यारी को स्वान में साँप दिखने पर आगामी कष्टों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए बोल-कबूल करते हुए कहता है—

मैं हनुमान जी पर दीपक चढ़ाऊँगा
महादेव जी पर बेल-पत्तर चढ़ाऊँगा,
पीर के मजाक पर दिया चढ़ाऊँगा,
ईदगाह की चींटियों बुरा डालूँगा,
तू कहेगी तो पंडित को संधी भी दे आऊँगा,
भगवान कसम ठाकुरजी के मंदिर जाकर प्रार्थना करूँगा।⁴

ऐसे कितने ही अंधविश्वासों ने आदिवासी समाज को जकड़ा है, जिसके कारण आज भी आदिवासी समाज उन्नति नहीं कर पाया।

देवी-देवता संबंधी विश्वास

आदिवासी लोगों के अधिकतर देवी-देवता ग्राम से जुड़े हैं। उनके द्वारा विविध देव-देवताओं की पूजा होती है। उनके अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग प्रदेशों में, राज्य में अनेक प्रकार के देवी-देवता दिखाई देते हैं। 'उदाहरण मध्यप्रदेश के आदिवासियों के देवी-देवता दिल्लेश्वरी, दळेश्वरी, शीतल माता, गोदना माता, मावली माता एवं अपने पूर्वजों की धूम-धाम से पूजा से पूजा आराधना करते हैं।'⁵ महाराष्ट्र के आदिवासियों में मरीआई, चेडोबा, म्हसोबा, पीरोबा, महादेव, वरसुबाई, कळसुबाई आदि देवी देवता हैं, जिनकी वे पूजा करते हैं तो कभी वे देवी-देवता के नाम से उत्सव मनाते हैं। आदिवासी लोग कभी दुःख में होते हैं तो देवी-देवताओं के सामने बोल-कबूल करते हैं। कई कुलदेवी, देवता शरीर पर गोंद लेते हैं।

भूत-प्रेत की मान्यताएँ

आदिवासी लोग भूत-प्रेत को मानते हैं। इन लोगों के भूत-प्रेत देवी-देवताओं से भी महत्त्वपूर्ण हैं, जो काम देवी-देवता नहीं कर सकते, वह भूत कर सकते हैं, ऐसी उनकी धारणा है। चुड़ैल, डाइन आदि को भगाने के लिए मंत्र पढ़े जाते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में चुड़ैल का वर्णन मिलता है। चुड़ैल गाँव में आए अफसर के पीछे पड़ती है, गाँव का ओझा अन्य आदिवासी समाज की भाँति उस पर से चुड़ैल के साए को भगाने के लिए मंत्र पढ़ते हैं—

काली है कंकाली है, टीले वाली है,
गली गाँव की है
मेरे हाथ बीर भवानी
खड़ी पास जल देवता रानी
छत था थी छा छा छा छा
कन लगा बता?
सुखिया, अँगिया, बहरी
चौतू, जेटू, सिंगरू, छा, छा,छा।⁶

इस प्रकार की मान्यताएँ आदिवासी समाज में आज भी दिखाई देती हैं।

अतः हम ऐसा कह सकते हैं कि आदिवासी समाज की परंपरा अन्य समाजों या जनजाति में से अलग है। इसी कारण आदिवासी संस्कृति की अलग पहचान है। आदिवासियों की बोली-भाषा, विवाह पध्दत, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि सभी में अन्य समाजों की अपेक्षा अंतर दिखाई देता है। लोकगीत, लोकनृत्य के कारण ये लोग हमेशा अपने दुःख को भूलकर जीवन का आनंद लूटते हैं। इसीलिए इस परंपरा और संस्कृति को सुरक्षित रखना आवश्यक है।

संदर्भ

1. हिंदी में आदिवासी केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, प्रो० डॉ०बी०के० कलसवा, मयूर प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 156
2. आदिवासी कौन? रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 37
3. हिंदी में आदिवासी केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, प्रो० डॉ०बी०के० कलसवा, पृ० 127
4. वही, दिल्ली, पृ० 106
5. आदिवासी साहित्य : विविध आयाम, संपा० डॉ० रमेश कुरे, डॉ० मालती शिंदे, प्राचार्य प्रवीण शिंदे संस्करण 2013 ई०, विकास प्रकाशन, कानपुर, पृ० 106
6. वही, पृ० 117

मो० 08975385041
Rajughode@gmail.com

औपन्यासिक कला और जीवन-दृष्टि : अंतःसूत्रों की खोज (बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों का संदर्भ)

डॉ० रुपेंद्र शर्मा

प्रवक्ता हिंदी विभाग, मुल्तानी मल मोदी कॉलेज
पटियाला (पंजाब)

वस्तुतः जब कोई रचनाकार अपनी दृष्टि को अपनी रचना के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता है तो उसके समक्ष सबसे बड़ी समस्या रूप की ही होती है। इसलिए उसे इस बात का चुनाव करना ही पड़ता है कि वह किस साहित्यिक विधा में अपनी कला के श्रेष्ठतम उपयोग द्वारा अपने कथ्य को रचना में सुनियोजित कर सकता है। इस संदर्भ में गिरिराज किशोर विस्तार सहित लिखते हैं, 'रचनाकार का यह अपना विवेक होता है कि वह विधा के साथ व्यवहार करे। कोई भी विधा न तो रबड़ का तंबू होती है कि आप उसे बढ़ाते जाइए और सलतनत आपकी होती जाएगी और न ही ढाके के मलमल का थान, कि उसे समेटकर इतना छोटा कर लीजिए कि आपकी अँगूठी के सुराख से गुजर जाए। विधाएँ हरजाई भी नहीं होतीं कि जो चाहे जैसे उनके शील और सम्मान के साथ स्वतंत्रता ले ले। हर विधा की अपनी मर्यादा और उससे जुड़ी उसकी शर्तें होती हैं। रचनाकार को उन शर्तों को पहले स्वीकार करना पड़ता है। उन शर्तों की पूर्ति तत्कालीन समाज और उससे बननेवाली संवेदना तथा चिंतन ही करता है।' अतः स्पष्ट है कि कृति का रूप जिसका सीधा संबंध रचनाकार की सृजन-शक्ति के साथ होता है, उसकी आत्माभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

साहित्य की अधुनातन विधाओं में उपन्यास एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विधा है। अपने शुरुआती दौर में उपन्यास मनोरंजन की दृष्टि से लिखे जाते थे, लेकिन आज उपन्यास लेखक की वैचारिकता को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाला महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। उपन्यास में कथान्यास, पात्रों, संवादों, परिवेश और भाषा के माध्यम से लेखक के पास अपनी बात कहने का काफी अवकाश रहता है। दरअसल, लेखक की विचार-पद्धति ही उपन्यास को गंभीर विधा के रूप में स्थापित करती है और उसकी इस विचाराभिव्यक्ति में लेखक की कलादृष्टि महत्त्वपूर्ण संरचना सिद्ध होती है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने ठीक लिखा है कि 'विचारधारा रचना में अंतर्वस्तु से लेकर रूप तक व्याप्त होती है, इसलिए विचारधारा के संबंध की खोज अंतर्वस्तु से लेकर रूप तक करने की जरूरत होती है।' अतः बिना रचना के रूप को समझे वस्तु को समझ पाना कठिन तो होता ही है साथ ही साथ रूप की उपेक्षा करके वस्तु को महत्त्व देना एकांगी दृष्टिकोण भी है।

हिंदी उपन्यास साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उपन्यासकारों ने अपने कथ्य को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए अपनी कल्पनाशक्ति से अनेक नए प्रयोग किए हैं। अतः शैल्पिक नजरिए से उपन्यास एक अत्यधिक लचीली साहित्यिक विधा है। परंतु औपन्यासिक शिल्प के लचीलेपन का यह अर्थ कतई नहीं माना जा सकता कि बिना दृष्टि के गंभीर अन्वेषण के कोई रचनाकार मैदान मार सकता है। वस्तुतः जिस उपन्यासकार के पास कहने के लिए कुछ होगा, वही अपनी कृति के रूप का अन्वेषण कर पाने में सक्षम होगा। इस संदर्भ में गोपालराय का कथन है कि 'कोई भी वस्तु या विषय स्वयं में चाहे कितना भी सुंदर या उपयोगी क्यों न हो, यदि वह कलाकार के विजन में परिणत नहीं होता और उसे उसके अनुरूप आकार नहीं मिलता तो उसकी उत्तमता बाधित हो जाती है। कलाकार का विजन अपना रूप स्वयं ही ढूंढ लेता है। यदि कलाकार ऐसा करने में समर्थ नहीं होता और वह कहीं से उधार लेकर या किसी अन्य कलाकार का अनुकरण करके अपनी कला के रूप का निर्धारण करता है तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ कलाकार नहीं हो सकता।'³ इस आधार पर कहा जा सकता है कि कृति के रूप की खोज लेखकीय विजन के अनुरूप ही होती है। लेखक को अपने मौलिक और नवीन प्रयोग अनिवार्य रूप में करने ही पड़ते हैं।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यासों के जीवन-दृष्टिपरक अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दशक के उपन्यासकारों की जीवनदृष्टि विविधता और व्यापकता लिए हुए है। इनका विजन इनकी औपन्यासिक कला के माध्यम से प्रौढ़ता ग्रहण करता है। इनके उपन्यासों के शिल्प में परंपरागत और नवीन औपन्यासिक प्रविधियों के साथ ही साथ नए और मौलिक प्रयोग भी हुए हैं, जो हिंदी उपन्यास साहित्य को एक नया कथा-मुहावरा प्रदान करते हैं। आलोच्य दशक के उपन्यासकारों की औपन्यासिक कला और जीवन-दृष्टि के अंतःसंबंधों को निम्न शीर्षकों के अंतर्गत विश्लेषित किया जा सकता है—

1. जीवनदृष्टि की अभिव्यक्ति में कथानक के नए आयाम

उपन्यास का कथानक लेखकीय विचारधारा को प्रकट करने का महत्वपूर्ण माध्यम होता है। घटनाओं को अधिक मात्रा में उपन्यास में विन्यस्त करने हेतु उपन्यासकार अनेकानेक कथा-सूत्रों का प्रयोग करता है। लेखक की औपन्यासिक सृजनशक्ति इस बात में निहित होती है कि वह इन घटनाओं को कुछ इस तरह आकार और रूप प्रदान करे जिससे उसका विजन आसानी से अभिव्यक्त हो जाए। लेकिन जिस कथाकार के पास अपना एक दृढ़ वैचारिक धरातल होता है उसकी यही वैचारिकता उससे उपन्यास के कथानक-सृजन में नए-नए प्रयोग करने के लिए विवश कर देती है। इन नूतन प्रयोगों से जब घटनाओं को उपन्यास के आईने से पाठक को दिखाया जाता है तो वह इनके माध्यम से लेखकीय विचारों के जन्म-क्रम को सुगमता से समझ जाता है। अतः स्पष्ट है कि घटनाएँ स्वयं में विचार नहीं होती हैं, लेकिन विचारों को जन्म जरूर देती हैं। यही कारण है कि विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक उपन्यासकार को कथानक के निर्माण में अनेक नए प्रयोग करने ही पड़ते हैं। आलोच्य दशक के उपन्यासकार न केवल इस प्रकार के प्रयोग करते दिखाई देते हैं, बल्कि यँ कहना ज्यादा सही प्रतीत होता है

कि उनका जीवन-दृष्टिकोण उनसे नए प्रयोग अनायास करवा लेता है।

कमलेश्वर कृत उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' का कथानक, कथानक की परंपरागत प्रविधियों से बिल्कुल हटकर है। उपन्यास के कथान्यास में उपन्यासकार ऐतिहासिक घटनाओं का कुछ इस तरह से आश्चर्यजनक प्रयोग करता है कि वे उसके नजरिए को अभिव्यक्त करने में महत्त्वपूर्ण घटक सिद्ध होती हैं। कमलेश्वर का कथानक की दृष्टि से यह प्रयोग इसलिए भी नया और मौलिक है, क्योंकि इसमें केंद्रीय कथानक का अभाव होने के बावजूद घटनाओं को कुछ इस तरह से पिरोया गया है कि वे उपन्यास की इस मूल संवेदना को प्रकट कर देती हैं कि किस तरह नव-उपनिवेशवादी शक्तियाँ अपने बाजारों के निर्माण के लिए दुनिया के इतिहास के साथ खिलवाड़ करके और पेशेवर लोगों से इतिहास लिखवाकर दुनिया में निरंतर नफरत के पाकिस्तानों का निर्माण करती जा रही हैं। अगर संरचना की दृष्टि से देखा जाए तो उपन्यास का पैटर्न लगभग फिल्मी और फंतासीपरक ही है। उपन्यासकार ने कथानक की योजना के लिए अपने समय के प्रतिनिधि एवं जागरूक अदीब की अदालत लगा रखी है, जिसमें अर्दली नामक पात्र एक-एक करके अनेक ऐतिहासिक पात्रों को अदीब की अदालत में पेश करता है और उनके माध्यम से उन ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण करता है, जिन्होंने हमारे वर्तमान को काफी प्रभावित किया है। कमलेश्वर के इस तरह के नए कथान्यास को देखकर ऐसा लगता है कि वे जो और जितना कहना चाहते थे उसके लिए कथानक का यही रूप हो सकता था, अन्यथा वैदिककाल से लेकर आधुनिककाल की ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन-विश्लेषण संभव न हो पाता। यहाँ विजयबहादुर सिंह का मत अवलोकनीय प्रतीत होता है कि 'उपन्यास की कहानी में आपात्धर्मी नाटकीयता और फिल्मीपन भी कुछ कम नहीं है। कई युवा पाठक और लेखक चाहें तो इसे एक बुजुर्ग कथा-लेखक की रंगीनी भी कह सकते हैं। पर जीवन को यहाँ जिन क्रूरतम हैवानी नृशंसताओं के बीच देखा, जाँचा और परखा गया है, उसके संदर्भ ऐतिहासिक हैं। हिंदी उपन्यास में इतिहास की सत्ता का ऐसा रचनात्मक विस्फोट संभवतः दुर्लभ है।'⁴ ध्यातव्य है कि 'कितने पाकिस्तान' की केंद्रीय वस्तु ऐतिहासिक होने के बावजूद इसे ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लेखक उपन्यास की संरचना में फंतासी के प्रयोग से अतीत का वर्तमान में सृजन कर रहा है। डॉ॰ बच्चन सिंह की मान्यतानुसार, 'कितने पाकिस्तान' का स्थापत्य थोड़ा जटिल और रोचक है। उपन्यास की तह तक पहुँचने के लिए उसे बेधना पड़ता है। अब तक हिंदी में लिखे गए उपन्यासों से इसका कला-विन्यास अलग है। आधुनिक उपन्यास तो टाइम शिफ्टिंग से भरे पड़े हैं। इसकी शुरुआत जैनेंद्र और अज्ञेय से हो चुकी थी। यह टाइम शिफ्टिंग का नहीं, स्पेस-टाइम-कांटीन्यूअम का उपन्यास है। इसमें अतीत नहीं, वर्तमान है। अब तक के उपन्यास भूतकाल के उपन्यास होते थे। इसमें भूतकाल भी वर्तमान काल है।'⁵ लेकिन यहाँ ध्यातव्य है कि कमलेश्वर का जीवन-दृष्टिकोण उससे इस प्रकार के कथानक की निर्मित स्वतः करवाता है, क्योंकि कथाकार ने व्यक्ति और समाज को सांप्रदायिकता और वैमनस्य की संकीर्णताओं से मुक्त करने के लिए उतने ही अतीत को देखा है, समझा है जो इस वर्तमान के लिए नासूर बना हुआ है।

अलका सरावगी ने भी अपने उपन्यास 'कलि-कथा : वाया बाइपास' का संयोजन विशिष्ट ढंग से करते हुए समस्त हिंदी जगत् को अभिभूत कर दिया। अलका प्लासी के युद्ध से लेकर समकालीन समय में बाबरी मस्जिद के विध्वंस तक की घटनाओं का सृजनात्मक प्रयोग कर इन्हें उपन्यास में इस तरह से विन्यस्त करती है कि यह कथान्यास लेखिका की रचना-दृष्टि को अभिव्यक्त करने का साधन बन जाता है। वस्तुतः 'अलका सरावगी ने बड़ी तैयारी के साथ यह उपन्यास लिखा है, जिसमें किशोर बाबू की पाँच पीढ़ियों के साथ कलकत्ते का इतिहास, स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, विचारधाराओं की आपसी गहमागहमी और जीवन पर उनका प्रभाव, कलकत्ते में बंगाली और मारवाड़ी मानसिकता, परिवारों में स्त्रियों की स्थिति तथा व्यापार आदि की छोटी-से-छोटी घटनाओं का ऐसा सूक्ष्म ब्योरा प्रस्तुत किया है कि यह उपन्यास अपने आप में महत्वपूर्ण हो उठा है।'⁶

किशोर बाबू अपनी पाँच पीढ़ियों की कहानी खुद लेखिका से लिखवा रहे हैं। चाहे अलका यह स्वीकार करती हैं कि 'यह कथा किशोर बाबू की कथा है और कथा-लेखक की उपस्थिति इसमें इतनी ही होगी जितनी कि खांटी शुद्ध किस्सागोई में होनी चाहिए। दरअसल, कुछ एकदम नई आधुनिकतम रचनाओं को पढ़ने के बाद इस कथा को लिखवाने के पहले किशोर बाबू ने कथा-लेखक से ऐसा कौल करवाया कि वह बंगाल के ख्यातिप्राप्त सुनारों की तरह बाईस बाई बाईस (22×22) कैरेट शुद्धि के गहनों जैसी कथा लिखे, यानी विशुद्ध सोने के चौबीस कैरेट में दो कैरेट की मिलावट करने जितनी ही कथा-लेखक को छूट है।'⁷ लेकिन इस स्वीकृति के बावजूद भी लेखिका ऐतिहासिक घटनाओं का विन्यास इस तरह से करती है कि उपन्यास अँग्रेजों के भारत में आगमन, उनके सत्ता स्थापित करने, 1857 ई० के विद्रोह, भारतीयों में समाज-सुधार आंदोलनों के माध्यम से आए पुनर्जागरण, स्वतंत्रता की प्राप्ति पर विभाजन की त्रासदी, स्वतंत्रता के बाद देश में पनपी मूल्यहीन राजनीति और देश की अखंडता को खतरा उत्पन्न करने वाले नव-उपनिवेशवाद जैसे राष्ट्रीय मुद्दों को विस्तृत फलक पर उठाने में सफलता हासिल कर सका है। अतः किशोर की कथा उपन्यास-लेखिका की युक्ति बनकर रह जाती है और किशोर के माध्यम से वह अपनी अभिव्यक्ति करने लगती है। इस संदर्भ में प्रदीप कासनी अधिक प्रकाश डालते हुए लिखते हैं, 'कलि-कथा'-हम पाते हैं-किशोर बाबू की कथा अपने में उस कद्र नहीं है जितना वह उनके बहाने से खड़ा किया जा रहा आख्यान-तंत्र कहीं ज्यादा है। यह उसी तरह है जैसे कथा के भूल-भुलैयादार डिजाइन में दाखिला लेकर 'कथा-लेखक' अंदर से कथा के कोये बुनने के लिए वहाँ पड़ाव डालता है और प्रक्षेपित रूप से एक कमिशनड परियोजना को सिरे लगाते हुए अपनी कारकदर्गी से लगातार जता जाता है कि वह दरअसल, लेखिका की ही असालतन अंतरंग छाया है। हम पाते हैं कि यह 'किशोर बाबू की कथा' है एक उक्ति ज्यादा है और हकीकत कम। होता तो यहाँ तक है कि 'किशोर बाबू' नामक यह कथा-चरित्र ही मूलतः एक युक्ति है।'⁸ अतः स्पष्ट है कि अलका सरावगी ने अपनी दृष्टि के उक्त बिंदुओं की अभिव्यक्ति के लिए संपूर्ण कलि की कथा को बाइपास के द्वारा इस तरह से पाठक के सम्मुख रखा है कि उसे किशोर की कथा और देश की कथा एक साथ

चलती प्रतीत होती हैं, जिससे कथा में रोचकता और औत्सुक्य बना रहता है। कथा कहने की यही मौलिकता अलका को अपने समकालीनों से अलग पंक्ति में खड़ा कर देती है। लेखिका की कथा कहने की इसी क्षमता को स्वीकार करते हुए वीरेन्द्र यादव लिखते हैं कि 'अलका सरावगी की शक्ति यह है कि वे हिंदीकथा के चालू मुहावरे से बेखबर होकर अपने कथा-मुहावरे को वैश्विक संपदा से समृद्ध करती हैं। यही कारण है कि उन पर न किसी हिंदी कथाकार की छाप है और न किसी को पछाड़ने की जल्दबाजी।'⁹

'मुझे चाँद चाहिए' के कथान्यास में सुरेंद्र वर्मा ने नाटकीयता को अत्यधिक प्रश्रय दिया है। उपन्यास की घटनाओं को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करने से जहाँ कथानक की रोचकता में वृद्धि हुई है, वहाँ पाठक को भी इससे एक नाटक का सा आस्वाद मिलता है। इसीलिए परमानंद श्रीवास्तव इस उपन्यास में नाटक का हस्तक्षेप मानते हुए लिखते हैं, '...इस कथायुक्ति ने एक अर्थ में 'मुझे चाँद चाहिए' के पूरे रचनातंत्र को प्रभावित किया है। यहाँ कथाभाषा में नाट्यभाषा का निरंतर हस्तक्षेप है।'¹⁰ लेकिन यह नाटकीयता उपन्यास के कथान्यास में एक रवानगी लेकर आती है, जिससे पाठक उपन्यास के साथ इस तरह से जुड़ा रहता है कि लेखक इस पैटर्न के माध्यम से पाठक को अपने नजरिए से अवगत करवाने में सक्षम हो जाता है। अगर इसी दृष्टिगत प्रतिमान को केंद्र में रखकर विचार किया जाए तो वर्षा वशिष्ठ जैसी एक मध्यवर्गीय लड़की को शाहजहाँपुर जैसे छोटे से कस्बे से निकालकर दिल्ली ले जाना और उसके बाद मुंबई ले जाकर उसे सिनेतारिका के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए सुरेंद्र वर्मा द्वारा नाटकीयता का सहारा लेना कथानक की माँग के अनुरूप ही था। डॉ॰ विजयबहादुर सिंह के कथनानुसार, 'उपन्यास का समूचा शिल्प नाटकीय वृत्तांतपरकता की भंगिमाएँ लिए हुए है। कथानक को अंकों और दृश्यों में विभाजित कर नाटकीय तारतमिकता कायम की गई है। यहाँ दृश्य पूरे होते हैं और फिर एक जबर्दस्त 'कट' के बाद फिर आगे वाले सीन शुरू हो जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे कोई एक कथा-दृश्य पूरा हुआ और दूसरे दृश्य के लिए या तो नया परदा गिराया जा रहा है या फिर चक्करदार मंच को घुमाया जा रहा है। निश्चय ही यह देखने लायक बहुत सारा और सुनने के लिए लगभग बहुत कम है।'¹¹ दरअसल, सुरेंद्र वर्मा मूलतः नाटककार हैं। इसलिए उनके कथान्यास में घटनाओं की बिंबात्मकता का उभरना स्वाभाविक ही है। लेकिन यह नाटकीयता पाठक को आनंदित करने के साथ ही साथ उसको सोचने के लिए मजबूर भी करती है, क्योंकि, 'कहीं कहानी, कहीं नाटक, कहीं फिल्म का लालित्य लिए हुए कभी-कभी यह एक जटिल और संदर्भ-समृद्ध ललित निबंध भी लगने लगता है। पात्रों और घटनाओं के गंभीर विन्यास के बीच चुहल से भरी चिकोटी काटती जीवन-भंगिमाएँ जितना रसमग्न करती हैं उतना ही विचारमग्न भी कर देती हैं।'¹² अतः कहना न होगा कि 'मुझे चाँद चाहिए' का कथान्यास सुरेंद्र वर्मा के नाटकीय कला-सौष्ठव के कारण आलोच्य दशक के उपन्यासों में अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सका है।

इस प्रकार उपन्यासकार के समक्ष यह एक बड़ा प्रश्न है कि वह अपने विजन के अनुरूप किस तरह से घटनाओं का सुनियोजन करे, जिससे कृति उसकी सोच को सुगमता से पाठक तक पहुँचा दे। लेकिन जिस उपन्यासकार के पास अपने नजरिए को अभिव्यक्त करने के

लिए भावनात्मक संवेदनशीलता होगी उसकी रचना को रूप का अन्वेषण करने की जरूरत नहीं पड़ेगी, बल्कि वह उसकी प्रतिभा का आश्रय ग्रहण कर खुद-ब-खुद उसका अनुकरण करेगा। इस संदर्भ में मुक्तिबोध ठीक लिखते हैं कि 'कला तभी तक जीती-जागती रहती है जब तक लेखक का वर्ण-वस्तु के प्रति भावनात्मक संबंध हो। जिस प्रकार सोचना या विचार करना ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन है, उसी प्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है। भावनानुभूत ज्ञान ही कला का विषय है, परंतु जब हम कला का सच्चा दृष्टिकोण छोड़कर किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं तब हम धीरे-धीरे प्रतिक्रिया का आह्वान करते हैं।'¹³ इस बात के आलोक में यदि हम उपर्युक्त तीनों उपन्यासों का विश्लेषण करें तो यही कहा जा सकता है कि यहाँ कथा-वृत्तांत उपन्यासकारों के भावनात्मक ज्ञान का विषय बनकर ही नये कथा प्रयोगों का सृजन करता है।

इन कथाकारों के अतिरिक्त भगवानदास मोरवाल कृत उपन्यास 'काला पहाड़' का कथानक विशालकाय है। इसमें कहीं-कहीं शिथिलता के बावजूद घटनाओं में रोचकता बनी रहती है, लेकिन यह कथान्यास उपन्यास की मूल संवेदना को अभिव्यक्ति करने में सक्षम है। इसी तरह भगवानसिंह ने 'अपने अपने राम' में रामायणकाल की घटनाओं को नए ढंग से विन्यस्त कर उपन्यास को अपने प्रगतिशील नजरिए का द्योतक बना दिया है। 'अर्द्धनारीश्वर' के संपूर्ण कथानक को विष्णु प्रभाकर ने तीन भागों 'व्यक्ति-मन', 'समाज-मन' और 'अंतरमन' में बाँटा है। लेकिन उनके द्वारा उपन्यास में 'तलाश' नामक कहानी तथा श्यामला और अजित के पत्राचार की योजना से उपन्यास में शिथिलता आती है। विजय के उपन्यास 'लौटेगा अभिमन्यु' का कथानक परंपरागत प्रविधियों का ही अनुसरण करता प्रतीत होता है। स्वयं प्रकाश अपने उपन्यास 'बीच में विनय' की कथा योजना में भी कोई नया प्रयोग करते नजर नहीं आते हैं। निर्मल वर्मा के उपन्यास 'अंतिम अरण्य' का कथानक इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसका हर अध्याय अपने आप में एक कहानी है। इस बात को पुष्ट करते हुए नंदकिशोर आचार्य लिखते हैं कि 'लगभग हर अध्याय अपने में एक स्वतंत्र कहानी पढ़ने का अनुभव देता है, लेकिन उसका उपन्यास की संरचना में एक अपरिहार्य स्थान है। हर अध्याय स्वतंत्र भी है और साथ ही उपन्यास की अंदरूनी संरचना में वह अपने से पूर्व के अध्याय से निकलता और आगामी अध्याय को अपने में से निकालता दिखाई देता है।'¹⁴ वस्तुतः निर्मल वर्मा 'अंतिम अरण्य' के विचार पक्ष में जहाँ भारतीय दृष्टिकोण का अनुसरण करते हैं, वहीं अपनी कला-दृष्टि से इस तरह की औपन्यासिक संरचना के द्वारा प्राचीन भारतीय कथा-शैली को एक नया रूपांतर भी देते हैं। गिरिराज किशोर के उपन्यास 'यातनाघर' का कथानक शिक्षा संस्थानों के यातनाघरों में परिवर्तित होते चले जाने की त्रासदी को उघाड़ने में तो सक्षम है, लेकिन नए प्रयोगों की दृष्टि से इसमें भी कोई उल्लेखनीय बात नजर नहीं आती। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'बिस्मामपुर का संत' का कथानक राजनीति के तथाकथित संतों पर व्यंग्य को भलीभाँति उजागर करने में समर्थ है। इसी तरह महिला उपन्यासकारों में मैत्रेयी पुष्पा कृत 'चाक', चित्रा मुद्गल कृत 'आवां', मृदुला गर्ग कृत 'कठगुलाब' प्रभा खेतान कृत 'छिन्नमस्ता'

और कृष्णा सोबती कृत उपन्यास 'समय सरगम' के कथानक स्त्री-विमर्श को व्यापक फलक प्रदान करने की दृष्टि से विन्यस्त किए गए हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आलोच्य दशक के उपन्यासकारों के पास कहने के लिए बहुत कुछ है। यही कारण है कि उनकी जीवन दृष्टि अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप घटनाओं का संयोजन कुछ इस तरह से करती है कि कथानक लेखकीय सोच की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण घटक सिद्ध होता है।

2. जीवन-दृष्टि के अनुकूल पात्र एवं संवाद-योजना

कोई भी उपन्यास किसी-न-किसी उद्देश्य को लेकर लिखा जाता है भले ही वह उद्देश्य पाठक का मनोरंजन करना ही क्यों न हो। इसी वजह से जासूसी और ऐयारी किस्म के उपन्यासों में पात्रों की सृष्टि कुछ इस प्रकार से की जाती थी कि वे पाठक का अधिक से अधिक मनोरंजन करने वाले सिद्ध हो सकें। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि उपन्यास के पात्रों की सृष्टि लेखक अपनी दृष्टि के अनुरूप ही करता है। इस संदर्भ में एच०जी० वेल्स ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि, 'चरित्र का विस्तार के साथ अध्ययन एक व्यस्क धंधा है, एक दार्शनिक धंधा है। मेरे जीवन का इतना बड़ा हिस्सा एक लंबी और फैली हुई नाबालिगी में, आमतौर से दुनिया से जूझने में, बीता है कि मैंने अपने जीवन के बाद के वर्षों में ही चरित्रों का मुख्य रूप से अध्ययन करना शुरू किया। मेरे लिए यह आवश्यक था कि पहले मैं उस ढाँचे का पुनर्निर्माण करूँ, जिसके अंदर व्यक्तियों का पूरा जीवन बीतता है। तभी मैं उसको इस ढाँचे के अंदर फिट बैठाने की व्यक्तिगत समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकता था।'¹⁵ स्पष्ट है कि चरित्र का निर्माण उपन्यासकार अपने अध्ययन और सोच के अनुरूप ही करते हैं, जिससे वह अपनी दृष्टि उस चरित्र के माध्यम से प्रतिपादित कर सके। रैल्फ फॉक्स का मत इस संदर्भ में अवलोकनीय है कि, 'यह सच है कि अनेक दार्शनिक उपन्यास लिखने में बुरी तरह विफल रहे हैं, किंतु कोई भी उपन्यासकार अपने पात्रों की विशिष्टताओं से सामान्य नतीजे निकालने की उस क्षमता के बिना रचना नहीं कर सका है, जोकि जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण से पैदा होती है।'¹⁶ अतः पात्रों का निर्माण करने में उपन्यासकार तभी सक्षम हो पाता है जब उसके पास जीवन की वास्तविकताओं को समझने का एक सुस्पष्ट दर्शन होगा। बिना अपनी एकल दृष्टि विकसित किए, उसके द्वारा पात्रों की सृष्टि तो की जा सकती है, मगर उन्हें चिरस्मरणीय नहीं बनाया जा सकता। उपन्यासकार केवल एक ही नहीं, बल्कि अनेक पात्रों का सृजन एक ही उपन्यास में करता है। सभी पात्र उसकी अपनी सृष्टि होते हैं, लेकिन कोई एक पात्र ऐसा भी होता है जो लेखक की जीवनदृष्टि को अभिव्यक्त करता है और यह उसका ऐसा पात्र होता है जिसे उजागर करने के लिए वह अन्य पात्रों को उसके समक्ष उभरने नहीं देता।

कमलेश्वर कृत उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' के कथानक की भाँति इसकी पात्र-योजना भी अपूर्व है। अपनी मूल संवेदना को उभारने के लिए लेखक ने ऐतिहासिक पात्रों को उपन्यास में इस प्रकार से अवतरित किया है कि मानो वे सच में ही अदीब की अदालत में पेश होकर अपने किए कार्यों का विश्लेषण करते प्रतीत होने लगते हैं। पात्रों की संख्या काफी ज्यादा है। उपन्यास का संरचनात्मक ढाँचा कमलेश्वर ने इस तरह का बनाया है कि अपने नजरिए की

अभिव्यक्ति के लिए उन्हें किसी भी ऐतिहासिक पात्र को चित्रित करने की सुविधा हो गई है। यहाँ ध्यातव्य है कि कमलेश्वर का उद्देश्य यही है कि वह भारतीय इतिहास के बहुत बड़े काल विस्तार को धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर सके, जिससे वर्तमान में मानवता की कब्र पर निर्मित होने वाले पाकिस्तानों को बनने से रोका जा सके। आलोच्य उपन्यास में मोहम्मद-बिन-कासिम से लेकर अंतिम मुगल बादशाह औरंगजेब तक अदीब की अदालत में पेश होते हैं। इन चरित्रों के चित्रण में विकास जैसा कुछ भी नजर नहीं आता, बल्कि ये पूरी तरह उन ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करते प्रतीत होते हैं, जिन्हें कमलेश्वर इनके माध्यम से उगलवाकर पाठक की सोच में संपूर्ण भारतीय इतिहास को देखने का एक नया धर्मनिरपेक्ष नजरिया उत्पन्न करना चाहते हैं।

आलोच्य दशक के स्त्री-विमर्श को विस्तार प्रदान करने वाले सभी उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। चाहे वह प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' की प्रिया हो या मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' की सारंग। चाहे चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' की नमिता हो या फिर मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' की स्मिता। इसी तरह सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा वशिष्ठ और विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर' की सुमिता के कारण इन उपन्यासों में प्रतिनिधि चरित्रों की प्रधानता हो गई है। प्रभा खेतान 'छिन्नमस्ता' में प्रिया के चरित्र को इस प्रकार से चित्रित करती है कि प्रिया समाज की पितृसत्तात्मक सत्ता में नारी की दीनता को उसकी घूटन की समूची तस्वीर के साथ पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री केवल दुःख ही झेलती रही है। इस पुरुष निर्मित व्यवस्था में नारी के इसी दुःख-बोध को उजागर करने के लिए प्रिया का चरित्र जहाँ त्रासदी पूर्ण है, वहीं द्रवित कर देने वाली वेदना से सराबोर भी। इसीलिए लेखिका उसके मुख से कहलवाती है, 'मैंने दुःख झेला है। पीड़ा और त्रासदी में झुलसी हूँ। जिस दिन मैंने त्रासदी को ही अपने होने की शर्त समझ लिया, उसी दिन, उस स्वीकृति के बाद, मैंने खुद को एक बड़ी गैर-जरूरी लड़ाई से बचा लिया। कुछ के प्रति यह मेरा समर्पण था। सारे जुल्मों के सामने... सलीब पर लटकते मैंने पाया कि मैं अब पूरी तरह जिंदगी की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार हूँ।'¹⁷

वस्तुतः प्रिया को बचपन से लेकर अपनी कथा कहने तक अनेक प्रकार की त्रासदियों का शिकार होना पड़ा है। बचपन में ही वह अपने बड़े भाई की हवस का शिकार हुई। लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था में वह कुछ भी न बोल सकने के कारण एक दबू किस्म की लड़की में परिणत हो गई। अपने ही अध्यापक द्वारा प्यार में ठगी गई और बाद में अपने पति नरेन्द्र के अत्याचारों को सहती रही। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के इन सभी अत्याचारों को वह अपने जीवन की त्रासदी समझती रही और कभी भी इनके खिलाफ खुलकर आवाज नहीं उठा पायी। यहाँ तक प्रिया का चरित्र आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया एक स्थिर-चरित्र ही है जिसमें कहीं भी कोई विकास नहीं हो पाता। लेकिन प्रिया में अपनी आइडेंटिटी के प्रति चेतना अनिवार्य रूप में विद्यमान रहती है और वह इस आइडेंटिटी को अपने व्यवसाय से स्थापित भी करती है।¹⁸ लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था इतनी बुरी तरह से अपनी जकड़न में स्त्री को कसे हुए है कि प्रिया चाहकर भी एक विद्रोहिणी नहीं बन सकती। इसीलिए वह सोचती है कि, 'मगर फिर भी

इस परंपरा की जड़ें शरीर के रेशों में समाई रही हैं? सदियों की इस अमानवीय परम्परा को किस बीमारी का नाम दूँ जहाँ मेरी जैसी विद्रोही लड़कियाँ भी समर्पिता पत्नी और माँ बन जाने को विवश हो जाती हैं?"¹⁹ प्रिया के चरित्र में विकास तब आता दिखाई देता है जब वह नरेंद्र को छोड़कर अपने सहारे खुद अपने अस्तित्व को स्थापित करती है। इतना कुछ होने के बावजूद प्रिया अपने आत्मविश्वास के जरिए अपना मुकाम हासिल करने में कामयाब हो जाती है। प्रिया के माध्यम से लेखिका ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अगर स्त्री पितृसत्तात्मक व्यवस्था में खुद को स्थापित नहीं कर पाती तो उसे अनिवार्य रूप में इस व्यवस्था को टुकरा कर प्रिया की भाँति अपने अस्तित्व की रक्षा करनी चाहिए।

मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'चाक' भी नायिका-प्रधान उपन्यास है। वस्तुतः उपन्यास की सारंग मैत्रेयी की सोच का ही प्रतिरूप है। इसी वजह से मैत्रेयी शुरुआत से ही सारंग के चरित्र-निर्माण की ओर अधिक ध्यान देती प्रतीत होती है। उपन्यास में सारंग का चरित्र कहीं भी स्थिर होता दिखाई नहीं देता बल्कि वह निरंतर विकासोन्मुख रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका अपनी स्वच्छंदतावादी दृष्टि के अनुरूप ही सारंग को क्रांतिकारी बनाना चाहती है। सारंग की बुआ की बेटी रेशम भी उसी गाँव में ब्याही है। रेशम के पति कर्मवीर की मृत्यु के बाद रेशम के गर्भवती होने पर उसके परिवार द्वारा उसकी हत्या कर दी जाती है। यहाँ मैत्रेयी रेशम के देह-धर्म की अनिवार्यता को स्वीकारती है और रेशम की वकालत करती प्रतीत होती है। सारंग रेशम की हत्या का बदला लेना चाहती है, क्योंकि उसे इस बात का दुःख है कि रेशम की हत्या उसके जीने के मौलिक मानवाधिकार की हत्या थी। मैत्रेयी की सारंग यहाँ तक क्रांतिकारी प्रतीत होती है, क्योंकि रेशम की हत्या के मामले में जब सारे गाँव ने चुप्पी साध रखी है तब केवल सारंग ही उसके हत्यारे जेठ डोरिया को हर हाल में सजा दिलवाना चाहती है। इसीलिए वह यह संकल्प करती है कि, 'चैन की साँस तब लूँगी जब हत्यारे को फाँसी या जन्मकैद होगी। क्योंकि मुझे लगता है, मेरी बहन की मौत नहीं, उसका अपमान हुआ है। मेरी अवज्ञा हुई है। क्या हम डोरिया से भी गए-बीते हैं। रेशम की जन्म-जन्मांतरों की जीने की इच्छा को अपना मनचीता न करने के कारण कुचल डाला। सो किसलिए? उसने निडरता बरती इसलिए? या अपने ऊपर भरोसा कर बैठी इसलिए? कि उसके मन में प्रेम का भरा-पूरा रुख पनप आया था इसलिए? कोई मुझे बताए कौन सा ऐसा कसूर कर दिया था कि...और मौत की सजा पर गाँव गहरी नींद सोता रहा। ऐसा तो नहीं था उस समय एक कुत्ता भी न निकला हो वहाँ से, पर सब चुप लगा गए! गवाही के नाम पर सन्नाटा!'²⁰ सारंग रेशम के मानवाधिकारों के प्रति जागरूक है। लेकिन जब गवाही के अभाव में डोरिया छूट जाता है तो सारंग उसे सजा देने के लिए जो योजना तैयार करती है वह किसी क्रांतिकारी की योजना न होकर स्वच्छंदता की चाहना रखने वाली लेखिका के दृष्टिकोण की परिचायक बनकर रह जाती है। डोरिया से बदला लेने के लिए सारंग द्वारा कलावती चाची को कलेसीसिंह के साथ सुलाना मैत्रेयी के इसी नजरिए का प्रतीक बन जाता है।

अतः उक्त बिंदुओं पर सारंग का चरित्र सजीव प्रतीत न होकर मात्र लेखिका के पूर्वाग्रहों

का प्रतीक बन जाता है और जो क्रांतिधर्मिता सारंग के चरित्र में उपन्यास के प्रारंभ में दिखाई देती है वह भी शनैः शनैः समाप्त होती जान पड़ती है। यही नहीं आगे बढ़ने पर मैत्रेयी सारंग के जागरूक चरित्र को बिल्कुल समाप्त करके उसे मात्र अतृप्त यौन आकांक्षाओं की परिचायक बनाकर ही छोड़ती हैं। सारंग स्वयं इस बात को स्वीकार करती हुई कहती है, 'मेरा मन जिद्दी है श्रीधर। कहता है, जिस मर्द के साथ तेरे पिता ने विदा कर दिया, उस मालिक से वापिस माँग ले अपनी देह। जीती-जागती पाँच इंद्रियों के संग तो जानवर बेचे जाते हैं। उन्हीं का रस्सा पकड़ाया जाता है दूसरे के हाथ। यह बात रेशम के मन में भी आई होगी, तभी तो उसने धर्म बिगाड़ लिया। गुरुकुलवाली मेरी साथिनों ने भी त्याग दिया था देह-धर्म का विधान, उन पर भी सजा के कोड़े बरसे। लौंगसिरी बीबी की अम्मा ने भी नहीं माना, बीबी ने कील दी उसकी जवानी।'²¹ इस तरह मैत्रेयी केवल सारंग को नहीं बल्कि 'चाक' की सभी नारी-पात्रों को अतृप्त यौन-आकांक्षाओं की शिकार बनाकर रख देती हैं। सारंग का पति रंजीत एम०एस०सी० पास है, सुंदर है; लेकिन वह उससे तृप्त नहीं हो पाती उसे मास्टर श्रीधर की जरूरत है। मैत्रेयी द्वारा सारंग के चरित्र के साथ ऐसा खिलवाड़ स्त्री-विमर्श को नए क्षितिजों की ओर ले जाने की बजाय मात्र एक वायवी प्रतिक्रिया बनकर रह जाता है।

चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवाँ' की केंद्रीय पात्र नमिता है। आलोच्य दशक की अन्य स्त्रीवादी उपन्यास लेखिकाओं की भाँति नमिता भी लेखिका की प्रतिनिधि पात्र बनकर उभरती है। नमिता एक मध्यवर्गीय मजदूर की बेटा है, जिसे अपने पिता के लकवाग्रस्त होने पर उनकी जगह नौकरी करनी पड़ती है। लेकिन उसे इस बात का बिल्कुल नहीं पता कि उसके पिता का संघर्ष किस बात को लेकर है और क्यों है? यहाँ इस बात को ध्यान में रखने की जरूरत है कि चित्रा ने अपने उपन्यास का शीर्षक 'आवाँ' रखा है। आखिर यह 'आवाँ' है क्या और किसके लिए है? वस्तुतः लेखिका की नमिता के चरित्र निर्माण के पीछे यह आकांक्षा रही है कि वे अपनी कथा नायिका को परिस्थितियों की भट्टी में इस कदर पका दे जिससे वह अच्छी तरह से समझ सके कि उसका संघर्ष क्या है और किन लोगों के खिलाफ है? 'छिन्नमस्ता' की प्रिया की भाँति नमिता को भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का दंश बार-बार सहन करना पड़ा। बचपन में वह अपने मौसा की हवस का शिकार हुई और बड़ा होने पर पिता के दोस्त अन्ना साहब द्वारा यौन प्रताड़ित की गई। लेकिन नमिता इस नौकरी को अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए छोड़ देती है। इस प्रसंग के बाद उसके चरित्र में थोड़ा विकास आता है और वह अंजना वासवानी और गौमती के माध्यम से आभूषण व्यवसायी संजय कनोई के सम्पर्क में आती है। संजय कनोई से मिलने के बाद नमिता का सुविधाभोगी चरित्र उभरकर सामने आता है। नमिता को सुविधाओं की इतनी लत पड़ जाती है कि वह शादीशुदा संजय की अनब्याही माँ बनने के लिए भी तैयार हो जाती है। नमिता के मन से संजय के प्यार का आवरण तब हटता दिखाई देता है, जब न चाहते हुए भी अन्ना साहब की हत्या का समाचार सुनकर उसका गर्भपात हो जाता है। इस घटना के बाद संजय द्वारा उसे 'क्रीतकोख' कहने पर ही नमिता के मन पर पड़ा हुआ उपभोक्तावादी संस्कृति का परदा हटता दिखाई देता है। इस तरह चित्रा अपनी कथा-नायिका को

समस्त मानवीय दुर्बलताओं के साथ चित्रित करती हुई उसे परिस्थितियों के आवे में पकाकर संघर्ष के लिए तैयार करती है। इस बिन्दु पर आकर नमिता का संघर्ष केवल स्त्री की मुक्ति का संघर्ष न रहकर समस्त सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के साथ संलग्न होता प्रतीत होने लगता है। वह इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हो जाती है कि, 'उदास मौसम के खिलाफ... जो अपने से लड़ सकता है, वही उनसे लड़ सकता है, जिन्होंने उजाले पर कालिख पोतने के लिए अपने हाथों को काला कर लिया है।'²² अतः लेखिका नमिता के माध्यम से स्त्री-विमर्श को आगे बढ़ाने के साथ ही साथ उसे सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की आकांक्षा रखने वाली भी बना देती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आलोच्य दशक के स्त्रीवादी उपन्यासों में कथाकारों ने स्त्री को कथा-नायिका के रूप में चित्रित करते हुए अपने कथ्य का अधिकांश इन्हीं नायिकाओं के चरित्र-चित्रण के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

जगदीश चंद्र के उपन्यास 'नरककुंड में बास' की कहानी आदि से लेकर अंत तक काली के ही इर्द-गिर्द घूमती नजर आती है। लेखक का उद्देश्य चमड़े का काम करने वाले उन सभी मजदूरों की समस्याओं को उजागर करना है जो काम करने की न्यूनतम सहूलतों के न होने पर नरककुंड जैसी स्थिति में काम कर रहे हैं। लेकिन इस समस्या को संवेदनात्मक धरातल लेखक काली के माध्यम से प्रदान कर सका है। उपन्यास का काली प्यार करने के गुनाह के कारण अपने गाँव से भागकर जालंधर शहर आ जाता है। मगर काम की तलाश में उसे दर-दर भटकना पड़ता है। पहले वह रेड़ा खींचने वाला भींडी बनता है और बाद में चमड़े के कारखाने में खालों की सफाई करने लगता है। काली के माध्यम से उपन्यासकार ने इस बात को भी उघाड़ा है कि किस तरह काम की तलाश में नवयुवकों को गाँव छोड़कर शहर आना पड़ता है। छिबू, सोमा, बरकत आदि युवक अपनी आर्थिक मजबूरियों के कारण ही गाँवों को छोड़कर शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। रेड़ा खींचने का काम छूटने पर काली चमड़े के कारखाने में काम करता है। वहाँ वह मजदूरों को चेतन करने की कोशिश भी करता है। लेकिन अपने ही वर्ग के फोरमैन द्वारा उसकी तरक्की कर उसे मजदूरों की नजर में गिरा दिया जाता है। इस तरह काली न तो मजदूरों को सहूलतें दिला पाता है और न ही उन्हें नरककुंड में बास जैसी परिस्थितियों में काम करने से बचा पाता है। लेकिन जगदीशचन्द्र का उपन्यासकार अंत तक काली को नहीं छोड़ता और उपन्यास की मूल संवेदना को उसी के माध्यम से चरम सीमा तक पहुँचाता है कि व्यक्ति का सबसे बड़ा कसूर उसका गरीब होना ही है। यही गरीबी काली की क्रांति चेतना को हर लेती है। इसीलिए उपन्यास के अंत में काली भाग्यवादी होता हुआ नंदसिंह से कहता है, 'चल चाचा, किसी का बस नहीं चलता। सबकुछ अन्न-जल के अख्तियार में है।'²³

भगवानसिंह 'अपने अपने राम' में राम के चरित्र को बिल्कुल नए ढंग से पेश करते हैं। उनका नजरिया प्रगतिशील है। उपन्यास के शीर्षक से भगवान सिंह यह बता देते हैं कि अगर एक राम वाल्मीकि के हैं, एक राम कबीर के हैं और एक राम तुलसी के हैं तो एक राम लेखक यानी भगवानसिंह के भी हैं। लेखक ने रामकथा में तो आमूलचूल परिवर्तन किया है, मगर राम के चरित्र की प्रभविष्णुता को कहीं भी कम करके नहीं आँका बल्कि उन्हें उसी गरिमापूर्ण रूप

में चित्रित करते हुए वर्तमान विमर्शों को वाणी प्रदान की है। उनके राम एक ओर अहल्या से संपूर्ण मानव-जाति की ओर से माफी मांगकर वर्तमान नारी-विमर्श के पक्ष में खड़े नजर आते हैं, तो दूसरी ओर निषाद, वानर, कोल और भल आदि दलित और आदिवासियों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों से दलितों की पक्षधरता लेते हैं। भगवानसिंह के राम शास्त्र की सत्ता को नहीं मानते बल्कि मानव को इन शास्त्रों की सत्ता से हर हाल में मुक्त रखना चाहते हैं।²⁴ भगवानसिंह ने अपने उदात्त पात्र श्रीराम के माध्यम से अपनी जीवनदृष्टि के सभी बिंदुओं को उपन्यास में अभिव्यक्त कर दिया है।

इसी तरह 'बीच में विनय' का उपन्यासकार स्वयंप्रकाश विनय के माध्यम से अपनी मूल संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं। श्रीलाल शुक्ल ठाकुर जयंतीप्रसाद के तथाकथित संत बनने की कथा के माध्यम से ही 'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास के व्यंग्य को उभारते हैं।

पात्रों की सृष्टि की भाँति उनकी संवाद-योजना भी उपन्यास लेखक के ऊपर ही निर्भर करती है, क्योंकि संवादों का प्रयोग पात्रों के निर्माण के लिए ही किया जाता है। संवाद लेखक की औपन्यासिक कला का उच्चतम नमूना पेश करते हैं और उसके विचारों की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। उपन्यास में वार्तालाप के इसी महत्त्व के कारण ही मुंशी प्रेमचंद 'उपन्यास का विषय' नामक निबंध में लिखते हैं, 'उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना कम लिखा जाए, उतना ही उपन्यास सुंदर होगा। वार्तालाप केवल रस्सी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को-जो किसी चरित्र के मुँह से निकले-उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का पूर्ण रूप से स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।'²⁵ आलोच्य कालावधि के उपन्यासों में संवाद चरित्रों के मनोभावों पर प्रकाश डालते हुए कथाकारों के नजरिए को अभिव्यक्ति करते हैं। कहीं-कहीं विचारों के प्रति अत्यधिक आग्रहपूर्ण दृष्टि के कारण संवादों में शिथिलता भी आई है। जैसे भगवानसिंह के 'अपने अपने राम' के संवाद लंबे होने के कारण कहीं-कहीं बोझिल हो जाते हैं। इसी तरह 'छिन्नमस्ता' के स्वगत कथनों में कहीं-कहीं शिथिलता आई है। निर्मल वर्मा के उपन्यास 'अंतिम अरण्य' और कृष्णा सोबती के 'समय सरगम' के संवाद काफी सरस हैं। 'अंतिम अरण्य' में मेहरा साहब की मृत्यु के बाद नरेटर और निरंजन बाबू में हुआ संवाद लेखकीय विचारों की अभिव्यक्ति में कितना सहायक सिद्ध हुआ इसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-

'मालूम नहीं...क्या यह इतना आसान है, कोई जीते जी न जीने की तैयारी कर लेता है, जैसे कोई एक दिन किसी लंबी यात्रा पर निकल जाए और घर वाले यही सोचते रह जाएँ कि वह अपने कमरे में लेटा है...

'जानते हो, मैं उनसे मिलने क्यों नहीं आया?'

एक विचित्र-सी मुस्कराहट निरंजन बाबू के चेहरे पर चली आती है, विचलित-सी कर देनेवाली, जैसे जमीन में गढ़ी कोई छाया बाहर निकली हो। 'मुझे देखकर वह रुक जाते...इतनी आसानी से नहीं खो जाते। उन्हें वह सब कुछ याद आता, जो सुख के दिनों के साथ जुड़ा होता है...मुझे देखकर उन्हें वह सब याद आता, जो अधूरा पड़ा रह गया है।'

‘अधूरा कैसे?’

‘सुख कभी पूरा होता है?’ वह धीरे से हँसे, ‘मैं जब यहाँ आया था, तो मैंने सोचा था, मेरी नीचेवाली जिंदगी पूरी हो गई है... मैं सब-कुछ नए सिरे से शुरू कर सकता हूँ...नया सिरा?’ उन्होंने मेरी ओर देखा, ‘इससे बड़ा कोई धोखा नहीं...कोई भी सिरा पकड़ो, वह आगे किसी ओर सिरे से बँधा होता है। और तो और-जब आदमी पैदा होता है, तो भी वह कोई शुरुआत नहीं है। पता नहीं अपने साथ कितने सारे पुराने किए-गुजरे की पोटली साथ ले आता है।’²⁶ इसी तरह ‘मंगल भवन’, ‘डूब’, ‘काला पहाड़’, ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ के संवादों के माध्यम से उपन्यासकारों ने राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मोहभंग, धर्मनिरपेक्ष राजनीति का समर्थन और व्यवस्था को बदलने के संकल्प को प्रकट करने के लिए व्यंग्यपूर्ण शैली में संवादों की सृष्टि की है जो स्वाभाविकता एवं सरसता लिए हुए है।

3. लेखकीय विचारधारा की अभिव्यक्ति में परिवेश का योगदान

परिवेश उपन्यास का एक ऐसा तत्व है, जो उसे यथार्थ का धरातल प्रदान करता है। बिना परिवेश के उपन्यास की रचना संभव नहीं है। हिंदी में देशकाल को आधार बनाकर दो प्रकार के उपन्यासों की रचना हुई है—एक ऐतिहासिक परिवेश-प्रधान उपन्यास और दूसरे आंचलिक परिवेश-प्रधान उपन्यास। आलोच्य दशक के उपन्यासों में ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’, ‘डूब’ और ‘काला पहाड़’ परिवेश की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास हैं, क्योंकि इन उपन्यासों के सृजन का प्रमुख घटक एक विशेष अंचल का परिवेश है। हिंदी में आंचलिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फणीश्वरनाथ रेणु ने ‘मैला आंचल’ की भूमिका में किया, लेकिन हिंदी का प्रथम आंचलिक उपन्यास नागार्जुन कृत ‘बलचनमा’ को माना जाता है जिसका प्रणयन सन् 1952 में हुआ। ‘मैला आंचल’ (1954) के बाद आंचलिक उपन्यासों के सृजन की परम्परा अभी तक हिंदी उपन्यास में महत्वपूर्ण बनी हुई है। आलोच्य दशक के उक्त तीनों उपन्यास इसी परंपरा के अंतर्गत आते हैं।

आंचलिक उपन्यासों में अंचल तथा उसका परिवेश प्रधान होता है। इन उपन्यासों में अंचल-विशेष की भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं की एक समग्र झाँकी प्रस्तुत की जाती है। उपन्यासकार अपनी कला के माध्यम से अंचल की लोकसंस्कृति को वहाँ के रीति-रिवाजों, चरित्रों के संवादों में आंचलिक बोली के प्रयोग, तीज-त्योहारों, परंपराओं के माध्यम से उभारकर रख देता है। अतः कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यासों में अंचल ही नायक के रूप में उभरता दिखाई देता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन उपन्यासों में कोई प्रमुख पात्र होता ही नहीं। वस्तुतः आंचलिक उपन्यास में एक प्रमुख पात्र अवश्य होता है, जो संपूर्ण अंचल का प्रतिनिधित्व करता है और संपूर्ण उपन्यास की व्यथा-कथा उस पात्र के माध्यम से ही उभारी जाती है।

यहाँ ध्यातव्य है कि देशकाल के प्राधान्य के बावजूद अंचल की कथा लेखक द्वारा उन महत्वपूर्ण समस्याओं को उजागर करने के लिए उठाई जाती है, जो उस अंचल-विशेष के पिछड़ेपन का कारण होती हैं। इसलिए इन उपन्यासों में लेखक के पास अपने प्रगतिशील

नजरिए को अभिव्यक्त करने का अधिक अवकाश रहता है। लेखक अपने जीवन-दर्शन को अपनी कलात्मक प्रतिभा से कुछ इस तरह सुनियोजित करता है कि परिवेश का पिछड़ापन उसकी तटस्थता को मुखरित करने में सहायक सिद्ध होता है।

भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'काला पहाड़' में हरियाणा के मेवात अंचल की कथा कही गई है। मेवात की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने लेखक को अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। संपूर्ण अंचल की कथा कहने के लिए मोरवाल ने नगीना नामक गाँव को आधार बनाया है। उसने इस बात को बड़ी शिद्दत से उजागर किया है कि यह अंचल हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के मिश्रण का अंचल है। यहाँ के मुसलमान इस्लामपरस्त होते हुए भी हिंदुओं की भाँति अपने गौत्र में शादी नहीं करते। उनके लिए मजहब अलग धारणा है और देश अलग। इसलिए हसन खाँ मेवाती की कथा यहाँ के लोकजीवन और लोककथाओं का अभिन्न अंग बनी हुई है जिसने अपने देश की रक्षा के लिए राणा सांगा के प्रस्ताव को इसलिए ठुकरा दिया था, क्योंकि वह देश को मजहब से ऊपर मानता था। लेखक इस परिवेश में सलेमी, मनीराम और नबी खाँ आदि पात्रों को चित्रित ही कुछ इस तरीके से करता है कि वे इस अंचल की धार्मिक सद्भाव की प्रवृत्ति को उभारने में सहायक सिद्ध होते हैं। भारत की गंगा-यमुना संस्कृति को उजागर करने के लिए मोरवाल ने इस अंचल के अनेक रीति-रिवाजों और तीज-त्योहारों को खूब चित्रित किया है जिससे इस तथ्य को उजागर किया जा सके कि मजहब अलग होने से राष्ट्र (कौमें) अलग नहीं होता, क्योंकि मजहब लोगों के रीति-रिवाजों, उनके रहन-सहन, उनकी जीवन-शैली और उनकी भाषा को अलग नहीं कर सकता। परंतु आज की गंदी राजनीति ने लोगों को बाँटने का हर संभव प्रयास किया है और निरंतर कर रही है। इसका कुप्रभाव मेवात पर भी दिखाई देने लगा है। लेखक की चिंता का मूल विषय यह है कि क्या मेवात भी राजनीतिज्ञों की चालों से दूसरा पाकिस्तान बनने जा रहा है?

मोरवाल का उपन्यासकार अपनी उक्त चिंता को व्यक्त करने के लिए सलेमी के चरित्र को बड़ी ही तन्मयता से गढ़ता है। वस्तुतः सलेमी लेखक के विचार-पक्ष की ही सृष्टि है। सलेमी हर उस बात का समर्थन करता है, जो मेवात की साझी विरासत को सहेजने और उसके पिछड़ेपन को दूर करने में सहायक सिद्ध हो। उपन्यासकार की सफलता इस बात में है कि वह न केवल सलेमी बल्कि रोबड़ा, मनीराम, बुद्धन, नबी खाँ, बाबू खाँ, बनवारी, सुलेमान, चौधरी अतर मोहम्मद, चौधरी करीम हुसैन, छोटे लाल, सूरज, डॉ॰ शफीकुर्रहमान, हाकिम, तरकीला, रमजानो, रुमाली, रामदेई, मेमन और फजरी आदि पात्रों के माध्यम से संपूर्ण मेवात के लोक-जीवन को जीवंतता से पेश करता है। लेकिन अब इस मेवात में तेजी से परिवर्तन आ रहे हैं।²⁷ इस तरह लेखक उपन्यास में मेवात की साझी विरासत की तस्वीर पेश करते हुए अपनी कथा के केंद्र में उसके पिछड़ेपन की व्यथा को भी चित्रित करता चलता है, जोकि व्यवस्था में पनपे भ्रष्टाचार के कारण और अधिक बढ़ता जा रहा है।²⁸ इसी पिछड़ेपन के कारण मेवात अंचल के गाँवों से शहरों की ओर पलायन में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है।

'डूब' का उपन्यासकार वीरेंद्र जैन भी अपनी जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए

उपन्यास सृजन की आंचलिक टेकनीक को ही अपनाता है। यही कारण है कि 'डूब' और 'काला पहाड़' की शिल्प-विधि एक सी ही प्रतीत होती है। 'काला पहाड़' की कथा के केंद्र में जहाँ हरियाणा का मेवात अंचल है, वहीं डूब की कथा मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की सीमाओं पर स्थित बेतवा अंचल में चलती है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए वीरेंद्र ने इसी अंचल के गाँव लड़ैई को चुना है। वस्तुतः यहाँ, 'गाँव ही नायक है इसलिए वीरेंद्र जैन गाँव का चरित्र वृत्तांत के जरिए खोलना शुरू करते हैं। लड़ैई गाँव की जातिगत बुनावट यून है—बानिया, अहीर, ठाकुर, तेली, खवास, बड़ई, धोबी, बसोर, चमार, ढीमर, हिंदुओं, मुसलमानों और जैनियों से बने इस गाँव की अर्थ-व्यवस्था है—खेती, सूदखोरी और पशुपालन। लड़ैई नदी-पहाड़ से चौतरफा घिरा गाँव है।²⁹ लड़ैई की तरह इस अंचल के गाँव शिक्षा के अभाव में काफी ज्यादा पिछड़े हुए हैं। बेतवा नदी पर बाँध बनाने की योजना के तहत लड़ैई और इसके आस-पास के गाँव डूब क्षेत्र में घोषित कर दिए जाते हैं। लेखक बताता है कि बाँध का बनना जहाँ विकास का प्रतीक है वहीं इस अंचल के लड़ैई जैसे अनेक गाँवों का डूब क्षेत्र में घोषित कर दिया जाना इस अंचल के विनाश का प्रतीक बन जाता है। वीरेंद्र अपने नजरिए और इस अंचल की त्रासदी को उजागर करने के लिए जहाँ एक ओर माते के चरित्र की सृष्टि करता है वहीं दूसरी ओर बुंदेलखंड के इस अंचल की प्राकृतिक छटा को, उसके रीति-रिवाजों को कुछ इस तरह से उकेरता है कि उसकी आंचलिक प्रवेश संबंधी जानकारी पर आश्चर्य होता है। मास्साव द्वारा अनेका से अपने गाँव में किस महीने क्या होता है सुनने का प्रसंग, अक्कल और अनेका की शादी का प्रसंग, अट्ट साव और गोरबाई की पावन प्रीत का प्रसंग मानो इस अंचल की एक जीवंत तस्वीर पाठक के समक्ष रख देते हैं।

परंतु उपन्यास-लेखक का उद्देश्य आंचलिक परिवेश के साथ पाठक को बाँधे रखकर इस अंचल की मूल समस्या के साथ उसकी संवेदना को जोड़ना रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अंचल इतना पिछड़ा हुआ है कि लोगों को इस बात का भी पता नहीं कि उन्हें आजादी किससे मिली है?³⁰ आजादी के मिलते ही भारत के गाँव भी राजनीति की लपेट में आ गए और गाँवों की राजनीति में जातिगत समीकरणों बनने लगी। कहने को तो स्वराज गाँवों तक आया मगर माते जैसा व्यक्ति चाहकर भी चुनाव नहीं लड़ सकता, क्योंकि आर्थिक असमानता के चलते राजनीतिक समानता के दावे इन अंचलों में झूठे सिद्ध हो चुके हैं।³¹ यही कारण है कि ठाकुर देवीसिंह जैसों को पहले से ही पता है कि वोट उसी को मिलेगी जिसकी लाठी में जोर होगा।³² इसीलिए मास्साव को इस बात का रंज है कि, 'वे तो गाँव वालों को बता चुके थे कि आजादी आई है तो तरक्की भी आती होगी। भाईचारा बढ़ेगा। हमारी समझ, हमारा दायरा बढ़ेगा। और आया क्या? बर्बादी। बढ़ा क्या? वैमनस्य।'³³ इस तरह वीरेंद्र जैन आजादी के बाद गाँवों में आने वाले सांस्कृतिक परिवर्तनों को बेतवा अंचल के परिवेश में चित्रित करता हुआ माते को अपने वृत्तांत के केंद्र में रखकर इस अंचल की मूल समस्या विकास के नाम पर होनेवाले विनाश को उजागर करते हैं। इस पिछड़ेपन का अर्थ यह नहीं है कि इन गाँवों में जागृति का बिल्कुल ही अभाव है। इतना पिछड़ापन होने के बावजूद अट्ट साव जैसे पढ़े-लिखे लोग गाँव

में अस्पृश्यता और बेगार के खिलाफ लोगों में जागृति तो उत्पन्न कर ही रहे हैं। इस तरह शोषण का विरोध होना गाँवों की जागृति का प्रतीक है, लेकिन हमारी राजनीतिक व्यवस्था ने लोगों को बाँट दिया है, जिससे वे अपने खिलाफ होने वाले अन्याय का सक्षम विरोध नहीं कर पा रहे हैं। माते का तो जातिगत समीकरणों पर चलनेवाले इस लोकतंत्र में विश्वास ही नहीं रहा। लेकिन इस अंचल को माते पर और उसके निर्णयों पर पूरा विश्वास है। इसीलिए जब माते चंद्रभान की अनब्याहीं माँ बनी बेटी अक्कल की शादी अपने पोते अनेका के साथ कर देता है तो मास्साव झुककर माते के पाँव छू लेते हैं और उसे कहते हैं, 'नहीं माते, मैं ऐसा नहीं करता तो भगवान मुझसे जरूर पूछता कि रे मूरख, तेरा ज्ञान, तेरी शिक्षा किस काम आई, जब कि तू गुणी, बुजुर्ग और नेक इंसान का सम्मान नहीं कर पाया! क्या तू मुझे तभी पहचान पाता है जब मैं किसी अहीर के घर में मोरपंखी लगाकर धमाचौकड़ी मचाता दिखाई दूँ?'³⁴ इस बिंदु पर आकर वीरेंद्र जैन माते को बेतवा अंचल के पिछड़े हुए परिवेश का प्रतिनिधित्व करने वाले एक जागरूक व्यक्ति के रूप में उजागर करते हैं। आजादी के बाद गाँवों में आनेवाली नई राजनीतिक व्यवस्था के महत्त्व पर तो माते के मन में पहले से ही आशंका उत्पन्न हो चुकी थी, लेकिन जब मास्साव माते को बताते हैं कि उनका गाँव डूब क्षेत्र में आ चुका है, और उन्हें यहाँ से उठवा दिया जाएगा तो माते का इस पूरे सरकारी तंत्र से विश्वास ही उठ जाता है।³⁵ सरकार की न तो बाँध बनाने की योजना सिरें चढ़ती है, न ही लोगों को मुआवजा मिलता है। उनके पुनर्वास का भी कोई प्रबंध नहीं किया जाता है। स्कूल के गाँव से उठ जाने के कारण एक पीढ़ी शिक्षा के अभाव में पूरी-की-पूरी बर्बाद हो गई। इस तरह राजनीति, प्रशासन, अर्थतंत्र और धर्म-व्यवस्था सभी मिलकर किस तरह गाँव का जीवन-रस सोख रहे हैं, इसकी कहानी बन जाता है—'डूब'।³⁶ यही कारण है कि 'काला पहाड़' के सलेमी की भाँति माते का भी इस व्यवस्था से मोहभंग हो जाता है। इतना ही नहीं लडैई के बाद में डूबने पर आकाशवाणी से सरकार द्वारा यह झूठा समाचार प्रसारित किया जाता है कि बाढ़ की आशंका को ध्यान में रखकर सरकार ने पहले से ही बाँध के आस-पास के गाँवों को मुआवजा देकर खाली करवा लिया था। अन्यथा आज इस क्षेत्र में पानी के अचानक प्रवेश कर जाने से न जाने कितनी जाने चली गई होती। इस झूठी खबर को सुनकर जब माते अपना रेडियो वट-वृक्ष के तने से मारकर यकायक चीखते हुए कहता है, 'लाबरी है जा सरकार, महा लाबरी! महा झूठी, सरासर झूठी!'³⁷ तब उपन्यासकार इस अंचल की भयावह त्रासदी की तस्वीर पाठक के समक्ष रखने में सफल होता है। अतः स्पष्ट है कि बेतवा का आंचलिक परिवेश, उस परिवेश में जुड़ा हुआ और उसका द्रष्टा होने के कारण ही लेखक इस आंचलिक औपन्यासिक प्रविधि के जरिए उपन्यास के कला-पक्ष को भी बेजोड़ बना देता है।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में उपन्यासकार संजीव आंचलिक परिवेश को चित्रित करते हुए बिहार राज्य के सीमावर्ती जिले बेतिया, जिसे मिनी चंबल कहा जाता है को अपनी कथा के केंद्र में रखते हैं। इसे मिनी चंबल कहा जाने का कारण है—उत्तर प्रदेश और नेपाल की सीमाओं से सटे हुए दो सौ किलोमीटर के घने जंगलों में डाकुओं की सक्रियता। संजीव का उपन्यास इस समस्या का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है, जिसके अंतर्गत उन्होंने इस अंचल की डाकू-समस्या और

उसके विभिन्न कारणों को विश्लेषित किया है। उपन्यासकार के अनुसार इस अंचल में डाकुओं की समस्या का सबसे बड़ा कारण है—संपत्ति और साधनों का कुछेक हाथों में सीमित होना। संजीव इस अंचल को, उसकी भयावह समस्या को उजागर करने के लिए काली के चरित्र को कथा के केंद्र में रखते हैं। काली का डाकू बनना इस अंचल की उस जर्जर व्यवस्था का द्योतक बन जाता है, जिसमें एक सौम्य प्रकृति का युवक न चाहकर भी डाकू बनता है। वस्तुतः ‘इस अंचल की 90 फीसदी जमीन पर एक प्रतिशत लोगों का कब्जा है और पाँच प्रतिशत जमीन पर आम लोगों का। इसका सीधा-साधा अर्थ हुआ कि जमीन पर कुछ ही लोगों ने कब्जा कर रखा है, बाकी उन लोगों की कृपा पर जीवित हैं। ऐसी गरीबी में या तो पाखंड और ढोंग पनपता है या आतंक, इसलिए यहाँ दोनों ही अपने पूरे रूप में हैं।³⁸ अंचल का यह भयावह प्रवेश और उसमें पनपते डाकू संजीव के सामने एक सृजनात्मक रचना का कथ्य तैयार कर देते हैं, जिसमें काली लेखकीय नजरिए की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है।

अतः कहा जा सकता है कि आलोच्य उपन्यासकारों की प्रगतिशील जीवन-दृष्टि ने इन्हें इन अंचलों के पिछड़ेपन के कारणों को तलाशने के लिए विवश किया है। अंचल के संपूर्ण परिवेश को उजागर करने का कार्य उपन्यासकार अपने प्रतिनिधि पात्रों से करवाते हुए खुद भी वर्णन द्वारा उस अंचल-विशेष की लोकसंस्कृति, लोकगीतों, रीति-रिवाजों को इतने सजीव रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं कि हमें पता ही नहीं चलता कि कब हम रचना के मूल कथ्य से जुड़कर उस अंचल की समस्याओं का साक्षात्कार करते हुए लेखकीय सोच से जुड़ते चले गए हैं। इस प्रकार नागार्जुन के ‘बलचनमा’ से शुरू हुई और फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा परवान चढ़ी आंचलिक शिल्प के निर्माण की यह प्रविधि आलोच्य दशक का उपन्यासकार भी अपनाता है और किसी भी रूप में अपनी साहित्यिक परंपरा का वारिस बनने से नहीं कतराता, बल्कि उसे अपनी प्रस्तुति के बिल्कुल नए अंदाज से तरोजा बना देता है।

4. भाषागत वैशिष्ट्य और जीवन-दृष्टि

वस्तुतः भाषा एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जो नदी के प्रवाह की भाँति ही शब्दों, मूल्यों, दृष्टियों और विचारों को सांस्कृतिक बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाती रहती है, जिनकी समझ के बिना कृति को सशक्त बना पाना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर होता है। अपनी भाषा की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया से जुड़कर ही एक रचनाकार अपने ज्ञान को तथ्यात्मक होने से बचाकर अपनी भाषा-परंपरा से प्राप्त बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से ही उसे कला का विषय बना पाता है। भाषा के ऊपर इस तरह का अधिकार होने पर ही उसकी जीवन-दृष्टि साहित्य की सौंदर्य-संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण कर पाती है, जिससे कृति के वस्तु-तत्त्व के साथ ही साथ उसका रूप-तत्त्व भी बेजोड़ बन जाता है।

आलोच्य कालावधि के उपन्यासकारों की भाषा जीवन के प्रति उनके नजरिए को अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम है। कमलेश्वर ‘कितने पाकिस्तान’ में अपने मंतव्य को स्पष्ट करने के लिए इसी प्रकार की प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा का एक उदाहरण देखिए ‘तभी लाशों के बाजार खुलते चले गए। सोमालिया में शांति कायम करने गए पाकिस्तानी

फौजियों की लाशों का अंबार लगा था। बोस्नियाँ में कत्ल किए गए मुसलमानों की लाशों को कफन में लपेट कर सजाया जा रहा था। अजरबेजान में लाशों का बाजार लगा था। गीदड़, चील-कउवे और कुत्ते उनका बँटवारा कर रहे थे। नायजीरिया में लाशों की शिनाख्त हो रही थी और बोलिबिया में तमाम लाशें अपनी शहादत का खुदबा पढ़े जाने का इंतजार कर रही थीं। कश्मीर में पड़ी लाशें अपने बयान दर्ज करा रही थीं...उन लाशों में कश्मीरी मुसलमान भी थे और कश्मीरी पंडित भी। अफगानिस्तान में लाशें दफनाने के लिए जमीन की कमी पड़ रही थी और ताज्जुब की बात यह कि तालिबानों द्वारा रौंद दिए जाने के बावजूद, अपने-अपने हिमायती लोगों की लाशों के ढेर पर गुलाम रब्बानी, अहमद शाह मसूद, गुलाबुद्दीन हिकमतयार और तालिबानों का तानाशाह मोहम्मद उमर जैसे लोग अपने-अपने इस्लाम का ताज पहने शान से खड़े थे।³⁹ इस उद्घरण में 'लाशों के बाजार का खुलना', 'लाशों को कफन में लपेट कर सजाया जाना', 'गीदड़, चील-कउवे और कुत्तों द्वारा उनका बँटवारा करना', 'लाशों का बयान दर्ज करवाना', 'अपने-अपने इस्लाम का ताज पहने शान से खड़े होना' इत्यादि सभी शब्दों का प्रयोग प्रतीकात्मक है। इस किस्म की भाषा से कमलेश्वर जहाँ एक ओर बाजारवादी शक्तियों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों में हथियारों की बिक्री द्वारा उन्हें लाशों का बाजार बनाने पर व्यंग्य करते हैं, वहीं कट्टर इस्लामिक गुटों द्वारा मानवता की लाश पर इस्लाम की खिदमत किए जाने पर भी आक्रोश व्यक्त करते हैं। उपन्यास-लेखक की मान्यतानुसार बाजारवादी शक्तियाँ और कट्टर धार्मिक लोग वे भले किसी भी मजहब के क्यों न हों अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानवता को लाशों के ढेर में तबदील करने से नहीं टलते। इसीलिए इस ढेर पर 'अपने-अपने इस्लाम का ताज पहने आराम से खड़े होना' लेखक के उस आक्रोशपूर्ण व्यंग्य को उभारता है, जो वह इन लोगों पर करना चाहता है।

कमलेश्वर की भाषा जहाँ प्रतीकात्मक है, वहीं 'अंतिम अरण्य' के उपन्यासकार निर्मल वर्मा की भाषा बिंबात्मक है। 'अंतिम अरण्य' की मूल संवेदना मृत्यु विषयक होने के कारण उपन्यासकार ने मृत्यु का ऐसा चित्रांकन किया है कि पाठक के सम्मुख उसका एक बिंब-सा उभर जाता है। मृत्यु का साक्षात्कार करवाती निर्मल वर्मा की बिंबात्मक भाषा का एक नमूना यहाँ पेश है, 'लकड़ियाँ खिल-खिल करके जलने लगती थीं। जब कभी ऊपर उठता हुआ धुआँ बहुत गाढ़ा और सघन हो जाता था, तो अग्नि के सामने बैठे पुरोहित जी चौड़े चाँदी के पतीले में चम्मच डालकर घी का सफेद लौंदा बाहर निकालते और धुँधुआती लकड़ियों पर डाल देते। बुझती हुई आग फिर से प्रज्वलित होकर धू-धू जलने लगती। कभी कोई तिड़-तिड़-सी आवाज अचानक आग के अंतस्तल से आती सुनाई देती, एक फूल-सी चिंगारी धुंध और धुएँ को भेदते हुए बाहर आती और तब ऐसा जान पड़ता मानो उनके अस्थि-पिंजर से कोई बैचैन, फड़फड़ाती-सी चीज अपने को मुक्त कराने बाहर निकली है, आदमी मृत्यु के बाद दो बार मुक्त होता है, पहली बार दूसरों से और दूसरी बार स्वयं अपने से...मेहरा साहब अपने अस्थि-पिंजर से इस तरह बाहर निकल आए थे-जैसे कोई आदमी अपने जलते घर से बाहर निकल आता है।'⁴⁰ पूरा उपन्यास मृत्यु विषयक संवेदना को उभारने के लिए इस प्रकार की बिंबात्मक भाषा से भरा पड़ा है, क्योंकि बिना ऐसी भाषा के उपन्यासकार अपने कथ्य को संपूर्णतः पाठक तक संप्रेषित न कर पाता। वस्तुतः 'निर्मल

वर्मा जिस भाषा का प्रयोग अपने उपन्यासों और कहानियों में करते हैं, वह भाषा आमजन की न होकर भी अच्छी लगती है। उस भाषा में एक लय है, ऐसी लय जो आजकल कविता में भी गायब होती जा रही है, निर्मल वर्मा उस लय के साधक हैं। वे बहुत नाप-तोलकर शब्दों का प्रयोग करते हैं और उन्हें ऐसे बैठाते हैं जैसे एक कारीगर संगमरमर को तराशकर उसकी मूर्ति बनाता है।⁴¹

‘समय सरगम’ की लेखिका कृष्णा सोबती की भाषा में एक सहज रवानगी है। कृष्णा सोबती की प्रतिनिधि पात्र आरण्या उसी की भाँति जिंदादिल है। इसलिए वह किसी भी बात को सहजता से कह जाती है। सोबती की भाषा की एक बानगी आरण्या और ईशान के संवाद के रूप में यहाँ प्रस्तुत है—‘भारतीय संस्कार आत्मा की बात करता है, आरण्या!’ आरण्या हँसने लगी।

आत्मा का आत्मन् अब उत्तर-आधुनिक हो गया है। अब वह भी भारतीय दर्शन के साथ सुख-संपन्नता की खरीददारी करना चाहता है।⁴² अतः आरण्या वर्तमान समय की सभी सच्चाइयों को स्वीकार कर अकेली अपनी शर्तों पर जीने वाली बुजुर्ग है। इसी वजह से उसकी भाषा भी पूरी तरह आत्मविश्वास से भरी हुई है। उसके लिए अंतिम समय बोझ बनकर नहीं, बल्कि समय की सरगम के रूप में हर दिन एक आशीर्वाद बनकर आता है।⁴³

इसी तरह आलोच्य कालावधि के आंचलिक उपन्यासकारों ने अंचल विशेष की जीवंत प्रस्तुति के लिए अपने-अपने अंचलों को भाषा को पात्रों के संवादों के लिए प्रयुक्त किया है। भगवानदास मोरवाल कृत ‘काला पहाड़’, संजीव कृत उपन्यास ‘जंगल जहाँ शुरु होता है’ और वीरेंद्र जैन के उपन्यास ‘डूब’ की भाषा पूर्णतः आंचलिक रंग ओढ़े हुए है। स्वयं प्रकाश कृत ‘बीच में विनय’ और विजय कृत ‘लौटेगा अभिमन्यु’ में मध्यवर्गीय चेतना के कारण भाषा की दार्शनिक बोझिलता को नहीं अपनाया गया, बल्कि इन उपन्यासकारों ने आम जनता की बात को उसी की भाषा में पाठक के समक्ष रखा है। ‘कितने पाकिस्तान’ में कमलेश्वर ने मध्यकालीन भारत के ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए अरबी-फारसी के और जगदीश चंद्र ने ‘नरककुंड में बास’ में पंजाबी के शब्दों का खूब मगर स्वाभाविक प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि आलोच्य दशक के उपन्यासकार अपनी भाषा की खोज अपने नजरिए को अभिव्यक्त करने के लिए अपने ही ढंग से करते हैं, जिससे उनकी भाषा उनकी विशिष्ट एवं मौलिक पहचान का चिह्न बनकर उभरती है।

उर्पयुक्त चर्चा के आधार पर हम कह सकते हैं कि आलोच्य दशक के उपन्यासकारों ने अपने नजरिए की अभिव्यंजना के लिए औपन्यासिक कला के सभी तत्त्वों का समुचित प्रयोग कर अपने कथ्य को आकार प्रदान किया है। ‘कितने पाकिस्तान’, ‘कलि-कथा: वाया बाइपास’, ‘मुझे चाँद चाहिए’ और ‘अंतिम अरण्य’ के उपन्यासकारों की उल्लेखनीय बात यह रही कि इन्होंने अपने उपन्यासों के कथानक में न केवल नए प्रयोग किए, बल्कि इन प्रयोगों की सफलता के आधार पर अत्यधिक ख्याति भी अर्जित की। इसी तरह आलोच्य दशक के उपन्यासकार पात्रों के चित्रण और संवादों में पक्ष-विपक्ष की बात रखते हुए परोक्ष रूप में अपनी बात कह जाते हैं। आंचलिक परिवेश और उसके पिछड़ेपन की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए सलेमी, माते और काली जैसे यात्रों की सृष्टि इन अंचलों के पिछड़ेपन के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए ही की गई है। आलोच्य दशक के उपन्यासकार अपनी जीवन-दृष्टि के अनुरूप

ही अपने शब्दों का चयन एवं विन्यास करते हुए अपनी भाषा को प्रतीकात्मकता और बिंबात्मकता के जरिए सहज एवं स्वाभाविक बना देते हैं। अतः कहना न होगा कि इन उपन्यासकारों की जीवन-दृष्टि औपन्यासिक कला की सभी युक्तियों का समुचित प्रयोग करती हुई न केवल अपनी रचना के नवीन एवं मौलिक रूपाकार का अन्वेषण करती है, बल्कि इसी नवीनता के बल पर पाठक के दिलोदिमाग पर अपनी एक अमिट छाप भी छोड़ती है।

संदर्भ

1. अज्ञेय (संपा०), सृजन और संप्रेषण, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1984, पृ० 113
2. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2006, पृ० 242
3. गोपालराय, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ० 67
4. विजयबहादुर सिंह, उपन्यास: समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007 पृ० 209
5. बच्चन सिंह, उपन्यास का काव्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 156
6. सूरज पालीवाल, समकालीन हिंदी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2004, पृ० 202
7. अलका सरावगी, कलि-कथा, वाया बाइपास, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1998, पृ० 10
8. प्रदीप कासनी, कलि-कथा, एक पाठ बराह बाहर-बाहर (आलेख), पल प्रतिपल (मार्च-जून, 1998), पृ० 111
9. वीरेंद्र यादव, उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ० 196
10. परमानंद श्रीवास्तव, उपन्यास का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1995, पृ० 188
11. विजय बहादुर सिंह, उपन्यास: समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007 पृ० 39
12. वही, पृ० 41
13. गजानन माधव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध रचनावली (भाग 5), नेमिचंद्र जैन (संपा०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ० 22
14. निर्मल वर्मा, अंतिम अरण्य (आवरण से), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 2000
15. उद्धृत रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और जनसमुदाय, नरोत्तम नागर एवं आलोक कौशिक (अनु०), परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2008, पृ० 91
16. वही, पृ० 91
17. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ० 10
18. वही, पृ० 11
19. वही, पृ० 91
20. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ० 17
21. वही, पृ० 322-323
22. चित्रा मुद्गल, आवां, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ० 541
23. जगदीश चंद्र, नरककुंड में बास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृ० 312
24. भगवान सिंह, अपने अपने राम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ० 233
25. प्रेमचंद्र, कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ० 67
26. सत्यपाल चुध, प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, इकाई प्रकाशन इलाहाबाद, पृ० 561
27. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ० 29
28. वही, पृ० 50

29. मनोहर लाल (संपा०), वीरेंद्र जैन का साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ० 111
30. वीरेंद्र जैन, डूब, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1991, पृ० 11
31. वही, पृ० 12
32. वही, पृ० 39
33. वही, पृ० 54
34. वही, पृ० 104
35. वही, पृ० 109
36. वही, (आवरण पर रामदरश मिश्र की टिप्पणी)
37. वही, पृ० 288
38. सूरज पालीवाल, समकालीन हिंदी उपन्यास, पृ० 281
39. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली 2000, पृ० 153
40. निर्मल वर्मा, अंतिम अरण्य, पृ० 190
41. सूरज पालीवाल, समकालीन हिंदी उपन्यास, पृ० 255
42. कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ० 67
43. वही, पृ० 105

गाँव कालोमाजरा, जांसला, तहि० राजपुरा
जिला पटियाला 140601
मो० 9872694866

तीन पुस्तकें : तीन समीक्षाएँ

नई उम्मीद जगाती व्यंग्य रचनाओं की एक किताब

डॉ० रमेश तिवारी

भीड़भाड़ और शोरगुल से किंचित दूरी बनाकर गंभीर व्यंग्य लिखनेवाले रचनाकार के रूप में शांतिलाल जैन का नाम महत्वपूर्ण है। इनका लेखन जितना प्रकाशर है, स्वभाव उतना ही शांत और अंतर्मुखी। प्रदर्शनप्रियता इन्हें असहज करती है। इसलिए ये प्रदर्शन से बराबर दूरी बनाकर रखते हैं। शांतिलाल जैन का एक अंतन संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसका शीर्षक है—‘मार्जिन में पिटा आदमी’। इस संग्रह को क प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है। इस संग्रह की कई रचनाएँ पाठकों के मानसपटल पर दूर तक प्रभाव छोड़ने में सफल हैं। पाठक निश्चय ही रचनाओं में व्याप्त दृष्टि और विसंगतियों के साथ लेखक के ट्रीटमेंट को दूर तक महसूस करने में सफल होंगे।

लेखक ने संग्रह के आरंभ में ही अपना अभिमत ‘अभिधा में अपन’ शीर्षक से लिख दिया है। इस अभिमत को पढ़कर पाठकों को निश्चय ही लेखक के व्यक्तित्व, रुचि-अरुचि आदि के बारे में जानकारी मिल जाएगी। लेखक ने अपने लेखकीय जीवन के आरंभिक दिनों को और जीवन संघर्षों की करुण-मर्मस्पर्शी बातों को जिंदगी के सबक के रूप में याद किया है। इसे पढ़कर लेखक के व्यक्तित्व को सहज ही समझा जा सकता है। ‘व्यंग्य पढ़ने का पहला संस्कार, फिर चस्का दो स्रोत से लगा। मेरे पिता बहुत अच्छा व्यंग्य गढ़ लेते थे और बातों-बातों में कह देते थे।... एक प्रकाशक बहुत मामूली-सी रकम देकर उनसे कुंजियाँ लिखवाता रहा और घर चलाने के लिए वे रात-रात भर स्ट्रीटलाइट के नीचे बैठकर लिखते रहे। उन्होंने ये नहीं किया होता, व्यंग्य लिखे होते तो वे एक बड़े व्यंग्यकार होते।’ (भूमिका से) इस उद्धरण से यह समझना गलत न होगा कि शांतिभाई को व्यंग्य विरासत में मिला है। इसी लेख में वे आगे लिखते हैं—‘विडंबनाएँ पकड़ने की दृष्टि पिता से मिली और उसे व्यंग्य रचना में ढाल पाने का शाऊर मिला स्व० शरद जोशी से।’

इस भूमिका में लेखक ने रचना से इतर अपने व्यक्तित्व को पाठकों के समक्ष खोलने का साहस किया है। कम लेखक ऐसा लिख और कर पाते हैं। शांतिभाई इस मामले में भीड़ का हिस्सा नहीं बनते। वे लिखते हैं—‘एक चीज का मैंने हमेशा ध्यान रखा कभी शैल्फ प्रमोशन पर ध्यान नहीं दिया साहित्य जगत में तहलका मचा सकें। दिया और संग्रह की रचनाएँ ऐसी नहीं रहीं कि वे व्यंग्य जगत या साहित्य-जगत में तहलका मचा सकें। मुझे इसका अफसोस भी नहीं बल्कि संतोष है कि मैं कभी चर्चा में रहने की कलाबाजियों में नहीं पड़ा। आगे भी नहीं पड़ूँगा। जो लिखा अपने अनुभव से लिखा। (वही) किसी लेखक के व्यक्तित्व को समझने की लिए इतना बहुत है। हम सबके जीवनानुभव का यथार्थ तो यही है कि जहाँ देखी वहीं प्रदर्शन करने को आमदा जन मौजूद हैं। प्रदर्शनप्रियता चरम पर है। हम होते कुछ हैं, दीखते कुछ हैं, दीखते कुछ हैं, लिखते कुछ हैं। इन सबमे दूर-दूर तक कोई साम्य अथवा तारतम्य नहीं होता। ऐसे में संकट यह होता है कि सामनेवाला भरोसा किस पर करे। असली चेहरा कौन-सा है? लेखक का अनुभव भी इससे अलग नहीं है। व्यंग्यकारों के जीवन और लेखन को अत्यंत करीब से देखने के बाद लेखक यह लिखने को मजबूर

होता है कि 'जो आदर्श की बात करते हैं मगर आचरण वैसा करते नहीं, वे ही व्यंग्य के लिए सबसे ज्यादा सामग्री उपलब्ध कराते हैं।' (वही, पृष्ठ 14)

इसके साथ-साथ यदि हम किसी लेखक की रचना-प्रक्रिया की बात करें तो यह देखते हैं कि प्रत्येक लेखक की अपनी एक अलग रचना-प्रक्रिया होती है। शांतिभाई की भी है। वे अपनी रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में लिखते हैं कि 'जब भी विचलित कर देनेवाला कोई विचार उत्पन्न होता है तब फुर्सत ढूँढता हूँ। बहुत बार रात तीन से पाँच के बीच लिखकर फिर सो जाता हूँ। जो लिखता हूँ, उसे तुरंत कहीं नहीं भेजता दस-पंद्रह बार खुद काट-छाँट न कर लूँ तब तक मन नहीं भरता। अनेक रचनाओं के पहले ड्राफ्ट और अंततः प्रकाशित रचना साथ-साथ रखने पर मैं खुद हैरान रह जाता हूँ। वे आपस में जरा भी मेल नहीं खातीं। इतना अवश्य है कि रचना प्रकाशन के लिए पोस्ट करने से पहले आसपास उपलब्ध एक-दो ऐसे मित्र जो साहित्य की समझ रखते हैं, जो सुधि पाठक हैं उनको पढ़वा लेता हूँ। एक ही सवाल रहता है—'रचना में पठनीयता है या नहीं?' (वही, पृ० 14)

यह सब पढ़ने के बाद पाठकों के लिए यह समझना मुश्किल नहीं है कि लेखक की दृष्टि में किसी भी रचना के लिए पठनीयता आरंभिक और अनिवार्य शर्त है। बिना पठनीयता के रचना को पाठक तक पहुँचाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। यही कारण है कि इस संग्रह की रचनाओं को पढ़ते हुए पाठक कहीं भी उबता नहीं है। रही दृष्टि की बात, तो लेखकीय दृष्टि हमें अपने आसपास व्याप्त विसंगतियों से साक्षात् कराती है। हम इन विसंगतियों को देखते तो पहले से ही रहे होते हैं, किंतु हमारे मानसपटल से न जाने कैसे वे विसंगतियाँ हट-सी गई होती हैं। यही लेखकीय दृष्टि का कमाल है कि वह हमें हमारी ही दुनिया में व्याप्त विसंगतियों की रचनाओं के द्वारा बार-बार पहचान कराता है। इसे एक लेखक की उपलब्धि कह सकते हैं। ऐसी कई रचनाएँ इस संग्रह में मौजूद हैं। 'ह्यूमन बॉडी गैरेज के उस्ताद' रचना को हम उदाहरण के रूप में रख सकते हैं। इस रचना के बहाने चिकित्सकों द्वारा मानव-अंगों का व्यापार वृत्ति को विसंगति के रूप में केंद्र में रखा गया है। डॉ० जिसे हम धरती पर भगवन का अवतार मानते हैं, वही अब इतने पतित हो गए हैं कि अपने मरीजों के अंगों का चोरी-छुपे व्यापार करने में भी संकोच नहीं करते। 'डॉ० बनवारी देश में गरीबों की बढ़ती जनसँख्या देखकर खुश होते हैं। उनके लिए देश में गरीबों की विशाल जनसँख्या किडनियों की एक लहलहाती फसल है।...जब भी किसी गरीब आदमी की नार्मल डेथ होती है वे कसक उठते हैं कि यार लाख रुपए का नुक्सान हो गया।...डॉ० बनवारी मानते हैं कि इस देश में गरीबी की रेखा से नीचे कम-से-कम 50 करोड़ किडनियाँ हैं, जो बेची जा सकती हैं। लाख रुपए की एक किडनी भी समझो तो 50 लाख करोड़ रुपए की संभावनाओं का बाजार है। अनटेपड। जिसका दोहन किया जाना बाकी है। अपने अस्पताल की 18 वीं मंजिल से जब वे दूर तक फैली झोपड़पट्टी की ओर देखते हैं, तो उन्हें अपनी मजबूरियों पर तरस आता है। किडनियों की फसल लहलहा रही है और मैं काट नहीं पा रहा।...एक टीस सी उठती है—ये साले गरीब दो-दो किडनियाँ रखने की विलासिता में जी रहे हैं और बेचारे धनिकों को जरूरत के समय माल नहीं मिल रहा।' (वही, पृ० 28)

शांतिलाल जैन की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि लेखक बोलचाल की हिंदी के प्रयोग का पक्षधर है। हालाँकि प्रायः हिंदी के वाक्यों में अँग्रेजी के शब्दों, उपवाक्यों का समावेश भी लेखक की विशेषता और मेरी दृष्टि में एक हद तक सीमा है। मेरी राय में हिंदी व्यंग्य लिखने के साथ-साथ हमें भाषा के प्रति भी अपनी जिम्मेदारी को समझने की जरूरत है। यदि

अँग्रेजी के शब्दों के बगैर हमारा काम चल सकता है तो हमें हिंदी के शब्दों से ही अपनी रचनात्मक जरूरतों की पूर्ति करनी चाहिए। यदि कहीं कहीं रचना की माँग के अनुरूप अँग्रेजी के शब्द अपवादस्वरूप आ भी जाएँ तो उन्हें स्वीकार किया जा सकता है, किंतु इसे आदत के रूप में स्वीकार कर हिंदी की रचनाओं में बार-बार अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग मेरी दृष्टि में इस रचनाकार की सीमा है। अब मार्जिन शब्द को ही लीजिए। मार्जिन के लिए हिंदी में कई शब्द प्रचलित हैं, उनमें से किसी हिंदी-उर्दू के शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के मार्जिन से अधिक उपयुक्त होता। मेरी राय में भाषा के इस पाश पर लेखक को अत्यधिक सजगता की आवश्यकता है। दृष्टि के क्षेत्र में लेखक काफी हद तक दक्ष है। इसके साथ-साथ आप संग्रह की रचनाओं के शीर्षकों में भी इस तरह की दिक्कतें देख सकते हैं—यूनियन कार्बाइड के प्रेत, ह्यूमन बॉडी गैरेज के उस्ताद, सही डोनर की तलाश में, निलंबन का सेलिब्रेशन, लोकल पटिए, ग्लोबल पटिए, एनिमल स्पिरिट, सुप्रीमोकेसी के दौर में, जमाना लार्चिंग का है, गाय, सुअर और सोशल मीडिया, कविता का टूरिंग टॉकज, नए रैपर में सत्ता और साबुन, मेड इन आश्रम, स्वीट ब्रोकननोज, राहगीरी ऑन रॉक्स, इन्सोल्वेंसी की आस में, माय डैडी स्पेशल, शोकेस में मछलियाँ, लांड्रियाँ कैसी कैसी, इडेन गार्डन से मैरिज गार्डन तक, द लक्की डॉग आदि-आदि। बहरहाल! भाषा के इस रूप को हम लेखक की शक्ति और सीमा के तहत रखकर विस्तार से अध्ययन-विश्लेषण कर सकते हैं। रही लेखकीय दृष्टि की बात तो दृष्टि के कोण से लेखक निश्चित रूप से बहुत प्रभावित करते हैं। एक रचना का उल्लेख तो महज एक बानगी है। इस संग्रह में अनेक ऐसी रचनाएँ हैं, जिन्हें पढ़ते हुए पाठकों को अपने आसपास का परिवेश याद आएगा। उन्हें यह भी समझ में आएगा कि उनका यह देखा-भोग परिवेश ही तो है जो दृष्टि के अभाव में पहले उनकी चेतना में नहीं बैठ सका था, अब रचनाकार के कला-कौशल द्वारा उसे भली-भाँति समझने की सामर्थ्य हासिल हो चुकी है। मुझे उम्मीद है कि शांतिलाल जैन का यह संग्रह अपनी भाषा और कथ्य के बल पर पाठकों द्वारा स्वीकारा और सराहा जाएगा। लेखक को उनकी रचनात्मक सक्रियता के लिए मैं अनेकशः साधुवाद देता हूँ।

पुस्तक : मार्जिन में पिटता आदमी, लेखक: शांतिलाल जैन; प्रकाशक : प्रकाशन, दिल्ली 110092, संस्करण : 2017; मूल्य: 300.00, पृष्ठ : 208

चालाकियों के दौर में 'बुद्धिमान की मूर्खता'

डॉ० रमेश तिवारी

हमारा समय चालाकियों भरा है। इस दौर में हर व्यक्ति स्वयं को अधिक चालक समझता और साबित करने की कोशिश करता है। सब अपनी-अपनी चालाकियों की प्रदर्शनी लगाए बैठे हैं। सवाल यह उठता है कि आखिर ये तमाम चालाकियाँ हैं किसके हित में? ज्यादातर देखने में तो यही आता है कि प्रायः सभी प्रकार की चालाकियाँ व्यक्ति स्वयं को केंद्र में रखते हुए सबसे पहले अपने फायदे के लिए ही करता है। ये स्वार्थपरक चालाकियाँ समाज के विकास में साधक न होकर बाधक की भूमिका अदा करती हैं। इस धतकर्म में बुद्धिमानों की भरमार है। ऐसे ही बुद्धिजीवी समाज के प्रतिनिधियों की कलाई खोलता एक संग्रह है—बुद्धिमान की मूर्खता। वीरेंद्र सरल द्वारा

रचित इस संग्रह को अमन प्रकाशन कानपुर ने प्रकाशित किया है।

वीरेंद्र सरल छत्तीसगढ़ के ऐसे महत्वपूर्ण व्यंग्यकारों में गिने जाते हैं जो शहरों की चकाचौंध व प्रदर्शनप्रियता की प्रवृत्ति से दूर शब्द-साधना करते हुए व्यंग्य को निरंतर समृद्ध करने की दिशा में सक्रिय हैं। इस संग्रह से पूर्व इनके कई अन्य व्यंग्य-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें प्रमुख हैं—कार्यालय तेरी अकथ कहानी, स्वार्थ के वायरस इत्यादि। पेशे से अध्यापक वीरेंद्र सरल की रचनाएँ हमें कहीं-कहीं बहुत गहरे भावजगत में खींच ले जाती हैं। यदि इस संग्रह की बात करें तो कई रचनायें निस दृष्टि से पठनीय व महत्वपूर्ण हैं। आरंभ की कई ऐसी रचनाएँ हैं, जिनमें अत्यंत सूक्ष्म और गहरे व्यंग्य किए गए हैं। संग्रह की पहली ही रचना 'स्मार्ट मरीज' की बात करें तो हम पाएँगे कि इस रचना में सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में नित नई योजनाओं को लागू किए जाने से उत्पन्न होनेवाली विसंगतियों को केंद्र में रखकर प्रहार किया गया है। सरकारी कर्मचारी की लापरवाही के कारण आधार कार्ड व अन्य कागजातों में नाम दर्ज करने में हुई गलती की सजा गाँव का गरीब व्यक्ति भुगतने को मजबूर है।

लेखक अपनी रचनाओं के विषय का चयन दैनंदिन जीवनानुभवों से ही करता दिखाई देता है। कागजातों की अनिवार्यता का चलन कुछ ऐसा बढ़ा है कि 'बाबूलाल का जीव' रचना में चित्रगुप्त का दरबान मृतक से आधार कार्ड और मृत्यु प्रमाण पत्र की माँग कर बैठा है। अब ये एक अलग तरह की विसंगति है। जब तक जीवित रहे, जीवित होने का प्रमाण दिखाते रहे और मरने के बाद मृत्यु प्रमाण माँगा जा रहा है। साथ में आधार कार्ड भी जरूरी है। कागजातों की हकीकत यह है कि चरित्र प्रमाण पत्र देखकर 'डाकू को चरित्रवान समझते हैं और भ्रष्ट, दागी, अपराधी को भी जनसेवक।' (इसी संग्रह से, पृष्ठ 24)

मर्त्यलोक में सिफारिश से ही प्रायः काम होते हैं। चित्रगुप्त का दरबान तो सिफारिश भी नहीं सुनता। 'काश! भैया जी भी साथ में मरे होते तो मरने के बाद ऐसी मुसीबतों का सामना करना नहीं पड़ता।' (वही, पृष्ठ 25) असल में जब साम-दाम-दंड-भेद काम नहीं करता तो शोर-शराबे और चीख-चिल्लाकर भी कई बार इहलोक में काम निकाला जाता है। यही तिकड़म बाबूलाल का जीव चित्रगुप्त के दरबार में लगा देता है। तिकड़म काम कर जाता है। "शोर-शराबा सुनकर कार्यालय से एक कर्मचारी निकल आया और हालात का जायजा लेने लगा। बात समझ में आते ही उन्होंने दरबान से कहा—'भाई, बस, बहुत हो गया। मृत्यु सूची में इसका नाम है, इसलिए इसे अन्दर आने दो। यहाँ आनेवाले जीव को पहले परिचय पत्र दिखाने के लिए बाध्य करो। यदि वह किसी भी प्रकार का परिचय पत्र दिखाने में असमर्थ है तो भी मृत्युसूची में उसका नाम देखकर उसे अंदर प्रवेश करने दो। यही प्रवेश आयोग का नियम है।' (वही, पृष्ठ 25) यानि जीवित रहते जिन नियमों ने जीना दुश्वार किया मरने के बाद भी उन नियमों से मुक्ति मिलती दिखाई नहीं दे रही।

वीरेंद्र सरल गंभीर व्यंग्यकारों में गिने जाते हैं। व्यंग्य-लेखन करते हुए इन्हें लगभग दो दशक बीत चुके हैं। लेखन में गंभीरता और निरंतरता इनके सक्रिय लेखन और कर्मठता का प्रमाण है। इनकी रचनाओं का शिल्प-विधान और अधिक प्रयोगों की गुंजाइश रखता है। अभी तक हम देखते हैं कि व्यंग्य-कथाओं के शिल्प का प्रयोग ही लेखक ने अधिकारपूर्वक किया है। कदाचित यही लेखक की ताकत है और यही सीमा भी। अपनी रचनाओं में शिल्प के स्तर पर सरल जी को और भी प्रयोग करने की सतत आवश्यकता है। शिल्पगत प्रयोगों के सहारे लेखक अपनी भाषा-शैली

संबंधी लेखकीय सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है। मेरी राय में एक रचनाकार को बहुत अधिक टाइप होने की जरूरत नहीं होती। टाइप होने से रचना की सहजता जाती रहती है। व्यंग्यकार को अपने सरोकारों में सुस्पष्ट और शिल्प में विविधायामी और प्रयोगधर्मी होना चाहिए। जैसे लेखक विषय चयन में जीवन के विविध स्तरों से मूलभूत सामग्री हासिल करता है वैसे ही शिल्प के स्तर पर भी उसे नित नए-नए प्रयोगों के साथ कुछ नया करने की दिशा में अग्रसर रहना चाहिए। इन प्रयोगों से लेखकीय कौशल में निरंतर निखार हासिल किया जा सकता है।

हमारे समय की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि आजकल उल्टी गंगा बहाने का रिवाज चल पड़ा है। इसी के मद्देनजर एक रचना इस संग्रह में भी संकलित है। शीर्षक है—‘अजीब दास्ताँ है यह’। झंझटलाल इसलिए दुखी हैं कि उनका बेटा कक्षा में उत्तीर्ण हो गया है। अनुत्तीर्ण होने के लिए बेटे ने अनथक प्रयास किया पर होनी को कौन टाल सकता है? झंझटलाल मास्टरजी से अपना दुखड़ा साझा करते हैं—‘मेरे बच्चे ने तो फेल होने के लिए अथक प्रयास किया। साल भर क्लास बंद करके मोबाइल में व्यस्त रहा। किताब-कापी पढ़ना तो दूर, पलटकर देखा तक नहीं। होमवर्क, क्लासवर्क की चिड़िया का नाम है, यह जानने की कोशिश तक नहीं की। विद्यालय का अनुशासन मानने से साफ इंकार कर दिया।...कई बार अपने सहपाठियों से मारपीट कर आपसे बदतमीजी करने का साहस तक दिखाया। आदमी फेल होने के लिए और क्या कर सकता है?’ (वही, पृष्ठ 83) इस दौर में बच्चे का उत्तीर्ण होना उसकी फूटी किस्मत का प्रमाण समझ आ रहा है झंझटलाल जी को। हमारे समय की एक विसंगति यह भी है जिसे लेखक ने व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस दौर के लिए तरक्की का सूत्र भी निर्धारित कर दिया गया है। वह सूत्र है—करहो कुछ, और करो कुछ। इस सूत्र को प्राप्त कर झंझटलाल मुस्कुराए बिना नाही रह पाते। लेखक प्रायः प्रसंग और संवादों के द्वारा व्यंग्य-प्रहार करता चलता है।

ज्ञानी जी के ज्ञान का सार यह है कि ‘जीवन और जगत की जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए वे सबसे पहले प्रवचन-पद्धति का प्रयोग करते हैं। उनसे गरीबी, भुखमरी, महंगाई, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोटी की बात करो तो वे पारलौकिक दुनिया पर झन्नाटेदार प्रवचन झाड़ देते हैं।’ (वही, पृष्ठ 65)

हमारे समय की विडंबना यह है कि आज धर्म और अध्यात्म के नाम पर विवेकहीन प्रचार-प्रसार समाज की विवेकशीलता को जाग्रत होने ही नहीं देता। इस प्रकार की अनेक विसंगतियों की पहचान लेखक अपनी रचनाओं में करता है और उनकी परख कर उन्मूलन के उद्देश्य से उन पर व्यंग्य-प्रहार भी करते चलता है। वीरेंद्र सरल के व्यंग्य की सार्थकता यही है।

इस संग्रह के फ्लैप पर प्रख्यात व्यंग्यकार और हिंदी व्यंग्य का इतिहास के लेखक सुभाष चंद्र जी की टिप्पणी को भी प्रमुखता दी गयी है। सुभाष जी का मानना है कि ‘इस संग्रह में भी उन्होंने फंतासी के बेहतर प्रयोग, सरोकारों से गहरा जुड़ाव, विसंगति की तह में जाकर उनका विश्लेषण, प्रसंगवक्रता के यथेष्ट निर्वाह और शैलीय उपकरणों की सही जगह पर तैनाती के कारण संग्रह को महत्ता प्रदान की है।’ (वही) संग्रह की भूमिका वरिष्ठ व्यंग्यकार सुरेश कान्त ने लिखी है। हरीश नवल जी की भी एक टिप्पणी किताब में मौजूद है। मेरा मानना है कि कोई भी संग्रह फ्लैप मैटर, या इस प्रकार की टिप्पणियों के कारण चर्चित नहीं होता बल्कि उनकी चर्चा अथवा प्रासंगिकता उसमें संकलित रचनाओं की गुणवत्ता से निर्धारित होता है। हमें अपनी रचनाधर्मिता के

बल पर ही अपनी अच्छी-बुरी जो भी उचित हो वह पहचान बनाने की जरूरत है। किराए के पंख से हम कब तक और कितना उड़ान भर सकते हैं ? हमें अपने लेखन पर भरोसा कर स्वयं के बल पर ही लेखन के अखाड़े में उतरने और स्वयं के लेखन के प्रति भी आत्मनिर्ममता से आकलन-मूल्यांकन वाली दृष्टियों का स्वागत करने की जरूरत है। इस संग्रह के लिए व्यंग्यकार वीरेंद्र सरल को अनेक साधुवाद। उम्मीद है कि भविष्य में उनकी लेखनी से निकले और भी बेहतरीन व्यंग्य हमें पढ़ने को मिलेंगे।

पुस्तक : बुद्धिमान की मूर्खता; लेखक : वीरेंद्र सरल, प्रकाशक : अमन प्रकाशन, कानपुर, उ.प्र.; संस्करण : 2018, पृष्ठ : 128, मूल्य : 160.00

अपने समय-समाज के अंधकार के बरक्स राह दिखाती 'सोच की चिंगारियाँ'

डॉ० रमेश तिवारी

ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, अंधकार-प्रकाश, सत्य-मिथ्या, भला-बुरा आदि का संघर्ष समाज में अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्यता और शिक्षा को हासिल करता गया है वैसे-वैसे उसके सोचने-समझने और देखने की दृष्टि परिपक्व होती गयी है। हम सब अपने-अपने युग-परिवेश की विसंगतियों से मन-वचन और कर्म के स्तर पर संघर्षरत रहते हैं। ऐसे जीवन-संघर्षों में अक्सर हम दोराहे-तिराहे-चौराहे पर खड़े नजर आते हैं। ऐसे समय में निर्णय को लेकर अक्सर बड़ी दुविधा की स्थिति होती है। किधर जाएँ, कहाँ जाएँ? ऐसे क्षणों में हमारा विवेक ही एक गुरु के रूप में सदैव हमारा मार्गदर्शक होता है। 'सोच की चिंगारियाँ' शीर्षक मुक्तक-संग्रह जीवन के ऐसे ही क्षणों की रचनात्मक प्रस्तुति है। कहने को तो यह किताब स्वतंत्र मुक्तकों का संग्रह है किंतु सच यही है कि इन मुक्तकों का हमारे-आपके जीवन से गहरा संबंध हो सकता है, और सर्जक के जीवन से बड़ा गहरा संबंध तो है ही। ये मुक्तक जीवन की उन अग्निपरीक्षाओं की याद दिलाते हैं जिनसे गुजरकर सर्जक का व्यक्तित्व कुंदन की तरह और अधिक निखार पा सका है।

जीवन तो हम सब जी रहे हैं, किंतु क्या हमारा जीवन एक आदर्श जीवन कहा जा सकता है? यदि आदर्श जीवन है तो उसकी विशेषता और पहचान क्या है? और यदि आदर्श जीवन नहीं है तो उसकी पहचान और कमियाँ क्या हैं जिनकी वजह से हमारा जीवन आदर्श की श्रेणी में नहीं सम्मिलित हो सका है? आखिर हमारा जीवन, चिंतन, कर्म केसा है? और ये सब कैसा होना चाहिए? इस संग्रह को पढ़ते हुए ये कुछ सवाल हैं जिनसे गुजरने की हुक-सी उठती है। यह संग्रह हमें ऐसे सवालों से दो-दो हाथ करने के लिए प्रेरित करता है। यह संग्रह मात्र आदर्शवादी मुक्तकों का संकलन नहीं है। बल्कि जीवन-समर में जूझते हुए एक योद्धा का एकालाप है। एक ऐसा एकालाप, जिसकी बुनियाद में भारतीय संस्कृति का एक मन्त्र छिपा है जिसे हम सबने श्रीमद्भगवद्गीता में पढ़ा है ख न दैन्यं न पलायनम्। जीवन की प्रतिकूलताओं के बावजूद पराजय को स्वीकार न कर निरंतर युद्ध हेतु तत्पर एक योद्धा के रूप में कवि दिखाई पड़ता है। जीवन की चंद घटनाएँ और उस दौरान लिए गए निर्णय ही किसी व्यक्ति को साधारण से असाधारण की श्रेणी में पहुँचाती हैं। इस

संग्रह की भूमिका में डॉ॰ शेरजंग गर्ग लिखते हैं—‘चमनलाल ने आदर्शों का बंदी जीवन बड़ी आजादी से जिया और इसी आजादी के तहत उन्होंने अपने दिल पर भरपूर जुल्म भी किया। शायद यही चमनलाल के जीवन की स्वीकारोक्ति है, जिस पर चमनलाल के अलावा उनके दोस्तों और प्रशंसकों को गर्व है।...ये रचनाएँ चमनलाल के समर्पित जीवन का दस्तावेज हैं।’

10 सितंबर 1938 को एबटाबाद (वर्तमान पाकिस्तान में स्थित) में जन्मे चमनलाल की शिक्षा-दीक्षा देहरादून में हुई, तीन साल वहाँ के स्नातकोत्तर महाविद्यालय में अध्यापन किया। जून 1964 में आईपीएस अधिकारी बने और भारत के कई प्रदेशों में चुनौतीपूर्ण पदों पर रहते हुए सितंबर 1996 में सेवानिवृत्त हुए। फिलहाल गुरुग्राम में रह रहे हैं। इस संग्रह को पढ़ते हुए मैंने जाना कि चमनलाल जी की तीन-चार विशेषताएँ ऐसी हैं, जो इन्हें भीड़ से अलग और विशिष्ट पहचान देती हैं। ये विशेषताएँ हैं ख्र सादगी, ईमानदारी, दृढ़ता और अंतर्मुखी व्यक्तित्व। इन विशेषताओं के बल पर चमनलाल ने अपना अब तक का पूरा जीवन जीया है। इनका अंतर्मुखी व्यक्तित्व इन्हें वाचालता से बचाता है। व्यक्तित्व को गंभीरता प्रदान करता है। संग्रह के आरंभ में जरूरी बात शीर्षक से कवि ने पाठकों के समक्ष कुछ बातें साझा की हैं। ये लिखते हैं—‘मेरी कविता का रूप तथा परिमाण इतना सीमित है कि मुझे स्वयं को कवि कहने में भी संकोच होता है। मैंने केवल मुक्तक लिखे हैं और चंद नज्मे। इनकी कथावस्तु भी कोई गहरी दार्शनिक सोच से संबंधित नहीं है। दैनंदिन जीवनचर्या से जुड़े हुए कुछ संजीदा ख्याल, कुछ संजीदा सवाल भर हैं जिनसे इनकी कविताओं का जन्म होता है। ज्यादातर भाव टकराहट से जन्म लेते दिखाई देते हैं। ये भाव दिल को छूने और दिमाग में खलबली मचाने में समर्थ हैं। अपने इस संबोधन में आगे कवि लिखता है—‘इंडियन रेवेन्यू सर्विस में अपेक्षतया बेहतर पोजीशन होने के बावजूद भारतीय पुलिस सर्विस को अधिमानता देने का कारण मेरी यह सोच थी कि पुलिस को गुलामी के दौर से चली आ रही कमियों से मुक्त होकर, जनता की नजरों में अपनी छवि सुधारने की आवश्यकता है। पुलिस में सुधार का यही सपना लेकर मैंने भारतीय पुलिस सर्विस ज्वाइन की तथा सबसे चुनौतीपूर्ण क्षेत्र डकेतीग्रस्त कांडर का चयन किया।’ यह एक उत्साही युवक का आदर्वादी मन था जो अपने समाज के बदलाव की पटकथा लिखने को बेचौन था। परन्तु व्यवस्था में सम्मिलित होकर वहाँ का हिस्सा बनने के बाद कवि को अपनी अक्षमता का बहुत जल्दी ही बोध हो गया। वे लिखते हैं—शुरू के दो-तीन सालों में ही मुझे अपनी सोच की अपरिपक्वता और लक्ष्य की असंभावना का आभास हो गया। पुलिस की कमियों और बुराइयों की जड़ें बहुत गहरी हैं तथा उन्हें राजनीतिक शक्तियों का सतत संरक्षण प्राप्त है। उनमें कोई विशेष अर्थपूर्ण परिवर्तन लाने में मैंने स्वयं को असमर्थ पाया’ (पृष्ठ 12) पाठक इस स्थिति को समझ सकते हैं जब कोई उत्साही युवा पुलिस अधिकारी करना तो बहुत कुछ चाहता है किंतु उसे वह सब करने की छूट नहीं मिलती जो वह करना चाहता है तो एक अलग तरीके का संत्रास और लाचारगी का अनुभव होता है। इस बेबसी से जो तनाव जन्म लेता है वह अत्यंत स्वाभाविक होता है। हालाँकि इस संग्रह के रचयिता ने प्रतिकूलताओं के बावजूद हार नहीं स्वीकार की है। ‘मैदान छोड़े बिना वहाँ उन्हीं विषम परिस्थितियों में जमे रहकर अपनी क्षमता तथा जीवनमूल्यों के अनुरूप यथासंभव काम करते हुए 32 वर्ष बिता दिए। भीतर की छटपटाहट और वेदना को सकारात्मक दिशा देने में मुझे कविता ही एक प्रभावी उपाय लगी और मैंने उसी का सहारा थाम लिया।’ (वही, पृष्ठ 12) यानि व्यवस्था से हैरान-परेशान योद्धा के लिए कविता एक सच्चे हमसफर-हमदर्द के रूप

में मिली और इसी कारण से चमनलालजी ने अपने संघर्षों, तनावों, सफलताओं, असफलताओं को मुक्तकों के द्वारा प्रकट कर तनावमुक्त जीवन जीने में सफलता हासिल की। मुझे लगता है कि साहित्य का औचित्य और सार्थकता यही है।

इस संग्रह के रचयिता को जोखिम भरे कार्यों को अपने हाथ में लेना सदा पसंद रहा है। तभी वह लिखता है, 'कठिन जोखिमवाले कामों से मिलने वाली खुशी बेमिसाल होती है। दुरूह, दूरस्थ स्थानों पर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ सीमा-चौकियों में कुछ समय बिताकर खास तौर से नाईट हाल्ट लेकर अफसर और जवानों के बीच निर्मित होनेवाले एक मधुर किंतु अनुशासित रिश्ते का स्वाद मैंने उन्हीं दिनों जाना था। उस माहौल में अपने पुराने इश्क मुहब्बत के गम तुच्छ और फीके पड़ गए। दर्द-ए-तन्हा से मुक्ति पाकर दिल गम-ए-जमाना से जुड़ गया और जिंदगी ने एक ऐसा रंग और जायका इख्तियार कर लिया, जिसने जीना आसान और आनंदमयी बना दिया।' (पृष्ठ 12)

कुल मिलाकर यह संग्रह एक फाइटर की संघर्ष गाथा के कुछ लम्हों की अनमोल दास्तान है, जो जितनी ही पुरानी होती जाएगी उतनी ही महत्वपूर्ण और स्मरणीय होती जाएगी। यह पढ़ना हम सब के लिए प्रेरणास्पद है कि भारतीय पुलिस इतिहास में ऑपरेशन ब्लैक थंडर की सफलता इसी रचनाकार की देन है। जनसरोकारों के लिए अपने अधिकारी से मतभेदों को भी कभी छिपाने की जरूरत इन्हें महसूस नहीं हुई और जो भी रहा, जैसा भी रहा, सबकुछ खुल्लमखुल्ला और सबके सामने रहा। इसके बदले में सजा और इनाम दोनों को स्वीकारते भी रहे।

संग्रह के मुक्तकों को कालक्रमिक रूप से सँजोकर प्रस्तुत करना सुखद है। पहला ही मुक्तक जिंदगी की भीड़ में मौजूद एकाकी संघर्ष का संकेत करता है—

मौजें हैं, तूफाँ है, किनारा नहीं मिलता
मझधार में कश्ती है, सहारा नहीं मिलता
वो तो मिलते हैं जो आँखों में भर दें सागर
मगर जो आँसुओं को पोंछे, वो प्यारा नहीं मिलता

यह मुक्तक 1955 में रचा गया है। एकाकी संघर्ष, निराशा के बावजूद इनसे दो-दो हाथ करने की जिजीविषा कवि में बरकरार है। यह जिजीविषा उसे आजीवन समर्पण नहीं करने देती। 1966 में कवि लिखता है—

यह पूजा अकीदत (श्रद्धा) का मौका नहीं है
किसी से मुहब्बत का मौका नहीं है
भूखे औ' बेघर हैं लाखों वतन में
क्या अब भी बगावत का मौका नहीं है।

इन पंक्तियों को पढ़ते समय यह याद रखने जरूरी है कि कवि स्वयं एक पुलिस अधिकारी है और फिर भी उसके भीतर की मानवता उसे बगावत के लिए बेकरार कर रही है। कवि जनता की संवेदनाओं के साथ इतना एकमेक है कि इन परिस्थितियों को वह बगावत के लिए एक सुअवसर की तरह देख रहा है। यह सब कवि का स्वयं से संवाद है, एकालाप है। इसे आत्मप्रलाप अथवा विलाप समझना भूल होगी। कवि को अपने मार्ग के चयन का कभी अफसोस नहीं होता, क्योंकि उसका निर्णय सुचिंतित जमीन पर लिया गया है। अपने जीवन-संघर्षों के लिए रंचमात्र भी

अफसोस न होकर वह बारंबार ऐसे ही संघर्षमय जीवन की कामना करता है। ये दीवानगी भी बड़ी अजीब है। आज के समय में ऐसी दीवानगी को समझना और उसे व्याख्यायित-विश्लेषित करना बड़ा ही कठिन है। भावी जीवन की उत्कंठा देखिए—

हँसते-हँसते हर गम झेला, बिना किसी का लिए सहारा
हम फिर इसी तरह जिएंगे, अगर जिन्दगी मिली दुबारा
यार-दोस्तों से न बांटा, रहे छुपाते दुनिया भर से
बेशकीमती माल सरीखा हमने रक्खा दर्द तुम्हारा।

कवि को जब अतान्क्यस्त क्षेत्रों में काम करने की चुनौती मिली और उसने बड़े से बड़े आतंकवादी समूहों का सफाया करने में कोई संकोच और देरी नहीं की, बल्कि सफलता हासिल की। उस दौर का बयान मुक्तकों में कुछ यूँ किया गया है—

बागवाँ की बिजलियों से दुश्मनी होने लगी
अब तो मुश्किल इस चमन में जिंदगी होने लगी
सोचकर अंजाम कल का हर मुसाफिर काँपता है
रहबरों की रहजनों से दोस्ती होने लगी।

हालाँकि कवि के जीवन में अपने रास्ते पर चलते हुए एक वक्त ऐसा भी आता है जब सारे अपने भी पराये सा व्यवहार करने लगते हैं। इस बदलते व्यवहार से कवि अत्यंत व्यथित होता है। उसकी भावना इन पंक्तियों में पढ़ी जा सकती है—

वक्त बदलते देर न लगती, सारे रिश्ते मिट जाते हैं
तदबीरों बेबस हो जातीं, जब भी मुश्किल दिन आते हैं
एक जमाना वो भी था जब, हर महफिल को नाज था हम पर
आज हमारे साए तक से यार-दोस्त भी कतराते हैं।

कवि यूँ तो अन्तर्मुखी है किंतु जब, जो, जहाँ, जिसके सामने बोलना है, उसे बोलने में वह कभी संकोच नहीं करता। साफगोई उसके व्यक्तित्व का हिस्सा है—

जो भी हमको रास न आए, खुलकर कहने की आदत है
ताने हों या साफ मुजम्मत, सबकुछ सहने की आदत है
अब्र के साए अपने दिल को भी भाते हैं यारों लेकिन
हमको धूप की शिद्दत में भी चलते रहने की आदत है।

मेरा मानना है कि जो भी जिन्दगी से मुहब्बत करनेवाला होगा, मनुष्य और मनुष्यता से मुहब्बत करता होगा, स्वाभिमानि होगा, निश्चय ही इस संग्रह की ऐसी पंक्तियाँ कहीं-न-कहीं उसके जीवन संघर्षों के करीब होंगी और इन संघर्षों में उसे अपना संघर्ष भी कमोबेश दिखाई दे सकता है। 'उन्मुक्तता का रोमांस' के अंतर्गत प्रथम दृष्टया ऐसा लगता है कि प्यार-मोहब्बत की बातें होंगी किंतु एक पुलिसवाले के प्यार-मोहब्बत का अंदाज बिलकुल जुदा है।

हम जिंदगी की गर्दिशों से मात खा गए
खुशियाँ अजब सी शै लगीं, गम रास आ गए
साकी उन्हीं से बेरुखी का सलूक क्यों
जो सब जहान छोड़ के तेरे पास आ गए।

यहाँ मोहब्बत तो है लेकिन गमों से। ये तेवर भी कोई आम बात नहीं है, यह तेवर ही तो है जो कवि को साधारण से असाधारण श्रेणी की ओर ले जाता है। पाठकों को समझना होगा कि यह किसी साधारण व्यक्ति के जीवन का संघर्ष नहीं है बल्कि एक असाधारण पुलिस अधिकारी के जीवन का संघर्ष है। इस संग्रह में भी जगह-जगह पर इसके प्रमाण देखे-पढ़े जा सकते हैं :

किसी के सहारे जिए तो नहीं हैं
मुहब्बत के अहसां लिए तो नहीं हैं
कई और भी हैं मेहरबान दिल के
सभी गम तुम्हारे दिए तो नहीं हैं।

सारी जिंदगी लोग जिन सुविधाओं और विलासिताओं के पीछे रहते भागते हैं, आश्चर्यजनक ढंग से कवि उन तमाम कमजोरियों से स्वयं को ताउम्र मुक्त रखता है :

तेरे बगैर जीना कोई जुर्म तो नहीं है
चट्टान जैसा सीना कोई जुर्म तो नहीं है
क्यों झांकते हो मेरी आँखों की खुशियों में
आँसुओं को पीना कोई जुर्म तो नहीं है।

अपने आकार में छोटे-छोटे ये चार-चार पंक्तियों के मुक्तक देखने में भले छोटे लगते हों, अपने प्रभाव में बहुत मारक हैं। जीवन की तीखी धूप भरी राह में ये मुक्तक आरामदेह छांव का-सा अहसास कराते हैं। सफर में राही जब धूप में थक जाता है तो किसी छायादार पेड़ की तलाश में रहता है। ऐसे स्थल के मिलते ही वहाँ ठहरकर वह अपनी थकान दूर कर लेता है और पुनः अपने जीवनपथ पर अग्रसर हो जाता है। इस पुस्तक के मुक्तक भी कुछ इसी अंदाज में रचे गए हैं। मजे की बात यह है कि यह तेज धूप और जोखिम भरा मार्ग कवि ने स्वयं चुना है। और इस राह को चुनने का संतोष है न कि कोई अफसोस :

ऐसी मुश्किल राहें पकड़ीं, कोई अपने साथ न आया
सुख के सामाँ, प्यार के साए, कुछ भी दिल को रास न आया
आग उगलते हुए इरादे, इंद्रधनुष-से रंगीं सपने
वक्त के आगे ऐसे हारे, कुछ भी अपने हाथ न आया।

अंततः मुझे यह उम्मीद है कि 'सोच की चिंगारियाँ' के मुक्तक हम सब के जीवन के अंधकार को दूर कर हमें सन्मार्ग की ओर बढ़ते रहने को प्रेरित करेंगे। चमनलाल जी को इस अनूठी कृति के लिए हृदय की गहराइयों से अनेकानेक साधुवाद।

पुस्तक : **सोच की चिंगारियाँ**; कवि : चमनलाल; प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, उ.प्र.; संस्करण : 2017, मूल्य : 200.00; पृष्ठ : 102

समीक्षक : डॉ० रमेश तिवारी, 64-बी, फेस-2, डीडीए फ्लैट, कटवारिया सराय, नई दिल्ली 110016; ईमेल : vyangyarth@gmail.com

लघुकथा का वर्तमान परिदृश्य : एक दृष्टि

सुषमा गुप्ता

आज के दौर में लघुकथा एक महत्वपूर्ण विधा है। लघुकथा लेखन के साथ-साथ इसके चिन्तन-पक्ष पर भी विचार करना बहुत जरूरी है। इस दिशा में लघुकथा का वर्तमान परिदृश्य पुस्तक पढ़ने का अवसरमिला। 'लघुकथा : संचेतना एवं अभिव्यक्ति' में काम्बोज जी बताते हैं किस तरह मानवैतर पात्रों का समावेश लघुकथा को नया आयाम देता है, पर अगर इन पात्रों का निर्वाह ठीक से न किया जाए, तो रचना पाठकों के हृदय में स्थान नहीं बना पाती। ठीक ऐसे ही प्रतीकों एवं मिथकों का प्रयोग भी बहुत सोच समझकर किया जाना बेहद जरूरी है। लघुकथा में भाषा के महत्त्व पर प्रकाश डालता यह बेहद उपयोगी आलेख है।

'बहुआयामी जीवन को आकर देती लघुकथाएँ' आलेख में लघुकथा के शिखर सुकेश साहनी जी की लघुकथाओं पर आधारित है। उनकी एक से एक कालजयी रचनाओं का उदाहरण देकर उन्होंने लघुकथा में भाषा, शिल्प, शीर्षक सब के महत्त्व को उजागर किया है। शडरे हुए लोगश साहनी जी का यह लघुकथा-संग्रह है जो मेरे भी मनः के बहुत निकट है।

तीसरा आलेख जयशंकर प्रसाद की लघुकथाओं पर आधारित है। उनकी प्रतिनिधि लघुकथाओं की बहुत सुंदर विवेचना को केंद्र में रखकर लेखक ने लघुकथा की बहुत-सी बारीकियाँ समझाई हैं। प्रसाद जी की अधिकतर लघुकथाओं का ताना-बाना जहाँ सड़ी गली रूढ़ियों और राजनीति के गिरते स्तर को उजागरकर विरोध दर्शाता है वहीं लघुकथा में काव्यमयी भाषा का प्रयोग भी उन्होंने किया है। प्रसादजी के लेखन की अनगिनत खूबियों से रूबरू कराता यह उपयोगी आलेख है।

'लघुकथा और भाषिक प्रयोग' आलेख की एक-एक पंक्ति मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ती है 'भाषा सीमाओं में नहीं बँधती।' कितनी गहरी बात कही काम्बोज जी ने कि भाषा सीमाओं में नहीं बँधती और जो बँधती है, वह बदलते परिवेश में अपना अस्तित्व खो देती है। किसी भी समाज के विकास का आईना है भाषा। इसी आलेख की एक और पंक्ति देखिए, जो लघुकथा के संदर्भ में है- 'ष्पात्र, पात्र की मनःस्थिति, परिवेश, स्तर, परिस्थिति बहुत सारे ऐसे कारक हैं, जो भाषा के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।' हर नवोदित लघुकथाकार के लिए इस पंक्ति की महत्ता समझना बहुत आवश्यक है।

काम्बोज जी ने श्यामसुंदर अग्रवाल, चित्रा मुद्गल, सुभाष नीरव एवं सुकेश साहनी की लघुकथाओं के माध्यम से लघुकथा में भाषा-सौंदर्य के महत्त्व को बेहद असरदार तरीके से सामने रखा है। भाषा किसी भी रचना के प्राण है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

'बालमनोविज्ञान की कसौटी' राजस्थान के चुनिंदा लघुकथाकारों को में रख लिखा गया आलेख बेहद महत्वपूर्ण है, जो इस बात पर ध्यान खींचता है कि बच्चों से संबंधित लघुकथाएँ सिर्फ

कल्पना की उड़ान पर ही आधारित न हो, अपितु बाल मनोविज्ञान की जानकारी होना भी उनके सुख-दुख के पलों और समस्याओं को उजागर करने के लिए अत्यंत आवश्यक है अथवा वह रचना कभी प्रभावशाली नहीं बन पाएँगी।

‘इंटरनेट और लघुकथा’ बदलते परिवेश में इंटरनेट के माध्यम से लघुकथाओं और अन्य साहित्यिक सामग्री अब देश ही नहीं अपितु विदेशों में भी सहज पहुँच रही है। इस आलेख में लघुकथा डॉट कॉम सहित बहुत-सी वेब साइट्स और वेब पत्रिकाओं की जानकारी दी गई है। बहुत से लोगों का उल्लेख है, जिनको आप तक ये सामग्री सहजता से घर बैठे उपलब्ध कराने का श्रेय जाता है।

‘लघुकथा में समालोचना का भविष्य’ आलेख में बेबाकी से आज के परिवेश की कमियों को उधेड़ा गया है। जहाँ एक तरफ सतीशराज पुष्करणा, डॉ रूपदेव गुण, इरा वलेरिया शर्मा, कृष्णानंद कृष्ण एवं सुकेश साहनी जी के समीक्षक रूप में किए महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख है, वहीं दूसरी तरफ सिर्फ अपने कार्य से आत्ममुग्ध रहनेवालों पर गहरा कटाक्ष किया गया है; पर स्पष्ट दिखाई देता है कि लेखक का उद्देश्य किसी कटाक्ष का नहीं; अपितु समालोचना में गिरते स्तर की तरफ ध्यान आकर्षित करना है, ताकि भविष्य में अच्छी रचनाओं को ज्यादा से ज्यादा पाठकों तक पहुँचाया जा सके। ‘कथ्य की नवीनता एवं प्रस्तुति की सजगता की लघुकथाएँ’ आलेख साहित्य के स्थापित स्तंभ श्री बलराम जी के महत्वपूर्ण कार्यों पर एवं लघुकथा क्षेत्र में दिए गए उनके अभूतपूर्व योगदान पर प्रकाश डालता है। बलराम जी की लघुकथाएँ किसी भी नवोदित के लिए किसी इनसाइक्लोपीडिया से कम नहीं हैं।

‘शोषित नारियों की कथाएँ’ ये आलेख उन महत्वपूर्ण लघुकथाओं का समावेश है, जो नारी को देह-व्यापार या वैसी ही परिस्थितियों में धकेले जाने पर मन से आक्रोश या व्यथा बन कर फूटी हैं। इसी सन्दर्भ में सुकेश साहनी जी द्वारा संपादित मील का पत्थर सरीखी पुस्तक ‘देह व्यापार की लघुकथाएँ’ जैसे महत्वपूर्ण संग्रह का भी उल्लेख है।

‘साझा संस्कृति की तलाश करती लघुकथाएँ’ आलेख श्री बलरामजी एवं सुकेश साहनी के संपादन में आई पुस्तक ‘वह पवित्र नगर’ पर आधारित है। काम्बोज जी ने खलील जिब्रान और अन्य देश-विदेश के लघुकथाकारों की शामिल रचनाओं पर और रोशनी डालते हुए, हिंदी पाठकों को विश्वस्तर की इतनी लघुकथाएँ एक पुस्तक में उपलब्ध कराने के लिए दोनों संपादकों का आभार प्रकट किया है। अगले दो आलेख मुरलीधर वैष्णव जी के लघुकथा संग्रह शक्य तूणीरश और पवन शर्मा के शहम हैं जहाँ पर आधारित है। काम्बोज जी ने उन्हें अनुभवों से सृजित लघुकथाएँ कहा है और साथ ही समझाया है कि किसी भी घटना को ज्यों का त्यों लिख देना लघुकथा नहीं है। बल्कि शीर्षक, कथ्य, संवाद सबका निर्वाह पूरी कुशलता से होना चाहिए, जो मुरलीधर वैष्णव जी ने बखूबी किया है और पवन शर्मा जी ने भी एक वर्ग विशेष की आशा, आकांक्षाओं और व्यथा को गहराई से प्रस्तुत किया है।

‘प्रसंगवशः परिवेश के प्रति लेखकीय ईमानदारी’ आलेख सतीशराज पुष्करणा साहित्य में वह नाम है, जिसे किसी परिचय की जरूरत नहीं है। उन्हीं के दूसरे लघुकथा संग्रह की बहुत सुंदर समीक्षा पर आधारित है यह आलेख। ‘बीसवीं सदी की चर्चित हिंदी लघुकथाएँ’ पुस्तक का संपादन जगदीश कश्यप जी ने किया, जिसे काम्बोज जी ने शिवादाँ से घिरे लेखक का अविवादित संपादन

का शीर्षक देकर कश्यप जी के व्यक्तित्व और कुशल संपादन से हम पाठकों का परिचय कराया। सुरेश शर्मा के संपादन में आई 'बुजुर्ग जीवन की लघुकथाएँ' को काम्बोज जी ने 'दुःख की तपती जमीन पर' शीर्षक दिया है और उसकी निष्पक्ष समीक्षा की है।

'काँच के कमरे' लघुकथा-संग्रह है डॉ० गोपालबाबू शर्मा का, जिसे काम्बोज जी ने 'समाज की टीस को आकर देती लघुकथाएँ' शीर्षक दिया है। गोपालबाबू की बहुत-सी उत्कृष्ट लघुकथाओं के माध्यम से उन्होंने हम सबको उनके लेखन की ऊँचाइयों से रूबरू कराया है। ऐसा ही एक बेहतरीन लघुकथा संग्रह है सुदर्शन रत्नाकर जी का 'साँझा दर्द' है। काम्बोज जी ने इन लघुकथाओं को समाजबोध और मानवीय संवेदना की लघुकथाएँ कहा है। इस आलेख में उन्होंने रत्नाकर जी के साहित्यिक जीवन और विविध विषयों पर उनकी गहरी पकड़ को उनकी बेहतरीन लघुकथाओं के माध्यम से हमारे समक्ष बहुत सुंदर ढंग से रखा है।

अपने अगले आलेख में काम्बोज जी ने कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातों को उजागर किया है— जैसे लघुकथा में लेखकीय हस्तक्षेप से हर लघुकथाकार को बचना चाहिए। उन्होंने उदाहरणों से स्पष्ट किया कि सर्जन और लेखन दो विपरीत ध्रुव हैं। इसी आलेख में उन्होंने दीपक मशाल की बेहतरीन लघुकथाओं की विस्तृत समीक्षा करते हुए कहा है कि नई पीढ़ी के होने के बावजूद दीपक जी के काम में विविधता एवं विशिष्टता दोनों हैं। वे आज के दौर के संभावनाओं से भरे बेहतरीन लघुकथाकार हैं। 2014 में आया पवित्रा अग्रवाल का लघुकथा संग्रह 'आँगन से राजपथ तक' को केंद्र में रखकर काम्बोज जी ने अपने इस आलेख में लघुकथा-सर्जन की बारीकियों पर ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने कहा कि लघुकथा में बेहद महत्वपूर्ण है कथ्य का चयन, अभिव्यक्ति की कलात्मकता एवं उपयुक्त शीर्षक। उन्होंने उदाहरण देकर बताया किस तरह सर्वश्री रमेश बतरा, सुकेश साहनी, सुभाष नीरव, श्यामसुंदर अग्रवाल ने अपनी लघुकथाओं को विशिष्ट शीर्षक देकर नए आयाम दिए। आलेख के अंत में काम्बोज जी पवित्रा जी की लघुकथाओं को आम आदमी के जीवन से जुड़ी उत्कृष्ट लघुकथाएँ कहा है।

अगले दो आलेख कमल चोपड़ा जी के लघुकथा संग्रह 'फंगस' और डॉ० उपेन्द्रप्रसाद राय के लघुकथा-संग्रह 'तुलसी चौरे पर नागफणी' पर आधारित हैं। कमल जी की लघुकथाओं को उन्होंने 'शोषितों की लघुकथाएँ' कहा है। वहीं डॉ० राय के संग्रह को समाज, धर्म, शिक्षा, राजनीति व्यवस्था आदि पर लिखा गया एवं बेहद सजग एवं विशिष्ट लघुकथा संग्रह माना है।

पुस्तक बहुत से आयाम पार करती हुई अब अपने अंत में सार्थक लघुकथाओं के जरिए बहुत से वरिष्ठ लघुकथाकारों के काम को सराहती हुई, उल्लेख करती है एक ऐसे ही विशिष्ट लघुकथाकार बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु' जी का, जिनका लेखनकाल दो अंतराल में बँटा तो जरूर है, पर उससे उनके लेखन पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा। उनका लघुकथा संग्रह 'गुरु-ज्ञान' पठनीय संग्रह है। हर लघुकथा प्रेमी के लिए 'लघुकथा का वर्तमान परिदृश्य' बेहद उपयोगी पुस्तक है।

लघुकथा का वर्तमान परिदृश्य, लेखक रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', प्रकाशक : अयन प्रकाशन, 1/20 महरौली, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण, 2018, मूल्य : 280.00; पृष्ठ: 136;
समीक्षक : सुषमा गुप्ता, 327, सेक्टर 161, फरीदाबाद 121002 (हरियाणा) मो० 9899916431

साहित्य एवं शोध: निकष पर

डॉ० कृष्णागोपाल मिश्र

‘साहित्य एवं शोध’ प्रख्यात साहित्य-चिंतक डॉ० आदित्य प्रचंडिया की सा. : प्रकाशित निबंधात्मक गा. -कृति है। इस ग्रंथ में डॉ० प्रचंडिया द्वारा समय-समय पर लिखित एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनतालीस आलेख संकलित हैं। विभिन्न विषयों पर लिखे गए इन शोध-समीक्षात्मक निबंधों में लेखक के गंभीर अध्ययन और अनुसंधान-सामर्थ्य की प्रतीति सर्वत्र सुलभ है।

डॉ० आदित्य प्रचंडिया वरिष्ठ समीक्षक और शोध निर्देशक हैं। प्राध्यापकीय जीवन में प्राचीन काव्य, भक्ति-काव्य, आधुनिककाव्य, कथासाहित्य, नाटक आदि विधाओं का अध्ययन-अध्यापन करते हुए उन्होंने साहित्य की शोधपरक अंतर्गता संपन्न की है और उस पर मौलिक चिंतन कर तथ्यपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए समीक्षात्मक-निबंधों को गवेषणात्मक गरिमा से समृद्ध किया है। डॉ० प्रचंडिया जैनसाहित्य के मर्मज्ञ-अधिकारी विद्वान हैं। इसलिए इस ग्रंथ के अनेक निबंध जैनग्रंथों और रचनाकारों से भी परिचित कराते हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण सम्मानों और पुरस्कारों से अलंकृत प्रोफेसर प्रचंडिया की दो दर्जन से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हैं, किंतु उनमें यह ग्रंथ विशिष्ट है, क्योंकि इसमें डॉ० प्रचंडिया की भावयित्री एवं कारयित्री-दोनों प्रतिभाएँ इस निबंध-संग्रह में अभिव्यक्त हुई हैं।

समीक्ष्य ग्रंथ की विषयवस्तु और उसके प्रस्तुतिगत प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए डॉ० प्रचंडिया ने लिखा है—‘इन आलेखों में शुरू से अंत तक यही प्रयास रहा कि दर्शन, समाज, साहित्य और शोध के आपसी रिश्तों को सहज और स्पष्ट भाषा में प्रस्तुत किया जाए। ये आलेख साहित्य और समाज के बीच के प्रगाढ़ रिश्तों को उजागर करते हैं। इनकी रचना साहित्य को जिंदगी के बुनियादी तथा अहम सरोकारों से जोड़ती है और आज की व्यवस्था के भीतर पिसनेवाले सामान्य व्यक्ति की नियति की सही व्याख्या करती है। ‘साहित्य और शोध’ में मैंने अपने आलेखों को एक विशिष्ट क्रम में व अन्विति सूत्र में साहित्य, समीक्षा और शोध तत्त्व में रुचिशील पाठकों के विचारार्थ सँजोकर रखने का प्रयत्न किया है।’ (फ्लैप दो) डॉ० प्रचंडिया के इस कथन की पुष्टि समीक्ष्य निबंधों के अनुशीलन से भी होती है।

समीक्ष्य-संकलन के प्रथम तीन निबंध ‘पुष्टिमार्ग और सूरदास’, ‘सूर के काव्य में वात्सल्य की व्यंजना’, ‘सूर की भाषा’ सूरदास पर केंद्रित हैं और सूर-साहित्य के त्रिआयाम-भक्तिभावना, वात्सल्यवर्णन एवं कलापक्षीय वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं। चतुर्थ निबंध ‘मीरा के काव्य में नवधाभक्तिभाव’ भक्तिमयी मीरा की भक्तिभावना को नए ढंग से व्याख्यायित करता है। समीक्षकों ने मीरा की भक्ति को प्रायः माधुर्यभाव तक सीमित करके विवेचित किया है और

उनकी कांतासक्ति-गर्भित दांपत्य प्रेमभावना की पुनः पुनः पुष्टि की है। डॉ० आदित्य प्रचंडिया इन स्थापित मान्यताओं के समानांतर 'श्रीमद्भागवत्' प्रवर्तित नवधाभक्ति की सोदाहरण प्रस्तुति मीरा-काव्य में निरूपित कर मीरा की भक्तिभावना का नूतन-पथ अन्वेषित करते हैं। कृष्ण भक्तिकाव्य पर केंद्रित इन शोध-समीक्षात्मक निबंधों में डॉ० प्रचंडिया का मौलिक-विचारक रूप स्पष्ट होता है। इस संकलन में भक्तिकाल से संबंधित एक अन्य निबंध 'कंबन और तुलसी के नारी पात्रों की तुलना' उनकी रामभक्ति काव्य में रुचि का परिचायक है। रीतिकाव्य पर इस संकलन में केवल एक ही आलेख मिलता है। 'द्विजदेव और उनकी कविता' शीर्षक से प्रस्तुत यह आलेख अल्पख्यात कवि द्विजदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व का तथ्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। 'शिवसिंह सरोज', मिश्रबंधु विनोद', तारीखे अजोध्या', अयोध्या का इतिहास', 'गजेटियर आफ् फैजाबाद' आदि इतिहास एवं साहित्येतिहास ग्रंथों का गंभीर अनुशीलन करके इस निबंध में द्विजदेव से संबंधित दुर्लभ जानकारियाँ जुटाई गई हैं।

जैनसाहित्य और धर्म-दर्शन में गहरी रुचि डॉ० आदित्य प्रचंडिया को विरासत में मिली है। समीक्ष्य संग्रह के दो आलेख—'महाकवि बनारसीदास की रसविषयक अवधारणा' और 'कवयित्री चंपाबाई : जीवन और साहित्य' जैन रचनाकारों के अवदान को प्रकाशित करते हैं। 'महाकवि बनारसीदास की रसविषयक अवधारणा' रसचिंतन की भारतीय-परंपरा में जैन काव्यशास्त्र का वैशिष्ट्य निरूपित करता है। संस्कृत और हिंदी के आचार्यों ने रससिद्धांत के संदर्भ में जो निष्कर्ष दिए हैं, उनसे साम्य-वैषम्य दर्शाते हुए बनारसीदास की रसविषयक मान्यताओं का यह तुलनात्मक अध्ययन आलेख काव्यशास्त्रीय संदर्भों में शोध-अनुशीलन का नया विषय प्रस्तुत करता है। यही स्थिति कवयित्री चंपाबाई पर केंद्रित आलेख की भी है। इसप्रकार ये दोनों निबंध हिंदी के शोधार्थियों के समक्ष दो नए शोध-विषय अनुसंधानार्थ प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक हिंदीकाव्य पर अनेक निबंध इस संकलन में संकलित किए गए हैं। 'भारतेंदु की काव्यधारा का पुनर्मूल्यांकन', 'प्रसाद का 'आँसू': अद्भुत पीड़ा का काव्य', 'राम की शक्तिपूजा : निरूपमेय काव्य-निदर्शन', 'भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि : रामधारीसिंह 'दिनकर', 'दिनकर की ओजस्वी वाणी की झंकार : 'हुंकार', 'अज्ञेय का रचनाशिल्प', 'मानवीय काव्यदृष्टि के नियामक नागार्जुन', 'कविश्री जानकी वल्लभ शास्त्री और उनकी कविता में मानवतावाद', 'मैं एक फेरीवाला' के संदर्भ में राही कविता', दुष्यंतकुमार की कविता : आम आदमी के दर्द की कविता', 'डॉ० महेंद्रसागर प्रचंडिया की गीत-सृष्टि', 'कविश्री मलखानसिंह सिसौदिया की कविता के तेवर', 'डॉ० ओमप्रकाश भाटिया 'अराज' की कविता', 'महेंद्र भटनागर की बालकविता', 'कुसुम अंसल की कविता : मूल्य और मूल्यांकन', 'कमला खरे की कविता-यात्रा', 'नवगीत परंपरा और नवगीतकार शचींद्र भटनागर' और 'समसामयिक प्रतिक्रिया का प्रामाणिक अभिलेख : महलों में कैद रोशनी' आधुनिक हिंदी-कविता की सुदीर्घ विकास-यात्रा में व्याप्त वैविध्य एवं उपलब्धियों के साक्ष्य निबंध हैं। इन आलेखों में भारतेंदु से लेकर अब तक के अनेक प्रख्यात, अल्पख्यात और असमीक्षित नए रचनाकारों के अवदान को रेखांकित किया गया है। हिंदी कविता की प्रगति उसकी स्थिति और भावी दिशाओं को रेखांकित करते हुए ये निबंध कविता, गीत, नवगीत, गजल आदि काव्य-विधाओं की उपलब्धियों के भी साक्षी हैं।

डॉ० आदित्य प्रचंडित की समीक्षा-दृष्टि केवल काव्य-विधाओं के अनुशीलन-समीक्षण तक

ही सीमित नहीं है। उन्होंने कथासाहित्य को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया है। 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों में निरूपित जीवन-दर्शन', 'जैनेंद्र का 'दशार्क : एक दार्शनिक प्रयोग', 'युगबोध के बीचधार स्त्री चेतना का सरगम', 'भारतीय संस्कृति का कथात्मक जीवंत अभिलेख : अक्षयवट', 'प्रसाद की कहानियाँ। एक समीक्षात्मक अध्ययन', 'सामाजिक परिदृश्य और कथास्रष्टा प्रेमचंद' और 'नई कहानी की बृहत्त्रयी का तीसरा आदमी कमलेश्वर' में डॉ. प्रचंडिया का कथा-समीक्षक का कृतित्व स्पष्ट होता है। प्रसाद और प्रेमचंद की कहानियों से लेकर राहुल सांकृत्यायन एवं जैनेन्द्र जैसे महान उपन्यासकारों के कृतित्व पर केंद्रित ये समीक्षात्मक निबंध कथासाहित्य के नये-पुराने प्रतिमानों और प्रवृत्तियों से परिचित कराते हैं।

समीक्ष्य-संग्रह के कतिपय निबंधों में प्रतिष्ठित साहित्यकारों के समर्पित अवदान को भी रेखांकित किया गया है। 'भाषा, समाज और डॉ. रामविलास शर्मा', 'इस शहर में सपने बिकते हैं : सहृदय व्यक्तित्व की सामाजिकता' तथा 'प्रज्ञ-प्रतिष्ठा का अभिलेख अभिधान' ऐसे ही महत्त्वपूर्ण आलेख हैं, जिनमें क्रमशः डॉ. रामविलास शर्मा, साहित्यकार शानी और बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार एवं संपादक डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल के कृतित्व का कृतज्ञतापूर्ण स्मरण है। 'भवानीप्रसाद मिश्र का ग। लेखन' शीर्षक आलेख उनकी प्रतिष्ठित कवि-छवि से भिन्न नितांत नवीन ग। -लेखक की मुद्रा अंकित करता है। 'डॉ. छोदी साह के ग्रंथत्रय' में डॉ. प्रचंडिया ने डॉ. छोदी साह के ग्रंथ प्रगतिवादी कविता और भारतीय संदर्भ, नागार्जुन की कविता : मूल्यांकन और परिव्याप्ति तथा हिंदी साहित्य : सृजन और चिंतन' पर समीक्षात्मक दृष्टि दी है। संकलन का एक आलेख 'हिंदी पत्रकारिता: सम और सदृष्टि' पत्रकारिता की उपलब्धियों एवं कमियों पर निष्पक्ष विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार समीक्ष्य-संग्रह के समीक्षात्मक निबंध आलेखों की विषयवस्तु न केवल वैविध्यपूर्ण है, अपितु साहित्य के कालगत एवं विधागत विस्तार को भी रेखांकित करती है।

उपर्युक्त शीर्षकों में प्रस्तुत निबंधात्मक आलेखों के अनुशीलन से डॉ. आदित्य प्रचंडिया की अध्ययनशील प्रवृत्ति और अनुसंधान-सामर्थ्य का व्यापक परिचय मिलता है। प्रायः शोधकर्ता और समीक्षक किसी एक अथवा दो विधाओं में ही अपनी अध्ययन-रुचि प्रकट करते हैं और उन्हीं में अपनी भावयित्री प्रतिभा प्रमाणित करते हैं, किंतु इस ग्रंथ के माध्यम से डॉ. प्रचंडिया ने अपनी बहुआयामी रुचि और अनुशीलन सामर्थ्य दर्शाया है। वे जितने मनोयोग से सूर और मीरा के सृजन का वैशिष्ट्य रेखांकित करते हैं, उतनी ही रुचि से तुलसी और कंबन के काव्य पर शोधपूर्ण निष्कर्ष देते हैं। यदि प्रसाद, निराला, दिनकर और नागार्जुन आदि के कृतित्व पर उनकी गहरी पकड़ है तो डॉ. ओमप्रकाश भाटिया अराज, कुसुम अंसल, कमला खरे आदि रचनाकारों पर भी उन्होंने गंभीर लेख प्रस्तुत किए हैं। गीत, नवगीत, गजल, पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, बालकविता और समीक्षा पर वस्तुनिष्ठ एवं तथ्यपरक दृष्टि दे पाना किसी एक समीक्षक के लिए सहज कार्य नहीं है, किंतु डॉ. प्रचंडिया ने कठिन परिश्रम से संपन्न गंभीर अध्ययन की शक्ति से इस दुष्कर कार्य को करके अपनी समीक्षा-सृष्टि को स्पृहणीय बना दिया है।

समीक्ष्य आलेखों में डॉ. प्रचंडिया की समीक्षा-शैली प्रायः सर्जनात्मक साहित्य जैसा आनंद प्रदान करती है। इसलिए ये शोधपूर्ण-गवेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबंध नीरसता से मुक्त हैं और सरस-सुबोध भाषा द्वारा सहृदय पाठक को स्वयं निमग्न कर लेते हैं। 'महेन्द्र भटनागर

की बालकविता' से उद्धृत निर्मांकित पंक्तियाँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं—

‘बालक इस धरती पर आया, उससे बहुत पहले उसका स्वागत करने प्रकृति आ गयी थी। प्रकृति में ध्वनि, लय, ताल और संगीत था। वनस्पति उगी तो सुर-ताल और भी समृद्ध हो उठे। उस समय तक भाषा और साहित्य का कहीं पता न था। किंतु लय ताल में शिशुगीत तो थे।’ (साहित्य एवं शोध, पृष्ठ 134)।

डॉ० प्रचंडिया की समीक्षात्मक भाषा अनेक स्थलों पर आलंकारिक और लाक्षणिक होकर ललित आलोचना का नया द्वार भी अनावृत करती है। ‘कुसुम अंसल की कविता: मूल्य और मूल्यांकन’ से उद्धृत इन पंक्तियों में इसकी बानगी द्रष्टव्य है—

‘कुसुम अंसल की कविता ऐसी खिड़की है, जिसमें से जीवन के प्रत्येक रंग देखने को मिलते हैं। वस्तुतः ‘स्व’ को तलाशने की लालसा का कुसुम अंसल का यह मणिभाव अकेलेपन, दार्शनिकता और उजास की रश्मियों से अनुस्यूत है।’ (साहित्य एवं शोध, पृष्ठ 159)

समीक्षा का एक बड़ा प्रयोजन साहित्य से अशुभ का निष्कासन और शुभकारक शिवत्व का प्रतिष्ठापन भी है। अतः समीक्षक की दृष्टि में लोकमंगलकारिणी-प्रज्ञा की उपस्थिति अपेक्षित होती है। डॉ० प्रचंडिया ऐसी प्रज्ञा से समृद्ध हैं और इसी के बल पर विषयवस्तु का निष्पक्ष एवं निर्भ्रत विश्लेषण कर उचित निष्कर्ष प्रतिपादित करते हैं। ‘हिंदी पत्रकारिता : सम और सदृष्टि’ का निष्कर्ष इस संदर्भ में निम्नानुसार द्रष्टव्य है—‘आज मनुष्य ने सूचनाओं का संग्रह तो कर लिया है, सवाल उठता है कि सूचनाओं की इस आत्यंतिकता में कहीं जीवन का निषेध तो नहीं छिपा है। इस भ्रमजाल में जटिल हो गए जीवन के लक्ष्य खोते नहीं गए हैं। असल में सूचनाएँ अपने आपमें पर्याप्त नहीं, उन्हें जीवन से जोड़नेवाली ‘मति’ की भी आवश्यकता है। आज की पत्रकारिता में ज्योति-ज्वाला नहीं, अपितु मधुर विष-जहर है। इक्कीसवीं सदी की पत्रकारिता के संसार में यदि सम और सदृष्टि का जुड़ाव रहेगा तो निश्चय ही पत्रकारिता में मंगल का प्रवर्तन होगा।’ (साहित्य एवं शोध, पृष्ठ 268)

इस प्रकार डॉ० आदित्य प्रचंडिया की यह शोध-समीक्षात्मक-निबंधात्मक कृति उनके समर्थ समीक्षक रूप की साक्षी है। विषयवस्तु के तथ्यपरक विश्लेषण, रचना के हेतु एवं प्रयोजन तथा उसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय महत्त्वपूर्ण कारक तत्वों के अन्वेषण और मौलिक चिंतनजनित लोकमंगलकारी निष्कर्षों का प्रतिपादन इस संकलन की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। व्याकरणिक दृष्टि से शुद्ध और लालित्यपूर्ण सरस भाषा-शैली ने भी इस संग्रह के शोध-निबंधों की प्रभावान्विति का संबर्द्धन किया है। समग्रतः इस ग्रंथ की उपादेयता असंदिग्ध है, क्योंकि यह संकलन न केवल डॉ० आदित्य प्रचंडिया के समीक्षात्मक अवदान को समझने की दृष्टि से उपयोगी है, अपितु हिंदी साहित्य के विविध पक्षों के अतन अभिज्ञान को जानने-पहचानने में भी सहायक है। अतः महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य एवं शोध : डॉ० आदित्य प्रचंडिया; पृष्ठ 287, मूल्य : पाँच सौ पचास रुपए मात्र, संस्करण : 2018, प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर 246701 (उत्तर प्रदेश) **समीक्षक :** डॉ० कृष्णगोपाल मिश्र, ए/20 बी, कुंदननगर, अवधपुरी, भोपाल 462021 (मध्यप्रदेश)

मनन-चिंतन का परिणाम : 'साहित्य की परख'

डॉ० संजीव श्रीवास्तव

'साहित्य की परख' डॉ० कनुप्रिया प्रचंडिया का आलोचनात्मक ग्रंथ है। आलोचना श्रमसाध्य कर्म है। कवि-कर्म अथवा कवि-व्यापार की सजग व्याख्या ही आलोचना है। यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है। आलोचना द्वारा ही कवि का श्रम और अभिप्राय पाठक तक पहुँचता है। उसी के द्वारा कवि-व्यापार का वृक्ष फलता है। रचनाकार की रचना में अनुस्यूत जीवनानुभूतियों एवं जीवन-सत्य का विवेचन करना ही आलोचना है। स्वयं लेखिका कनुप्रिया प्रचंडिया के शब्दों में आलोचना के 'रचना का भावन और रचना का मूल्यांकन' मुख्य उद्देश्य होते हैं। भावन से तात्पर्य रचना के मर्म को पाठक तक पहुँचाना है। मूल्यांकन से अभिप्राय व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के आधार पर उपलब्ध अन्य रचनाओं से तुलनात्मक स्तर के आधार पर, समाज में प्रचलित नैतिक मूल्यों के आधार पर एवं शाश्वत मूल्यों के आधार पर कृति को कसना है। आलोचना के लिए आलोचक को बहुज्ञ एवं बहुश्रुत होना आवश्यक है।

कनुप्रिया को साहित्यिक संस्कार एवं साहित्य को परखने की दृष्टि विरासत में मिली है। पितामह डॉ० महेंद्रसागर प्रचंडिया और पिता डॉ० आदित्य प्रचंडिया और माता डॉ० अलका प्रचंडिया द्वारा साहित्यिक अभिरुचि-संपन्नता सहज प्राप्त हुई है। इस अभिरुचि को उनके परिवार के साहित्यिक वातावरण ने और भी प्रखरता प्रदान की है। 'साहित्य की परख' में संकलित बयालीस आलेख उनके विशिष्ट आलेख हैं, जो गंभीर मनन-चिंतन का परिणाम है। इनमें से अधिकांश आलेख देश की विशिष्ट साहित्यिक एवं शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। लेखिका की मान्यता है—'साहित्य की परख' के ये आलेख साहित्य को जिंदगी की बुनियादी तथा प्रमुख सरोकारों से जोड़ते हैं और आज की व्यावस्था के भीतर पिसनेवाले सामान्य व्यक्ति की नियति की सही व्याख्या भी करते हैं।

इस कृति में कवि, कहानीकार, कृति, रचनाकार की वैचारिक संपदा, नवीन-विमर्शों, काव्यशास्त्र-संबंधी मान्यताओं एवं भाषाओं पर, काव्य के नवीन रूपों पर तथा नारी के बदलते स्वरूप पर गंभीर आलोचना प्रस्तुत की गई है। स्वयंभू से लेकर अज्ञेय एवं वर्तमान के कई सशक्त कवियों के रचना-वैशिष्ट्य को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। कहानीकारों में रेणु, गोविंद मिश्र, रामस्वरूप खरे, नागार्जुन के कहानी-जगत् से पाठक का परिचय कराया गया है, तो हाइकु जैसी नवीन काव्य-विधा भी आलोचना का विषय बनी है।

अपभ्रंश और हिंदी का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। स्वयंभू अपभ्रंश के आद्यकवि हैं। उन्हें अपभ्रंश का 'वाल्मीकि' भी कहा जाता है। स्वयंभू की प्रसिद्ध रचनाओं 'पउमचरिउ' एवं 'रिट्ठनेमिचरिउ' के आधार पर उनके विचारों को अभिव्यक्त किया गया है। 'पउमचरिउ' में अहिंसा की प्रतिष्ठापना

है। यह रचना केवल जैनधर्म के अनुयायियों के लिए ही नहीं अपितु जनसाधारण के नैतिक उत्थान हेतु रची गई है। 'रिट्टनेमिचरिड' में बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि और उनके तीर्थ में होनेवाले कृष्ण तथा कौरव-पांडवों की कथा वर्णित है। उनके ग्रंथों में जैनधर्म की विचारधारा का सागोपांग चित्रण मिलता है, किंतु समग्रतः वह उदारहृदय मनुष्य के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। जैनधर्म के अनुयायी और प्रचारक स्वयंभू की धार्मिक विचारधारा में सब धर्मों के प्रति आदर, सहिष्णुता और उदारता के भाव मिलते हैं। उन्होंने धर्म के दार्शनिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। वह सदाचार, अपरिग्रह, संयम, नियम, त्याग, तप, अहिंसा को जीवन का हिस्सा बनाने के आग्रही हैं। जैनधर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखते हुए भी उनमें धार्मिक कट्टरता नहीं है। जहाँ एक ओर वह जैनधर्म के मूल सिद्धांतों को प्रतिपादित करते हैं, वहीं पर धर्म-निंदा या दुराग्रह के भाव का सर्वथा अभाव है। स्वयंभू का विश्व-बोध और मानवीय चेतना उन्हें विशिष्ट बनाती है।

सुमित्रानंदन पंत छायावादी होते हुए भी सर्वाधिक विकसनशील कवि रहे हैं। लेखिका ने 'पंत का विचार-जगत्' में पंत की समय के साथ उत्तरोत्तर विकास करती विचार-चेतना का गंभीर अनुशीलन किया है। पंत का व्यक्तित्व अतिशय जागरूक साहित्यकार का है। प्रकृति-प्रेम से प्रारंभ कर, प्रेम की कोमल वीथियों से गुजरकर धीरे-धीरे वह साम्यवादी समाज की स्थापना को अपनी रचनाओं में वाणी प्रदान करते हैं। फिर उससे भी ऊपर उठकर लोककल्याणवादी, मानवतावादी भूमि पर प्रतिष्ठित हो अध्यात्म की ऊर्ध्व भूमि को स्पर्श करते हैं। पंतकाव्य पर दृष्टिपात करते हुए पंत के गहन ज्ञान का परिचय मिल जाता है। भारतीय वाङ्मय के साथ-साथ उन्होंने पाश्चात्य साहित्य का भी मनोयोग से अध्ययन किया है। दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों को आत्मसात करते हुए अपनी रचनाओं में यथास्थान उनकी अभिव्यक्ति की है। डार्विन के विकासवाद तथा मार्क्सवाद के समाजवाद से वह गहरे प्रभावित रहे हैं। वहीं उनपर आर्यसमाज की सामाजिक चेतना और विवेकानंद के व्यावहारिक वेदांत का प्रभूत प्रभाव है। इन सभी विचारधाराओं के प्रभावस्वरूप ही उनके रचना-जगत् की निर्मिति हुई है। 'वीणा' में प्रकृति प्रेम को, 'गुंजन' में उपनिषद-दर्शन, अद्वैतवादी दर्शन का प्रभाव है, वेदांत का भी प्रभाव दिखलाई देता है। 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' में मार्क्सवादी एवं गांधीवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। 'पतझर' एवं 1940 के बाद की रचनाओं में प्राचीन पर नवीन सृजन की आकांक्षा एवं अरविंद दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। वास्तव में पंत का काव्य अद्वैतवाद और मार्क्सवाद का समन्वय, गांधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय और अध्यात्मवाद और भूतवाद का समन्वय है। वस्तुतः पंत का काव्य अविरल विश्व की कल्याण-कामना से अनुप्राणित है।

'दिनकर : व्यक्ति और रचनाकार' में लेखिका ने दिनकर के अंतर्बाह्य व्यक्तित्व पर, उनकी सृजन-प्रेरणाओं पर, उनकी युगदृष्टि पर अपना वैचारिक मंथन प्रस्तुत किया है। दिनकर आधुनिककाल के सर्वाधिक ऊर्जा-संपन्न और निरंतर आलोक विकीर्ण करनेवाले विलक्षण कवि हैं। दिनकर में आग और पानी का अद्भुत मिश्रण है। एक नेत्र से आग बरसानेवाले हर बुराई को क्षर कर देनेवाले दिनकर के दूसरे नेत्र में करुणा का जल है, जो शांति-समता की स्थापना में रत रहना चाहता है। दिनकर के व्यक्तित्व का निर्माण उनके संघर्षों के इतिवृत्त से हुआ है। दिनकर की सृजनात्मक प्रक्रिया का प्रेरणास्रोत क्रोध रहा है। 'रेणुका', 'हुंकार', 'सामधेनी', 'कुरुक्षेत्र', 'परशुराम

की प्रतीक्षा' में उनका परशुराम-सा स्वभाव ही अभिव्यक्त हुआ है। 1935 से 1947 तक की रचनाओं में दिनकर ने देश की हर समस्या पर लिखा। राष्ट्रीयता की भावना उनकी सर्वप्रमुख प्रपत्ति है। 1947 में लिखी 'बापू नामक कविता में अहिंसा की स्थापना का प्रयास है। 'रश्मि' में उपेक्षित दलित समाज के उत्थान की भावना है। 'कुरुक्षेत्र' द्वारा साम्यवाद समाज की परिकल्पना दी है तो 'उर्वशी' जैसी कृति द्वारा कामाध्यात्म पर गंभीरतम दर्शन की प्रस्तुति की है। दिनकर जितने ओज के प्रवीण कवि हैं, उतने ही शृंगार के रससिद्ध कवि हैं। उनकी रचनाएँ युगधर्म का पूर्णरूपेण पालन करती हैं। वह एक ऐसे देश की स्थापना चाहते हैं, जहाँ न्याय, समता, शांति का निवास है। दिनकर की प्रतिभा गद्य और पद्य में समान है। उनका विराट ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' उन्हें लेखक, इतिहासकार और संस्कृति के आख्याता के रूप में प्रस्तुत करता है।

'केदारनाथ अग्रवाल की कविता : दृष्टि एवं सृष्टि' लेख में लेखिका कनुप्रिया प्रचंडिया ने कवि केदारनाथ अग्रवाल के कवि-व्यक्तित्व की सूक्ष्म पड़ताल की है। केदारनाथ अग्रवाल व्यापक सरोकार के कवि हैं। उनकी तेईस रचनाओं ने हिंदी साहित्य भंडार को नई रश्मियों से मंडित किया है। प्रकृति-प्रेम और काव्य में उसके निरूपण की दृष्टि से वह आधुनिकयुग के निरुपमेय कवि हैं। धरती, धान, ग्राम, किसान, लोकसंस्कृति, श्रम केदारनाथ की कविताओं के प्राण हैं। उन जैसा लोकसंस्कृति का कवि हिंदी में नहीं है। केदारनाथ मार्क्सवाद से आजीवन प्रभावित रहे हैं। उनकी मान्यता है कि मानव के लिए यही उचित है कि वह मुक्ति और 'निर्वाण' के चक्कर में न पड़कर अपने चैतन्य के साथ जीवन जिए। मूलतः केदारनाथ आस्था-विश्वास और संकल्प के कवि हैं।

'नई कविता का प्रवर्तन और अज्ञेय' में अज्ञेय को नई कविता के प्रदेय की चर्चा की गई है। नई कविता में अज्ञेय का महत् योगदान है। उनका सबसे बड़ा योगदान तारसप्तकों का प्रकाशन है। सप्तकों के माध्यम से अज्ञेय ने नए कवियों और उनकी श्रेष्ठ उपलब्धियों को एक स्थान पर लाने का कार्य किया। लेखिका कनुप्रिया प्रचंडिया का मानना है कि 'प्रतीक' के माध्यम से नई कविता के नएपन को और अधिक स्पष्ट किया है। तारसप्तकों में उनकी भूमिका एवं वक्तव्यों द्वारा नई कविता के नियामक तत्वों को पूर्ण स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अज्ञेय अपने समकालीनों में सर्वाधिक वैविध्य रचनाकार हैं।

कविता के साथ-साथ इस ग्रंथ में कथासाहित्य पर भी गहन परिचर्चाएँ मिलती हैं। रेणु, नागार्जुन, गोविंद मिश्र, नरेंद्र कोहली, रामस्वरूप खरे आदि के कथाजगत् के माध्यम से आधुनिक कथासाहित्य की प्रवृत्तियों को सामने लाने का प्रयास किया गया है। रेणु का स्वातंत्र्योत्तरकालीन हिंदी उपन्यासकारों में विशिष्ट स्थान है। अपने उपन्यासों में मैला आँचल, परती परिक्रमा, दीर्घतपा, जुलूस कितने चौराहे, पल्टू बाबू रोड में गतिशील समाज का सजीव चित्रण किया है। रेणु से ही लोकसंस्कृति प्रधान साहित्य का उत्कर्ष प्रारंभ होता है। ग्रामीण यथार्थ, लोकमानस एवं लोकसंस्कृति की जितनी मजबूत उपस्थिति रेणु के साहित्य में है, वह अन्यत्र नहीं। रेणु ने अपने कथासाहित्य में लोकसंस्कृति, लोकविश्वासों और लोगों के जीवनक्रम पर पड़नेवाले प्रभावों को गहरी आत्मीयता से उकेरा है।

नागार्जुन सामाजिक चेतना से संपन्न प्रगतिशील रचनाकार हैं। नागार्जुन आम आदमी के कहानीकार हैं। वह सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं को यथार्थ रूप में रखते हैं। समाज को बाँटनेवाली हर विद्रूपता से नागार्जुन का विद्रोह है। उनकी कहानियों का केंद्रबिंदु समाज का

पीड़ित-शोषित एवं श्रमजीवी वर्ग है। लोकजीवन के प्रति उनकी कहानियों में अनुराग है। समाज में हो रहे बदलाव और अंतर्विरोधों से उनकी कहानियों की निर्मिति हुई है। लेखिका ने स्पष्ट किया है कि नागार्जुन की कहानियों का संसार विभिन्न प्रकार की स्थितियों, घटनाओं और प्रसंगों से निर्मित है। उनकी कहानियाँ जहाँ आर्थिक, सामाजिक विषमता पर प्रकाश डालती हैं, वहीं पर देश के भ्रष्ट राजनीतिज्ञों की जीवन-शैली पर करारा व्यंग्य करती हैं।

‘गोविंद मिश्र की कहानियाँ’ आलेख में गोविंद मिश्र की कहानियों की मूल्यगत परीक्षा की गई है। गोविंद मिश्र के आठ कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें समाज के विभिन्न वर्गों और उनसे संबंधित संदर्भों को ध्यान में रखकर ताना-बाना बुना गया है। उनके यहाँ सामाजिक व्यवस्था से आहत लोग हैं, तो आर्थिक विषमता से पीड़ित वर्ग और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में त्रस्तजन साधारण की भावनाएँ और आहत आकांक्षाएँ भी हैं। उनके कहानी-संग्रह ‘नए पुराने माँ बाप’, ‘धाँसू’, ‘खुद के खिलाफ’ में इन्हीं को विषयवस्तु बनाया गया है। लेखिका कहती है—महानगरीय संस्कृति ने मनुष्य के जीवन को कृत्रिमता और प्रदर्शनप्रियता से पूर्ण कर दिया है। विज्ञान के उदय, तकनीकी प्रगति ने समाज की संरचना बादल दी है। मानवमूल्य बदल गए हैं। अर्थ-प्राप्ति और भौतिक सुख ही प्रधान हो गया है। मिश्रजी की कहानियाँ नैतिकता और सामाजिक संदर्भों में आ रहे परिवर्तनों को भली-भाँति उकेरती हैं। इन कहानीकारों के अतिरिक्त नरेंद्र कोहली एवं रामस्वरूप खरे के कहानी-जगत पर भी गहराई से विचार किया गया है। लेखिका ने कतिपय विशिष्ट कृतिओं पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है, जिसमें राही मासूम रजा का ‘आधा गाँव’, दुष्यंतकुमार की ‘साए में धूप’, छेदीसाह का ‘आसमाँ’ और रामगोपाल वाष्णीय का ‘बूँद-बूँद मोती’ है।

विदुषी लेखिका ने स्वीकार किया है कि राही मासूम रजा का ‘आधा गाँव’ हिंदी साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। राही का मानना है कि आधा गाँव की कहानी न धार्मिक है, न राजनीतिक, क्योंकि समय न धार्मिक होता है न राजनीतिक और यह कहानी समय की ही है। लेखिका ने प्रतिपादित किया है कि ‘आधा गाँव’ की कथा तत्समाज की गदली मानसिकता, धुँधली समाज-व्यवस्था, समाज की विभिन्न अवस्था, मुस्लिम संस्कृति के रीति-रिवाज, लोकसंस्कृति तथा आंचलिकता के स्वरूप को पूर्णतया निरूपित करती है।

‘साए में धूप’ दुष्यंतकुमार का गजल-संग्रह है। दुष्यंतकुमार हिंदी गजल को प्रतिष्ठित करनेवाले और उसे सामाजिक सरोकारों से जोड़नेवाले गजलकार हैं। दुष्यंतकुमार अत्यंत सक्षम और सजग रचनाकार हैं। उनकी गजलों का मूल स्वर यथार्थवादिता और मानवता के है। मुखमरी, गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार, भ्रष्ट राजनीति और उसके शोषण में पिसता जनसाधारण दुष्यंतकुमार की चिंता का विषय है। ‘साए में धूप’ दुष्यंतकुमार की सोच का आईना है। लेखिका के अनुसार ‘दुष्यंतकुमार की गजलों में जो आग है, वह उस व्यक्ति की आग है, जो सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं को ध्यान से देखकर और समाज के बीच रहकर उसी पीड़ा को समझते हुए भीतर-ही-भीतर सुलग रही थी। दुष्यंतकुमार की गजलें समसामयिक संदर्भों की प्रतिक्रिया-विशेष का प्रामाणिक अभिलेख हैं। उनमें आम-आदमी के प्रति दर्द भरी आस्था है। उनका कवि-कर्म इसी आम आदमी के लिए है।

कुछ आलेख नवीनतम विमर्शों पर भी हैं। ‘दलित साहित्य : प्रयोग और प्रयोजन’ में दलित

साहित्य का प्रेरणास्रोत अंबेडकर-दर्शन को माना है। लेखिका ने स्पष्ट किया है कि दलितसाहित्य दलितों की नवनिर्मित निष्ठाओं का साहित्य है। यह साहित्य उस नए मनुष्य के अस्तित्व का साहित्य है, जिसे अस्पृश्य मानकर किसी भी प्रकार के मानवीय अधिकार और संस्कार से वंचित रखा गया है। दलित साहित्य केवल अछूत, दलित, आदिवासी तक ही सीमित नहीं, वरन् दुःखी-पीड़ित शोषित समाज इसका प्रमुख बिंदु है। दलित साहित्य मनुष्य को केंद्र बनाता है। मनुष्य को महानता प्रदान करता है। दलित साहित्य ने स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व, सामाजिक न्याय जैसे मूल्यों को स्वीकार किया है।

‘महिला उपन्यासकारों की नारी’ एवं ‘वर्तमान दौर में नारी का बदलता स्वरूप’ में बदलते दौर के साथ बदलते मूल्यों और नारी की बदलती हुई भूमिका पर विचार किया गया है। पाश्चात्य प्रभाव से नैतिकता और पवित्रता के मापदंड बदले हैं। महिला उपन्यासकारों मन्नु भंडारी, कृष्णा सोबती, उषाप्रियंवदा, शशिप्रभा शास्त्री, चंद्रकांता, नासिरा शर्मा, रजनी पनिकर आदि ने नारी-जीवन की विषमताओं, अस्मिता के लिए जद्दोजहद करती नारी का चित्रण किया है। ‘राष्ट्रीय आंदोलन में जैन नारियों की भूमिका’ एक प्रशंसनीय आलेख है, जिसमें स्वतंत्रता-संघर्ष में जैन नारियों की महती भूमिका का उल्लेख किया गया है। रमाबाई जैन, लेखवती जैन, गंगावती जैन, गहनादेवी जैन जैसे अपरिचित किंतु उल्लेखनीय नारियों की स्वतंत्रता-संग्राम में भागीदारी को एवं भारत की एकता अखंडता को मजबूत कर स्वाभिमान जगाने में उनकी भूमिका को उल्लेखित किया गया है।

इस महनीय कृति में यात्रावृत्त, साक्षात्कार नई विधा हाइकु से संबंधित लेख भी हैं। भाषा-संबंधी आलेख एवं ‘काव्य की प्रेरणा’ काव्यशास्त्र-संबंधी आलेख है। ‘काव्य की प्रेरणा में भारतीय मान्यताओं की अपेक्षा पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार विचार किया गया है—कांट, क्रोचे, फ्रायड, एडलर युग की विभिन्न मान्यताओं के अनुसार काव्य की प्रेरणापर विचार किया गया है। लेखिका की मान्यता है कि काव्य की मूल प्रेरणा है आत्माभिव्यक्ति की लालसा। इस लालसा को अभुक्त काम से, क्षतिपूर्ति से और जीवनेच्छा से अदम्यता प्राप्त होती है। इन आलेखों में साहित्य पर उनकी पकड़ और गहन अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है। प्रत्येक आलेख में दिए गए संदर्भों से आलेखों की प्रामाणिकता में वृद्धि हुई है। हिंदी साहित्य के पाठकों के लिए यह उपयोगी ग्रंथ है।

साहित्य की परख; लेखिका : डॉ० कनुप्रिया प्रचंडिया, प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर; मूल्य पाँच सौ रुपए। **समीक्षक** : डॉ० संजीव श्रीवास्तव, एसोसिएट प्रेफेसर, हिंदी विभाग, किशोरी रमण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा (उ०प्र०)

हरिप्रिया : समर्पण, संघर्ष और जिजीविषा का सौंदर्य

डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

‘हरिप्रिया’ उपन्यास हाथ में लेते ही सवाल उठता है कि इक्कीसवीं शती में मीरा और उनके समय को स्मरण करने का क्या औचित्य है? इसका एक सीधा-सा जवाब कृष्णा अग्निहोत्री ने उपन्यास की भूमिका में दिया है, कि वे मीरा को महिला सशक्तीकरण की प्रथम प्रवक्ता मानती हैं। कुछ अन्य अध्येताओं और विचारकों ने भी इस मध्ययुगीन कवयित्री को आधुनिक और समकालीन बोध के बहुत निकट माना है। महात्मा गांधी ने उन्हें स्वाधीनता आंदोलन के लिए पोरणा-स्रोत माना था और रामविलास शर्मा ने उन्हें नारी के दमित व्यक्तित्व को वाणी देनेवाली कवयित्री के रूप में देखा। यदि डॉ० एम० शेषन की यह स्थापना सही है कि मीरा में आधुनिकयुग का ‘वूमन लिव’ साकार दिखता है तो इससे पता चलता है कि वे अपने युग के आगे-से-आगे के सोचवाली क्रांतदर्शी नारी थीं। कृष्णा अग्निहोत्री ने भी ‘हरिप्रिया’ में उनके कृष्ण-प्रेम के समानांतर उनके रूढ़िवादी और पुरुष वार्चस् का प्रतिवाद करनेवाले चरित्र को रेखांकित किया है, उपन्यासकार के अधिकतर निष्कर्ष मीरा के काव्य अर्थात् अंतःसाक्ष्य से समर्थित हैं।

मीरा ने रूपगोस्वामी से कहा है—‘अब तक कुछ सामाजिक परिवर्तन लाने के ठोस उद्देश्य मेरे सामने थे, उनके लिए जितनी भी लड़ाई, युद्ध कर सकती थी, किए।’ अधिकतर परिवर्तनों का संबंध पुरुष-शासित समाज में स्त्री की नियति से हैं। एक स्थान पर स्त्री की विवशता को उजागर करते हुए मीरा ने कहा है—‘उसे मरना, जलना, रोना व लाँछित होने में अर्चभा नहीं है। ये सब तो स्त्री या लड़की होने के गहने हैं, जो उसे पहनाए जाते हैं, जो धारण न करे, उसके सुगंधी स्वप्न कुचले जाते हैं।’ अन्यत्र भी रूपगोस्वामी से उन्होंने कहा है—‘आपका समाज पुरुष-वर्चस् का है। यहाँ स्त्री के लिए केवल दमन, उत्पीड़न एवं दंड हैं... सारे बंधन, नीतियाँ स्त्री के लिए ही हैं। मीरा इस दासता के विरुद्ध हैं। उपन्यासकार ने उन्हें बालविवाह, पर्दाप्रथा, सतीप्रथा, स्त्री-हत्या, बेमेल विवाह आदि का निरंतर प्रतिरोध करते दर्शाया है। बालविवाह से बचने के लिए मीरा ने भोजराज से विवाह करना स्वीकार किया, जहाँ बहुविवाह की कुप्रथा स्वागत में खड़ी थी। पर्दा-प्रथा से असहमत होते हुए मीरा का विचार था कि ‘लाज, शर्म, लिहाज, अनुशासन ये सब मानसिक चेतना हैं, जो आपको लाज आदि का अर्थ समझाते हैं।’ भोजराज के निधनोपरांत मीरा सती नहीं होती। सामाजिक रूढ़ियों से उसकी ‘अहिंसात्मक लड़ाई’ की शुरुआत को उपन्यास-लेखिका ने महत्वपूर्ण माना है। जुड़वाँ बच्चियों की गला घोटकर हत्या का विरोध मीरा ने किया है, क्योंकि वह इस तर्क से सहमत नहीं है कि पगड़ी की आन-बान-शान बेटियों से घटती है, अतः उन्हें जन्मते ही मार देना उचित है। यह पुनीत कार्य घर की स्त्रियों द्वारा किया जाता रहा है। मीरा ने कई स्थलों पर स्पष्ट किया है कि वे गलत प्रथाओं का अनुकरण नहीं कर सकतीं। मीरा का रूढ़ि-विरोध और अवमूल्यों

का तिरस्कार इस उपन्यास के विजन को सार्थक और प्रासंगिक बनाता है। लेकिन कई जगह पर मीरा की भाषा न होकर कृष्णा अग्निहोत्री की भाषा मुखर हो उठी है, जो मीरा के देश-काल के बहुत निकट की नहीं लगी। 'नारी को अब महिला सशक्तीकरण के कारण शालीनता खोनी नहीं चाहिए और वास्तव में जीवन जीने के लिए सामाजिक क्रांति अनिवार्य है, जैसे उद्गारों में 'महिला सशक्तीकरण' और 'सामाजिक क्रांति' मध्ययुगीन अवधारणाएँ नहीं हैं। भोजराज द्वारा भक्ति-आंदोलन का उल्लेख सहज, स्वाभाविक न होकर उपन्यासकार का हस्तक्षेप है—'हमारा यह समय भक्ति-आंदोलन का है। अपने समय का एक बड़ा सांस्कृतिक आंदोलन।' इसी तरह तुम अपने लैंगिक जीवन में एक क्रांतिकारी पत्नी दिखती हो, जैसा कथन भी भोजराज के सामाजिक और मानसिक स्तर के अनुरूप नहीं लगता है।

उपन्यास में मीरा का महनीय और कद्दावर व्यक्तित्व उभारने में लेखिका सफल हैं। दृढ़ संकल्प वाली नारी, भयहीना और राज्यसत्ता-विरोधी, परदुःखकातर, प्रेमपुजारिन मीरा को रूपगोस्वामी आलवार कवयित्री आंडाल के समकक्ष मानते हैं। मीरा के व्यक्तित्व के जिस पक्ष को सर्वाधिक उज्वल माना गया है, वह है उनकी मानवता। एक स्थान पर कहा गया है—'मीरा का व्यक्तित्व उनकी मानवता के कारण दिन-प्रतिदिन निखरता जा रहा था।' बाल्यावस्था में मीरा की जन्मपत्नी देखकर पुरोहित ने उन्हें 'मानवता की प्रेम-पुजारिन' कहा था। जयमल ने उन्हें मानवता का पर्याय उचित ही माना है। स्वयं मीरा ने मानवीय होने के लिए 'प्रेम' की अनुभूति को अनिवार्य माना है—'बिना प्रेम के न हम मानव होंगे, न मानवता से प्रेम करेंगे।' अन्यत्र भी प्रेम में मानसिक समर्पण को पर्याय बताते हुए कहा गया है, प्रेम कभी नष्ट नहीं होता। शरीर नष्ट होता है, भाव नहीं मरता। यह सहज भावानुभूति है—'प्रेम हो गया तो हो गया, कोई कुछ भी कहे, मारे-काटे, पर उसका अस्तित्व बरकरार रहता है', कृष्णा अग्निहोत्री का मानना है कि गिरधर गोपाल के प्रति मीरा का प्रेम लौकिक लगाव का उदात्तीकरण है। वे मीरा को रूपगोस्वामी के प्रति आकर्षित और समर्पित मानती हैं और रूपगोस्वामी भी 'दोनों ओर प्रेम पलता है' को चरितार्थ करते हैं। मीरा और जीवगोस्वामी का प्रसंग तो ख्यात है कि स्त्री का मुँह न देखनेवाले पुरुष को मीरा का प्रतिप्रश्न वुंदावन में कृष्ण के अलावा भी कोई पुरुष है क्या स्तब्ध और पराजित कर देता है। रूपगोस्वामी के प्रति अनुरक्ति की चर्चा नहीं मिलती है। 'हरिप्रिया' में रूपगोस्वामी की उपस्थिति महत्वपूर्ण है, लेकिन मीरा के जीवन में उसकी आवाजाही जरूरत से ज्यादा लगती है। 'जोगी मत जा' जैसे पदों के आधार पर मीरा के जीवन में किसी योगी या स्वामी की अतरंगता के अनुमान को कृष्णा अग्निहोत्री ने रूपगोस्वामी के माध्यम से पुष्ट किया है। लेकिन यह अनुसंधान का विषय है कि क्या मीरा ने बाल्यावस्था में किसी युवा योगी के साथ कथित सहज साधना संपन्न की थी, जैसा कि उपन्यास में वर्णित है।

छुटपुट असंगतियों और आपत्तियों के बावजूद यह उपन्यास मीरा के सोद्देश्य जीवन-संघर्ष और उससे निथरे जीवन-सत्य के संप्रेषण में सफल है। उपन्यासकार ने मीरा के उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—'कृष्ण के अहिंसात्मक प्रेम के संदेश को फैलाना जिसमें आदमी का आदमी से प्रेम हो। गरीब, दरिद्र, शक्तिवान, कमजोर, ऊँच-नीच की विभाजित श्रेणियाँ समाप्त हों व सब सामान्य जीवन जीने के अधिकारी हों। अपने इसी व्यापक मानवीय विजन के फलस्वरूप मीरा उपन्यास में दलितों के दुःख-सुख में सम्मिलित हैं और किसी भी प्रकार का भेदभाव और असमानता

उन्हें काम्य नहीं है। शुरू से ही उनकी सोच है—‘मुझे मुसलमान, हिंदू, ऊँचनीच कुछ नहीं समझ में आती है, जिस कारण से भी मनुष्य मरे, पीड़ा पाए मुझे अच्छा नहीं लगता।’ यह कथन उनके एक अन्य उद्गार से भी समर्थित है—...समस्त मनुष्य-जाति का पतन छोटी-छोटी बातों के लिए मानवता को भूलने से ही होता है।’ छिनाल, कुल-कलकिनी, नर्तकी आदि संबोधनों और अपशब्दों को झेलते हुए, विषपान आदि घातक अनुभवों से गुजरते हुए भी वह स्वयं मानवता से च्युत नहीं हुई हैं। उपन्यास के अंतिम चरण में रूपगोस्वामी, मीरा के साथ हैं। उसे आत्मघात से बचाते हैं, कुछ समय माधवपुर के पास कुटिया बनाकर साथ रहते हैं। वहीं मीरा का निधन होता है। रूपगोस्वामी समाधि ले लेते हैं। इस तरह उपन्यास में मीरा का जो महनीय बिंब उभरा है, वह हाड़-मांस की जिजीविषा-संपन्न, जुझारू, संवेदनशील, धर्म का वास्तविक मर्म समझने और समझाने वाली लौकिक प्रेम को उदात्त रूप देनेवाली हरिप्रिया का है। हिंदी उपन्यासों में मीरा का यह रूप विरल है। जैसा कि उपन्यास में एक भक्त ने कहा है कि मीरा को समझने हेतु तर्कबुद्धि निरर्थक है, उसे तो हृदय के भावों से ही समझा जा सकता है।

उपन्यास की बुनावट में मीरा के पदों की महत्वपूर्ण भूमिका है। कई प्रसंग इन पदों से समर्थित होकर विश्वसनीय बन पड़े हैं। जहाँ विचारतत्त्व प्रधान है, वहाँ भाषा का मुहावरा समकालीन शब्दावली से अधिक समृद्ध है, मध्ययुगीन स्पर्श कम है। अन्यत्र भाषा सहज, स्वाभाविक चरित्रों और प्रसंगों के अनुरूप और कथ्य-संप्रेषण में सक्षम है। कई स्थलों पर सांकेतिकता महत्वपूर्ण है। भूखी-प्यासी मीरा के संदर्भ में सूर्यास्त का यह बिंब ध्यानार्कषक और प्रसंग तथा मनःस्थिति के अनुरूप है—‘जब शाम के सूरज ने आँख उठा झरोखों से महल में दृष्टि डाली तो अंधकार ने विनम्रता से उन्हें विदा कर स्वयं एकाधिकार करने की सूचना दे दी।’ सुबह सूरज निर्णायक मुद्रा में है—‘प्रातः का सूरज रात की अँधेरी गुफा से बाहर आकर मीरा के विरह पर अपनी किरणों फेंक उन्हें अँधेरे से बाहर निकालने की चेष्टा करने लगा।’ ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मीरा-संबंधी जनश्रुतियों को उपन्यासकार ने अपनी तरह से गूँथा है और प्रायः तार्किक आधार देने का प्रयास किया है। लेकिन उपन्यास में ऐसे मार्मिक स्थल कम हैं, जहाँ पाठक ठिठक जाए या रम जाए।

भक्ति कवियों का घोषित चरित्र सत्ता-विरोधी रहा है। ‘तुलसी अब का होएँगे नर के मनसबदार’, ‘संतन कहा सीकरी सो काम’, पंडित राजे भूपति अवहिं कौन काम’ आदि के साथ राणा जी की सत्ता को अस्वीकार करने और महल छोड़कर ‘संतन ढिंग’ बैठनेवाली मीरा अद्वितीय साहस वाली संभवतः एकमात्र कवयित्री हैं। उपन्यासकार का यह प्रश्न सारगर्भित है कि यदि वे भक्तिमार्ग के द्वारा महल से बाहर न आती तों उनका क्या हश्र होता। मेरी कोई जाति, श्रम व श्रेणी नहीं, मैं तो ईश्वर हरि की प्रिया हूँ, उसी के लिए समर्पित हूँ, इस प्रेम-संबल के साथ जीनेवाली मीरा के जीवन को जो औपन्यासिक पचाव कृष्णा अग्निहोत्री ने दिया है, वह संप्रेषणीय, उल्लेखनीय और माननीय है। निश्चय ही यह कृति कृष्णा अग्निहोत्री के लिए आज भी उपन्यास विधा के प्रासंगिक और जीवंत बने रहने की साक्षी है।

हरिप्रिया, कृष्णा अग्निहोत्री, प्रकाशक : विद्याविहार, 19 संतविहार (पहली मंजिल) गली नं० 2 अंसारी रोड, नई दिल्ली 2, 2018, **समीक्षक** : डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ, डी-131 रमेश विहार, अलीगढ़ 202001, मो० 09837004113

लघु उपन्यास 'विद्यावाचस्पति में भी गुनहगार हूँ' की समीक्षा

डॉ० सुनील कुलकर्णी

डॉ० के०डी० बागुल द्वारा लिखित 'विद्यावाचस्पति? मैं भी गुनहगार हूँ' लघु उपन्यास मैंने एक ही बैठक में पढ़कर पूरा किया। उपन्यास में वर्णित घटनाएँ, प्रसंग और पात्र ऊपरी तौर पर काल्पनिक लगते हैं, परंतु हैं—नग्न यथार्थ के यथार्थ दस्तावेज। मुखपृष्ठ पर विद्यावाचस्पति शब्द के सामने लगाया गया प्रश्नचिह्न (?) वर्तमान की शैक्षिक व्यवस्था में स्थित भ्रष्टाचार, शोध मार्गदर्शक तथा उनके गुरु के काले कारनामों पर, विश्वविद्यालय के अनुसंधान विभाग तथा प्रशासन के उच्चशिक्षा विभाग की कार्यशैली पर प्रश्नचिह्न निर्माण करने में काफी हद तक सफल सिद्ध हुआ है।

पात्रों के नाम काल्पनिक हैं। आत्मनिवेदन की शैली में लिखे उपन्यास का कथानक आपबीती-सा लगता है। उपन्यास का प्रमुख पात्र हिम्मत विद्यावाचस्पति है, उपाधि प्राप्त होने के तुरंत बाद वह इस बात का वर्णन विस्तार से करता है कि उपाधि प्राप्त करते समय उसका पाला किन-किन लोगों से पड़ा। जिसके मार्गदर्शन में उन्होंने यह उपाधि अर्जित की है, उपन्यासकार यत्र-तत्र-सर्वत्र उनकी पोल खोलता हुआ दिखाई देता है। उनका भ्रष्ट आचरण, दिन-ब-दिन उनके भीतर पनपता पैसों का लालच, नित बढ़नेवाली और कभी भी पूर्ण न होनेवाली उनकी मदिरा-लालसा आदि का यथार्थ वर्णन कर उपन्यासकार उन्हें परत-दर-परत इतना नंगा करता है कि अब वे कितने भी कीमती कपड़े पहनकर अपने नग्न यथार्थ को ढाँकने की चाहे लाख कोशिश करें; पर उसमें अब कामयाब नहीं हो सकते। उपन्यासकार द्वारा किया गया पात्रों का नामकरण उनकी प्रतिभा का परिचायक है। उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं—डॉ० श्रीमान पथनाथजी, जो 'हिम्मत' के शोध-मार्गदर्शक हैं। डॉ० देशीजी, जो पथनाथजी के शोध मार्गदर्शक हैं, डॉ० चतुरमुख जो उनके पीएच०डी० पूर्व मौखिकी के अध्यक्ष हैं, डॉ० शहदवाला जो उनके पदोन्नति हेतु गठित समिति के हिंदी विषय-विशेषज्ञ हैं। डॉ० सदाचार्यजी, जो अंतिम खुली मौखिकी के अध्यक्ष हैं। सूरज जो उनके अतरंग मित्र हैं। डॉ० दादा जो एक संघटन के अध्यक्ष हैं। उपन्यास में थोड़ी-बहुत मात्रा में विश्वविद्यालय के अनुसंधान विभाग, सहसंचालक उच्चशिक्षा विभाग तथा महाविद्यालय के प्राचार्य एवं संस्थाचालक की पोल खोलने का प्रयास हुआ है, परंतु केंद्रीय भाव शोध-मार्गदर्शक डॉ० श्रीमान पथनाथ जी तथा उनके मार्गदर्शक डॉ० देशीजी के भ्रष्ट आचरण, व्यवहार और सोच-विचार पर केंद्रित है।

पंजीकरण से लेकर अंतिम खुली मौखिकी तक दोनों हिम्मत का कैसे आर्थिक शोषण करते हैं, बिना पैसों के न रिपोर्ट पर हस्ताक्षर होता है और न ही अंतिम रूपरेखा पर। आश्चर्य की बात तो यह दिखाई देती है कि डॉ० पथनाथ अपने शोधार्थी का प्रबंध जाँचने हेतु तथा अंतिम निष्कर्ष निकालने हेतु अपने मार्गदर्शक डॉ० देशीजी को देता है। उनके मार्गदर्शक उसके बदले में पैसे

वसूलते हैं; और हद तो तब होती है कि जब डॉ० पथनाथ शोधछात्र द्वारा दिए गए दस हजार में से पाँच हजार अपने मार्गदर्शक डॉ० देशी जी को देता है और बाकी बचे पाँच हजार अपनी जेब में डालता है। यह 'अधचोरी' जब डॉ० देशीजी को पता लगती है तो वे शराब के नशे में अपने ही शोधछात्र डॉ० श्रीमान पथनाथ जी को गंदी-गंदी गालियाँ देकर उद्धार करते हैं। प्रायः मौखिकी होती है डॉ० पथनाथजी के छात्र की, लेकिन डॉ० देशीजी उसमें बिन बुलाए मेहमान होते हैं। बिन बुलाए मेहमान होने पर भी शोधछात्र को, जिसकी मौखिकी होती है, उन्हें जाने-आने का गाड़ी भाड़ा, चार-पाँच हजार मानदेय, विदेशी शराब और भोजन खिलाना अनिवार्य हो जाता है। बदले में अपेक्षा केवल इतनी होती है कि मौखिकी निर्विघ्न संपन्न हो जाए। शिक्षा-जगत में आँख मूँदकर जीनेवाले अंतर्मुख होकर यह सोचें कि पीएच०डी० पूर्व प्रस्तुतीकरण मौखिकी में और अंतिम खुली मौखिकी में बिन बुलाए मेहमान को जहाँ इतना सम्मान मिलता रहा हो, वहाँ मौखिकी के अध्यक्ष, विषय-विशेषज्ञ तथा शोध-मार्गदर्शक क्या-क्या नहीं पाते रहे होंगे! डॉ० चतुरमुख 'हिम्मत' के पीएच०डी० पूर्व मौखिकी के अध्यक्ष हैं। वे 'हिम्मत' को जबरन अपनी पुस्तकें खरीदने हेतु बाध्य कर देते हैं। डॉ० चतुरमुख का यही फंडा है। वे जिस किसी के भी मौखिकी के अध्यक्ष बना दिए जाते हैं, उन सबको वे जबरन अपनी पुस्तकें खरीदने हेतु मजबूर कर देते हैं। यदि कोई शोधछात्र इनके प्रस्ताव को नकार दे, तो घंटों जाँचकर उसके प्रबंध में दो चार ही क्यों न हो, परंतु अशुद्धियाँ निकाली जाती हैं और उन्हें दुरुस्त करने की सलाह देकर प्रबंध दुबारा अध्यक्ष महोदय को दिखाकर सबमिट करने हेतु सिफारिश की जाती है। इतना होने पर भी यदि कोई पुस्तक न खरीदे तो अंतिम मौखिकी में उसके रिपोर्ट पर कुछ भी असंबद्ध रिमार्क लिखने की नाजायज हरकत वे करते हैं। 'हिम्मत' के प्रबंध में भी थोड़ी-बहुत वर्तनीगत अशुद्धियाँ रहती हैं, परंतु 'हिम्मत' और उसके मार्गदर्शक बड़ी चालाकी के साथ मौखिकी के पहले ही डॉ० चतुरमुख की पुस्तकें खरीद लेते हैं।

पीएच०डी० मौखिकी की तरह पदोन्नति में होनेवाले भ्रष्टाचार पर भी उपन्यासकार डॉ० के०डी० बागुल ने यथावकाश प्रकाश डाला है। उनके अपने मार्गदर्शक डॉ० श्रीमान पथनाथजी ने उन्हें किस तरह गुमराह किया और उन्हें डॉ० शहदवाला को पाँच हजार की रिश्वत देनी पड़ी, इसका हृदयद्रावक वर्णन किया है। संपूर्ण उपन्यास का अवलोकन करने के बाद यह समझ में आता है कि शिक्षा-क्षेत्र में पनपते इस भ्रष्टाचार के लिए जितने दोषी डॉ० श्रीमान पथनाथ, डॉ० देशी, डॉ० चतुरमुख, डॉ० शहदवाला हैं, उतने ही येन-केन-प्रकारेण विद्यावाचस्पति की पदवी प्राप्त करनेवाले 'हिम्मत' और सूरज भी दोषी हैं। डॉ० बाबासाहेब अंबेडकरजी के इस न्याय के तहत कि 'अन्याय करनेवाला जितनी मात्रा में गुनहगार होता है, उतनी ही मात्रा में अन्याय सहनेवाला भी गुनहगार होता है।' 'हिम्मत' ने विद्यावाचस्पति पदवी मिलने के बाद लघु उपन्यास लिखकर जो 'हिम्मत' दर्शाई, वही हिम्मत वह यदि पहली बार शोषण होने पर दर्शाता तो, उसकी इतनी मात्रा में आर्थिक हानि नहीं होती। मेरे एक अनुसंधाता छात्र ने वह 'हिम्मत' दिखाई। उसे तकलीफ हुई, अंतिम मौखिकी के बाद छह माह तक उसे नोटीफिकेशन नहीं मिला, परंतु उस शोधछात्र ने और मार्गदर्शक के नाते मैंने भी 'हिम्मत' नहीं हारी। इसलिए तो कहा जाता है कि 'सत्य परेशान हो सकता है, पराजित कभी नहीं'। एक दूसरे अनुसंधाता छात्र ने मौखिकी शुरू होने के पूर्व मौखिकी के अध्यक्ष की पुस्तकें लीं, लेकिन उसके पैसे आज तक नहीं दिए। आज भी वे पुस्तकें उसी के पास पड़ी हैं। डॉ० चतुरमुख जैसे नीच, घटिया किस्म के आदमी ने शोधछात्र के महाविद्यालय के प्राचार्य, संस्थाचालक, उसके

रिश्तेदार सबके पास उसकी बदनामी करनी चाही, परंतु जो खुद भला इतना बदनाम हो, वह औरों को क्या बदनाम कर पाएगा। लेकिन 'हिम्मत' ने ऐसा नहीं किया। वह बार-बार समझौते करता रहा। उसके मन में एक ही डर था कि यदि मैंने विरोध किया तो यह लोग मुझे विद्यावाचस्पति की पदवी मिलने ही नहीं देंगे। यही कारण है कि हिम्मत आज शिक्षा-क्षेत्र की उच्चतम पदवी प्राप्त करने बाद भी अपने-आपको गुनहगार मान रहा है। इस बात की कबूली वह उपन्यास में यत्र- तत्र देता भी रहा है। प्रशंसनीय बात केवल इतनी कहीं जा सकती है कि डॉ० के०डी० बागुल ने विद्यावाचस्पति पदवी प्राप्त करने के बाद ही सही, लेकिन हिम्मत के माध्यम से हिम्मत जुटाकर वह सब-कुछ लिखने की हिम्मत की, जो विद्यावाचस्पति पदवी प्राप्त करने के दौरान उसे भुगतना पड़ा। वरना विगत कई वर्षों से विद्यावाचस्पति पदवी प्राप्त करने के दरम्यान इन हादसों से गुजरने वालों की संख्या कम नहीं है। इसलिए उपन्यास के नायक हिम्मत की तथा उपन्यासकार डॉ० के०डी० बागुल की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी कम है। 'मीटू' के इस दौर में केवल आशा और अपेक्षा इतनी है कि डॉ० के०डी० बागुल की तरह वे तमाम आध्यापक, अनुसंधाता छात्र तथा छात्राएँ भी हिम्मत जुटाकर विद्यावाचस्पति पदवी के दौरान उन्हें आर्थिक तथा लैंगिक शोषण के जो अनुभव आए, उन्हें शब्दबद्ध कर शिक्षा के पवित्र क्षेत्र में स्थित इन भ्रष्ट अजगरों के खिलाफ एक लेखन आंदोलन चलाएँ।

विभागाध्यक्ष हिंदी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल
उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव
मो० 9422217600

डस्टबिन एवं अन्य कहानियाँ

डॉ० आशा शर्मा

संवेदनाओं की शाब्दिक, रोचक, कलात्मक अभिव्यक्ति ही कहानी है, जिसमें जीवन के यथार्थ का समन्वय कल्पनाओं के सुंदर संयोजन के साथ होता है। मानवीय संवेदना के कुछ अनमोल मोतियों को सधी हुई भाषा-शैली और शिल्प को तराश देकर एक नैसर्गिक खूबसूरती के साथ प्रस्तुत करती हैं, डॉ० अखिलेश पालरिया जी की ये विविधरंगी पंद्रह कहानियाँ, जो 'डस्टबिन एवं अन्य कहानियाँ' शीर्षक में संगृहीत हैं। इसे हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर द्वारा प्रकाशित किया गया है। 180 पृष्ठों में सिमटे इस कहानी-संग्रह की प्रत्येक कहानी भावप्रवणता व कथ्य की दृष्टि से हृदयस्पर्शी है और किसी-न-किसी मानवीय मूल्य से युक्त है। यह संग्रह इस तथ्य को चरितार्थ करता है कि सच्चा साहित्य केवल व्यक्तिगत कुंठाओं का प्रलाप नहीं हो सकता, बल्कि वह सामाजिक सरोकारों से युक्त होकर बदलाव का सशक्त माध्यम भी बनता है। इस दृष्टि से डॉ० अखिलेश पालरिया जी की ये कहानियाँ न केवल मानवीय संवेदनाओं व मूल्यों को सहेजती, सँवारती, पोसती और पल्लवित करती हैं वरन् जीवन-पथ पर मनुष्यत्व के उद्देश्य को लक्षित करते हुए सरल, सहज और निर्बाध गति से चलने का संदेश भी संप्रेषित करती हैं। कहानियों की भावव्यंजकता व रोचकता पाठक को स्वयं से बाँध लेती है। इन कहानियों के कथानक जहाँ यथार्थ की जमीन से जुड़े हैं, वहीं कल्पना और भावप्रवणता के उन्मुक्त गगन का विस्तार भी इनमें है।

संग्रह की प्रथम कहानी 'संवेदनाओं के फलक पर' एक भावप्रवण कहानी है, जिसे एक नए प्रकार की अनूठी शैली में प्रस्तुत किया गया है। जैसे भारतेंदुयुग में वरिष्ठ लेखकों और संपादकों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समस्यापूर्ति शैली की कविताएँ लिखी जाती थीं, जिसमें उन कविताओं का विस्तार कर उदीयमान लेखकों की क्षमताएँ विकसित हो सकें, यह कहानी भी उसी समस्यापूर्ति की तरह है, जिसमें लेखक ने विस्तार की संभावनाएँ छोड़ी हैं। खास बात यह है कि विधवा जीवन की विडंबनाओं और निःसंतान लोगों की वेदना पर आधारित यह कहानी अपने विस्तारित रूप में भी अपूर्ण नहीं लगती, बल्कि लगता है, जैसे क्लार्क मैक्स को लेखक ने पाठकों के विवेक और कल्पनाशक्ति पर छोड़ दिया हो।

शीर्षक कहानी 'डस्टबिन' एक प्रेरणादायक व संदेशपरक कहानी है, जिसके प्रति प्रबुद्ध लेखकों की समीक्षात्मक टिप्पणियाँ इस संग्रह के प्रारंभ में ही दी गई हैं। कहानी के मर्म को यह एक पंक्ति ही उद्घाटित करने में सफल होती है... 'हर मन के आँगन में एक डस्टबिन होना चाहिए.. ' जैसा कि अपनी टिप्पणी में आदरणीया कमल कपूर जी ने लिखा भी है कि 'इस एक पंक्ति पर फूल चढ़ाने को जी चाहता है। कई बार ऐसा होता है कि तिरस्कार, अपमान और उपेक्षाओं की किरचों को हम ताउम्र सँभाले रखते हैं, जो हमारी कोमल संवेदनाओं को लहलुहान करती रहती हैं। हमें उन्हें भी कचरा समझकर विस्मृति रूपी डस्टबिन में डाल देना चाहिए। इतना सुंदर संदेश इस

कहानी द्वारा संप्रेषित होता है कि केवल एक इसी कहानी हेतु लेखक अभिनंदन के अधिकारी हो जाते हैं।

डॉ० अखिलेश पालरिया जी की कहानियों के पात्र एक प्रकार की उदात्त भावना से ओत-प्रेत हैं, जिनके लिए अपने कार्यों का सबसे बड़ा पारितोषिक आत्मसंतुष्टि ही है। एक और खास बात इन कहानियों की कि अनेक कहानियों के पात्र पेशे से चिकित्सक हैं, जो अपनी सेवा-भावना से अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि लेखक स्वयं की आकांक्षाओं को इन पात्रों के माध्यम से मूर्त अभिव्यक्ति दे रहे हैं। इसी प्रकार कहानी डस्टबिन में सजल और नयन द्वारा साहित्य-जगत की सेवा के लिए हिंदी साहित्य भवन बनाने की परिकल्पना भी डॉ० साहब के हृदय में संचित आकांक्षा की ही अभिव्यक्ति है, जिसे उन्होंने कला रत्न भवन बनाकर साकार किया है।

मानवमूल्यों के निर्वहन हेतु निस्वार्थ कर्म करने की एक लालसा रहित सुंदर जीवनदृष्टि अखिलेश जी की अनेक कहानियों में परिलक्षित होती है। 'खूबसूरत मन' कहानी में स्थूल सौंदर्य पर भारी पड़ती श्रुति के कर्मठ और निश्छल मन की खूबसूरती का चित्रण हो या 'लाइफ ऑन वेंटीलेटर' कहानी में डॉ० ज्योत्सना के परायों को भी अपना बना लेने वाले अपनत्व से भरे वात्सल्यपूर्ण हृदय का चित्रण हो। ये पात्र निःस्वार्थ भावों, मानवीय करुणा और निश्छल स्नेह से लबालब हैं, जिन्हें अपनी सदाशयता के बदले में कुछ भी नहीं चाहिए।

संकीर्णताओं को छोड़ अपनत्व का दायरा बढ़ाने से ही हमें सच्ची खुशी और अपनपन की महक मिल सकती है। आज के आपाधापी भरे युग और लालसाओं की अंधी दौड़ से भरे दौर में मानवीय मूल्यों की सुवास बिखरती डॉ० अखिलेश जी की ये कहानियाँ बहुत सुखद आश्चस्ति प्रदान करती हैं।

कहानी लक्ष्य की केंद्रीय पात्र एक सरकारी स्कूल की प्रिंसिपल मैम हैं, जो अपनी कर्तव्यनिष्ठा, निःस्वार्थ सेवाभाव, समर्पणशीलता और स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व से ऐसे स्वार्थी तत्त्वों के हृदय को भी परिवर्तित होने पर विवश कर देती हैं। जो न सिर्फ कामचोर और लापरवाह थे, वरन् प्रिंसिपल के पवित्र लक्ष्य में बाधक और विरोधी भी थे। वर्तमान युग में समाज के उन्नयन और विकास हेतु ऐसे ही आदर्श व प्रेरणास्पद चरित्रों की जरूरत है। 'प्यार का सागर' निश्छलता, त्याग, सेवा, मानवता और मानवीय संवेदनाओं के गर्भ से जन्मे एक पवित्र प्रेम की भावपूर्ण कहानी है। एक अनुभूतिपरक हृदयस्पर्शी कविता का समावेश कहानी की भावप्रवणता को और अधिक गहराई प्रदान करता है।

'स्वार्थ के रिश्ते' कहानी में स्वार्थवश भावनाशून्य होती जा रही आज की संतानों और टूटते हृदय की पीड़ा से विदीर्ण होती बुजुर्ग पीढ़ी का दर्द जो वर्तमान समय का एक ज्वलंत प्रश्न बन चुका है, उसे एक संवेदनात्मक दक्षता के साथ अभिव्यक्ति दी गई है।

कहानी 'अंतर्बोध' भी नई पीढ़ी की लालसा भरी स्वार्थपूर्ण सोच की भावभूमि पर आधारित है कि आज की स्वच्छंदताप्रिय लड़कियाँ जब किसी कस्बे के भरे पूरे परिवार में रहने वाले गुणवान वर की अपेक्षा महानगरीय चकाचौंध में परिवार से दूर अकेले रहनेवाले लड़के को चुनती हैं, तब अंततः वे अपनी ही सोच और महत्वाकांक्षा के हाथों छली जाती हैं। आज इसी अंतर्बोध की

आवश्यकता है कि जीवन का आनंद स्वच्छंदता में नहीं, आपसी समझ, परिवार के प्रेम और संतोष में है। यही संदेश यह कहानी देती है।

मोबाइल और फेसबुक की आभासी दुनिया की छलावों भरी फ्रेंडशिप और झूठा प्रेम युवा पीढ़ी के मनोमस्तिष्क को किस कदर विचलित व विकृत कर सकता है, इस भयावह सत्य का उद्घाटन है कहानी 'जो सोचा न था' लेकिन सुखद अंत के साथ ही कहानी संदेश देती है कि युवा पीढ़ी स्मार्टफोन के दुरुपयोग के दुष्परिणाम पहचानकर इसका उपयोग सीमित कर दे। विज्ञान के आविष्कारों की सार्थकता तभी है, जब इनका सही उपयोग किया जाए। वहीं 'मैसेज बॉक्स' मोबाइल फोन पर मैसेजों के आदान-प्रदान से परवान चढ़ते प्रेम की कहानी है। यह प्रेम कहीं भी शालीनता और मर्यादा नहीं खोता, वरन् कर्मपथ पर चलते हुए अपनी मंजिल को प्राप्त करता है। 'अपने अपनों के बीच' कहानी बेटे-बेटी में भेदभाव की व्यर्थता को रूपायित करती है, वहीं कहानी 'बेटी' भी इसी कथ्य पर आधारित है कि बेटी किसी भी दृष्टि से पुत्र से कमतर नहीं।

कहानी 'जीवनसाथी' में अपनी पत्नी को खो देनेवाले भावुक सहृदय व्यक्ति रमाकांत जी के हृदय की वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति है, लेकिन इसमें पुनर्विवाह और विधवा विवाह द्वारा सुखद जीवन के पुनरारंभ का एक संदेश भी निहित है।

'तुम आते रहना मेरे द्वार' इंसानियत की रोशनी से भरपूर दमकती हुई कहानी है, जिसमें निस्वार्थ प्रेम और सच्ची मित्रता का भाव प्रभावपूर्ण शैली में अभिव्यक्त हुआ है। जैसा कि डॉ॰ अखिलेश जी ने अपनी बात में लिखा है कि यह कहानी उनके दिवंगत मित्र श्री विजयकुमार सप्पति को समर्पित है। यह भावपूर्ण कहानी भावविह्वल कर देती है, हालाँकि लेखक की आकांक्षा ने कहानी को सुखांत रूप प्रदान किया है। काश कहानी की तरह यथार्थ में भी जीवन के क्लाइमैक्स को यूँ सुखद मोड़ दिया जा सकना संभव होता।

इसी प्रकार संग्रह की अंतिम कहानी 'फीड बैक' भी सच्ची और निस्वार्थ मित्रता पर आधारित रचना है। सच्ची मित्रता की ऊर्जा और ताकत जीवन को निराशा और कठिनाइयों की अतल गहराइयों से निकालकर सफलता और संतुष्टि के शिखरों पर पहुँचा सकती है। इसी सुंदर सत्य का उद्घाटन इस कहानी में किया गया है।

औरों के लिए जीवन जीने से प्राप्त होने वाली तृप्ति का सहज बोध जगाती इन कहानियों के द्वारा सहज और स्वाभाविक रूप में ही संदेश संप्रेषित होते हैं, उनमें कहीं भी थोपी हुई संदेशपरकता या उपदेशात्मकता परिलक्षित नहीं होती है। आडंबरविहीन, स्वाभाविक लेकिन सशक्त भाषा में मनोभावों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति संभव हो पाई है, जो भाषा की कृत्रिमता में नष्ट हो जाती है।

मनोभावों को व्यक्त करती हुई संप्रेषणीय भाषा-शैली और संवादों की बानगी में एक कहानी 'स्वार्थ के रिश्ते' का एक कथन द्रष्टव्य है...कोई है जो मेरे लिए इतना बड़ा तोहफा लाया हो? भावनाओं से भरा हुआ? अपर्णा तुम दिल्ली से आई और अभय, तुम मुंबई से, खाली हाथ ही आए न! आज भी और इससे पहले भी हर बार, लाए तुम कुछ भी अपनी मम्मी के लिए? मेरे पास कोई कमी नहीं थी, पर अपनों द्वारा लाई गई चीजें में सुखद अहसास होता है। मन खुश हो जाता है! यह सब भावनाएँ ही हैं, जो हमें महान बनाती हैं, जो आज वह भिखारी कहा जाने वाला व्यक्ति मेरी दृष्टि में बना...।' इस तरह की सरल व पात्रानुकूल भाषा सर्वत्र कहानियों की बोधगम्यता व

प्रवाहशीलता को बनाए रखती है।

इन कहानियों में लेखक की सूक्ष्म पड़ताल करती हुई अंतर्दृष्टि भी है और भाषा-शैली में पाठक को बाँधे रखने की क्षमता भी है, हालाँकि कहानियों में प्रकृति और परिवेश के चित्रांकन की कमी कहीं-कहीं खटकती है। कहानियाँ कथ्य व शिल्प दोनों दृष्टियों से एक प्रकार की रचनात्मक परिपक्वता को लिए हुए हैं। पात्रों के संवाद कथानुरूप, संक्षिप्त और पात्रों की अंतर्वृत्तियों को मनोविश्लेषणात्मक ढंग से उद्घाटित करने में सफल रहे हैं।

संवेदनाओं को छूनेवाली सामाजिक सरोकारों से युक्त इन सार्थक संदेशपरक कहानियों के इस सुंदर संकलन हेतु लेखक डॉ० अखिलेश पालरिया जी को अशेष साधुवाद।

डस्टबिन एवं अन्य कहानियाँ, डॉ० अखिलेश पालरिया; प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०); मूल्य : 300 रुपए; पृष्ठ : 180; संस्करण : 2018; **समीक्षक** : डॉ० आशा शर्मा, 1/196 मालवीय नगर, जयपुर (राज०) 302017; मो० 9414446269

हिंदी साहित्य निकेतन महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

● निश्चर खानकाही एवं डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल गज़ल और उसका व्याकरण	250.00
● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल बृहत् हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश	1500.00
हिंदी तुलनात्मक शोधसंदर्भ	995.00
हिंदी शोध : नई दृष्टि	800.00
हिंदी शोध के नए प्रतिमान	800.00
शोधसंदर्भ-भाग-1	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5	895.00
शोधसंदर्भ-भाग-6	1500.00
हिंदी तुकांत कोश	300.00

रचनावली

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक) राजेन्द्र मिश्र रचनावली-1 (कविता खंड एक)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-2 (कविता खंड दो)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-3 (कविता खंड तीन)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-4 (कविता खंड चार)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-5 (निबंध खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-6 (उपन्यास खंड एक)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-7 (उपन्यास खंड दो)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-8 (उपन्यास खंड तीन)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-9 (उपन्यास-नाटक खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-10 (कहानी खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-11 (निबंध-डायरी खंड)	1000.00
डॉ० आदित्य प्रचण्डिया (संपादक) डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (एक)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (दो)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (तीन)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (चार)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (पाँच)	700.00

डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (छह)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (सात)	700.00
डॉ० कमलकिशोर गोयनका एवं डॉ० मीना अग्रवाल (संपादक)	
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (एक)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (दो)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (तीन)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (चार)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (पाँच)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (छह)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (सात)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (आठ)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (नौ)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (दस)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (ग्यारह)	500.00
प्रहलाद तिवारी समग्र	
मेरी समग्र कविताएँ • प्रहलाद तिवारी	800.00
मेरी समग्र कहानियाँ • प्रहलाद तिवारी	800.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड एक • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड दो • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड तीन • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड चार • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड पाँच • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड छह • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड सात • प्रहलाद तिवारी	850.00
समीक्षा एवं समालोचना	
सवाल साहित्य के • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
हिंदी सिनेमा और दांपत्य संबंध • डॉ० चंद्रकांत मिसाल	500.00
सिनेमा और साहित्य का अंतःसंबंध • डॉ० चंद्रकांत मिसाल	200.00
सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • नवलकिशोर शर्मा	150.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • धर्मेन्द्र उपाध्याय	300.00
डॉ० कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान • डॉ० अंजु भटनागर	500.00
अमरकांत का कथासाहित्य • डॉ० योगेश गोकुल पाटिल	400.00
नारी-समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन • डॉ० अनुभूति	450.00
राजस्थानी चित्रशैली में आखेट दृश्य • डॉ० सुषमा सिंह	250.00
भोपाल के संग्रहालयों की चित्रकला • डॉ० सुषमा सिंह	250.00
मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध • डॉ० ज्योति सिंह	150.00

मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न • डॉ० ज्योति सिंह	300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा • डॉ० मिथिलेश माहेश्वरी	300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य • डॉ० मनोजकुमार	250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर • डॉ० दीपा के०	250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत) • डॉ० मीना अग्रवाल	450.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य • डॉ० हरीशकुमार सिंह	350.00
साठोत्तरी हिंदी-ग़ज़ल : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान • डॉ० अनिलकुमार शर्मा	350.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का व्यंग्य-साहित्य : कथ्य एवं भाषा • डॉ० वी० जयलक्ष्मी	450.00
हिंदी ग़ज़ल और डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल • डॉ० पूनम अग्रवाल	595.00
ग़ज़ल संस्कृति और भीतर शोर बहुत है • भागीनाथ वाकले	400.00
हिंदी कथासाहित्य में नारी-विमर्श • प्रा० अमृता भरत पाटिल	540.00
एक साक्षात्कार : पं० अमृतलाल नागर के साथ • डॉ० शंकर क्षेम	150.00
ग़ज़ल : सौंदर्य और यथार्थ • अनिरुद्ध सिन्हा	150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि) • डॉ० ज्योति व्यास	150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व • डॉ० लालबहादुर रावल	300.00
जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार • डॉ० अशोककुमार	350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन • डॉ० ओमदत्त आर्य	500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध • डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
साहित्य और संस्कृति • डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
हिंदी व्यंग्य-निबंध : स्वतंत्रता के बाद • डॉ० आशा रावत	350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य व्यंग्य • डॉ० प्रेम जनमेजय	500.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष • विनोदचंद्र पांडेय	300.00
हिंदी बालसाहित्य : डॉ० सुरेंद्र विक्रम का योगदान • डॉ० स्वाति शर्मा	450.00
भीष्म साहनी का कथासाहित्य : सांप्रदायिक सद्भाव • डॉ० पी०आर० वासुदेवन	300.00
हिंदी ब्लॉगिंग : अभिव्यक्ति की नई क्रांति • अविनाश वाचस्पति, रवींद्र प्रभात	495.00
हिंदी ब्लॉगिंग का इतिहास • रवींद्र प्रभात	300.00
सूरदास का सौंदर्य-चित्रण • डॉ० विजय इंद्रु	250.00
हरिऔध का सौंदर्य-चित्रण • डॉ० विजय इंद्रु	500.00
साठोत्तरी हिंदी रेखाचित्र : शैलीवैज्ञानिक अध्ययन • डॉ० मीनल रश्मि	250.00
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना • डॉ० शीला गहलौत	500.00
संत रविदास • डॉ० सुदेश कुमारी	300.00
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ • डॉ० राजकुमार जमदग्नि	500.00
वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष • डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	200.00

फिजी में प्रवासी भारतीय • डॉ० शुचि गुप्ता	300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार • डॉ० शिवशंकर लधवे	200.00
नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक • डॉ० अशोक उपाध्याय	200.00
यशपाल के उपन्यासों में सामाजिक चेतना • डॉ० अनीता रानी	400.00
सृजन और साहित्य • डॉ० राजेंद्र मिश्र	400.00
हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता • डॉ० राजेंद्र मिश्र	500.00
समालोचना के फलक • डॉ० बागेश्री चक्रधर	300.00
शिक्षा की समस्याएँ और हिंदी कथासाहित्य • डॉ० शशिप्रभा	450.00
ललित निबंध : परंपरा और चिंतन • डॉ० शिवाजी एन० देवरे	300.00
ललित निबंधकार डॉ० श्यामसुंदर दुबे • डॉ० शिवाजी एन० देवरे	300.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़ल दृष्टि • डॉ० शिवाजी एन० देवरे	300.00
हिंदी कहानी के नए प्रतिमान • डॉ० अभयकुमार खैरनार	500.00
हिंदी नाटक के नए प्रतिमान • डॉ० मनोजकुमार	400.00
हिंदी उपन्यास के नए प्रतिमान • डॉ० जसपालसिंह वळवी	550.00
दलित-विमर्श और हिंदी साहित्य • डॉ० जसपालसिंह वळवी	450.00
जनसंख्या अवधारणा एवं लैंगिक संरचना • डॉ० विश्वनाथ पांडेय	500.00
भारत में सांप्रदायिक सद्भाव • डॉ० गीता यादव	500.00
एक इंद्रधनुषी व्यक्तित्व (आदित्य प्रचंडिया) • सं० डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	600.00
साठोत्तर व्यंग्य और श्रीलाल शुक्ल • डॉ० रमेश तिवारी	400.00
स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य • डॉ० शेरजंग गर्ग	700.00
कुछ व्यंग्य की कुछ व्यंग्यकारों की • डॉ० हरीश नवल	300.00
राष्ट्रीयता, संस्कृति और साहित्य • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	700.00
साहित्यिक निबंध : मूल्य और मूल्यांकन • डॉ० निशा तिवारी	400.00
जनमानस के पक्षधर हिंदी नुक्कड़ नाटक • डॉ० पी०वी० कोटमे	400.00
प्रेम जनमेजय के व्यंग्य साहित्य में	
सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना • डॉ० साधना झा	700.00
समकालीन साहित्य की दिशाएँ • डॉ० रमेश तिवारी	400.00
साहित्य और संस्कृति का अंतःसंबंध • डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	400.00
मोक्षशास्त्र का माहात्म्य • डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	400.00
समीक्षा के वातायन • डॉ० अलका प्रचण्डिया	450.00
डॉ० महेंद्रसागर प्रचण्डिया: व्यक्ति और स्रष्टा • डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया	450.00
साहित्य की परख • डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया	450.00

लोकसाहित्य

लोकसंगमच के विविध आयाम • डॉ० पूर्णचंद शर्मा	200.00
लोकनाट्य सांग : कल और आज • डॉ० पूर्णचंद शर्मा	700.00

लोकज्ञान की मंजूषा • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	450.00
हरियाणा के लोकगायक • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	400.00
हरियाणा के लोककवि • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	300.00
देवबंद की स्वांग-परंपरा • डॉ० सुरेंद्र शर्मा	200.00
रुहेलखंड के परंपरागत लोकगीत • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00

हास्य-व्यंग्य

काका की विशिष्ट रचनाएँ • काका हाथरसी	300.00
काका के व्यंग्य-बाण • काका हाथरसी	200.00
कक्के के छक्के • काका हाथरसी	200.00
लूटनीति मंथन करी • काका हाथरसी	200.00
खिलखिलाहट • काका हाथरसी	200.00
मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
बाबू झोलानाथ • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
आदमी और कुत्ते की नाक • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
आओ भ्रष्टाचार करें • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
दूध का धुला लोकतंत्र • गोपाल चतुर्वेदी	150.00
आधुनिक बेताल कथाएँ • गिरीश पंकज	250.00
भज्जी का जूता • महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
क्लियर फंडा • महेशचंद्र द्विवेदी	120.00
वीरप्पन की मूँछें • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
फ्राडियर और नीम पागल • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
वसीयतनामा • पं० सूर्यनारायण व्यास, सं० राजशेखर व्यास	150.00
नो टेंशन • डॉ० सुरेश अवस्थी	200.00
पैसे कहाँ से दें • डॉ० आशा रावत	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह • डॉ० आशा रावत	100.00
नमस्कार प्रजातंत्रा • महेश राजा	150.00
ए जी सुनिए • अशोक चक्रधर	100.00
इसलिए बौड़म जी इसलिए • अशोक चक्रधर	100.00
नमस्ते जी • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
अब हँसने की बारी है • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ	300.00

पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ	300.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी	300.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य • डॉ० शिव शर्मा	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० शिव शर्मा	300.00
अपने-अपने भस्मासुर • डॉ० शिव शर्मा	250.00
प्रतिनिधि व्यंग्य • दामोदरदत्त दीक्षित	200.00
हँसते-हँसते कट जाएँ रस्ते • मधुप पांडेय	200.00
धमकीबाशी के युग में • निश्तर खानकाही	200.00
ला खर्चा निकाल • गजेंद्र तिवारी	200.00
जलनेवाले जला करें • गजेंद्र तिवारी	200.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं • सूर्यकुमार पांडेय	100.00
ये है इंडिया • डॉ० हरीशकुमार सिंह	220.00
आँखों देखा हाल • डॉ० हरीशकुमार सिंह	250.00
सच का सामना • हरीशकुमार सिंह	150.00
लिफ्ट करा दे • डॉ० हरीशकुमार सिंह	200.00
देवेंद्र के कार्टून • देवेंद्र शर्मा	200.00
कार्टून कौतुक • देवेंद्र शर्मा	120.00
लिफ़ाफ़े का अर्थशास्त्र • डॉ० पिलकेंद्र अरोरा	200.00
अजगर करे न चाकरी • बाबूसिंह चौहान	200.00
जिंदगी तेरे नाम डार्लिंग • डॉ० लालित्य ललित	200.00
विलायतीराम पांडेय • डॉ० लालित्य ललित	200.00
नो कमेंट • सुमित प्रताप सिंह	200.00
सावधान पुलिस मंच पर है • सुमित प्रताप सिंह	200.00
चुनिंदा व्यंग्य : आलोक पुराणिक • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : आशा रावत • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : गिरिराजशरण अग्रवाल • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : गोपाल चतुर्वेदी • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : प्रेम जनमेजय • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : महेशचंद्र द्विवेदी • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : श्रवणकुमार उर्मलिया • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : सुभाष चंद्र • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : सुशील सिद्धार्थ • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : हरीशकुमार सिंह • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : वागीश सारस्वत • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
कहानी	
एक सपना मेरा भी था • डॉ० आशा रावत	200.00

एक थी माया • विजयकुमार	200.00
अमृत वृद्धाश्रम • विजयकुमार	350.00
सरहदों के पार • सुरेशचंद्र शुक्ल	200.00
छोटे-छोटे सुख • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
कथा जारी है • बाबूसिंह चौहान	250.00
इक्कीस कहानियाँ • सत्यराज	200.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ) • डॉ० मीना अग्रवाल	250.00
कुत्तेवाले पापा • मीना अग्रवाल	150.00
क्या अच्छा क्या बुरा • मीना अग्रवाल	200.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ • डॉ० दिनेशचंद्र बलूनी	200.00
एक बौना मानव • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
लव जिहाद • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
इमराना हाशिर हो • महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
हैं आस्माँ कई और भी • नीरजा द्विवेदी	200.00
कौन कितना निकट • रेणु 'राजवंशी' गुप्ता	120.00
लघु कथाएँ • डॉ० हरिशरण वर्मा	150.00
कमरा नंबर 103 • सुधा ओम ढोंगरा	150.00
कहानियाँ अमेरिका से • सं० इला प्रसाद	150.00
अंतराल • संगीता	200.00
प्रेमचंद की कालजयी कहानियाँ • सं० डॉ० कमलकिशोर गोयनका	150.00
लघुकथाएँ जीवनमूल्यों की • सं० सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'	150.00
पंद्रह सिंधी कहानियाँ • सं० देवी नागरानी	200.00
दर्द की एक गाथा • सं० देवी नागरानी	300.00
भाँति-भाँति की मानुसी • अंशु त्रिपाठी	250.00
लड़की हँस रही है • राजेंद्र मिश्र	300.00
आजकालीन कहानियाँ • राजेंद्र मिश्र	400.00
आत्मकथा का कोलाज • नीलम चतुर्वेदी	200.00
आ से आजादी • नीलम चतुर्वेदी	300.00
ऐसा प्यार कहाँ • नीतू मुकुल	250.00
रेल कहानियाँ • कृपासागर साहू	300.00
डस्टबिन एवं अन्य कहानियाँ • डॉ० अखिलेश पालरिया	300.00
उपन्यास	
इतिहास की आवाज़ • राजेंद्र मिश्र	450.00
अनोखा उपहार • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
आसरा • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
तीन बीघा ज़मीन • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00

मन के जीते जीत • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
कुल का चिराग • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
नया सवेरा • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
जागृति • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	450.00
कालचक्र से परे • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00
शांतिधाम • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	250.00
भीगे पंख • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
मानिला की योगिनी • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
और लहरें उफनती रहीं • डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० शिव शर्मा	300.00
अराज-राज • डॉ० मोहन गुप्त	200.00
सुराज-राज • डॉ० मोहन गुप्त	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी • डॉ० आशा रावत	250.00
एक चेहरे की कहानी • डॉ० आशा रावत	250.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० आशा रावत	200.00
एक फरिश्ता ऐसा देखा • प्रेमसागर तिवारी	250.00
रोशनी का पहरा • डॉ० आरती लोकेश	300.00

एकांकी-नाटक

• डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
मंचीय हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
मंचीय सामाजिक एकांकी	200.00
बच्चों के हास्य नाटक	200.00
बच्चों के रोचक नाटक	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक	200.00
भारतीय गौरव के बाल-नाटक	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक	200.00
बच्चों के अनोखे नाटक • प्रकाश मनु	200.00
हास्य-व्यंग्य के बाल-नाटक • प्रकाश मनु	200.00
संसार : एक नाट्यशाला • बाबूसिंह चौहान	250.00
ग्यारह एकांकी • डॉ० हरिशरण वर्मा	200.00
संस्कार एवं अन्य नाटक • डॉ० हरिशरण वर्मा	300.00
दमन • रामाश्रय दीक्षित	100.00
स्वप्न पुरुष • डॉ० उर्मिला अग्रवाल	250.00

अफलातून की अकादमी • डॉ० शिव शर्मा	150.00
औरत की जंग • राजेन्द्र मिश्र	200.00
प्रजापथ • राजेन्द्र मिश्र	200.00
दूश्य होती कहानियाँ • राजेन्द्र मिश्र	400.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले • निश्तर खानकाही	125.00
यादों का मधुवन • कृष्ण राघव	150.00
समय के चाक पर • डॉ० लालबहादुर रावल	125.00
समय एक नाटक • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
दर्पण झूठ बोलता है • बाबूसिंह चौहान	60.00
मकड़जाल में आदमी • बाबूसिंह चौहान	80.00
उफनती नदियों के सामने • बाबूसिंह चौहान	100.00
अनुभव के पंख • चंद्रवीरसिंह गहलौत	250.00
मेरे साक्षात्कार • डॉ० बालशौरि रेड्डी	250.00
आधी हकीकत आधा फसाना • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
फूलों की महक • डॉ० ओमदत्त आर्य	200.00
संवाद साहित्यकारों से • डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त बरसैया	200.00

गीत-कविता

निश्तर खानकाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/ निश्तर खानकाही	500.000
कोई आवाज़ देता है • डॉ० कुँअर बेचैन	250.00
दिन दिवंगत हुए • डॉ० कुँअर बेचैन	250.00
कुँअर बेचैन के नवगीत • डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत • डॉ० कुँअर बेचैन	250.00
पर्स पर तितली (हाइकु) • डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
मातृभूमि के लिए • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	200.00
संघर्ष जारी है • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	170.00
जीवन-पथ में • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
देश हम जलने न देंगे • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
झरनों का तराना है • लक्ष्मी खन्ना सुमन	200.00
अहसासों के ताने-बाने • लक्ष्मी खन्ना सुमन	200.00
समय के भूगोल में • राजेन्द्र मिश्र	200.00
असाबिया • राजेन्द्र मिश्र	200.00
आठवाँ राग • राजेन्द्र मिश्र	200.00

हवाएँ खामोश हैं • राजेंद्र मिश्र	200.00
सदियाँ गुज़र रही हैं • राजेंद्र मिश्र	300.00
शब्द ही नहीं हैं • राजेंद्र मिश्र	300.00
सप्त स्वर • राजेंद्र मिश्र	400.00
आपातकालीन कविताएँ • राजेंद्र मिश्र	300.00
आजकालीन कविताएँ • राजेंद्र मिश्र	450.00
आजकालीन लंबी कविताएँ • राजेंद्र मिश्र	400.00
शमा हर रंग में जलती है • रामेश्वरप्रसाद	150.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
बूँद के अंदर समंदर (मुक्तक) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
संकल्पों के शंख (दोहा) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
मान भी जा छुटकी • गीतिका गोयल	150.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ) • रमेश कौशिक	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ) • रमेश कौशिक	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य) • आर्यभूषण गर्ग	200.00
राधेय (खंडकाव्य) • डॉ० आकुल	120.00
असितचंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक) • डॉ० आकुल	120.00
अग्निसुता • राजेंद्र शर्मा	150.00
सीतायनी • डॉ० शंकर क्षेम	150.00
गंगापुत्र भीष्म : शर-शैया से • डॉ० शंकर क्षेम	150.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह) • शचींद्र भटनागर	250.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह) • शचींद्र भटनागर	200.00
अर्खंडित अस्मिता (मुक्तक) • शचींद्र भटनागर	200.00
कुछ भी सहज नहीं (नवगीत-संग्रह) • शचींद्र भटनागर	200.00
त्रिवर्णी (नवगीत-संग्रह) • शचींद्र भटनागर	200.00
युवाओं के गीत • शचींद्र भटनागर	400.00
तारा प्रकाश समग्र • तारा प्रकाश	600.00
उजियारा आशाओं का • तारा प्रकाश	150.00
बुलंदी इरादों की • तारा प्रकाश	150.00
चलने से मंजिल मिलती है • तारा प्रकाश	200.00
इंद्रधनुष • तारा प्रकाश	200.00
संवेदनाओं के रंग • तारा प्रकाश	200.00
सुरों के ख़त • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनते हुए ऋतुगीत • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	150.00
सुबह की अंगूठी • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	150.00

सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह) ● डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह) ● डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ) ● डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
धूप अपनेपन की (मुक्तक-संग्रह) ● डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
एक मुट्ठी धूप ● नीरजा सिंह	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर ● डॉ० कमल मुसद्दी	150.00
प्यार के गुलाल से (हाइकु) ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
हारना हिम्मत नहीं (मुक्तक) ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
मानव तू जग में सुंदरतम ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहे) ● डॉ० बलजीत सिंह	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहे) ● डॉ० बलजीत सिंह	150.00
भीतर का संगीत (दोहे) ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहे) ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहे) ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहे) ● डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहे) ● डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य) ● डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
खोजें जीवन सत्य (दोहे) ● डॉ० ओमदत्त आर्य	150.00
अपनी एक लकीर (दोहे) ● डॉ० ओमदत्त आर्य	200.00
अनजाने आकाश में ● महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
बातें कुछ अनकही ● सत्येंद्र गुप्ता	200.00
मैंने देखा है ● सत्येंद्र गुप्ता	200.00
हौसला तो है ● सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जिंदगी रुकती नहीं ● सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जज्बात की धूप ● धूप धौलपुरी	250.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ ● नवलकिशोर शर्मा	180.00
जब चाँद डूब रहा था ● नवलकिशोर शर्मा	200.00
एड्स शतक ● पूरणसिंह सैनी	150.00
श्रीगोगाचरित (महाकाव्य) ● पूरणसिंह सैनी	300.00
श्रीकृष्णचरित (महाकाव्य) ● पूरणसिंह सैनी	800.00
राष्ट्र-शक्ति ● सलेकचंद्र संगल	150.00
माँ तुझे प्रणाम ● सलेकचंद्र संगल	150.00
लहरों के विरुद्ध ● डॉ० रामप्रकाश	200.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता ● महेंद्र कुमार	200.00
पीड़ा का राजमहल ● डॉ० उर्मिला अग्रवाल	200.00
मैं एक समुद्र ● डॉ० तारादत्त 'निर्विरोध'	200.00

उड़ान जारी है ● विनोद भृंग	200.00
कहता कुछ मौन (हाइकु-संग्रह) ● हरिराम पथिक	200.00
जो जिया वो रचा (मुक्तक-संग्रह) ● हरिराम पथिक	200.00
धनुषभंजक राम ● चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'	200.00
आवाज सुनो (हाइकु) ● चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'	200.00
दरिया मोहब्बत का ● चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'	200.00
एक कुल्हड़ चाय ● स्वर्ण ज्योति	200.00
सूर्यनगर की चाँदनी ● रामेश्वर वैष्णव	150.00
रात ● दामोदर खड़से	200.00
स्मृतियाँ ● सुषमा अग्रवाल	200.00
कविताएँ फेसबुक से ● लालित्य ललित	200.00
दुनिया इतनी भी बुरी नहीं ● लालित्य ललित	200.00
बचे रहेंगे केवल शब्द ● लालित्य ललित	200.00
मेरे लिए तुम्हारा होना ● लालित्य ललित	250.00
सब पता है ● लालित्य ललित	250.00
आँगन घर में टहलेगा ● लालित्य ललित	250.00
घर उदास है ● लालित्य ललित	300.00
अपने में से तुम्हें देखना ● लालित्य ललित	200.00
आदत सी तुम्हारी ● लालित्य ललित	250.00
चुप्पी में से उद्घोष ● लालित्य ललित	300.00
चुप हैं शब्द और उनके अर्थ ● लालित्य ललित	200.00
कभी सोचता हूँ कि ● लालित्य ललित	250.00
इतना होने के बाद भी ● लालित्य ललित	250.00
विरमाल गीत समग्र ● सं० डॉ० पंकज विरमाल	500.00
विस्थापित मन ● आस्था नवल	200.00
रंगारंग कविताएँ ● बलवंत रंगीला	300.00
सिद्धांत सतसई ● डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया/संपादन डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया	300.00
ऋतरा-ऋतरा सागर ● प्रेमसागर कालिया	300.00
श्रीमद्भगवद्गीता (पंजाबी कविता अनुवाद) ● अनुवादक प्रेमसागर कालिया	200.00
कविताओं के मन से ● विजयकुमार	495.00
सोच की चिंगारियाँ ● चमनलाल	200.00
मेरी समग्र कविताएँ ● प्रहलाद तिवारी	950.00
कवि नहीं हूँ, फिर भी ● सुरेंद्रकुमार यादव	400.00
माट्टी की आवाज ● रामकुमार आत्रेय	250.00
मेघ संचार ● पवित्र मोहन दाश	250.00
शब्द-यात्रा ● प्रहलाद तिवारी	200.00

तुमसे उजियारा है (माहिया-संग्रह) • डॉ० ज्योत्सना शर्मा	240.00
गज़ल-संग्रह	
गज़ल मैंने छेड़ी (गज़ल-संग्रह)/ निश्तर ख़ानकाही	80.00
गज़लों के शहर में (गज़ल-संग्रह)/ निश्तर ख़ानकाही	200.00
मेरे लहू की आग (गज़ल-संग्रह)/ निश्तर ख़ानकाही	150.00
सत्राटे में गूँज (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
भीतर शोर बहुत है (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
मौसम बदल गया कितना (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
रोशनी बनकर जिओ (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
शिकायत न करो तुम (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
आदमी है कहाँ (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
खुशबू सा बिखर जाऊँगा (गज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
प्रतिनिधि गज़लें • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
आदमी के हक़ में (गज़ल-संग्रह) • रामगोपाल भारतीय	100.00
ज़िंदगी गाती तो है/ (गज़ल-संग्रह) • डॉ० आकुल	120.00
आसमान मेरा भी है (गज़ल-संग्रह) • किशनस्वरूप	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (गज़ल-संग्रह) • किशनस्वरूप	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (गज़ल-संग्रह) • कर्नल तिलकराज	200.00
ज़ख़्म खिलने को हैं (गज़ल-संग्रह) • कर्नल तिलकराज	200.00
तिराहे पर (गज़ल-संग्रह) • शर्चींद्र भटनागर	250.00
गुलमुहर की छाँव में (गज़ल-संग्रह) • मनोज अबोध	100.00
मेरे भीतर महक रहा है (गज़ल-संग्रह) • मनोज अबोध	150.00
बहती नदी हो जाइए (गज़लें) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	150.00
अँधियारों से लड़ना सीखें (गज़लें) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
रिश्ते नए अब जोड़िए (गज़लें) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
फ़ासले मिट जाएँगे (गज़ल-संग्रह) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
मुहब्बत भी बगावत है (गज़ल-संग्रह) • डॉ० रामबहादुर चौधरी चंदन	200.00
समकालीन महिला गज़लकार • हरेराम 'समीप'	300.00
आत्मकथा-संस्मरण, साक्षात्कार, पत्र	
मेरा जीवन : ए-वन • काका हाथरसी	300.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • धर्मेन्द्र उपाध्याय	250.00
आत्मसरोवर • ओम्प्रकाश अग्रवाल	125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु • नीरजा द्विवेदी	200.00
स्विट्ज़रलैंड के वे 21 दिन • नीरजा द्विवेदी	200.00
कुछ अपनी कुछ जगबीती • नीरजा द्विवेदी	250.00
विलक्षण अनुभूतियाँ • नीरजा द्विवेदी	300.00

प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग • महेशचंद्र द्विवेदी	280.00
फ्राडियर और नीम हकीम • महेशचंद्र द्विवेदी	230.00
सफ़र साठ साल का • डॉ० अजय जनमेजय (सं)	400.00
यादों की गुल्लक • गीतिका गोयल, डॉ० अनुभूति (संपादक)	300.00
आधी हकीकत आधा फ़साना • डॉ० बलजीतसिंह	150.00
मेरे साक्षात्कार • डॉ० बालशौरि रेड्डी	250.00
संवाद : साहित्यकारों से • डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैया'	200.00
उत्तरोत्तर • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)	250.00
श्रद्धांजलि • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)	250.00
बाल-साहित्य	
गधा बत्तीसी • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
ईनी-मीनी की मजेदार दुनिया • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
चिड़ियों की दुनिया रंगीन • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
कविताओं में पंचतंत्रा • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	250.00
छुटके-मुटके जंगल में • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
नन्हे-मुन्ने गीत सुहाने • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
मैं भी स्कूल जाऊँगी • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
नन्ही-मुन्नी बाल गज़लें • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
Tiny -Tots in Forest • Laxmi Khanna 'Suman'	200.00
Adventures of the Laughing Donkey • Laxmi Khanna 'Suman'	200.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत) • गीतिका गोयल	200.00
बातूनी कहानियाँ • गीतिका गोयल	200.00
धरती पर चाँद (पुरस्कृत) • शंभूनाथ तिवारी	200.00
हम बगिया के फूल (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
दिन बचपन के (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
जादूगर बादल (बालगीत) • विनोद भृंग	200.00
आटे-बाटे दही चटा के (शिशुगीत) • बालकृष्ण गर्ग	200.00
बालकृष्ण गर्ग के बालगीत • बालकृष्ण गर्ग	500.00
किशोर मन की कहानियाँ • डॉ० सरला अग्रवाल	200.00
चलो आकाश को छू लें • डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
मानव-विकास की कहानी • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पार्टी गेम्स • चाँदनी कक्कड़	125.00
कागज की नाव • डॉ० सरोजनी कुलश्रेष्ठ	200.00
शिक्षाप्रद बालकहानियाँ • डॉ० अशोक कुमार	200.00

भारतीय लोकजीवन की कहानियाँ • डॉ० तारा प्रकाश	200.00
विविध	
उत्तराखण्ड में आध्यात्मिक पर्यटन • डॉ० सरिता शाह	200.00
• निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
नारी : कल और आज	300.00
• निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे	300.00
दंगे : क्यों और कैसे	300.00
हिंसा : कैसी-कैसी • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
• रमेशचंद्र दीक्षित, निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन • डॉ० गिरिराज शाह	200.00
गुरु नानकदेव • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
अमृतवाणी • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
आप भी तनावमुक्त हो सकते हैं • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
वेद-वेदांत दर्शन • डॉ० मूलचन्द दालभ	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्व • डॉ० मूलचन्द दालभ	300.00
कन्हैया गीता • डॉ० मूलचन्द दालभ	900.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स • डॉ० गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी • मनोज भारद्वाज	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी • डॉ० लालबहादुर रावल	300.00
डगर पनघट की • सुधीर गुप्ता	200.00
था सुंदरतम की • महेंद्र शर्मा	200.00
Ecosystem in The Central Himalyas • Dr.Vikram Singh IPS	200.00

अपना आदेश निम्नलिखित पते पर भेजें

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 09557746346, 07838090732

गुड़गाँव कार्यालय

बी-203, पार्क व्यू सिटी 2, सोहना रोड, गुड़गाँव 122018

0124-4076565

केंद्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क : हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा 282005, फोन : 0562-2530684,
वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई० में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र—दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी-शिक्षण का प्रसार, हिंदी-शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदीभाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदीभाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा-आयोजन तथा उपाधि-वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

शिक्षणपरक कार्यक्रम :

(1) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी-शिक्षण, (2) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (3) नवीकरण एवं संबर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (4) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (5) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम :

(1) हिंदी-शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (2) हिंदीभाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (3) हिंदीभाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (4) हिंदीभाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (5) हिंदी का समाजभाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (6) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण-सामग्री का निर्माण।

शिक्षण-सामग्री निर्माण और भाषा-विकास :

(1) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी-शिक्षण सामग्री निर्माण, (2) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (3) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (4) कंप्यूटर साधित हिंदीभाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (5) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण-संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (6) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/ त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन :

हिंदीभाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोशविज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका-‘गवेषणा’, ‘मीडिया’, और ‘समन्वय पूर्वोत्तर’ का प्रकाशन।

पुस्तकालय :

भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :

हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ :

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत, ■अफगानिस्तान के नानारहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी०ए० का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ, ■विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू०एस०ए०, यू०के०, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोकसाहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

डॉ० कमलकिशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, कें०हिं०शि०मं०
kkgoyanka@gmail.com

प्रो० नंदकिशोर पांडेय
निदेशक
nkpandey65@gmail.com